शिक्षा, साहित्य और मानवता के आदर्श प्रतिमान
उपराष्ट्रपति
श्रद्धेय भारतरत्न डॉ. ज़ाकिरहुसैन
को
सविनय
जिनका वात्सल्य-भाजन होने का मुझे गौरव है



संकेत

[आवरण-शिल्पी—
श्री महादेव नारायण,
शान्ति-निकेतन]

उच्चकोटि के शोध-ग्रन्थ

के रूप में

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

के

आर्थिक साहाय्य से

बिहार विश्वविद्यालय

द्वारा

प्रकाशित

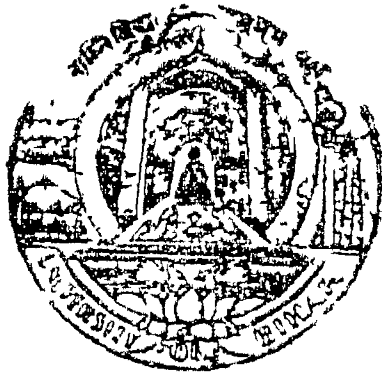


आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों
का
शिल्प-विधान

बिहार विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉ० श्यामनन्दन किशोर
एम्० ए० (लब्ध स्वर्ण-पदक), डी० लिट्०

प्रकाशक



बिहार विश्वविद्यालय
[विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से]
मुजफ्फरपुर

प्रकाशक
बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर

प्रथम संस्करण, १९६७

१२ मई '६७ को ग्रन्थ-मोचन-समारोह में लेखक द्वारा राष्ट्रपति को इस ग्रन्थ की प्रथम प्रति भेंट की गयी।

मुद्रक :
श्री युगेश्वर सिंह
ओम प्रेस
मुजफ्फरपुर

मूल्य—तीस रुपये मात्र।

निवेदन

माँ भारती की असीम कृपा से आज वर्षो के अध्ययन-मनन का यह अर्घ्य साहित्य-मन्दिर मे अर्पित कर रहा हूं—विनम्र सकोच, मोहन औत्सुक्य और नीरव श्रद्धा के साथ। "आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो का शिल्प-विधान", इस विषय की रूप-रेखा और प्रारम्भिक शोध-कार्य देखकर भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-विशारद स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा ने मुझे बहुत अधिक प्रोत्साहित किया था और मुझ से यह आशा की थी कि 'मैं निश्चय ही एक अनमोल कृति' प्रस्तुत कर सकूँगा। 'कृति अनमोल' तो नही हुई, पर मैं पूज्य डा० झा की पुण्य-स्मृति मे नतमस्तक होता हुआ, साहित्य के मर्मी विद्वानो की सेवा मे आशीर्वाद की कामना से अपना यह शोध-प्रबन्ध उपस्थित कर रहा हूं।

सामान्य कविता, कहानी और उपन्यास के शिल्प पर कुछ रचनाएँ मिलती है, पर महाकाव्य के शिल्प पर नही। यो महाकाव्यो पर हिन्दी मे तीन शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं—आगरा विश्वविद्यालय से डा० प्रतिपाल सिह का प्रबन्ध "बीसवी शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य", दूसरा, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय से डा० शम्भूनाथ सिह का प्रबन्ध "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास" और तीसरा, पजाब विश्वविद्यालय से डा० गोविन्दराम शर्मा का प्रबन्ध "हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य" (परम्परा और विकास)। "बीसवी शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य" मे आधुनिक महाकाव्यो का सामान्य अध्ययन मात्र प्रस्तुत किया गया है, किसी विशिष्ट विचार-क्षेत्र का अनुसंधान नही। डा० गोविन्द राम शर्मा के शोध-प्रबन्ध मे प्राचीन महाकाव्यो की पृष्ठभूमि मे आधुनिक महा-काव्यों के विकास-क्रम को आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचित किया गया है। इन दोनो से श्रेष्ठ प्रबन्ध हिन्दी के विख्यात युग-प्रवर्त्तक साहित्कार डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में लिखा गया डा० शम्भूनाथ सिह का "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास" है। इस पुस्तक में प्राचीन महाकाव्यों का सम्यक् विवेचन करते हुए उनके परिवर्त्तित और विकसित रूपो का आकलन किया गया है। पर इसमें आधुनिक काल के एक ही महाकाव्य "कामायनी" को स्थान दिया गया है। किसी भी शोध-प्रबन्ध में शिल्प जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का विवेचन नही किया गया है।

अपने विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर वर्गों के छात्रों को आधुनिक महाकाव्य पढ़ाते हुए मैं बहुत दिनों से यह अनुभव करता था कि उनमे शिल्प-विधि की दृष्टि से जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है, उनका मूल्यांकन होना चाहिए। इस शोध प्रबन्ध मे मैंने अपनी इसी इच्छा की पूर्ति का प्रयास किया है। इसमे प्राचीन महाकाव्यो के बीच विकसित होती हुई शिल्प-विधानात्मक विशिष्टताओ का सक्षिप्त विवेचन करते हुए खडी बोली के महाकाव्यो की शिल्प-विधि का मूल्यांकन किया गया है। इनके अतिरिक्त महाकाव्य के सभी तत्त्वो के अन्तर्गत उसकी शिल्प-विधि का सौन्दर्य उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

किसी भी भाषा के साहित्य मे महाकाव्य के शिल्प-विधान पर अन्य किसी व्यक्ति ने विधिवत् अध्ययन प्रस्तुत नही किया है। मैंने पहली बार हिन्दी महाकाव्यों के एक-एक तत्त्व का विश्लेषण करते हुए इस क्षेत्र मे प्रयुक्त सभी सूक्ष्म और स्थूल शिल्प-विधियो का सोदाहरण विवेचन किया है। मुझे आधुनिक युग में रचे गये महाकाव्यो के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर महाकाव्य की प्राचीन परिभाषाओ और लक्षणों का सशोधन करना पड़ा है। इस शोध-प्रबन्ध में पहली बार विस्तृत रूप से आधुनिक महाकाव्यों के कथानक, रस, चरित्र-चित्रण, शैली आदि दिशाओं मे मनोविज्ञान के बढते हुए प्रभावों का आकलन किया गया है। इसमे मैंने नायको का भेद नये रूप मे प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित और अनादृत पात्रों के उद्धार की विभिन्न शैलियो पर प्रकाश डाला है।

प्राचीन शास्त्रीय लक्षणो के कारण प्रिय-प्रवास, कुरुक्षेत्र आदि जिन काव्य-ग्रन्थों को महाकाव्य मानने में बाधा खडी होती थी, उन्हे मैंने शिल्प-विधि की दृष्टि से महाकाव्य की परम्परा मे स्थान पाने योग्य प्रमाणित किया है। इनमें महाकाव्य के जो प्राचीन नियम छोड़े गये है, वे सकारण और शिल्प-विधि की दृष्टि से अनिवार्य है। मुझे कुछ ऐसे सामान्य प्रबन्ध-काव्यों का भी विवेचन करना पड़ा है, जिनमे पूर्ण महाकाव्यत्व नही होते हुए भी महाकाव्य की शिल्प-विधि का अल्पाधिक मात्रा मे कलात्मक प्रयोग किया गया है। शिल्प-विधि के विकास के अध्ययन की दृष्टि से ऐसा करना अनिवार्य था।

पहली बार इस शोध-प्रबन्ध मे मैंने स्थल-स्थल पर आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के उन अंशो की शिल्प-विधि का उत्कर्ष प्रमाणित किया है, जिनमें काव्य कला की दृष्टि से त्रुटि मानी जाती रही है। ऐसे स्थलो पर मैंने अपने आप, कवि और महाकाव्य के पात्रों के साथ एकात्मक स्थापित करने की चेष्टा की है।

मेरा विश्वास है कि साहित्य के वर्त्तमान रूप को समझने के लिए उसकी परम्परा का ज्ञान आवश्यक है। इसीलिए मैंने 'विषय-प्रवेश और पृष्ठभूमि' के अन्तर्गत महाकाव्य के विकास, उसके लक्षणो एवं प्राचीन हिन्दी महाकव्यो का संक्षित विवेचन किया है। प्रारम्भिक प्रकरणो की पृष्ठभूमि मे, चतुर्थ प्रकरण से मूल प्रबन्ध का प्रारम्भ हुआ है। चतुर्थ प्रकरण मे कथा-शिल्प का अध्ययन प्रस्तुत करने के पूर्व आधुनिक महाकाव्यो की प्रेरणा और परिवेश, उसके काल-विभाजन, समकालीन प्रभावशाली घटनाओ के प्रभाव और सामान्य विशेषताओ, प्रेरणा-सूत्रों एवं महाकाव्य की नयी धारणाओ का उल्लेख करते हुए 'शिल्प-विधान के स्वरूप और आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों मे उसके अनुसंधान का औचित्य' पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो की शिल्प-विधि का विकास जीवन के विविध सत्यों के चित्रण के लिए हुआ है। इसलिए, पहली बार परिशिष्ट के रूप मे आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो की उन पक्तियो को चुनकर एक स्थान पर एकत्र कर दिया गया है, जो किसी न किसी जीवनगत सत्य से सम्बद्ध हैं।

मेरा विश्वास है कि मेरे इस शोध-प्रबन्ध के द्वारा हिन्दी अनुशीलन के क्षेत्र मे एक अभाव की पूर्ति हो सकेगी, जिसके कारण हिन्दी काव्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग अपने वास्तविक रूप मे प्रकट होने से वंचित रह जाता था। इसके द्वारा यह प्रमाणित हो सकेगा कि शिल्प-विधि की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बदलती हुई सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियो मे प्राचीन साहित्यिक लक्षण किस प्रकार परिवर्त्तित हो जाते है, इस तथ्य के प्रमाण सम्पूर्ण प्रबन्ध मे मिलते है। हमारा हिन्दी महाकाव्य-साहित्य शिल्प-विधि की दृष्टि से अत्यन्त उन्नत है - इसके सैकड़ो उदाहरण प्रस्तुत किए गये है।

मुझे इस बात का गौरव है कि आधुनिक काल के प्राय: सभी जीवित महाकवियों के निकट सम्पर्क का सौभाग्य मुझे प्राप्त है और उनके साथ महाकाव्यों के अनेक प्रश्नों पर आलोचना-प्रत्यालोचना करने की छूट मुझे मिली है। इसके कारण मुझे अपने निष्कर्षो पर पहुँचने मे बडा बल मिला है।

मैं देशी-विदेशी उन सभी साहित्यकारों के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिनकी कृतियो का उपयोग मैंने किया है और जिनके विचारों से लाभ उठाया है। साथ ही, उन महान् साहित्य-साधकों के प्रति नतमस्तक हूं, जिनके चरणो मे बैठकर मैंने

ज्ञान-दान पाकर अपनी अन्तर्दृष्टि परिमार्जित की है। बिहार राज्य के भूतपूर्व शिक्षा-निर्देशक और पटना कालेज के भूतपूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष (अब स्वर्गीय) डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, एम० ए० (त्रय), पी-एच० डी०, ए० आई० ई० (लन्दन), एफ० आर० ए० एस० के निर्देशन में यह शोध-प्रबन्ध तैयार किया गया है। उनके अगाध पाण्डित्य, अशेष स्नेह और प्रोत्साहन का जितना लाभ मैंने उठाया है, उसका ऋण शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता।

मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिसने इसे उच्चकोटि के शोध-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कर इसके मुद्रण के लिए पाँच सहस्र मुद्राएँ स्वीकृत की और १९६२ में मुझे 'हिन्दी नाटकों में मानव मूल्यांकन' विषय पर शोध करने के लिए वरीय शोध-छात्रवृत्ति प्रदान की। मैं बिहार विश्वविद्यालय का भी कृतज्ञ हूँ, जिसने इसके प्रकाशन के लिए हर संभव सहायता की है।

इस शोध-कार्य पर १९६१ में मुझे बिहार विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिली थी। मुझे इस बात का गौरव है कि निर्देशक के अतिरिक्त इस शोध के परीक्षक थे राष्ट्रभाषा के दो महिमावान साहित्यकार पद्मभूषण डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी और आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, जिन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इसे एक असाधारण शोध कार्य माना है।

यदि मेरा श्रम साहित्य के विद्वानों और छात्रों के काम आ सका, तो इसे निश्चय ही मैं अपना सौभाग्य समझूँगा और भविष्य में दुगुने उत्साह से और भी साहित्यिक सेवाएँ प्रस्तुत कर सकूँगा। मैं तो साहित्य का एक ऐसा छात्र हूँ, जिसे 'चार्ल्स लैम्ब' की चार पंक्तियाँ कभी विस्मृत नहीं होतीं—

I ask and wish not to appear
More beauteous, rich or gay,
Lord, make me wiser every year,
And better every day.

रीडर, हिन्दी विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय
मई, १९६५

सविनय
श्यामनन्दन किशोर

प्रथम प्रकरण

विषय-प्रवेश और पृष्ठभूमि

काव्य के विकास में महाकाव्य की स्थिति

श्रद्धा और पूजा के भावातिरेक ने ही देवत्व की प्रतिष्ठा की होगी और इन भावनाओं के मूल मे लाभ, विस्मय, कुतूहल और भय की मिलीजुली अनुभूतियो का बल रहा होगा। यही कारण है कि प्रकृति के प्रधान रूपो ने देवता का व्यक्तित्व पा लिया और सृष्टि के आदि से समाज ने वायु, अग्नि, जल आदि प्राकृतिक शक्तियो को पूजना प्रारम्भ किया। वाणी को देवत्व के गुणो से सम्मानित करने का भी यही रहस्य है। मानव के लिये वह क्षण अत्यन्त विस्मय और आह्लाद का रहा होगा, जब उसने पहली बार अपने मन के भीतर की ऐंठन और उमड़न-घुमडन को व्यक्त होते पाया होगा। जैसे सूखी लकड़ियों के परस्पर संघर्ष से सहसा एक दिन अग्नि की मधुर-भीषण चिनगारियाँ फूट पड़ी होंगी, वैसे ही मानव के अभिशप्त मौन को वाणी ने मुखर कर दिया होगा और वक्ता अपने स्वर पर आप अनजाने मुग्ध हो गया होगा। पहली बार मानव ने यह अनुभव किया होगा कि उसकी अनुभूतियो का निराकार भी साकार हो सकता है; और तब से वाणी का नित्य नवीन शृङ्गार होता जा रहा है, अनुभूति के रहस्यपूर्ण अवगुंठन को वाणी स्पष्टतम रूप से खोलने का प्रयास करती जा रही है। शब्दो के जादूगर, वर्णों के शिल्पी, परम्परावादी समाज के सहस्र-सहस्र साहित्यकार—अभिव्यक्ति के विविध मार्गों का अनुसंधान करते जा रहे हैं। जैसे शिव ने प्रचंड वेगवती गङ्गा को सहज रूप से अपनी जटा में बाँधकर भी धरती को पावन करने के लिये उसे मुक्ति दे रखी है, उसे ससीम बनाकर भी कलकल-छलछल कर बहने दिया है, उसी प्रकार अगणित अनुभूतियों की प्रबल धारा को साहित्यकार शब्दो में बाँधकर जन-मन कल्याणी बनाता रहा है। अभिव्यक्ति की इसी अमोघ शक्ति ने कवि को ईश्वर की संज्ञा दी है—'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:।' सृष्टि के सूनापन से ऊबे लीलामय भगवान के मन ने इसलिये ही यह इच्छा प्रकट की थी कि वह एक से अनेक हो जाये—'एकोऽहं बहुस्याम्', अर्थात् अनेक में एक की आत्मा विराजमान हो, विविधता मे एकरूपता हो।[1] कदाचित् इसलिये ही वाणी एकता में अनेकता

१—जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च (तदेव हि) समञ्जसम् ॥

—माण्डूक्योपनिषद्, अद्वैत प्रकरण-१३

की ओर अनेकता में एकता की साधना करती जा रही है। शब्दों के साँचे में ढली हुई भावनाएँ मुख से भी प्रकट हुईं और लेखनी से भी निबद्ध हुईं, जिन्होंने वाङ्मय का रूप धारण किया। इसी वाङ्मय का विकास साहित्य का इतिहास और मानव-चेतना की प्रगति का आख्यान बन गया है—बनता जा रहा है।

विवेक मनुष्यत्व की आधार-शिला है। मनुष्य सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है[1], क्योंकि उसने पशुत्व के ऊपर विजय पायी है। मनुष्यता का पौधा पशुत्व के मलिन बीज और बर्बर संस्कारों की पपड़ियों को तोड़कर ही परवान चढ़ा है। पशुत्व से ऊपर उठकर हम जो विकास करने लगे, उसकी सबसे बड़ी पहचान थी—'स्व' पर 'पर' की विजय, 'स्वान्तः सुखाय' की जगह 'बहुजन हिताय' या 'लोक हिताय' की चेतना। इसी चेतना ने काव्य को प्रेरित किया। साहित्य को शब्दों से स्वरूप प्राप्त हुआ। अनुकरण की सहज स्वाभाविक वृत्ति ने शब्द सीखने में मनुष्य की बहुत अधिक सहायता की। मानव की यह विशिष्टता उसे पशु-समाज से ऊपर उठा देती है।[1] जिह्वा की अपेक्षा मनुष्य के कान शब्दों के क्षेत्र में पहले काम में आये। आकाश का गुण है शब्द, और आकाश सर्वव्यापी है। निर्झरों की कलकल, पत्तों की मर्मर और नदियों की टलमल करती ध्वनियों के साथ ही ज्वालामुखियों के विस्फोट और बादलों के गर्जन-तर्जन ने भी आदि मनुष्यों को शब्दों की स्थिति का ज्ञान दिया। ज्यों-ज्यों मानव-मन की जटिलताएँ बढ़ती गयीं, रागात्मक भावों का मिश्रण होता गया और समाज सभ्य बनता गया, साहित्य के निर्माण की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं और व्यक्तित्व की विशिष्टता के कारण शैलियों का निर्माण होता गया।

साहित्य के क्रोड़ में आत्माभिव्यंजन की कामना और सौन्दर्य-भावना—ये दो महती प्रवृत्तियाँ होती हैं। भौतिक एवं शारीरिक आवश्यकताओं से अधिक प्रभावोत्पादक मानसिक आवश्यकताएँ होती हैं। साहित्य आध्यात्मिक भोजन प्रदान करता है। सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं को वह अभिव्यक्त करता है।

---

1. It is clear that the general origin of poetry was due to two causess, each of these part of human nature. Imitation is natural to man from childhood, one of the advantages over the lower animal being this, that he is the most initiative creature in the world, and learns at first by imitation.

—Aristotle On The Art Of Poetry, Fyee, Page 9

वह जीवन का अनुकरण ही नही करता, उसे अपने उद्देश्य के अनुकूल बना लेता है। यह भाषा के माध्यम से वस्तुतः जीवन की ही अभिव्यक्ति है। यह सम्पूर्ण समाज के ज्ञान-वैभव का अमित कोष है।

व्यक्ति और समष्टि का पारस्परिक संबंध एक-दूसरे को प्रभावित करता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसके विचारों और भावों को सामाजिक गतिविधि आन्दोलित करती है। साथ ही, चूँकि साहित्यकार समाज का चितेरा ही नही, पथ-प्रदर्शक भी होता है, वह वर्त्तमान का वैतालिक ही नही, भविष्य का निर्माता भी होता है, इसलिये वह समाज की चिन्ता-धारा को नया मोड़ प्रदान करता है। ऐसे कितने युग-प्रवर्तक साहित्यकार प्रत्येक देश मे उत्पन्न हो चुके है। साहित्य और समाज मे कौन बड़ा है, कहना कठिन है!—बीज और मिट्टी मे किसे श्रेष्ठ समझा जाये ?--बीज, जो मिट्टी से पोषण-तत्त्व लिये बिना पनप नही सकता, और मिट्टी, जो बिना बीज के फसल पैदा नहीं कर सकती !

साहित्यांगो में कविता की विशिष्ट महत्ता है। कविता रागात्मक शक्ति की प्रबलता के कारण अन्य साहित्यांगों से अधिक लोकप्रिय हुई। प्रत्येक देश की साहित्यिक विधाओं मे कविता का स्थान प्राचीनतम है। काव्य ने प्रथमबार परिस्थिति विशेष मे वाल्मीकि से करुणा-विगलित कंठ से जन्म धारण किया, इसे भारत के बाहर, विश्व के अन्यान्य भागो के लोग स्वीकार करें या न करें, इतना तो सर्वमान्य है कि मानव-मन के तारों को सुख-दुख के आघातों ने कुछ इस तरह झकझोरा होगा कि उससे कविता की रागिणी स्वतः फूट पडी होगी। किसी भी देश के काव्य-साहित्य का आदि स्वरूप, उसका उत्स लोक-जीवन के हिमालय से निकली गंगाधारा मे ढूँढा जा सकता है। बने-सँवरे कलात्मक गीतों के मूल रूप जिन ग्रामगीतों मे मिलते हैं, वे लोक-जीवन के हृदय के स्पन्दन हैं।[१]केवल व्यक्ति के सुख-दुख, राग-
केवल व्यक्ति के सुख-दुख, राग-विराग और घृणा-प्रेम लयात्मक होकर नही फूटे, समाज के सामूहिक उल्लास और शोक के क्षणों में भी गीतों की सृष्टि हुई।

१—'ग्राम गीतो से ही काल्पनिक तथा वैचित्र्यपूर्ण कविताओं का विकास हुआ है। यही ग्राम गीत क्रमशः सभ्य जीवन के अनुक्रम से कलागीत के रूप में विकसित हो गया है जिसका संस्कार अब तक वर्तमान है।'

—जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, डा० सुधांशु, पृ० १७५

सामाजिक उत्सवों के समय या किसी कबीले या समाज के वीर नेता की मृत्यु या ऐसे अन्य सार्वजनिक उल्लास या विपत्ति के अवसरों पर सुख-दुख के भाव सम्पूर्ण समूह पर छा जाते थे, और तब एक ही लय-ताल के आरोह-अवरोह पर समूह-कंठों से थिरकती कड़ियाँ स्वतः गीत बनती जाती थीं।

महाकाव्य के आदि रूप

किसी भी देश का आदिम काव्य सामूहिक गीत-नृत्य और आख्यानक नृत्य के रूप में ही प्रकट हुआ, कालान्तर से जिसका पूर्ण विकास अलंकृत महाकाव्य के रूप मे हुआ। सामाजिक चेतना माहाकाव्यों की जननी है। कलात्मक या अलंकृत महाकाव्यो के निर्माण के पीछे सैकड़ो वर्षो तक जनता के बीच पनपनेवाले हास-रुदन की कहानी का हाथ है। 'डिक्सन' ने इसीलिये आख्यानक नृत्य को आदिकाव्य का प्रथम रूप माना है।[1] आज हम जिन्हें प्रारम्भिक महाकाव्य मानते है, उनकी भाषा-शैली, तथ्य-निरूपण और काव्यकला के अन्य उपादानों को देखकर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन महाकाव्यो के पूर्व अनेक अज्ञातनाम कवियों ने एक काव्यभूमि तैयार कर रखी थी। महाकाव्य के पुष्ट पौधे के लिये जिन कवियों की रचनाएँ खाद का काम कर गयी, वे कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। पाश्चात्य महाकाव्यो में 'इलियड', 'ओडेसी' या बेओउल्फ, तथा पौरस्त्य मे 'रामायण', 'महाभारत' आदि की रचना के पूर्व काव्य की एक सरणि चली आ रही थी, जिसका लाभ उन महाकाव्यकारो ने उठाया।[2]

1. The earliest poetry of all races—it is not altogether a conjecture—appears to have been the ballad dance For in the earliest social gatherings the rude music and song were never dissevered, never practised apart.

—English Epic and Heroic Poetry, W. M. Dixon, Page 28

2. We are misled, too, if we think of Homer or Beowulf as primitive poetry. Their selection of language, very length and elaboration prove that these poems which may seem to us simple and un-sophisticated are in truth late arrival on the world's stage and have behind them generations of experienced singers.—Ibid

सामाजिक विकास की दृष्टि से महाकाव्य की रचना सामन्त युग में प्रारम्भ हुई। प्रागैतिहासिक काल के बाद जब समाज में व्यक्ति-भावना का विकास हुआ, महाकाव्य की रचना का उदय हुआ। शिकार के बर्बर-जीवन, पहाड़ की गुफाओं और कठिन अस्त-व्यस्त वन्य जीवन से थके मनुष्य ने कृषि का विकास करना प्रारंभ कर दिया। वैदिक काल से लेकर सैकड़ों वर्षो तक सामन्तकाल की सुदीर्घ अवस्था रही। इस बीच महाकाव्य की परम्परा विकसित होती चली।

सामूहिक गीतो की भावुकता का संयोग जब सामाजिक कथानक से होने लगा, तब महाकाव्य की प्रबन्धात्मकता का आदिरूप प्रकट हुआ। अतः सामूहिक गीतनृत्यो का विकास आख्यानक नृत्य-गीतो के रूप में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के संवाद-सूक्त और पंतजलि के महाभाष्य मे इनका पूर्व-रूप देखा जा सकता है। वेशभूषा बनाकर, स्वरूप बदलकर गा-गाकर महापुरुषों के चरित्र को प्रस्तुत करने की प्रथा का प्रारंभ इसी युग में हुआ, जिसका विकसित रूप रामलीला-रासलीला के रूप मे आज भी प्रचलित है। मिल-जुलकर गाने-नाचनेवाले कलाकारों के बीच ही विशिष्ट प्रतिभा का उदय हुआ। जो कलाकार मधुरतम स्वर या तीव्र स्मरणशक्ति रखने वाले थे, वे ही उस गीत-नृत्य-मंडली का नेतृत्व करने लगे। चारण-काल मे ऐसे ही प्रतिभाशाली कलाकार अपनी स्वतंत्र सत्ता को प्रतिष्ठापित करते दीखे। जो आख्यान-गीत समूह के द्वारा मौलिक रूप में गाये जाते थे, कालान्तर से वे ही विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा लिखे जाने लगे।

सभ्यता के विकास ने मानव-चरणों को नयी गति दी और समाज के छोटे-छोटे टुकड़े फैलने लगे। फलतः गीत और कथाएँ स्थानीयता का रंग छोडने लगी और नये-नये व्यक्तियों के सम्पर्क से उनके रूप बदलने लगे। कुछ नयी कड़ियाँ जुटी, कुछ पुरानी टूटीं, कुछ नई कथाओं ने पुरानी कथाओं की जगह ली। स्थानीय नेताओं और व्यक्तिगत श्रद्धा-भावनाओ से प्रभावित होकर कलाकारों ने इन आख्यान-गीतों को संशोधित-परिवर्द्धित किया। यह क्रिया जाने-अनजाने व्यक्ति और व्यक्ति-समूहों द्वारा होती चली। कथाओं के साथ उपकथाएँ जुड़ती गयीं और काल-क्रम से गाथा-चक्रों का निर्माण होता गया; जिससे महाकाव्य-रचना को बहुत बल मिला। गाथा-चक्रो को कुछ विद्वानों ने शुद्ध काव्य नहो माना है। पर इतना तो निश्चित है कि ये

महाकाव्य की पूर्वावस्था हैं। विकसनशील महाकाव्यों की रचना अनेक कवियों की कृतियाँ होती हैं। इससे चिन्तन और कल्पना के स्वतंत्र विकास के लिये अच्छी भूमि तैयार होती है। इलियड या महाभारत की रचना के पीछे सहस्रों प्रतिभाओं और अनेक युगों के हाथ हैं। किसी विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न चारण या कवि ने जब परम्परा से आती गाथाओं को सँवार कर नया रूप प्रदान किया तथा उसे काव्य की नयी वाणी का वरदान दिया, तब महाकाव्यों की रचना प्रारंभ हुई। राजदरबारों और सुसंस्कृत समाजों में कवियों ने विकसनशील महाकाव्यों को कलात्मक महाकाव्य का रूप दिया। इन्हीं कलात्मक महाकाव्यों के साथ व्यक्ति के नाम संयुक्त हो गये। सुसम्बद्ध, शृङ्खलाबद्ध समाज और वीर शासक एवं जननायक के अभाव में चरित्र-प्रधान महाकाव्यों का निर्माण कठिन है। ऐसे कलाकारों की प्रतिभा के विकास के लिये एक विशेष सहायक वातावरण की आवश्यकता है। मानो, सामन्त युग में कलाकार यह अनुभव करते हैं कि उनकी प्रतिभा-लता ने एक सुदृढ़ वृक्ष का सहारा पा लिया है—ऊपर उठने-फैलने के लिये।

काव्य के विकास में महाकाव्य का स्थान बनते-बनते सामाजिक चेतना और मानव के कलात्मक गुणों का स्वर्ण-विहान होने लगता है। महाकाव्य उस दर्पण के समान बन जाता है, जिसमें सम्पूर्ण समाज की भावना, मेधा, कल्पनाशीलता, राग-विराग और राष्ट्रीय चेतना प्रतिविम्बित होती हैं। केवल कवि का अपना व्यक्तित्व ही नहीं, उसकी संस्कारशीलता भी काम आती है। उसपर पौराणिक आस्थाओं, महापुरुषों, देवताओं आदि से सम्बद्ध कथाओं, दन्त कथाओं एवं समयुगीन इतिवृत्तों के भी प्रभाव पड़ते हैं। वातावरण की उपेक्षा करते हुए महाकाव्य का निर्माण कभी संभव नहीं है। कथानक रूढ़ियां,[1]—एक ही कथानक

1—(i) 'A word or a pattern of thought which recurs in a similar situation or to evoke a similar mood within a work or in various works of genre.'

--Dictionary Of World Literature, Shiple, Page 385.

(ii) 'ऐतिहासिक चरित का लेखक संभावनाओं पर अधिक बल देता है। संभावनाओं पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि हमारे देश के साहित्य में कथानक की गति और घुमाव देने के लिए कुछ अभिप्राय दीर्घकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं, जो बहुत थोड़ी देर तक यथार्थ होते हैं और जो आगे चलकर कथानक-रूढ़ियों में बदले गये हैं।'

—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्र० द्विवेदी, पृ० ७४

की पुनरावृत्तियाँ भी महाकाव्य के निर्माण मे बडे काम की सिद्ध होती है। ये कथानक-रूढ़ियाँ जीवन के प्राय प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध होती हैं। लोक-गीतो और लोक-कथाओ का सुसम्बद्ध और सुनियोजित रूप विकसित होता हुआ कालान्तर से महाकाव्य के रूप मे ढलने लगता है। महाकाव्य के इसी तथ्य को ध्यान में रखकर इसे काव्य कौर इतिहास की सन्धि माना गया है।

इतिहास और महाकाव्य

इतिहास और महाकाव्य मे एक बहुत बडा अन्तर यह है कि इतिहास केवल अतीत का चित्रण करता है जबकि महाकाव्य अतीत, वर्त्तमान और भविष्य तीनो से सम्बद्ध होता है। एक मे कल्पना की सजावट होती है, दूसरे में केवल यथा-तथ्य वर्णत होता है। महाकाव्य इतिहास से सम्बद्ध होकर भी उसमे अधिक गारिमामय होता है। इसलिये इतिहास को मात्र छदोबद्ध कर देनेवाला व्यक्ति महाकवि तो क्या, कवि भी नही कहा जा सकता। 'अरस्तू' ने 'पोयटिक्स' मे इस तथ्य को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है।[1]

कवि इतिहास का सहारा लेता है, पर उसकी घटनाओ का मात्र विवरण प्रस्तुत नही करता। वह ऐतिहासिक विवरण को काट-छाँट कर अपने उद्देश्यो के अनुकूल बना लेता है।[2] वह घटना-चक्रमे इतिहासकार की तरह पूर्णतः बँधा नही होता। उसे इतिहास की चादर मे एक हद तक कल्पना के बेल-बूटे सजाने की स्वतत्रता होती है। इतिहास में जो एकरूपता और एकसूत्रता होती है, उसे वह मनोवैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करता है। विज्ञान की भाँति इतिहास मे भी सत्य का अनुसंधान होता है—दो और दो चार ही माना जाता है, पर, कविता

1— The true differenc is that one relates what has happened, the other what may happen. Poetry, therefore, is a more philosophical and higher thing than history, for poetry tends to express the universal, history the particular.'

2—'The poet may be historian, but he will be selective historian, whose method involves excision of all matters which cannot be closely knit into relation with this main action, whose contact with his hero and hero's doings, cannot some how be preserved.'

—English Epic & Heroic Poetry, Dixon, Page, 123

से कल्पना और अनुभूति के सम्मिश्रण से एक ही सत्य के विविध चित्र देखने को मिलते हैं। इस दृष्टि से भी कविता और इतिहास में अन्तर है।[1]

इतिहासकार यद्यपि अपने अनुसंधानों और ऐतिहासिक इतिवृत्तात्मकता को सरस, सुन्दर और सप्राण बनाने का प्रयास करता है, तथापि उसे कलाकार नहीं कहा जाता, क्योंकि उसके लिये कहने की शैली नहीं कहने के तथ्य ही प्रधान रहते हैं। अतः इतिहासकार कलाकार नहीं, कारीगर कहा जा सकता है।[2]

काव्य को महाकाव्य के स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिये एक विशिष्ट कौशल की अवश्यकता है। प्रतिभा को ज्ञान और चिन्तन के साथ संयुक्त करना पड़ता है। महाकाव्य के इसी गुरुतर कार्य को ध्यान में रखकर कवि और आलोचक 'कॉलरिज' ने महाकाव्य के लिये कम से कम २० वर्षों की साधना की अपेक्षा की थी।[3] जो लोग काव्य के लिये ९० प्रतिशत परिश्रम और १० प्रतिशत प्रतिभा की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उनको महाकाव्य का ध्यान अवश्य ही रहना होगा।

साहित्य परम्परा से विकासोन्मुख होता है। परम्परा और रूढ़ि में इसीलिये अन्तर है। जब आचार से विचार हट जाता है, तब रूढ़ि आती है, किन्तु परम्परा में आचार और विचार संयुक्त होते हैं। वर्त्तमान का साहित्यकार अतीत को भूल नहीं सकता। काल का महाप्रवाह तो निर्झर के समान होता है। जैसे समतल पर बहनेवाले निर्झर का सम्बन्ध गिरि-शिखर से नहीं छूटता, (छूटने

१—'काव्य और इतिहास में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि कविता कहीं भी विज्ञान के समान दिखलायी नहीं देती, किन्तु इतिहास कभी विज्ञान भी होता है और कभी उसे देखकर यह भ्रम भी होने लगता है कि, हो न हो यह विज्ञान नहीं कला है।'

—महाकाव्य में सत्य और कल्पना, दिनकर, योगी-दीपावली-विशेषांक १९६०

२—अच्छे से अच्छे इतिहासकारों में भी कला गौण और कथ्य प्रमुख रहता है और गौण कला, कला नहीं, कारीगरों का पर्याय ही है। इसलिये, गिब्बन, कारलाइल और जायसवाल को भी हम कलाकार नहीं, केवल कारीगर कह सकते हैं।

—वही

३—'I should not think of devoting less than twenty years to an epic poem, ten years to collect materials and warm my mind to universal science....the next five in the composition of the poem and five in the correction of it'.

—Quoted from 'The epic', Abercrombie, Page 37

पर निर्भरत्व ही समाप्त हो जायेगा) उसी तरह अतीत-वर्त्तमान पूर्णत: सम्बद्ध होते हैं—[1] गलहार के मोती की तरह ।

संस्कृत के महाकाव्य और उनका हिन्दी महाकाव्यों पर प्रभाव

हिन्दी के महाकाव्यों ने अपना स्वतत्र विकास किया—उनकी अपनी जातीय विशेषताएँ है, लेकिन संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत के महाकाव्यों की परम्परा को समझकर ही हिन्दी महाकाव्यो के आदि युग को भलीभाँति समझा जा सकता है । प्रारम्भ मे हिन्दी के महाकाव्य संस्कृत महाकाव्यो के आदर्श लेकर विकसित हुए । संस्कृत के इन महाकाव्यों की सुदीर्घ परम्परा प्राचीन काल में मिलती है । आदि महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण को ही आदर्श मानकर बहुत से आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये थे । महाभारत की गणना पुराण और आख्यान के रूप में की जाती है,[2] किन्तु महाकाव्य की उदात्त परिभाषा के अनुसार उसकी गणना महाकाव्यो मे भी की जाती मे । अश्वघोष का सौन्दरनन्द, कालिदास का रघुवशम् और कुमारसम्भवम् प्रसिद्ध महाकाव्य हैं । बाद के महाकाव्य मुख्यत: महाभारत और रामायण पर आधारित है । इन दोनो पुस्तकों की इसी व्यापकता और श्रेष्ठता से प्रभावित होकर रविबाबू ने केवल इन्ही दोनो को भारतीय महाकाव्य माना है ।[3] हिन्दी

१—"जो 'है' उसकी साधना में ऐसा साहित्यकार उसे एक ओर हटाकर नहीं फेंक सकेगा, जो 'था', अनुभव करेगा कि 'अतीत' उसका नाम है जो पहले वर्त्तमान है, जबकि 'आज' वह है जो वर्त्तमान होना प्रारम्भ हुआ है । अतीत और वर्त्तमान के इस दुहरे अस्तित्व की, उनकी पृथक् वर्त्तमानता और एकसूत्रता की, निरन्तर अनुभूति ही ऐतिहासिक चेतना है, और उस चेतना का अनवरत स्पन्दनशील विकास ही परम्परा का ज्ञान ।"

—त्रिशंकु, अज्ञेय, पृ० ३१

2—'Sanskrit epic poetry falls into two main classes. That which comprises old stories goes by the name of Itihas, legened, Akhyana 'Narrative' or Purana, ancient tale, while the other is called kavya or artificial epic. The Mahabharat is the chief and oldest representative of the former group, the Ramayan of the latter,'—A History of Sanskrit Literature, Macdonele, Page 281

३—'अतएव कुछ प्राचीन काव्यो को एक श्रेणी में रखकर उनका नामकरण किया जाये तो उन्हें महाकाव्य के सिवा और क्या कहा जा सकता है ? ये प्राचीनकाल के देवताओ और दानवों के समान विशालकाय थे । अब इनकी जाति लुप्त हो गयी है । सारांश यह कि संसार भर में महाकवियो का अवतार नही होता ।'

—प्राचीन साहित्य, (अनुवादक, रामदहिन मिश्र) पृ० ३

के भी अधिकांश महाकाव्य इन्हीं दोनों की कथाओं से सम्बद्ध हैं। कालिदास के बाद के अधिकांश महाकवि राज्याश्रित थे, उनके काव्यों पर विलासी वातावरण का प्रभाव पड़ा और उनकी रचनाएँ अलंकृत होने लगीं। भारवि का किरातार्जुनीय, भट्टि का भट्टिकाव्य, माघ का शिशुपाल-वध और श्रीहर्ष का नैषधीय चरित संस्कृत महाकाव्य की परम्परा की लोकप्रिय कलात्मक कृतियाँ हैं।

रामायण और महाभारत संकलात्मक महाकाव्यों के तथा रघुवंश, कुमार संभव आदि कलात्मक महाकाव्यों के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। यद्यपि महाकाव्यों के ये आदि स्वरूप हैं, तथापि लोक-प्रचलित कथाओं और गीतों के ये विकसित रूप माने जावेंगे। ऋग्वेद के सम्वाद-सूक्तों एवं ब्राह्मण-ग्रथों की कथाओं में भी महाकाव्यत्व के आदि रूप मिलते हैं। ब्राह्मण-ग्रंथों में आयी कथाएँ गद्य-पद्य मिश्रित हैं, जैसे ऐतरेय में शुनःशेप की कथा। ईसा के ५ शताब्दी पूर्व निरुक्त में भी कई कथाएँ आयी हैं। महाभारत के निर्माण में अनेक व्यक्तियों के हाथ रहे होंगे, जिनमें स्वयं महाभारत के अनुसार व्यास, वैशम्पायन और सौति के नाम उल्लेखनीय हैं। महाभारत का वर्त्तमान रूप लगभग एक हजार वर्ष में पूरा हुआ लगता है। अतः रामायण और महाभारत का कितना अंश वैदिक-काल में और कितना बाद को लिखा गया, कहना कठिन है।[1] महाभारत के आकार के विशाल होने का कारण कई व्यक्तियों द्वारा उसका लिखा जाना है। दस लाख से अधिक श्लोकों वाला यह महाभारत भारत का विशालतम ग्रंथ है। इलियट-ओडेसी के सम्मिलित आकार से भी यह ग्रंथ अठगुणा बड़ा है। मनोविज्ञान की दृष्टि से महाकाव्यों के सर्गो के आकार में एक क्रमिकता होनी चाहिये, पर इस महाकाव्य में यह संभव नहीं हो पाया है। बारहवें पर्व में लगभग चौदह हजार और सत्रहवें पर्व में लगभग ३१२ श्लोक हैं। इसका भी कारण कई व्यक्तियों द्वारा इस ग्रंथ का प्रणयन ही है।

---

1 If we examine the two epic poems of India, the Ramayana and Mahabbharata'we shall find it impossible to use them as authorities for the Vedic age, because we are not yet able to decide critically which parts of these poems are ancient and which are medern and post—Budhistic or atleast retouched by the hands of late compilers and editors.

—A History of Ancient Sanskrit Litterature; Max Muller, Page—19

आदिकाव्य रामायण में कई कवियों की लेखनी का प्रसाद है, फिर भी इसमें एक व्यक्ति, कवि वाल्मीकि की ही पंक्तियाँ अधिक है। रचना-पद्धति की एकतानता को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि मूलत. इसके रचयिता वाल्मीकि ही है, बाद मे कुछ कवियो की कृपा से प्रक्षिप्त अश आ गये है; जैसे—राम का विष्णु के अवतार के रूप मे वर्णन। स्वय रामायण मे इस बात का प्रमाण मिलता है कि यह पेशेवर गायको द्वारा एकतारा की तरह के वाद्ययंत्र पर गाया जाता था। राम के पुत्र कुश-लव के नाम इस दिशा मे प्रमुख है, पर वस्तुत: ये नाम कुशिलव शब्द के ही रूप है—जिसका अर्थ है गायक या अभिनेता। रामायण के स्वरूप-परिवर्त्तन का एक कारण यह भी है। मूल अश अयोध्याकांड से युद्धकांड तक का माना जाता है, जिसकी रचना ३०० ई० पू० के आस-पास वाल्मीकि ने की थी।

रामायण और महाभारत के विवेचन का प्रयोजन

रामायण और महाभारत की विवेचना इस लिये आवश्यक है कि इन दोनो ग्रंथो ने अपने युग की तमाम प्रवृत्तियो और काव्य-शैलियो को अपने मे समेटने के साथ ही परवर्ती महाकाव्यो को बहुत अशो मे प्रभावित किया।[1] कलात्मक स्वरूप और शिल्प की दृष्टि से रामायण-महाभारत सिद्ध काव्य है। परवर्ती महाकवियो ने अधिकतर कथातत्त्व महाभारत से लिये, पर शैली और स्वरूप-विधान की प्रेरणा रामायण से ली। रामायण की शैली अपने युग मे लोक प्रचलित कथा-काव्यो से अधिक परिमार्जित है, इसमे केवल वर्णनात्मकता को महत्व न देकर रचना-कौशल को भी अपनाया गया[2]। अत महाभारत जहाँ आगामी महाकाव्यों की कथा-वस्तु के लिये प्रेरक बना, वहाँ रामायण शिल्प के लिये प्रेरणा बनी; एक काव्य के अन्तरग का प्रेरक बना दूसरे ने बहिरग को प्रेरणा दी, एक ने मांसलता दी, दूसरे ने रूप-लावण्य दिया।

१—'वाल्मीकि ने सस्कृत रामायण मे जिस शब्द-ब्रह्म का दर्शन किया, उसके सहस्रमुखी पुष्कल विधान का बल पाकर ही देश्य भाषाओ का रामायण-साहित्य बना है।' —हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव, डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, आलोचना, जनवरी, १९५३

2 'In style the Ramayana is already far removed from the native popular epic, in which the story is the chief thing, and not its form

—A History Of Sanskrit Literature, Macdonell Page-310

साहित्य में नैतिकता किस सीमा तक अभिनन्दनीय है, यह एक ऐसा प्रश्न है, जो अपनी लपेट में आदि काल से अब तक की समग्र रचनाओं को समेटे हुए है। भारतीय साहित्य का लक्ष्य अनैतिकता को प्रश्रय देना नहीं है, फिर भी ऐसी बात नहीं कि अनैतिक तत्त्वों का समावेश हुआ ही न हो। वस्तुतः कला में अनैतिकता का प्रश्न ही व्यर्थ है। साहित्य या कला न अपने आप में नैतिक होती है न अनैतिक। युग-परिवेश और व्यक्ति-भावना के कारण ही नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न उठता है। रामायण में महाभारत की अपेक्षा अधिक नैतिकता है, क्योंकि नियमतः वीर युग के प्रारम्भिक चरण की अपेक्षा विकसित अवस्था में वीरता और विजय-भावना के साथ सामाजिक, धार्मिक और नैतिक भावनाएँ जुड़ जाती हैं। अतः महाभारत के चरित्रों की अपेक्षा रामायण के चरित्र समाज से अधिक अनुशासित, अधिक लोक-धर्म-पालित और नैतिक हैं। चरित्र के उच्च आदर्श इनमें अधिक हैं, वे व्यक्तिगत वासना और क्षुद्र सीमाओं से ऊपर उठे हुए हैं।

भारतीय दृष्टि जीवन को समग्रता से देखने की अभिलाषिणी है, वह ऐकान्तिकता और संकीर्णता को महत्त्व नहीं देती। यही कारण है कि यद्यपि रामायण और महाभारत दोनों की कथाएँ क्रमशः दश दिनों के लंका-युद्ध और अट्ठारह दिनों के महाभारत युद्ध से सम्बद्ध हैं, तथापि उनमें नायकों की सम्पूर्ण जीवन-गाथा मिलती है। युग के प्रभाव के अनुरूप इन दोनों ही महाकाव्यों में अतिमानवीय और अतिप्राकृतिक तत्त्व मिलते हैं। देवताओं का शाप या वरदान, गन्धर्वों की मानव-सहायता और प्रेम-व्यापार, राक्षसों के अत्याचार और भीषण कार्य-कलाप यत्र-तत्र सहज ही देखने को मिलते हैं।

दो प्रकार के महाकाव्य—विकसनशील और कलात्मक

संस्कृत में दो प्रकार के महाकाव्य लिखे गये—विकसनशील महाकाव्य (एपिक ऑफ ग्रोथ) और दूसरा कलात्मक या अलंकृत महाकाव्य (कोर्ट एपिक, एपिक ऑफ आर्ट या आरनेट एपिक)। साधारणतः महाभारत और रामायण को विकसनशील और उसके बाद के, जैसे अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि, आदि के महाकाव्यों को अलंकृत माना जाता है। इन अलंकृत महाकाव्यों के शिल्प, अलंकरण, प्रकृति-चित्रण, वस्तु-नियोजन आदि रामायण में अपने मूल रूप में मिलते हैं। ये अलंकृत महाकाव्य महाभारत-रामायण की अपेक्षा अधिक एकरूपता लिये हुए हैं। सामन्त-युग में रचे होने के कारण इन पर राज-दरबार

का प्रभाव भी है। लिखित होने के कारण अपने पूर्ववर्ती मौखिक रूप से प्रचारित-प्रसारित विकसनशील महाकाव्यो की अपेक्षा इनमे नियमबद्धता अधिक है। इनके रचयिताओ के नाम के विषय मे भी निश्चितता है। सामान्त युग के ह्रास-काल के महाकाव्यों को छोडकर शेष मे विकसनशील महाकाव्यो के विपरीत कथा-जाल, व्यर्थ के प्रसग, अनियोजित कथावस्तु या वे सारे दोष नही मिलते, जो एक की जगह अनेक के हाथों से किसी रचना के प्रणयन मे होते है। पांडित्य-प्रदर्शन अलकृत रचनाओं का सहज गुण होता है, क्योकि सामन्ती वातावरण मे विशिष्ट जन-समूह के सामने पढी जाने वाली रचनाओ के कौशल पर भी कवियों का ध्यान रहता है। विद्वद्मंडली से प्रशंसा पाने को उद्यत इन कवियों का श्रम-साध्य शैली से रचनाएँ लिखकर पांडित्य-प्रदर्शन करना स्वाभाविक ही है। सहज वीरता की जगह कूट-नीतिपूर्ण वीरता अलंकृत महा-काव्यों के नायकों का गुण है—केवल बाहु-बल पर भरोसा न रखकर ये पात्र अपनी मेधा का भी उपयोग करते दीखते है। इन अलंकृत महाकाव्यो मे कथा को गौण बनाकर, चित्रण-चातुरी और कलात्मकता को महत्व दिया गया है।[1] इन अलकृत महाकाव्यों मे वस्तु-चित्रण की दृष्टि मे कुछ कलात्मक विशेषताएँ देखी जा सकती है।

संस्कृत महाकाव्यों में मौलिकता और नवीनता

जो कभी मौलिक और नवीन होता है, वही आदर्श बनकर प्राचीन हो जाता है। अनुकरण करने वाले व्यक्ति, उसे रूढ बना देते है और तब उसकी गतिशीलता नष्ट होकर, अपनी ही विशेषताओ के प्राचीर में कैद हो जाती मे। अनेक युगो तक रामायण की शैली पर लिखे गये महाकाव्य धीरे-धीरे परम्परा-भुक्त हो गये। आगे चलकर काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के कुछ स्थिर लक्षण बना दिये, जिनके आधार पर कुछ शास्त्रीय महाकाव्य लिखे गए। परवर्त्ती महाकाव्योमे नवीनता का उन्मेष कम होने लगा—एक पिटी-पिटायी लीक पर

1—A pretended elegance of form, and the performance of different tricks, and feasts of expression, constitute the main aim of the poet, while the subject has become a purely subordinate consideration, and merely serves as the material which enables him to display his expertness in manipulating the language

—The History Of Indian Literature, Weber, Page—196

चलन वाले महाकवि (?) कुछ नया नहीं कह सके। ऐसे शास्त्रीय महाकाव्य किन्तु अधिकतर अच्छी-बुरी दोनों प्रकार की रचनाओं से भरे हैं। अश्वघोष और कालिदास की कृतियाँ शास्त्रीय महाकाव्य होकर भी रसपूर्ण, नियमित और स्वच्छन्द प्रतिभा की परिचायिका हैं। कालिदास के रघुवंश और कुमारसम्भव महाकाव्य की उदात्त गरिमाओं से पूर्ण हैं। रघुवंश का कथा-विस्तार सुदीर्घ होकर भी सुनियोजित है। १९ सर्गों के इस महाकाव्य में ९ सर्गों में राम के चार पूर्वज दिलीप, अज, रघु और दशरथ के महान् चरित्रों का गान किया गया है। दसवें से पन्द्रहवें सर्ग तक—छः सर्गों में राम-चरित्र की गाथा और अंतिम चार सर्गों में राम के वंशज का वर्णन है। कालिदास ने काल के इतने बड़े क्षेत्र को अपनी काव्य-प्रतिभा से नाटकीय कार्य-व्यापार के रूप में ढाल दिया है। न कहीं व्यर्थ अवान्तर कथाएँ मिलती हैं और न कहीं अनावश्यक विस्तार। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबन्ध-काव्यकार के लिये मर्मस्पर्शी घटनाओं की पहचान का महत्त्व बतलाया है। रघुवंश के इन्दुमती के स्वयंवर, अज के विलाप, राम-सीता की यात्रा, निर्वासिता सीता का लक्ष्मण के द्वारा संदेश-वर्णन आदि प्रसंगों की स्वाभाविकता और हार्दिकता अविस्मरणीय है। रसों को उद्बुद्ध करने वाले प्रसंग भी महत्त्वपूर्ण हैं। अग्नि-वर्ण के विलास-वर्णन में शृङ्गार; रघु, अज और राम के युद्ध-वर्णन में वीर, अज-विलाप में करुण एवं वशिष्ठ-वाल्मीकि के आश्रम-चित्रण तथा सर्वस्वत्यागी रघु के वर्णन में शान्तरस का अत्यन्त सफलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। रघुवंश के अज-विलाप की भाँति कुमारसंभव का रति-विलाप भी अत्यन्त हृदय-द्रावक है।

कालिदास ने समाज के लिये प्रेरक आदर्शोन्मुख दृष्टिकोण अपनाया। महाकाव्य को जीवन्त बनाने वाले कथनोपकथन अत्यन्त मोहक और प्रसंगानुकूल हैं। कुशल कवि के हाथों रूढ़ि-ग्रस्त, जर्जर और घिसी-पिटी कथाएँ भी सृष्टि-निपुणता के कारण मौलिक और नयी उद्भावनाओं से पूर्ण हो जाती हैं। कालिदास के कथन की भंगिमा और वक्रोक्ति एवं व्यंजना-शक्ति के कारण कथा को नयी प्राण-शक्ति मिल गयी है। शब्द-लाघव की कला ने रघुवंश और कुमारसम्भव दोनों को अत्यन्त प्रभविष्णु बना दिया है। कुमारसम्भव और मेघदूत की अपेक्षा रघुवंश में कवि की दृष्टि अधिक मानवीय है। उच्च मानवीय मूल्यों का पूर्ण निर्वाह इस पुस्तक में हुआ है। कालिदास ने महाकाव्य की रचना साहित्यिक सौन्दर्य को ध्यान में रखकर की है, इसलिये शास्त्रीय

महाकाव्य होते हुए भी इनकी रचना में रीतिबद्धता नहीं है। कुमारसंभव में तो कवि ने बहुत-सी प्रचलित रूढ़ियों को भी त्याग दिया है। न उसमें प्रारंभिक आशीर्वचन मिलता है, न नमस्क्रिया और न कथा-योजना; न दृश्य-योजना-संबंधी वे रूढ़ियाँ ही मिलती हैं, जो शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य समझी जाती थी।

छठी से दशवींशती के संस्कृत महाकाव्य

अनुकरण जब स्वभाव बन जाता है, प्राचीनता जब नवीनता को अपना नही पाती है, तब साहित्य में पांडित्य-प्रदर्शन और रीतिबद्धता का युग आती है। छठी से लेकर दशवी शताब्दी तक लगभग चार सौ वर्षों में संस्कृत के महाकाव्य ऐसी ही दयनीय स्थिति में रहे। चर्वित-चर्वण और निर्जीव परम्परा-निर्वाह इनकी विशेषता बन गये। भारवि के किरातार्जुनीय, माघ के शिशुपाल बध, मखक के श्रीकंठचरित, श्री हर्ष के नैषध-चरित आदि में महाकाव्य के लक्षणो का अधानुकरण मिलता है। कथा की जीवन-शक्ति त्याग कर, भावो की गरिमा को तिलांजलि देकर इन कवियो ने कही-कही तो ऋतु-वर्णन, सौन्दर्यवर्णन आदि में ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग किया है। वहाँ वर्णन किसी पूर्वापर प्रसग की सिद्धि या मानव-भावो के चित्रण आदि के लिये न आकर, महाकाव्य के कथा-प्रसग से विच्छिन्न अपना उद्देश्य आप जान पडते है। आचार्यत्व की दिशा में रीतिकाल में जो दशा हिन्दी कवियो की हुई, महाकाव्यत्व के क्षेत्र में वही दशा इन कवियो की हुई। मौलिकता की रसधार जैसे ऋतु-वर्णन, पान-गोष्ठी, प्रसाधन आदि की चमत्कारिता की मरुभूमि में सूख-सी गयी।

ज्ञान-प्रदर्शन की यह मात्रा इतनी अधिक बढ़ गयी कि भट्टि-काव्य में कवि कविता करने के साथ ही व्याकरण और अलकार का शिक्षक भी बन गया, पर न भट्टिकाव्य रसपूर्ण महाकाव्य ही बन सका और न पूर्ण व्याकरण-अलकार-शास्त्र ही। कुमारपाल चरित के कवि हेमचन्द्र ने तो इस चमत्कार-प्रदर्शन में एक और विचित्रता दिखलायी। उसने अपने २८ सर्गो के इस महाकाव्य में २० सर्ग संस्कृत में और ८ प्राकृत में लिखे। भाषा के क्षेत्र में यह एक अद्भुत प्रयोग रहा। व्याकरणाचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी तक को महाकाव्य के नाम पर घसीटा गया—भौमिक का रावणार्जुनीयम् इसका प्रमाण है, जिसे अष्टाध्यायी का लक्ष्य-ग्रथ बना दिया गया।

प्रशस्ति मूलक काव्य

व्यक्तिपूजक सामान्ती वातावरण मे 'प्रकृत मनुज करहि गुनगाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' जैसे सिद्धान्त-वाक्य कौन लिखता ! हिन्दी के वीरगाथा काल की भाँति संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यो मे भी आश्रयदाता और अन्य वीर पुरुषो के प्रशस्तिगान के नामपर हर्ष चरित (वाण), विक्रमांक देवचरित (बिल्हण), राजतरंगिणी (कल्हण) जैसे महाकाव्य लिखे गये । ये महाकाव्य ऐतिहासिकता और काल्पनिकता के ताने-बाने से रचे गये । नायक-कुल की झूठी प्रशंसा और अतिरंजित झाँकी इन कवियो ने प्रस्तुत की । फिर भी रोमांचक महाकाव्यो की अपेक्षा इनमे कम भावुकता और कल्पना-विलास है । गुणाढ्य की बृहद्कथामजरी ने रोमांचक महाकाव्यो को बहुत अधिक प्रभावित किया । ऐसे महाकाव्यो मे कथासरित्सागर (सोमदेव) , नेमिनिर्बाण (वाग्भट्ट) शान्तिनाथ चरित (मुनि भद्रसूरी) आदि ग्रथ प्रसिद्ध है ।

पालि, प्राकृत और अप्रभंश के महाकाव्य

संस्कृत के साथ ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यो का विकास भी इस दृष्टि से पठनीय है कि इन्होंने हिन्दी के महाकाव्य-शिल्प को कहाँ तक प्रभावित किया । पालि का महत्व हिन्दी महाकाव्यों के लिए प्रमुखत: इसीलिए है कि इसने हिन्दी को जातक-कथाएँ दी है । पालि के दो महाकाव्य—दीपवंश और महावंश ऐतिहासिक काव्य ही हैं । वस्तुत: प्राकृत और अपभ्रंश ने हिन्दी महाकाव्यो को कई दृष्टियाँ से ऋणी बनाया है । प्राकृत महाकाव्यो के विषय भी प्राय: राम-कृष्ण की कथाओं से सम्बद्ध है । इन दोनो ही भाषाओ के महाकाव्य संस्कृत शैली के हैं। प्राकृत के महाकाव्यो मे पउम चरिउ (बिमलसूरि), सेतुबन्ध या रावण-बहो (प्रवरसेन) गौडबहो (वाक्पतिराज) श्री चिन्हकाव्य या सिरिचिंधकव्व (श्रीकृष्णलीला शुक) आदि प्रसिद्ध है । प्राकृत के महाकाव्यो में कथात्मक तत्त्व प्रमुख हैं । चरित-काव्य और कथा-काव्य दोनों ही प्राकृत मे लिखे गये । प्राकृत मे संस्कृत की रूढ़ियो को खुलकर अपनाया गया और उसके भाव-विचार भी मुक्त भाव से लिए गये । सेतुबन्ध पर कालिदास की ऐसी छाप मालूम पड़ती है कि कुछ लोग इसे उनकी ही कृति मानते है ।

प्रतिभाशाली साहित्यकार उस शिल्पी की भाँति होते है, जो जड, अनगढ और अनादृत पत्थर के टुकडे को अपनी कला-कुशलता से भगवान् का पूज्य स्वरूप प्रदान कर देते हैं । कुछ-कुछ ऐसी ही बात अपभ्रंश साहित्य के साथ

हुई। अपभ्रंश साहित्य की जड और रीति-बद्ध होती हुई परम्परा को सिद्ध और जैन कवियो ने नयी गति दी।[1] यह बात नही कि इन साहित्यकारो ने बहुत श्रेष्ठ काव्य-कृतियाँ दी, पर इतना निश्चित है कि हिन्दी-काव्य के विकास पर इस काल का बहुत अधिक प्रभाव पडा। अनेक काव्यों-प्रवृत्तियो का स्रोत इस युग में सहज ही मिल जाता है। छठी शती तक अपभ्रंश-साहित्य का विकास पर्याप्त रूप से हो गया था। अपभ्रंश का काव्य मूलत: प्राकृत से प्रभावित है। अपभ्रंश मे पुराणों और व्यक्ति-चरितो को आधार मानकर महाकाव्य लिखे गये। इस काल में पौराणिक और चरित-काव्य मे कोई भेद नही रहा—जैसे हरिवंश पुराण (स्वयंभु) को रिट्ठणेमि चरिउ भी कहा गया है। इसमे १२ हजार श्लोक, ५ काण्ड और ९० संधियाँ हैं। इस महाकाव्य मे वाल्मीकि का सहारा लेकर भी मौलिकता दिखलायी गयी है और इसमे सर्वत्र पवित्र दृष्टि वर्त्तमान है। रोचक घटना-क्रम, परम्परागत प्रकृति-चित्रण और सहज अलंकरण के कारण भी यह काव्य पठनीय है। करुण और वीर-रस के चित्रण में पउमचरिउकार बड़े मार्मिक सिद्ध हुए है। वे मानव-धर्म के पारखी और भावुक कवि थे। तुलसी के मानस और पउमचरिउ मे कई समानताएँ भी है। पुष्पदन्त के महापुराण त्रिसट्ठिपुरिसगुणलकारु मे भी १८ हजार श्लोकों और ११२ संधियों मे ६३ महापुरुषो का चरित्र वर्णित है। इसमे विशाल भिन्न कथाओ के कारण एकसूत्रता नही मिलती। महाकाव्य के परम्परा-भुक्त नियमों का पालन करते हुए कवि ने प्रकृति-वर्णन और चरित्र-चित्रण मे कुशलता दिखायी है।

पौराणिक जीवन-चरितो मे वीर कवि का 'जम्बूस्वामी चरिउ,' पद्मकीर्ति का 'पासु पुराण,' धनपाल का 'बाहुबलि चरिउ,' महीन्द्र का सांन्तिगाह चरिउ आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इनमे कल्पना का विलास नही के बराबर है। इसमे अतिमानवीय तत्वों का समावेश भी मिलता है और यत्र-तत्र जैन धर्म का प्रतिपादन भी। शिल्प की दृष्टि से चरित काव्यो का प्रारम्भ एक-सी प्रशंसा-निन्दावाली शैली मे हुआ है। इससे भिन्न धनजय के 'भविसयत्त कहा,' लक्ष्मण का 'जिणदत्त चरिउ' आदि रोमांचक काव्यो मे लौकिकता-परलौकिकता दोनो

१—'अपभ्रंश जब अपनी साहित्यिक शैली मे रूढ होने जा रहा था, तब उसमे जनता की मनोवृत्ति के नवीन प्रयोग हुए, जो सिद्धो और जैन कवियो की रचनाओं में पाये जाते है।' —हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा पृ० ५०

का समन्वय है । युद्ध और प्रेम की दो प्रबल धाराये इन काव्यो मे प्रवाहित होती हैं । अवान्तर कथाओं के कारण जटिलता बढ गयी है ।

प्रभावों का आकलन

रचना-विधान की दृष्टि से हिन्दी पर अपभ्रंश-काव्य का प्रभाव पड़ा और स्वयं अपभ्रंश पर संस्कृत काव्य-शैली का; यथा, स्वयभू के महाकाव्य—पउमचरिउ और रिट्ठणेमि चरिउ—दोनो संधियो के साथ रामायण-महाभारत की भाँति काण्डो मे भी विभक्त है । छदो की विविधता का विधान भी इन महाकाव्यो मे है । हिन्दी के महाकाव्य मे सज्जन-स्तुति, खल-निन्दा, विनय-भावना आदि महाकाव्य की जो प्रारम्भिक औपचारिकताएँ मिलती है, वे भी इन पूर्ववर्ती महाकाव्यो मे वर्तमान है ।

प्राचीन महाकाव्यों मे पृथ्वीराज रासो, पद्मावत और मानस—तीनों ही अपभ्रंश के महाकाव्यो के ऋणी है । रस की दृष्टि से नहीं, पर नाम की दृष्टि से सन्देशरासक आदि काव्य अपभ्रंश में भी मिलते है । इस तरह संस्कृत, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश के कथात्मक और शिल्पात्मक अनेक तत्व कालान्तर मे पल्लवित-पुष्पित हुए, जिनसे हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यो का विकास हुआ । कुछ तो लक्षण-ग्रंथो के अनुकरण पर लिखे गये, कुछ ने अपनी मौलिकता स्थापित की । इस तरह प्राचीन के बीज से नवीन का पौधा बढ़ता गया, बढता गया ।

हिन्दी के महाकाव्य यद्यपि संस्कृत और प्राकृत से बहुत दूर तक प्रभावित है तथापि अपभ्रंश-काव्य का भी प्रत्यक्ष विकास हिन्दी में दीख पड़ता है । आदि काल से लेकर अब तक हिन्दी के महाकाव्यों की अटूट सरणि दीख पड़ती है । पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त आदि काल में प्रबन्ध काव्य विभिन्न रूपों मे विकसित हुए, जिनमें कीर्तिलता, बीसलदेव रासो, आल्हखंड, ढोला मारू रा दूहा, सन्देशरासक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी के महाकाव्य

वीरगाथा काल में हिन्दी के प्रकृत महाकाव्य का निर्माण हुआ । इस काल में चारणो ने प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य का निर्माण किया, जिसमें ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का समावेश है[1] और जो कई कवियों द्वारा परिवर्तित-

---

1. Heroic Poetry is not as a rule, greatly indebted to historical fact for its material.

—Epic & Romance W P. Ker, Page—26.

परिवर्द्धित होते हुए आज अपने वास्तविक रूप में नहीं है। इस काल में, राजनीति और साहित्य एक दूसरे में परस्पर-सम्बद्ध हो गए।'

काव्य के कलापक्ष और भावपक्ष दोनों से ही पुष्ट महाकाव्य भक्तिकाल में रचे गए। पद्मावत और रामचरितमानस इसी काल की देन हैं। रीतिकाल में महाकाव्यों का विकास अवरुद्ध-सा हो गया। मुक्तक के इस युग में रीतिबद्ध प्रवृत्तियों ने काव्य के सभी अंगों को घेर लिया। 'रामचन्द्रिका' महाकाव्य के नामपर आचार्यत्व का प्रदर्शन सिद्ध हुआ।

आधुनिक काल—महाकाव्य एवं महान् काव्य

आधुनिक काल में नवयुग की जो चेतना आयी, उसने महाकाव्यों की दिशा में क्रान्ति उपस्थित कर दी। कथावस्तु, चरित्रचित्रण, भाव-निरूपण, छन्द योजना आदि सभी दिशाओं में कवियों ने अपनी मौलिकता दिखलाई। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, एकलव्य आदि शिल्प की दृष्टि से एक से एक कलात्मक-प्रबन्ध रचनाएं सामने आयी। द्विवेदी युग से अब तक महाकाव्य के नाम पर कुछ न कुछ लिखे जाते रहे हैं, 'महाकाव्य के नाम पर' इसलिए कि महाकाव्य के लक्षणों से पुष्ट होने या अपनी रचना को महाकाव्य कह देने भर से किसी की कृति महाकाव्य नहीं कही जा सकती। महाकाव्य में जो महाप्राणता, महच्चरित्रता, महत्कार्य, स्थायित्व और मानव-मन को आन्दोलित करने की शक्ति होनी चाहिए, वह इन सभी रचनाओं में कहाँ मिलती।[२] रामचन्द्रिका तो महाकाव्य के

१—इतिहास की घटनाओं का वर्णन भी साहित्य के अन्तर्गत आ गया था, क्योंकि साहित्य इस समय वीर-पूजा अथवा धर्म और राजनीति के नेता के गौरव का गीत था। सत्य और धर्म के किसी भी अग्रणी का जीवन-चरित उस समय साहित्य था। राजनीति और साहित्य का इतने समीप आ जाना हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारणकाल की विशेषता है'

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १५१

२—महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिए और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिए।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मेघनादवध पर सम्मति, अनुवादक, मधुप, पृ० १५९-६०।

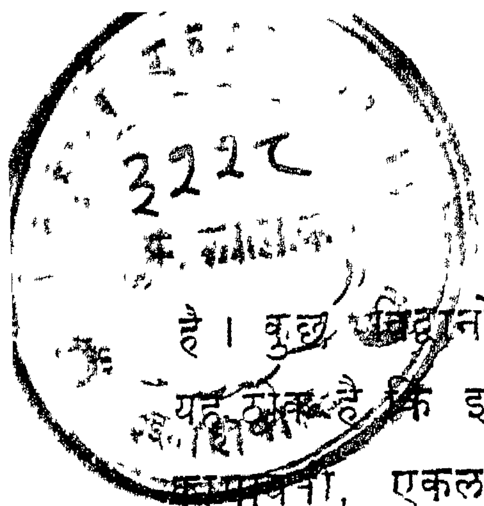
परम्परागत लक्षणो मे बहुत कुछ पूर्ण है; पर वह तो उच्चकोटि का काव्य भी नहीं, महाकाव्य कैसे कहा जाय ! इसके विपरीत महाकाव्य के तथाकथित लक्षणो का निर्वाह नही होने पर भी कामायनी को महाकाव्य कहा जाता है। काव्य-कला के उत्कर्ष की दृष्टि से मुक्तको के संग्रह 'सूरसागर' के रचयिता को भी महाकवि कहा जाता है। निश्चित रूप से महाकाव्य को महान्काव्य भी होना चाहिए। तात्पर्य यह कि महाकाव्य के परम्परागत लक्षणो से युक्त होकर भी यदि किसी कृति मे महान् काव्य के गुण न आयें तो वह महाकाव्य नही कहा जा सकता। ऐसे तथाकथित महाकाव्य आये दिन कितने ही रचे जा रहे है ! आज कवि होने के पहले ही महाकवि बनने का एक हौसला नए युग के बहुत से कवियो मे दीख पड़ता है।

नवीन दृष्टिकोण

यह युग है तो मुक्तक का, पर ऐसी बात नही कि कथा-काव्य की प्रवृत्ति नही है। युग-चेतना की अभिव्यक्ति और मानवता के नये मूल्यांकन के साथ ही नये महाकाव्य की माँग समाज किया करता है और आधुनिक काल मे उसकी पूर्ति भी की गयी है। ये महाकाव्य जातीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति और मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या करते है। शिल्प की दृष्टि से वस्तु-वर्णन और चरित्र-चित्रण की प्रमुखता दी गयी है। उच्चवंशीय समादृत नायकों को कौन कहे—कर्ण, रावण, एकलव्य आदि पर भी महाकव्य लिखे गये है। आधुनिक महाकाव्यों में देवता की मानव-लीला के वर्णन की जगह किसी मानव के देवत्व की प्रतिष्ठा की जाती है। मानव की सहज दुर्बलताओं का और युग-युग से उपेक्षित पात्रों का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया जाता है। यही कारण है कि कैकेयी पर महाकाव्य लिखा गया। राम-काव्य के सर्वश्रेष्ठ आधुनिक कवि गुप्त जी ने साकेत में कैकेयी का पुनर्मूल्यांकन किया। महापुरुषों की श्रेणी मे वे भी गिने गये, जिन्होंने साहित्य-साधना की और उन पर कथा-काव्य लिखे गए। तुलसीदास, मीरा, प्रेमचन्द—सभी काव्य के नायक बने।

प्रबन्ध और मुक्तक का संयोग

आधुनिक युग में महाकाव्यों मे प्रबन्ध और मुक्तक का संयोग किया गया। उदाहरणार्थ, साकेत के नवम सर्ग और सम्पूर्ण कामायनी मे यत्र-तत्र पिरोये गए गीत देखे जा सकते है। यह मिश्रण-कला पाश्चात्य साहित्य की देन



है। कुछ विद्वानो ने इस तत्व को प्रवन्ध काव्य के प्रतिकूल माना है।[1] यह ठीक है कि इससे काव्य के रसानन्द मे बाधा पहुँच सकती है, पर साकेत, कामायनी, एकलव्य जैसे महाकाव्यो के शिल्प को देखते हुए यह नयापन अभिनन्दनीय लगता है; क्योंकि गुप्त, प्रसाद या वर्मा का उद्देश्य कथा की मांसल-योजना नही, भावों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक नियोजन और चारित्रिक कार्य-व्यापार से अधिक अन्तर्मन का चित्रण है। नाटको की तरह ये गीत महाकाव्यों के पात्रों की मन·स्थिति को स्पष्ट करते है।

आधुनिक युग के महाकाव्यों के शिल्प के विकास और उपलब्धि की परीक्षा और मूल्यांकन के लिए प्राचीन महाकाव्य की प्रवृत्तियो और महाकाव्य सम्बन्धी दृष्टिकोणों की जॉच के साथ ही कथावस्तु, चरित्र-चित्रण रस-निरूपण, प्रकृति-चित्रण, शैली आदि के क्षेत्र मे प्रयुक्त नवीनता और मौलिकना की परख करनी होगी। प्राचीन-नवीन, पाश्चात्य-पौरस्त्य—सभी क्षेत्रो मे शिल्प-सम्बन्धो उद्भावनाओ की पृष्ठभूमि मे इन महाकाव्मों का परीक्षण करना होगा।

आधुनिक महाकाव्यों के क्षेत्र-निर्धारण के कारण

आधुनिक काल के हिन्दी-साहित्य को भारतीय वाङ्मय की एक विशाल और पुष्ट परम्परा प्राप्त है। बीसवी शताब्दी मे जीवन प्रगति की विभिन्न दिशाओं से होता हुआ पूर्णता की ओर बड़ी तीव्रता से बढ़ने का प्रयास कर रहा है। ज्ञान-विज्ञान के नये लोको का अनुसन्धान हो रहा है। कल तक जो विषय मात्र कल्पना से सम्बद्ध थे, वे मानव के चर्म-चक्षुओं के सामने यथार्थ के रूप मे प्रकट हो रहे है। अन्तरिक्ष-युग के मानव के लिए चन्द्रमा केवल उपमान का विषय नही रह गया, वह भ्रमणशील स्थान बन गया है। उसकी स्निग्धता के अन्तराल मे पर्वत, मरुभूमि क्या कुछ नही है! आधुनिक युग मानव के भविष्य की प्रयोग-भूमि है, अत: मानवीय संभावनाओं का अधिक से अधिक प्रसार सम्भव है। कविता का एक धर्म किसी

१—महाकाव्य और प्रगीत एक दूसरे के विपरीत पड़ते है। क्योकि महा-काव्य सर्वाङ्गीण प्रभावान्विति से युक्त होता है, प्रगीत केवल विशिष्ट अन्त:साक्ष्य कराकर विरत हो जाते है। इसलिए उसकी योजना प्रबन्धकाव्य के प्रतिकूल पड़ता है।

—वाङ्मय विमर्श, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ३०

वस्तु के मूल्य की वृद्धि भी है।[1] आधुनिक काल में यह काव्य-गुण अत्यन्त विकासोन्मुख है। तथ्यों एवं पदार्थों के मूल्यांकन तथा तत्सम्बन्धी दृष्टिकोणों के परिवर्तन की दृष्टि से आधुनिक काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

आधुनिक काल का सम्बन्ध आदर्श की अपेक्षा यथार्थ से अधिक होने के कारण आज वैज्ञानिक एवं बुद्धिसंगत दृष्टिकोण का प्राधान्य है। एक स्वाभाविक वातावरण का व्यापक प्रसार साहित्य के चारों ओर दीख पड़ता है। नये के ग्रहण में आज बहुत सारे पुराने छोड़ दिए हैं। इसके लिए मानव को अपने अस्तित्व और विकास के पथ पर प्रकृति तथा समसामयिक परिस्थितियों के द्वारा उत्पन्न व्यवधानों से लड़ना पड़ता है। आज का साहित्य जीवन के साथ पूर्णतः सम्बद्ध है, इसलिए विकासोन्मुख है। जीवन के विकास की सभी स्थितियों का विहगावलोकन आधुनिक काल में किया गया है। मनुष्य को उसकी क्षुद्रताओं और वेदनाओं को मुक्त कर उसे तेजस्वी और आशावादी बनाने का विशेष प्रयत्न हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारों ने किया है। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में भारतीय वाङ्मय के युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार डॉ० द्विवेदी ने यह लिखा है कि "हिन्दी के साहित्यकारों का सामाजिक मनुष्य को दुःख और दारिद्रयों से मुक्त करके आत्मविश्वासी और समृद्ध बनाने का संकल्प मूर्त्त रूप धारण करने लगा है। सब मिल कर ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दी का भविष्य बहुत उज्जवल है। उसमें अधिक श्री-सम्पन्न, अधिक उदार, अधिक सुकुमार और अधिक ओजस्वी बनने की संभावनाओं के स्पष्ट लक्षण दिखायी देने लगे हैं।"[2] इन्हीं सब कारणों से प्राचीन की अपेक्षा आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर कार्य करना अधिक युगानुकूल दीखा, जिसकी काल-सीमा सन् १९०० से १९६० तक है। इस काल के अन्तर्गत खड़ी बोली के सम्पूर्ण महाकाव्य आ जाते हैं।[3]

१—कविता में जीवन की शक्तियाँ होने के कारण उसमें हृदयस्पर्श करने की भी शक्ति है—किसी वस्तु का मूल्य बढ़ाने की ताकत है। कविता की सजीव शक्ति नीरस पदार्थ को सरस बनाकर वस्तु-स्वभाव में विशेष परिवर्त्तन कर देती है।

—साहित्य-समालोचमा, डॉ रामकुमार वर्मा पृष्ठ २

२—हिन्दी साहित्य, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५१०

३—१९६० के बाद श्री दिनकर की 'उर्वशी' और पं० पन्त के 'लोकायतन' का प्रकाशन हुआ है।

विषय-परिधि एवं शोध-सामग्री के चयन में सहायक तत्त्व

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो की एक बहुत बडी विशेषता उनके शिल्पात्मक प्रयोग हैं। विषय-परिधि की दृष्टि से मैंने लगभग पिछले छह दशको के महाकाव्यों का शिल्प की दृष्टि से अध्ययन किया है। इस तरह इसमे चारित्रिक सौन्दर्य, चेतन-अचेतन मनोविज्ञान के घात-प्रतिघात, कथा का घटनामूलक विन्यास, चिरन्तन एवं समसामयिक समस्याओ के प्रस्तुतीकरण और सामाजिक-धार्मिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि मे उनका समाधान तथा साथ ही वस्तु-जगत का सजीव एवं अभिनयात्मक विस्तार विशेष रूप से मेरी शोध- सामग्री के चयन मे सहायक हुए है।

निष्कर्ष

हिन्दी का आधुनिक काव्य निर्माण के विभिन्न क्षितिजो की ओर उन्मुख है। महाकाव्य के क्षेत्र मे शिल्पात्मक प्रयोग किए जा रहे है, जो विश्व की वर्तमान साहित्यिक अभिरुचि की दृष्टि से अभिनन्दनीय और विकास की दृष्टि से श्लाघ्य है। दिक्-काल तथा चिन्ता-धारा विशेष की सीमाओ को पारकर महाकवियों की प्रतिभा का आगे निकल जाना स्वाभाविक ही है।

आज के महाकवि जीवन और जगत को आशावाद का सन्देश देने चले हैं क्योंकि उनकी कृतियों मे मनुष्य की अदम्य शक्तियों का दृढ विश्वास है। आधुनिक महाकाव्यो के लक्षण स्थिर नही किये जा सकते, क्योंकि विकास की ओर इनके चरण द्रुतगति से बढते जा रहे हैं। अन्तरिक्ष-भ्रमण के इस युग में मानव के अनेक प्राचीन विश्वास ढहते जा रहे है, अतः आश्चर्य नही कि ज्ञान-विज्ञान के ऐसे अद्भुत आलोक से भविष्य के महाकाव्य दीपित हों। महाकवि शब्दों का शिल्पी होता है, आत्मा का अभियंता। अभियन्ता के समान महाकवि भी सेतु-बन्धन का कार्य करता है। वह मनुष्य और मनुष्य, जाति और जाति, राष्ट्र और राष्ट्र के बीच की खाइयों को अपनी कृतियों से पाटने का प्रयत्न करता है। भविष्य के महाकवि के लिए वह दिन चरम साधना का होगा, जब वह भाव से सिद्ध और वाणी से शुद्ध होगा।

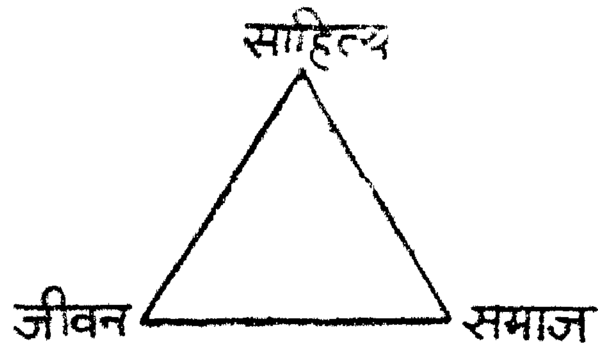
द्वितीय प्रकरण

महाकाव्य का महत्त्व और विभिन्न परिभाषाओं की समीक्षा

द्वितीय प्रकरण
महाकाव्य का महत्त्व

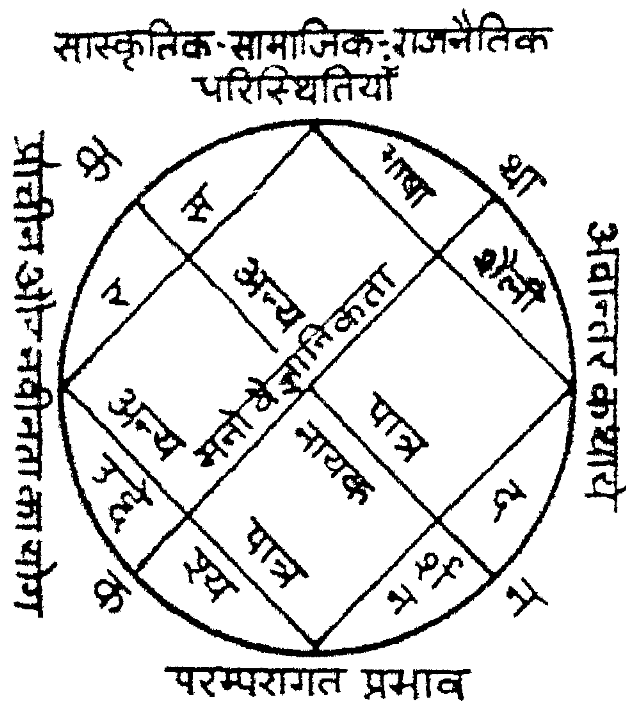
जीवन गति है; गति, जो चेतना से प्रवहमान है। जीवन की प्रत्येक धार सुख-दुख, हर्ष-विषाद, जन्म-मरण के दो कूलों से टकराती, परिस्थितियो की चट्टानों से लड़ती-झगड़ती अनुभूति की मिट्टी को नित्य गहरी बनाती आगे बढ़ती चली जाती है। ऐसे अनेक महाप्रवाहों के संगम को समाज, और इसकी उर्वरा भूमि पर पनपे उद्यान को साहित्य कहते है। साहित्य समाज की प्राण-शक्ति लेकर फलता-फूलता है और बदले मे वह समाज को चिरजीवी बनाता है। प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्त-वृतियों का संचित प्रतिनिधि होता है। यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्त्तन होता चलता है; जैसे, वाल्मीकि की काव्य-प्रतिभा पर तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना का प्रभाव पड़ा और आज सहस्रों वर्षो बाद भी उस समय की ये सारी प्रवृतियाँ रामायण में देखी जा सकती हैं। साहित्यकार वर्त्तमान को साहित्य के माध्यम से भविष्य के लिए सुरक्षित रखता है।[1] साहित्यकार की आखें खुली हों तो वह अपने भीतर, अपने वातावरण में – सर्वत्र अपनी रचना के उपकरण पा ले सकता है, पा लेता है। यह जीवन तो स्वयं एक ऐसी कहानी है, जिसका प्रत्येक पृष्ठ चित्रित है, जिसमे विरोधों के बीच भी सामंजस्य है, जिसका लेखक स्वयं भी उसका समीक्षक है। यह जीवन अनेक कार्य-व्यापारों का गठन है, सन्तुलन है। यही कार्य-व्यापार इस जीवन-कथा का मेरुदण्ड है। इसलिये जीवन से सर्वांशत: प्रभावित साहित्य मानवीय कार्यावलियों, लौकिक घटनाओ और सद्वृत्तियों का आकलन होता है और जीवन की आलोचना कहा जाता है। जीवन, समाज और साहित्य का त्रिकोणात्मक सम्बन्ध होता है—वे एक दूसरे को निरन्तर प्रभावित करते रहते है—

१—साहित्य में भूतकाल की गूँज, वर्त्तमान का प्रतिबिम्ब और भविष्यत् के निर्माण की शक्ति होती है। तेजोमय वाक् के द्वारा ही पाठक जीवन के प्रति अधिक मानवी और उदार दृष्टिकोण विकसित कर सकते हैं, जिस दुनिया



महाकाव्य का विस्तृत फलक

महाकाव्य मे अन्य काव्यांगों की अपेक्षा जीवन को अधिक विस्तृत फलक पर चित्रित किया जाता है। वह जीवन के समग्र रूप की अभिव्यक्ति करता है। उसमे जातीय जीवन शत-शत रूपों मे प्रकट होता है। विशाल कथा-पट पर भावनाओं के बहुतेरे रंग भरे जाते है। महाकाव्य का माध्यम अपेक्षाकृत अधिक वृहत् होने के कारण उसमे जीवन का सर्वाङ्गीण रूप अभिव्यक्त होता है और समस्त मानवता, समाज, संस्कृति, प्रकृति और चरित्र के विविध प्रकार उनमें मूर्त होते है। विस्तृत परिधि में महाकाव्य प्रमुख पात्रों के साथ अनेक गौण और सहायक पात्रों के चरित्र का विश्लेषण भी प्रस्तुत करता है। मानव-जीवन के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही महाकाव्य में प्रतिबिंबित होते है—



मे वे जीते हैं, उसे अधिक समझ सकते है, अपने आपको पहचान सकते है, और भविष्य के लिये विवेकमय योजना बना सकते है।

—आज का भारतीय साहित्य, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रस्तावना।

साहित्य में चित्रित समस्याएँ और महाकाव्य में उनकी स्थिति

पल-पल परिवर्त्तनशील इस विश्व के रंगमंच पर कार्य करनेवाले मानव-अभिनेता के जीवन की समस्याएं अनंत हैं। प्रभाव की दृष्टि से इन समस्याओ के तीन प्रमुख रूप माने जा सकते हैं—वे समस्याएँ, जो सनातन है और जिनका रागात्मक संबंध मानव के स्थायी भावों से है; दूसरी वे हैं, जो युग-जीवन की क्रिया-प्रतिक्रिया से उत्पादन होती हैं; और तीसरी वे तत्क्षण जन्मी सरल एवं तुनुक समस्याएँ है, जो सहज ही बनती-बिगड़ती, जनमती-मरती रहती हैं। सुख-दुख, प्रेम-घृणा, वात्सल्य आदि ऐसे ही चिरन्तर और विश्व-जनीन भाव हैं। यही कारण है कि ऐसे चिरन्तन भावों से भरे साहित्य विश्व-साहित्य बन जाते हैं और वे सर्वकालिक होते हैं। देश-काल की सीमा के परे ये भाव मानव-मन के तारों को सहज ही झंकृत करते है। वस्तुत: महाकाव्य अखंड मानवता और अविभाज्य देश-काल की सम्पत्ति है। दूसरी कोटि की समस्याओं के अन्तर्गत रीति-नीति, लोक व्यवहार और समसामयिक अन्य परिस्थितियाँ आती है, जिनके प्रभाव से महाकाव्य में नवीनता का समावेश होता है। वाल्मीकि, तुलसी, मैथिलीशरण गुप्त और बलदेव प्र० मिश्र की राम-कथा मे समसामयिक युग-धर्म के कारण जो अन्तर आ गया है, वह इसी दूसरी कोटि की समस्या के निदान के लिये। तीसरी कोटि की समस्याएँ व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार की होती है। महाकाव्य के विशाल कथानक मे ये मार्मिक प्रसगो और व्यक्तिगत विशिष्टताओ के चित्रण मे काम आती हैं। इस प्रकार महाकाव्य के विशाल दर्पण में मानव-भाव राशि-राशि रूपों मे प्रतिविम्बित होते है। मानव-जीवन उस सागर की तरह है, जिसने स्थायी भावो की ज्वारें उठती है, तूफानों से उठने वाली लहरो की भाँति समसामयिकता का प्रभाव रहता है और साथ ही क्षण मे अपना स्वरूप दिखला विलीन हो जाने वाली फेनिल तरंगो और बुद्बुदो की भाँति कुछ हल्के-फुल्के भाव भी होते है। महाकाव्य उस भूमि की भाँति है जिस पर यह सागर लहराता रहता है। इसीलिए महाकाव्य को सम्पूर्ण जीवन का आख्यान और समस्त राग-विरागो, भावो और अनुभूतियों का आधार कहा जाता है।

महाकाव्य में रागात्मक अन्तःप्रवृत्तियाँ

महाकाव्य में रागात्मक अन्तःप्रवृत्तियो को प्रभावित करने वाले भावो के चित्रण होते है। जो कवि अपने महाकाव्य मे मानव की जटिल समस्याओ का

जितना गंभीर उदात्त, विचारोत्तेजक और सरस वर्णन करता है, वह उतना ही सफल महाकाव्यकार माना जाता है। आधुनिक युग के महाकाव्यों मे वे अनुपयोगी और अव्यावहारिक तत्त्व छोड़े जा रहे हैं, जो महज कल्पना-विलास की वस्तु है और जिनका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध नही है। रागात्मक वृत्तियाँ काव्य के तत्त्वो के साथ सम्बद्ध होती है। नौ रसों के स्थायी भावों का सम्बन्ध हमारी रागात्मक वृत्तियों से है। रति, उत्साह, निर्वेद, शोक, हास, क्रोध, भय, आश्चर्य और जुगुप्सा—ये सभी स्थायी भाव राग-प्रधान हैं। महाकाव्य, जिसमे सभी रसो की सिद्धि का अवसर होता है, हमारी रागात्मक वृत्तियो से स्वभावत: बहुत अधिक आबद्ध है। पद्मावत में रति (प्रेम) के, कामायनी मे शान्त के, हल्दीघाटी मे उत्साह के, कुरुक्षेत्र में निर्वेद के तथा मानस मे सभी रसो और स्थायीभावों के प्रसंग मे यह सहज ही देखा जा सकता है कि किस तरह हमारी रागात्मक वृत्तियाँ उत्तेजित होकर रसों के संचार मे सहायता पहुँचाती हैं। इसी तरह तैतीसों संचारी भाव महाकाव्य मे रागों को उद्बुद्ध करते है।

कल्पना काव्य का एक ऐसा तत्व है, जो रागात्मक वृत्तियों के सहारे रसास्वादन में सहायता पहुँचाता है। आलम्बन और उद्दीपन विभावो को पाठको के सम्मुख साकार करने का काम कल्पना ही करती है, पर कोरा कल्पना-विलास रसोद्बुद्धि मे सहायक नही हो सकता। रागात्मक तत्वो से सम्बद्ध या प्रेरित हुए बिना कल्पना उपयोगी नही हो सकती, क्योकि कल्पना भावोद्रेक का साधन है, साध्य नही। काव्य के शिल्प की दृष्टि से कल्पना का महत्व रूप-विधान करना है, विशृंखल चित्रो को एकरूप करना है।[१]

रागात्मक वृत्तियो की प्रधानता का यह अर्थ नही कि महाकाव्य मे बुद्धि-तत्त्व की आवश्यकता नही होती। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार तो आज बुद्धि की प्रधानता सर्वोपरि है, पर बुद्धि-तत्त्व कभी काव्य का साध्य नही हो सकता, वह भी साधन मात्र ही है। भावो के संवाहक उपयुक्त शब्दों की योजना, काव्य के तत्वों के सुष्ठु सन्तुलन, छंद-विधान, चरित्रों का पारस्परिक

१—हमारी कल्पना उन लुप्त परन्तु संगत सम्बन्धों का पुनर्स्थापन करके समस्त वस्तु को एकता प्रदान कर देती है। इसी को रूप-विधान कहते है। काव्यगत टेकनीक मे कल्पना का इसी अर्थ में प्रयोग होता है। परन्तु यह आवश्यक नही कि ऐसा जान बूझ कर ही किया जाये। अनजाने मे भी हमारी कल्पना प्रायः यह करती रहती है।

—विचार और अनुभूति, डॉ० नगेन्द्र, पृ० २३

सम्बन्ध-नियोजन, कथानक के आवश्यक विस्तार आदि कार्यो के लिये महाकाव्य-कार को रागात्मक वृत्तियो के साथ ही बुद्धि-वैभव के उपयोग की आवश्यकता पड़ती है ।

महाकाव्य के स्वरूप-विधान की दृष्टि से छंद की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। छंद से लयात्मकता का संचार होता है और संगीत का सहारा पाकर काव्य अत्यन्त प्रभावशाली बन जाता है। हमारी रागात्मक वृत्तियाँ इस लयात्मकता से उत्तेजित हो जाती हैं, जिनसे रसोद्रेक में सहायता पहुँचती है। यदि छंद में यति-गति-भंग हो, तो रसानुभूति में बहुत बड़ी बाधा खड़ी होगी। रस की मंज़िल तक पहुँचने को, अपनी संगीतात्मकता के कारण छंद, पाठको के मन-प्राणों को अत्यन्त अनुकूल पंथ देता है। महाकाव्य में छंदों की विविधता के द्वारा रागात्मक वृत्तियों का अनुरंजन किया जाता है। छंदों की मनोरमता हमारे सौन्दर्य-बोध को जाग्रत करती है, जो रागात्मक वृत्तियो से सम्बद्ध है।[१]

महाकाव्य सामंजस्य का महाराग है। उसमे लौकिकता, मानवता-दानवता, सुन्दरता-असुन्दरता का चित्रण और तम पर प्रकाश का, असत् पर सत् का और मृत्यु पर विजय का उद्घोष रहता है। यदि उसमे राम है तो रावण भी, कौशल्या है तो कैकेयी भी। महाकाव्य जीवन की विविधता को एकरूपता प्रदान करता है, जैसे, विभिन्न रंग और वर्ण की कलियों को हार बनाने के लिये उन्हे एक ही धागे में गूँथना पड़ता है।

महाकाव्य से वे सारे लाभ सिद्ध होते हैं, जिनकी चर्चा काव्य के प्रयोजनो के अन्तर्गत साहित्य-शास्त्री करते है। मानवता के विकास और पुराण-इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ ही उससे यश[२], अर्थ[३], आनन्द और कान्ता-सम्मित[४] व्यवहारिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। महाकाव्य स्वांत:

१—छंदो का द्वितीय उद्देश्य रागात्मक वृत्तियो के अनुरंजन मे है। जब छंदो का विधान लालित्य को लेकर उपस्थित होता है, तब उसमें सौन्दर्य-बोध की भावना प्रतिफलित होती है। यह सौन्दर्य हमारी रागात्मक वृत्तियो के क्रोड में प्रविष्ट होता हे और काव्य के प्रति हमारा आकर्षण बढ जाता है। —साहित्यशास्त्र, डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० १२४

२—जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्तियेषां यश-काये जरामरणजं भयम् ॥—भर्तृहरि

३—जिज्ञासा: सुन्दरी रीत्या काव्यं समुपदेशकृत्।
ऐहि कामुष्मिादेर्यत्सोऽय मत्यार्थं उच्यते ॥—साहित्य-सार

४—काव्य यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥—काव्य-प्रकाश

सुखाय भी होता है, बहुजन-हिताय भी। उसमें व्यक्त वर्णन के माध्यम से जिस अव्यक्त सत्य की ओर संकेत किया जाता है और जिस उद्देश्य को अप्रत्यक्ष रूप से ध्वनित किया जाता है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मानस के वर्णित विषय से क्या ध्वनि निकलती है ?—राम की तरह आदर्श पुरुषोत्तम बनना समाज के लिये कल्याणकारी है; हमें अपने भीतर के रावणत्व का नाश करना चाहिये। भरत-लक्ष्मण की तरह आदर्श भाई, दशरथ की तरह आदर्श पिता, हनुमान की तरह आदर्श सेवक बनना चाहिये, आदि-आदि। महाकाव्य में कथा के विस्तार होने से उद्देश्य की सिद्धि में सहायता मिलती है—गीति काव्य में यह संभव नहीं। महाकाव्य में रसोद्रेक कराने और रसानुभूति द्वारा भावों के परिमार्जन के लिये जितना अवकाश है, उतना मुक्तक आदि में नहीं।

महाकाव्य का महत्व जीवन-सापेक्ष है। जिस तरह बीज मूल्यवान रत्न जटित डब्बे में बन्द रहकर पल्लवित-पुष्पित नहीं हो सकता, उसके लिये अमूल्य मिट्टी का सम्पर्क अपेक्षित है, उसी तरह सामान्य जीवन से सम्बद्ध हुए बिना महाकाव्य की सजीवनी शक्ति नष्ट हो जाती है। जब आज सामान्य काव्य के लिये भी विश्व के तमाम पदार्थों को वर्ण्य विषय माना गया है, तब भला महाकाव्य के लिये जीवन-क्षेत्र का विस्तार कितना विस्तृत होगा! महाकवि तो क्षणिक भावनाओं का नहीं, शाश्वत अनुभूतियों का चितेरा होता है। इसीलिये उसकी कृतियों में सम्पूर्ण विश्व का राग-विराग प्रतिध्वनि होता है।[१]

महाकाव्य प्रतिभा, काव्य-रीति और लोक-व्यवहार तीनों की विशाल पृष्ठभूमि में परीक्षित होने का अवसर प्रदान करता है। यों ये तीनों ही गुण प्रत्येक कवि के लिये आवश्यक है,[२] पर महाकाव्य के फलक के विस्तार के लिये इनकी विशेष आवश्यकता पड़ती है।

१—साहित्य और जीवन का सम्बन्ध देखने के लिये क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश में क्षितिज के पास के रक्तिम, वर्ण ही भर न देखें, सम्पूर्ण सौर मंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करें।

—साहित्य-सुषमा, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ३६–३७

२—सक्ति कवित्त बनाइबे की जेहि जन्म नछत्र में दीन्हो विधातैं।
काव्य की रीति सिखी सुकबीन्ह सो, देखी सुनी बहुलोक की बातें
दास है जामें इकत्र ये तीनि, बनै कविता मन रोचक तातैं॥
एक बिना न चलै रथ, जैसे धुरन्धर सूत की चक्र निपातैं॥

—काव्य निर्णय, दास

महाकाव्य के कथानक के मर्मस्पर्शी स्थलों की योजना के लिये रागात्मक वृत्तियो को उद्‌बुद्ध करनेवाले प्रसगो की पहचान आवश्यक है। जो कवि मानव-मन की इन वृत्तियों से पूर्णत: परिचित नहीं होगा, वह सफल महाकाव्य नहीं लिख सकता। एक रामचरित लिखने पर भी तुलसी और केशव में जो महान् अन्तर है, उसका कारण यही है। इन्ही रागात्मक वृत्तियों की पहचान के अभाव मे रामचन्द्रिका की मार्मिकता नष्ट हो गयी है।

मानव-चरित्र से अधिक रहस्यपूर्ण और उलझा हुआ और क्या है! ऐसे गहन मानव-चरित्रों की योजना पर महाकाव्य की सफलता बहुत दूर तक निर्भर करती है। पर जो कवि यह नही समझ सकता कि दु:ख में मानव के भाव क्या होते हैं, सुख में उल्लास का प्रतिफलन किस रूप में होता है, निर्वेद में मन की स्थिति क्यो सुस्थिर रहती है, क्रोध में क्यों सवेगात्मक परिवर्तन होते है, प्रकृति के एक ही उपादान संयोग-वियोग में कैसे भिन्न दीखते है— वह भला महाकाव्य का प्रणयन कैसे कर सकता है! अत: महाकाव्यकार को इससे पूर्ण परिचित होना पड़ता है। राम-रावण, राम-लक्ष्मण, कैकेयी-कौशल्या, कर्ण-कुन्ती, एकलव्य-द्रोण इन सब की चारित्रिक विभिन्नताओं के चित्रण के लिये इस तत्त्व की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ती है।

रागात्मक शक्तियो की पहचान के साथ ही महाकाव्य में इनके सन्तुलन और समीकरण की आवश्यकता है। जैसे, मधुर सगीत की सृष्टि के लिये लयों के सामजस्य की आवश्यकता है, वैसे ही महाकाव्य के सफल प्रणयन के लिये रागात्मक वृत्तियो का सामंजस्य आवश्यक है। आधुनिक युग का अप्रतिम महाकाव्य कामायनी की सफलता का यह भी एक बहुत बड़ा रहस्य है।

साहित्य के परिभाषा-निर्णाण की व्यावहारिक कठिनाइयाँ

रागात्मक वृत्तियो की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पडता है कि इन भावनाओ और अनुभूतियो की सूक्ष्मता को शब्दो की स्थूलता पूर्णत: बाँध नही पाती।[1] फिर महाकाव्य जो इन सबका समाहार हो, उसकी

1—(i) I have no great opinion of a definition, the celebrated remedy for the cure of disorde (uncertainty and confusion)—Introduction on the Sublime and Beautiful, Edmund Burke, Page. 4

(ii) Definitions are or the most part alike unsatisfactory and treachrouse, but definitions of the poetry areHprove rbially so.—Encyclopeadia Britannica, vol. 18, Page—106.

(iii) कविता की शक्ति एक परी के समान है। यह पूर्ण स्वच्छन्द है। जिन वस्तुओं की ओर जाना चाहती है, वेग से उड जाती है। एक मिनट में, एक सेकेण्ड में। जिसको उसके पंखो की हवा छू भी गयी है, भला वह उसे परिभाषा के पिंजड़े में बन्द करने का व्यर्थ प्रयास क्यो करेगा।'—साहित्य-समालोचना, डा० रामकुमार वर्मा. पृ० २

क्या परिभाषा दी जाये ! साहित्य की कोई परिभाषा अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से मुक्त नहीं है । हम अपने सन्तोष के लिये ही परिभाषा की सीमा में साहित्य को बाँध लेते है, या साहित्यिक गुणों का अंग-विच्छेद कर प्रस्तुत करते हैं । ऐसे ही आपद्धर्म में, महाकाव्य की भी अनेक परिभाषाएँ दी गई है ।

वस्तुतः लक्ष्य ग्रंथों के निर्माण के बाद ही लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है । लक्षणकार तो महज अपने सामने के एक आदर्श को शास्त्रीय शब्दावलियों मे ढाल देता है । जिन ग्रंथों को देकर लक्षण बनते हैं, वे तो मौलिक उद्भावनाओं से पूर्ण होते हैं, पर जो ग्रंथ इन लक्षणों की कसौटी पर भविष्य में लिखे जाते हैं, वे धीरे-धीरे रूढ़िग्रस्त होते जाते हैं । अतः जो साहित्यकार इस मर्म को समझ लेते है, वे लक्षणों, परिभाषाओं और निर्दिष्ट आदर्शों की लीक पर आँख मूँद कर नहीं चलते ।

पहले तो ऐसी मौलिक कृतियों को परम्परावादी जड़ आलोचक परम-पराच्युत कहकर शंका की दृष्टि से देखते हैं, पर बाद को जब ये कृतियाँ काल की कसौटी पर कंचन की भाँति चमकने लगती है और अपनी इस नवीनता के कारण सहृदयों का कंठहार बन जाती है, तब यह परिवर्तन भी मान्य और अनुकरणीय बन जाता है । कभी-कभी मौलिकता के नाम पर जो अनगढ और अकलात्मक प्रयोग देखने को मिलते हैं, वे ग्राह्य तो नहीं ही होते, उपहास के विषय बन जाते है ।

महाकाव्य की रचना के लिए जहाँ एक ओर कवियों ने अथक परिश्रम को अपनी मेधा से संयुक्त किया, वहाँ दूसरी ओर युग की परिस्थितियों और लिखित महाकाव्यों को ध्यान में रखते हुए स्वरुचि के अनुकूल साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये । फलतः एक ओर नवीन महाकाव्य लिखे जाते रहे और दूसरी ओर उनकी नवीन परिभाषाएँ गढ़ी जाती रही । साहित्याचार्यों ने महाकाव्यों के लक्षण निर्धारित करते समय अपने सामने किसी-न-किसी आदर्श महाकाव्यों को रखा । ये लक्षण उस काल के महाकाव्यों के लिये तो मान्य रहे, पर बाद के परम्परा-मुक्त नवीन महाकाव्यों के लिये अयोग्य सिद्ध हो गये । स्थिर मानदण्ड अपर्याप्त माने गये । अधिकांश संस्कृत आचार्यों ने भी रामायण या महाभारत को पूर्णतः आदर्श नहीं मानकर अलंकृत महाकाव्यों को ही लक्ष्य-ग्रंथ माना । दण्डी, हेमचन्द्र, विश्वनाथ आदि के सामने कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि के महाकाव्य ही प्रमुख थे । हिन्दी महाकाव्यों

का अपना व्यक्तित्व भी है, अतः संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षण हिन्दी के सभी महाकाव्यों को अपनी सीमा में आबद्ध नहीं कर सके। यदि कुछ प्राचीन परिभाषाओं को सर्वांशतः मान लिया जाये, तो पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, कामायनी, कुरुक्षत्र, एकलव्य आदि को ही नहीं, रामचरित मानस जैसे स्वयंसिद्ध महाकाव्य को भी विशुद्ध महाकाव्य के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत, ऐसे भी प्रबन्ध को महाकाव्य मान लेना पड़ेगा, जो शास्त्रीय लक्षणों के साँचे पर तो सोलहो आने खरे उतरते है, पर न तो जन-जीवन को आगे बढ़ा सकते है और न काव्यानन्द की ही सृष्टि कर सकते है। यथा, भामह ने महाकाव्य मे एक व्यक्ति की जीवनगाथा का औचित्य स्वीकार किया है; इस दृष्टि से तो कालिदास का विश्व-प्रसिद्ध ग्रन्थ रघुवंशम् महाकाव्य ही नही कहा जा सकता !—फिर यह परिभाषा किस काम की ? अतः बाद को रघुवंशम् को देखकर ही संस्कृत-शास्त्रियों ने लक्षणों को बदल कर यह स्वीकार किया कि महाकाव्य मे एकवंशीय अनेक महान् व्यक्तियो की गाथाओ का समावेश हो सकता है।

महाकाव्य की परिभाषाओं से यह स्पष्ट होगा कि अन्य साहित्य-रूपों की अपेक्षा उस की परिभाषा का ऊपरी ढाँचा अधिक परिवर्तनशील रहा है, क्योंकि महाकाव्य जन-जीवन से बहुत घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहा है और जन-जीवन की बहुत-सी धारणाएँ युग-प्रभाव से बदलती रही है।

महाकाव्य की परिभाषा और लक्षण के पूर्णतः स्पष्टीकरण के लिए हम निम्नलिखित दिशाओं में विचार करे—

* संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षण।
* पाश्चात्य विद्वानो के विचार।
* पूर्वी और पश्चिमी—दोनों दृष्टियो का साम्य और अन्तर।
* आधुनिक परिभाषाएँ।

भामह

ऐसा लगता है कि संस्कृत के आचार्यो मे सबसे पहले भामह ने महाकाव्य का लक्षण-निर्धारण किया। यद्यपि ये पहले विद्वान् थे, जिन्होंने इस दिशा में लेखनी उठायी थी तथापि इनके विचार परवर्त्ती लक्षणकारों की अपेक्षा अधिक उदार हैं। इनके सामने रामायण ओर महाभारत के आदर्श थे। इनके समय तक महाकाव्य के स्वरूप अधिक उन्मुक्त थे।

भामह के अनुसार महाकाव्य के लक्षण और उसकी समीक्षा

फिर तत्कालीन युग के महाकाव्यो मे रूढिबद्धता या अलकृति से अधिक विकसनशीलता थी। भामह ने महाकाव्य के मूलतत्त्वो की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। भामह की दृष्टि मे महाकाव्य मे निम्नलिखित गुण अपेक्षित है[1]—

१—सर्गबद्धता।

२—महान् चरित्रो का गान।

३—शिष्ट और अलंकार-समृद्ध भाषा।

४—राजदरबार, दूत, आक्रमण, युद्ध आदि का सविस्तार वर्णन।

५—नायक के अभ्युदय का वर्णन, किसी अन्य चरित्र के उत्कर्ष के लिए नायक का वध वर्जित।

६—नाटक की सभी संधियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहण) और कार्यावस्थाए।

७—कथा-प्रवाह में बाधा डालनेवाले अनावश्यक प्रसंगो का त्याग।

८—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष - इन चारो वर्गों का स्थान।

इस प्रकार भामह ने अपने लक्षणो मे निम्नलिखित दृष्टिकोण का परिचय दिया—

१—सर्गों के विभाजन मे महाकाव्य मे एक व्यवस्था आती है। नाटकीय संधियो और कार्यव्यवस्थाओ के प्रयोग के द्वारा कथानक के विकास मे क्रमबद्धता और काव्यात्मकता आती है।

२—वर्णात्मकता महाकाव्य के लिए अनिवार्य है, पर कथा के शिल्प एवं मनोवैज्ञानिकता के निर्वाह के लिए अनावश्यक विस्तार का त्याग आवश्यक है।

१—सर्गबन्धो महाकाव्यं महताच महच्चयत् ।
अग्राम्यशब्दमर्थंच सालंकारं सदाश्रयम् ॥
मंत्रदूतप्रयाणाजिन नायकाभ्युदयंश्चयत् ।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नाति व्याख्येयमृद्धिमत् ॥
चतुर्वर्गाभिधानेपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ॥
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥
यदि काव्य शरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ॥

—काव्यालंकार, परि-१,१९-२३

३—नायक का वध अशोभन है ।

४—महाकाव्य सोद्देश्य है-चार वर्गों की स्थिति यह प्रमाणित करती है । दण्डी ने महाकाव्य की जो परिभाषा दी है, वह परवर्ती अधिकांश आचार्यों, जैसे हेमेन्द्र, विश्वनाथ आदि के लिए पथ-प्रदर्शक बनी । किन्तु उसमे भामह द्वारा निर्देशित सभी तत्वों को अन्तर्भुक्त करने के साथ ही कुछ अनावश्यक और विस्तृत तत्वों का सम्मिश्रण कर दिया गया जिनमे महाकाव्य की सीमा-सी बँध गई ।

दण्डी

दण्डी के अनुसार महाकाव्य के निम्नलिखित प्रमुख स्थायी लक्षण है[1]—

१—महाकाव्य सर्गबद्ध हो, पर सर्ग न बहुत बडे हो और न छोटे ।

२—महाकाव्य का प्रारम्भ आशीर्वाद, देवस्तुति या ग्रन्थ के कथानक के संकेत देनेवाले पद्य से हो ।

३—कथानक इतिहास, लोक प्रचलित कथा या अन्य सद्वृत्त पर आधारित हो ।

४—धर्म, अर्थ काम मोक्ष—इन चार मानव-लक्ष्यों का उल्लेख हो ।

५—नायक विदग्ध और उदात्त हो ।

६—महाकाव्य वर्णनो से पूर्ण हो यथा, प्रकृति, नगर, समुद्र, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उत्सव-वर्णन उद्यान-बिहार, जल-क्रीडा, मधुपान, कुमार-जन्म,

---

१—सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशोवापितन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलायत्त चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णव शैलर्तु चन्द्रार्कोदय वर्णनै. ।
उद्यानं सलिल-क्रीडा-मधुपान रतोत्सवै· ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ।
सर्गैरनति विस्तीर्णै· श्राव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ।
सर्वत्र भिन्न-वृत्तान्तै रुपेतं लोकरंजनम् ।।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ।
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगै· काव्यं न दुष्यति ।।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ।

–काव्यादर्श, पर: १, १४-२०,

विवाह, विप्रलम्भ, मिलन, मन्त्रणा, दूत-प्रयाण, युद्ध, नायक का अभ्युदय आदि ।

७—अलंकार, रस और भाव के चित्रण हों ।

८—लोकरञ्जन हो ।

९—सर्गों में भिन्न-भिन्न वृत्तों का प्रयोग हो ।

१०—नाटकीय संधियों हों ।

दण्डी और भामह के विचारों की पारस्परिक तुलना और निष्कर्ष:—

दण्डी और भामह के विचारों की तुलना करते हुए हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :—

१—दण्डी ने भामह के विचारों को अपनी परिभाषा में अन्तर्भुक्त कर लिया ।

२—दण्डी ने सर्गों के आकार को नियंत्रित रखने की सलाह दी ।

३—प्रारम्भ में मङ्गलाचरण और स्तुति की आवश्यकता बतलाकर जहाँ इन्होंने भारतीय दृष्टि की पवित्रता का स्मरण दिलाया, वहीं आगे आनेवाले महाकाव्यों पर एक अनावश्यक बोझ डाल दिया ।

४—भामह ने केवल महान् चरित्रों की गाथा को महाकाव्य के लिए पर्याप्त समझा । दण्डी ने इसका स्पष्टीकरण कर इतिहास, लोक प्रचलित कथा या अन्य सद्वृत्त को महत्व दिया । यहाँ भामह के कथन का ही विस्तार है ।

५—भामह के चतुर्वृत्त और नाटकीय संधियों को दण्डी ने ज्यों का त्यों रख लिया ।

६—दण्डी ने चतुर और उदात्त दो विशेषणों को जोड़कर नायक का महत्व घटा दिया । इसमें भामह के महान् शब्द की व्यापकता नहीं रही ।

७—दण्डी ने जहाँ यह कहा है कि 'सर्गैनतिविस्तीर्णैः' वहाँ भामह ने लिखा 'नातिव्याख्येयमृद्धिमत्' अर्थात् दण्डी ने जहाँ सिर्फ सर्गों के न बहुत बड़ा और न छोटा होने का लक्षण निर्धारित किया, वहाँ भामह ने व्याख्या की अधिकता का बोध कराके बड़े संकेत से कथा-शिल्प की मार्मिकता के लिए उसे वर्जित बताया ।

८—लोकरंजन जैसे सामाजिक तत्त्व पर दण्डी ने जोर दिया।

सातवीं शताब्दी में रुद्रट नामक एक विलक्षण आचार्य हुए, जिन्होंने महाकाव्य का लक्षण निर्धारित करते समय अपने सामने पूर्ववर्त्ती आचार्य से भिन्न रामायण-महाभारत के साथ तत्कालीन प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी रखा।[1]

रुद्रट के अनुसार लक्षण

विकसनशील महाकाव्यों के साथ ही पाश्चात्य रोमांचक महाकाव्यों की तरह के अपभ्रंश और प्राकृत के महाकाव्यों को दृष्टि-पथ में रखने के कारण रुद्रट की परिभाषा महाकाव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य मान्यताओं से भी साम्य रखती है। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य के निम्नलिखित लक्षण हैं:—

१—कथा जो उत्पाद्य-अनुत्पाद्य महत्-लघु हो।
२—प्रसंगानुकूल अवान्तर कथाओं की योजना।
३—सर्गवद्धता और नाटकीय तत्त्व।
४—समग्र जीवन का चित्रण—प्रधान घटना के क्रोड़ में प्रकृति-चित्रण, देश, नगर आदि का वर्णन।

---

१ सन्तिद्विधा प्रबन्धाः काव्यकथाख्यायिकादयः काव्ये।
उत्पाद्यानुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयोऽपि॥
तत्रोत्पाद्या येषां शरीरमुत्पादयेत्कविः सकलम्।
कल्पितयुक्तोत्पत्ति नायकमपि क्कचित्कुर्यात्॥
पंजरमितिहासादिप्रसिद्धमखिलं तदेकदेशं वा।
परिपूरयेत्स्ववाचा यत्रकविस्ते त्वमुत्पाद्यः॥
तत्र महान्तो येषुच विततेष्वभिधीयते चतुर्वर्गः।
सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि॥
ते लघवो विज्ञेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात्।
असमग्रानेकरसा ये च समग्रै करसयुक्ताः॥
तत्रोत्पाद्ये पूर्वसन्नगरीवर्णनं महाकाव्ये।
कुर्वीत तदनु तस्यां नायकवंशप्रशंसा च॥
तत्र त्रिवर्गसक्तंसमिद्धशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्तसमस्तप्रकृति विजिगीषुं नायकं न्यस्येत्॥
विधिवत्परिपालयतः सकलं राज्यं च राजवृत्तं च।
तस्य कदाचिदपेतं शरदादि वर्णयेत् समयम्॥

५—नायक द्विज, सर्वगुण सम्पन्न, महावीर, दिग्विजयी, शक्तिशाली, नीति-निपुण और सुयोग्य सम्राट् हो।

६—प्रतिनायक और उसका वंश-वर्णन हो।

७—प्रतिनायक पर नायक की विजय हो।

८—चतुर्वर्ग की प्राप्ति हो।

९—रसात्मकता हो।

१०—दिव्य और अतिमानवीय कार्य हों, पर अस्वाभाविक और अविश्वसनीय घटनाएँ नहीं।

निष्कर्ष

रुद्रट के लक्षणों के परीक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

१—रुद्रट अपेक्षाकृत अधिक उदार लक्षणकार हैं।

२—विकसनशील और अपभ्रंश-प्राकृत के महाकाव्यों को भी महत्व दिया गया है।

स्वार्थं मित्रार्थं वा नायं विप्लवतस्तस्य ।
कुल्यादिभ्यन्तरं मतिवर्त्तं वर्णयेत्सुखिनम् ।।
स्वचरान्तद्दूताद्वा कुतोऽपि वा वृत्तनीतिकार्याणि ।
कुर्वीत सदसि मन्त्रं कोपं क्रोधैर्द्वयेच्चित्तगिराम् ।।
सन्नह्य सन्तंस्थितैर्निश्चित्य च दंडसाध्यतां शत्रोः ।
तं ज्ञापयेत्स्वचरं दूतं वा प्रेषयेन्मुखरम् ।।
अथ नायकप्रयाणे नागरिकाक्षोभजनपदाद्रिनदीः ।
अटवीकाननसरसीमरुजलधिद्वीपभुवनानि ।।
स्कन्धावारनिवेशं क्रीडां यूनां यथायथं तेषु ।
रव्यस्तमयं सान्ध्यं संतमसमथोदयं शशिनः ।।
रजनीं च तत्र यूनां समाजसंगीतपानशृंगारान् ।
प्रतिवर्णितत्प्रसंगात्कथां च भूयो निबध्नीयात् ।।
प्रतिनायकमपि तद्वत्तदभिमुखम् दृप्यमानमायान्तम् ।
अभिदध्यात् कार्यवशान्नगरीरोधस्थितं वापि ।।
सोऽभ्यर्णे प्रातरीति प्रवक्ष्यतुपीति निशि कलत्रेभ्यः ।
स्वरयं विसंकथानात्संदेशान्दापयेत्सुभटान् ।।
सन्नह्य कृतव्यूहं सविस्मयं युध्यमानयो रमयोः ।
कृच्छ्रेण साधु कुर्यादभ्युदयं नायकस्यान्ते ।।
सर्गाभिधानि चास्मिन्नवान्तरप्रकरणानि कुर्वीत ।
संधीनपि संश्लिष्टांस्तेषामन्योन्यसंबन्धात् ।।

—काव्यालंकार, षोड्शोध्यायः, २, ११ ।

३—मंगलाचरण आदि रूढ़ियों का त्याग किया गया है।

४—केवल अलंकरण महाकाव्यों का आदर्श नहीं।

५—रुद्रट ने मनुष्य के आचरण की स्वाभाविकता को समझा है। अविश्वसनीय कार्यों को देवता, गन्धर्व आदि की सहायता से ही करना उचित समझा है, स्वयं नहीं; यह एक बहुत बड़ी विशेषता मानी जा सकती है, जिसका आधुनिक युग ने विकास हुआ।

आधुनिक युग मे दैवी सहायता को भी अस्वाभाविक मानकर केवल मानवोचित शक्ति को ही वर्णनीय माना गया। यहाँ तककि देव-चरित्रो को भी मानवानुकूल बनाया गया।

६—अवान्तर कथाओ को महाकाव्य का सहायक तत्त्व माना गया।

हेमचन्द्रसूरि की परिभाषा और उसकी विशेषता

बारहवी शताब्दी के महान् काव्य-विशेषज्ञ हेमचन्द्र सूरि ने प्राकृत-अपभ्रंश को दृष्टि मे रखकर सक्षेप मे महाकाव्य के लक्षण दिये है।[1] हेमचन्द्र की परिभाषा में कोई विशेष मौलिकता नही होते हुए भी निम्नलिखित विशेषताएँ है :—

१ इसने महाकाव्य मे काव्य के समस्त लक्षणो को सम्मिलित किया। शब्दवैचित्र्य, अर्थवैचित्र्य और उभयवैचित्र्य के रूप मे लक्षणो को विभाजित किया।

२ विस्तृत अनुभव और युग के सम्पूर्ण चित्रण की ओर सकेत किया गया।

३ संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत-अपभ्रंश और ग्राम्य भाषाओं में महाकाव्य की रचना की स्वीकृति दी गयी।

४ सर्गो में छन्द-परिवर्त्तन-सम्बन्धी प्राचीन नियमों को स्वीकार करते हुए भी इन्होंने एक छन्द मे आद्योपान्त रचे गये महाकाव्यों, जैसे रावण-

---

१ सूत्र : पद्यंप्रायः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशग्राम्यभाषानिबद्धभिन्नान्त्यवृत्तसर्गाश्वाससंध्यवस्कन्धकबन्धे सत्संधिशब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम।

—काव्यानुशासन, आठवां अध्याय।

वृत्ति—छन्दोविशेषरचितंप्रायः संस्कृतादिभाषानिबद्धैर्भिन्नान्त्यवृत्तैर्यथासंख्यंसर्गादिभिर्निर्मितं सुश्लिष्टमुखप्रतिमुखगर्भविमर्शनिर्वहणसंधिसुन्दरं शब्दार्थवैचित्र्योपेतं महाकाव्यम्।

विजय, हरि-विजय, सेतु-बन्ध आदि को भी महत्व दिया। इससे यह पता चलता है कि इसमें रूढ़ि-बद्ध नियमों के साथ ही अपवाद स्वरूप प्राप्त मौलिकता की प्रशंसा करने की कामना थी।

विश्वनाथ के लक्षण

पन्द्रहवीं शताब्दी के महान् आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य के अपने सभी आदर्श अब तब के आचार्यों के मतों की व्याख्या के रूप मे रखे, फिर भी दण्डी के विचारों का इनपर विशेष प्रभाव दीखता है। इनकी परिभाषा अत्यन्त विस्तृत है और महाकाव्य के अनावश्यक और रूढ लक्षणों को भी समाहित किए हुई है, जैसे महाकाव्य में कम-से-कम आठ सर्गो का होना, मंगलाचरण, वस्तुनिर्देश आदि की योजना।[1]

लक्षणों का विश्लेषण

विश्वनाथ के लक्षणों के विश्लेषण से निम्नलिखित सार निकलते हैं :—

१—महाकाव्य का कथानक सर्गबद्ध हो।

२—नायक सुर या सद्वंशीय क्षत्रिय हो, उसमें धीरोदात्त नायक के गुण—गम्भीरता, क्षमाशीलता, आत्मश्लाघाहीनता, स्थिरता तथा स्वाभिमान हो। एक वंश के कई राजाओं मे भी ये गुण हो सकते है और वे भी नायक हो सकते है।

३—शृंगार, वीर और शान्त रसों मे से कोई एक प्रधान और अन्य सहायक हों।

४—कथावस्तु मे सभी सधियाँ हों।

उभयवैचित्र्यंयथा-रसानुरूपसदर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्, समस्तलोकरंजकत्वम्, सदलंकारवाकयत्वम् देशकालपात्रचेष्टाकथान्तरानुषंजनम्, मार्गद्वयानुवर्तनं च, इति।

प्रायोग्रहणात्संस्कृतभापायाम्याश्वासकबन्धो हरिप्रबन्धादौ न दुष्यति। प्रायोग्रहणादेव रावणविजय-हरिविजय सेतुबन्धेष्वादितः समाप्तिपर्यन्तमेकमेवच्छन्दो-भवनीति। गलितकानि तु तत्र कैरपि विदग्धमानिभिः क्षिप्तानीति तद्विदो भाषन्ते।

—वही

१—सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैकोनायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एकवंशभवाभूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥

५—इतिहास प्रसिद्ध या सज्जन-चरित्र से सम्बन्ध कथानक हो।

६—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चतुर्वर्ग की प्राप्ति लक्ष्य हो।

७—प्रारम्भ मे मगलाचरण, ईश्वर-वन्दना, आशीर्वचन या कथा-वस्तु के निर्देश के बाद सज्जनों को प्रशंसा और असज्जनों की निन्दा हो।

८—सर्ग के अन्त मे छन्द बदल जाये पर कथा-प्रवाह के लिए छन्द की एकरूपता आवश्यक है। किसी-किसी सर्ग मे अनेक छन्द भी हो सकते है।

९—कम से कम आठ सर्ग हो जो न तो बहुत बड़े हों और न बहुत छोटे।

१०—सर्ग के अन्त मे आनेवाली कथा की सूचना—पूर्वाभास हो।

११—यथास्थान और यथावसर सन्ध्या, सूर्यचन्द्र, रात्रि प्रदोष, अन्धकार, दिवा, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतुओं, वनो, सागरो, सभोग, विप्रलम्भ, ऋषियो, नगरो, यज्ञों, आक्रमणो, विवाहोत्सवो, मत्रणा, कुमारजन्म आदि विषयो के सांगोपांग चित्रण हों।

१२—महाकाव्य का नाम कवि, कथानक, नायक या अन्य पात्र पर हो सकता है, पर प्रत्येक नाम उसके कार्य-विषय के आधार पर ही होना चाहिये।

शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटक संधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सताच गुणकीर्त्तिनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाःसर्गा अष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्यासूर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तबासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तु वनसागराः॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयममंत्रपुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोग सांगोपांगा अमीइह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनामतु।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गाभवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥

—साहित्य-दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, ३१५-३२४

समीक्षा और निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विश्वनाथ ने अपने लक्षण-निर्धारण में प्राचीन-नवीन का सम्मिश्रण किया। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य-भामह, दण्डी, हेमचन्द्र आदि के मतों को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे तथ्यों का विधान किया, जो महाकाव्य के अनिवार्य लक्षण नहीं हैं। दण्डी की तरह शिशुपाल-वध, किरातार्जुनीयम् , नैषध-चरित, रघुवंशम् आदि महाकाव्यों को आधार मानकर जिन नये तत्त्वों का उद्घाटन उन्होंने किया, उनका प्रभाव तो परवर्ती प्राचीन महाकाव्यों की रचना पर पड़ा, किन्तु आधुनिक युग में वे लक्षण महाकवियों द्वारा अस्वीकृत हो गये।

विश्वनाथ ने महाकाव्य-सम्बन्धी कुछ ऐसे लक्षणों की ओर इंगित किया, जिनसे इनकी परिभाषा अधिक विस्तार पा सकी। यथा—

१—अब तक सर्गों की संख्या निश्चित नहीं थी। विश्वनाथ ने कम से कम आठ सर्गों का होना अनिवार्य माना।

२—जहाँ दण्डी ने 'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः' लिखा, वहाँ विश्वनाथ ने 'नातिस्वल्पानातिदीर्घा' लिखकर सर्गों की लम्बाई के साथ ही छोटाई के सम्बन्ध में भी निर्देश दिया। अब तक एक सर्ग में जहाँ एक ही छन्द के प्रयोग की आवश्यकता मानी जाती थी, वहाँ विश्वनाथ ने एक सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग को अपवाद के रूप में स्वीकार कर लिया—'नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।'

३—नायकों के सम्बन्ध में कुछ और विशिष्ट गुणों का आरोप करके इन्होंने नायकों के चुनाव-सम्बन्धी क्षेत्र को सीमित कर दिया।

४—विश्वनाथ ने शान्त और करुण रस को प्रधान रसों की सूची से अलग कर दिया जो दृष्टिकोण की संकीर्णता का परिचायक है।

५—विश्वनाथ ने वर्णन-सम्बन्धी अब तक की सूची को और भी विस्तृत कर दिया, फलतः भविष्य में महाकाव्य के नाम पर आनेवाली रूढ़िबद्ध रचनाओं में अनावश्यक रूप में रसपूर्ण वर्णन की जगह गोचर जगत की अनेक वस्तुओं की निर्जीव सूची आने लगी।

६—विश्वनाथ के अनुसार एक-वंशीय कई राजा एक महाकाव्य के नायक हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रायः कथानक के प्रवाह और रसानन्द

में बाधा उपस्थित होती है। रघुवंशम् की तरह के सुनियोजित महाकाव्य कितने लिखे जा सकते हैं ! हिन्दी में दैत्यवंश काव्य में यह प्रयोग असफल रहा।

अन्य भारतीय दृष्टिकोण

इस प्रकार महाकाव्य-सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण को प्रधानतः प्राचीन संस्कृत आचार्यों ने स्पष्ट किया। भामह, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र और विश्वनाथ लक्षण-निर्धारण करनेवाले आचार्यों की परम्परा का निर्माण करनेवाले सिद्ध हुए। हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों को भी इन्हीं आचार्यों के निकष पर परखा जाता रहा। आधुनिक युग में महाकाव्य-सम्बन्धी कुछ अन्य भारतीय दृष्टिकोण भी द्रष्टव्य हैं—

रवीन्द्रनाथ के विचार और समीक्षा

कवीन्द्र रवीन्द्र ने आधुनिक युग के स्पन्दन का अनुभव करते हुए महाकाव्य के लिये महच्चरित्र, महत्कार्य और महदनुष्ठान की आवश्यकता बतलायी है।[1] उनके अनुसार महाकाव्य की मूल प्रेरणा ही किसी महापुरुष का चरित्र है।[2] महाकाव्य के सामाजिक तत्त्व और उसके सार्वभौम शिव को इस कवि ने स्वीकार किया है।[3]

किन्तु रवीन्द्रनाथ की कसौटी कुछ इतनी कड़ी है कि उसपर किसी रचना का महाकाव्य बनकर खरा उतारना अत्यन्त कठिन है। वे वर्तमान और भविष्य

---

१ महाकाव्य में एक महच्चरित्र होना चाहिये और उसी महच्चरित्र का एक महत्कार्य और महदनुष्ठान होना चाहिये।

मेघनादवध की भूमिका, अनु० मधुप, पृ० १५९-६०।

२ मन में जब एक महान् व्यक्ति का उदय होता है सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर उस परमपुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिये कवि भाषा का मंदिर निर्माण करता है। इसी को महाकाव्य कहते हैं।

वही, पृ० १५७-५८।

३ इस श्रेणी के कवियों की रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके, उस रचना को सदा के लिए समादरणीय सामग्री बना देता है।

—प्राचीन साहित्य, रवीन्द्रनाथ, अनु० रामदहिन मिश्र, पृ० १२।

की महाकाव्य-रचना के प्रति आशावान नहीं दीखते हैं। उनकी दृष्टि में रामायण और महाभारत ही वास्तविक रूप से महाकाव्य कहे जाने के अधिकारी हैं।

हिन्दी शोध-प्रबन्धों में व्यक्त विचार—डा० प्रतिपाल सिंह के विचार और उनकी समीक्षा

महाकाव्य के सम्बन्ध में उन व्यक्तियों के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जिन्होंने आधुनिक युग में महाकाव्य-सम्बन्धी अनुसंधान किये हैं। डा०प्रतिपाल सिंह के अनुसार महाकाव्य के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्यों की आवश्यकता कही जा सकती है।[1]

१—इतिहास, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा पूर्ण मानवता की सृष्टि।
२—मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सम्यक् विवेचन।
३—प्रकृति और मानव-भावों का पूर्ण चित्रण और मानव-जीवन से उसका सामंजस्य।[2]

डा० प्रतिपाल सिंह ने स्वयं अपने मत के प्रति शंका प्रकट की है और लिखा है कि—'परिवर्तन के इस युग में संभवतः अनेक कलाकार महाकाव्य की इस परिभाषा से सहमत न होंगे।' वे इसका कारण 'पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव से संवेदना के प्रति उदासीनता का भाव मानते हैं।'

डा० सिंह ने कोई सुनिश्चित और व्यापक मत तो नहीं दिया है, पर उनकी परिभाषा से इतना स्पष्ट हो जाता है कि वे महाकाव्य के चित्र-फलक को समग्र मानवता का आँगन मानते हैं और उसके संवेदनात्मक गुण को स्वीकार करते

---

१ इतिहास, विज्ञान और दर्शन के समन्वय से मनुष्य पूर्ण मानव बनता है, अतः कलाकार का प्रधान कर्त्तव्य यह हो जाता है कि वह पूर्ण मानवता की सृष्टि करे। जो कलाकार मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों—ममता, प्रेम, उल्लास एवं धर्म आदि का सम्यक विवेचन कर सके वह श्रेष्ठ कलाकार होगा और उसकी कृति महाकाव्य कहलाने की अधिकारिणी होगी।

—बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० २९३।

२ हमने जो कुछ महाकाव्य के लिये कहा है उसके लिये—यह आवश्यक होगा कि कलाकार प्रकृति का पूर्ण चित्रण एवं प्रेम और वात्सल्य आदि मानव के चिरन्तन भावों का पूर्ण विवेचन करे और उनमें मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष का पूर्ण सामंजस्य करे।

वही।

है। उन्होने वृत्तियों को प्रभावित करनेवाली स्थितियों और मनोभावो के चित्रण को आवश्यक मानकर महाकाव्य को एक सांस्कृतिक प्रयत्न माना है।[1]

डा० शम्भूनाथ सिंह के विचार और उनकी समीक्षा

डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने शोध-प्रबन्ध मे महाकाव्यों का स्वरूप-निर्माण एवं पाश्चात्य और पौरस्त्य विचारको के मत की समीक्षा करते हुए जो परिभाषा दी है, उसके विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि उन्होने अब तक के प्रचलित सभी मतो का निचोड़ अपनी परिभाषा मे सम्मिलित कर लिया है।[2] इसलिए 'या' और अथवा से पुष्ट होकर यह परिभाषा अनावश्यक रूप से बोझिल हो गई है। उन्होने महाकाव्य को मानवीय कलात्मक प्रतिभा की सर्वोत्तम देन मानकर उसके वाह्यस्वरूप को परिवर्त्तनशील किन्तु आन्तरिक गुणों को स्थायी माना है और आन्तरिक गुणों मे अनवरूद्ध जीवनशक्ति को अधिक महत्वपूर्ण माना है।[3]

१ महाकाव्य प्रणयन एक सांस्कृतिक प्रयत्न है। अतः कलाकार उन स्थितियो और मनोभावो को, जो हमारी रागात्मक अन्तःप्रकृति को प्रभावित करती है, महाकाव्य मे सन्निवेश करने का प्रयत्न करता है।

बीसवी शताब्दी के महाकाव्य, पृ० २६२।

२ महाकाव्य एक छंदोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त सुनियोजित सागोपाग और जीवन्त भाषा मे कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमे यथार्थ कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रो के महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप मे प्रतिनिधित्व करते है, और जिसमें किसी महाप्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिये किसी महत्वपूर्ण गंभीर आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओ का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति विशेष और युग विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपो, मानसिक अवस्थाओ अथवा नाना रूपात्मक कार्यो का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रखने की शक्ति प्रदान करती है।

हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप-विकास, पृ० १०८।

३ महाकाव्य के सामान्य लक्षणो से अधिक आवश्यक यह है कि उसमें ऐसी अनवरुद्ध जीवनी शक्ति हो, जो युग-युग में गंगा की धारा की तरह सामाजिक परिवर्त्तनो, राजनीतिक उलट-फेर और सांस्कृतिक विकास की विषय-भूमि के बीच से समाज के हृदय-प्रदेश मे महाकाव्य की धारा को अजस्र रूप में प्रवहमान रखे।

—वही, पृ० १२०।

डा० गोविन्दराम शर्मा के विचार और समीक्षा

डा० शर्मा ने अपनी परिभाषा के अवयवों को निम्नलिखित उपशीर्षकों में बाँटकर सम्यक रूप से उन्हे विवेचित किया है:—

१ महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य-प्रतिभा ।
२ गुरुत्व, गांभीर्य और महत्त्व ।
३ महत्कार्य और युग-जीवन का समग्र चित्र ।
४ सुसंगठित एवं जीवन्त कथानक ।
५ महत्त्वपूर्ण नायक ।
६ गरिमामयी उदात्त शैली ।
७ तीव्र प्रभावान्विति और गंभीर रस-योजना ।

डा० गोविन्दराम शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में महाकाव्य का स्वरूप निर्णीत करते हुए जो परिभाषा दी है,[1] उसमे निम्नलिखित तत्त्वों का सम्मिश्रण तो है, पर इसमे उस महाप्राणता की ओर ध्यान नही गया है, जो महाकाव्य को युग की कथा में बाँधकर भी सर्वयुगीन और चिरआस्वादनीय बना देता है—

१ छंदबद्धता और उदात्तभाषा शैली ।
२ प्रकथनात्मकता और कथा-सूत्रता ।
३ विषय की व्यापकता और वर्णन की विशदता ।
४ नायक की महत्ता ।
५ रसात्मकता ।
६ जीवन का यथासाध्य सर्वाङ्गीण चित्रण ।
७ जातीय भावनाओं और संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति ।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के विचार और उसकी समीक्षा

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने महाकाव्य का विवेचन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । उनके अनुसार लक्षण-ग्रंथों के आधार पर लिखे गये महाकाव्यों में घटनात्मकता से अधिक वर्णनात्मकता

---

१ महाकाव्य एक ऐसी छंदोबद्ध प्रकथनात्मक रचना होती है, जिसमें विषय की व्यापकता और नायक की महानता के साथ-साथ कथावस्तु की एकसूत्रता, छलकता हुआ रस-प्रवाह, वर्णन-विषदता, उदात्त भाषा-शैली, जीवन का यथासाध्य सर्वाङ्गीण चित्रण और जातीय भावनाओं तथा संस्कृति की सुन्दर अभिव्यक्ति हो ।

—हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० ४३ ।

है ।[१] ये हिन्दी महाकाव्यों में घटनाओं की अपेक्षा वर्णनात्मकता की प्रधानता मानते हैं और इसे वे संस्कृत के महाकाव्यों का प्रभाव कहते हैं । विदेशी महाकाव्यों में भी वर्णनात्मकता को महाकाव्य का अनिवार्य तत्त्व माना गया है ।[२]

इससे भिन्न डा० नगेन्द्र ने 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' की भूमिका मे लिखा है, "महाकाव्य मानव-मन की समस्त सम-विषम वृत्तियों को समंजित करता है ।"[३] इस दृष्टि मे मनोवैज्ञानिक पक्ष प्रधान है । इसी तरह महत्वपूर्ण कवियो ने भी यथा स्थान प्रसगवश महाकाव्य के गुणो का उल्लेख किया है । मैथिलीशरण गुप्त ने महाकाव्यो में 'अप्रासंगिक अशों का वहिस्कार कर' 'समय और कथानक के अनुकूल बातों का वर्णन करना ही उचित समझा है ।'[४] जयशंकर प्रसाद ने जीवन

---

१ लक्षण ग्रन्थो का अनुमान करके जो महाकाव्य लिखे गये, उनमें वर्णनो का ही प्राधान्य हो गया, घटनाएँ दब गई ।

हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ० १२७

2 (i) Name given to narrative poetry which deals in dignified and elevated style with some important action usually heroic The Concise Universal Encyclopaedia, Page 566.

(ii) A poem, that elaborates in the form of a continuous narrative the achievements of one or more heroic persons, ages of history or tradition.

—The oxford Companion of English Literature, page, 261.

(iii) Epic is an adjective, Gr. epikos, from Gr. epos, which first meant word, but then, as one word lead to another, came to mean story, then the long narrative poem.

—Dictionary of Word Origin, Page, 72

४ महाकाव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दवाव डालते है । जिस कथा में उनकी आवश्यकता न हो उसमें भी उन्हें लाने में अप्रासंगिकता का डर है । पर उनके बिना महाकाव्य नहीं रहता । वन–बिहार-वर्णन, जलकेलि–वर्णन, आखेट-वर्णन, ऋतु-वर्णन, गिरि-वर्णन और समुद्र आदि के वर्णन सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गए हैं । परन्तु इस विषय में हमें परतन्त्र होना उचित नहीं । समय और कथानक के अनुकूल बातो का वर्णन करना ही उचित है । इन बातो के बिना महाकाव्य नष्ट नहीं होता ।

—पंचम हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ, का कार्य-क्रम द्वितीय खण्ड, पृ० ५७ । ३ पृ० १४१

की सम्पन्नता और महत्ता की आवश्यकता बतलायी है। उन्होंने नायक के धीरोदात्त होने तथा लोक-विश्रुत होनेवाले तत्त्व को स्वीकार किया है।[५]

डा० रामकुमार वर्मा एकलव्य की रचना करते हुए नायक की जातिगत सीमा को अत्यन्त उदार दृष्टि से बढ़ाया है और शील-गुण की प्राधानता को ही नायकत्व की मुख्य कसौटी माना है।[१] डा० रामधारी सिंह दिनकर प्रश्नों की विविधता के समाधान की प्रबल आवश्यकता को महाकाव्य-प्रणयन के लिए आवश्यक मानते हैं।[२]

महाकाव्य-सम्बन्धी पाश्चात्य मत

महाकाव्य के स्वरूप और परिभाषा पर पाश्चात्य विचारको के मत भी विचारणीय हैं। पूर्व की तरह पश्चिम में भी इस सम्बन्ध में बहुत अधिक गवेषणा हुई है। हालांकि हमारे देश की विचार-पद्धति अधिक प्राचीन और अधिक व्यापक है, पर सन्तुलित दृष्टि के लिए दोनों दिशाओ के विचारको के मतो का विश्लेषण-परीक्षण आवश्यक है।

अरस्तू के विचार-विन्दु

अरस्तू ने अनुकरण को कला और साहित्य के क्षेत्र में बहुत अधिक महत्त्व दिया है। उसके अनुसार महाकाव्य भी एक प्रकार की अनुकृति ही है। अरस्तू के विचार का विश्लेषण निम्नलिखित दृष्टि-बिन्दुओ मे किया जा सकता है.—

---

५ वर्णनों से भरे महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तारों का प्रभावशाली वर्णन आता है। ....उनका केन्द्र होता था धीरोदात्त विख्यात लोक-विश्रुत नायक। महाकाव्यों में महत्ता की अत्यन्त आवश्यकता है।'

काव्य-कला और अन्य निबन्ध, पृ० ११२–१३

१ वह अनार्य नहीं, आर्य है, क्योंकि उनमें शीलका प्राधान्य है। यही उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह सुर अथवा सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय नहीं है।

—एकलव्य, भूमिका, पृ० ६

२ अगर महाकाव्य की रचना का समय वह युग होता है, जबकि प्रश्नों की विभिन्न धाराएँ अपना समाधान पाने के लिए किसी समुद्र की खोज में वेग से दौड़ती होती हैं, तो वह समय आज ही आया हुआ है।

अर्द्धनारीश्वर, पृ० ५

१— महाकाव्य में महच्चरित्र और उसके चारित्र्य का अनुसरण होता है।[1]
२—आदि से अन्त तक एक ही छन्द प्रयुक्त होता है।
३—पूर्ण आनन्द प्रदान करने की क्षमता होती है।
४—यह वर्णनात्मक होता है।
५—घटना-क्रम मे उस का समय अनिश्चित रहता है।
६—महाकाव्य मे दो प्रकार की शैलियाँ होती है—सरल और जटिल।
७—इसमें अन्विति (यूनीटी) का पूर्ण निर्वाह नैतिकतापूर्ण और दुर्घटनापूर्ण होता है।

वस्तुत: अरस्तू ने महाकाव्य के सम्बन्ध मे यह विचार ट्रेजेडी की तुलना करते हुए व्यक्त किया।[2] अरस्तू का नायक-सम्बन्धी मत भारतीय आदर्शों के अनुकूल होते हुए भी कुछ अंशों मे भिन्न है, क्योकि उसने नायक की दुर्बलताओं को भी प्रश्रय दिया है। इस दिशा में वे 'तासो' से भिन्न और 'ड्राइडेन' से अभिन्न है, क्योंकि 'तासो' चरित्र-नायक को पूर्णत: निर्दोष होना आवश्यक समझता है।[3] ड्राइडेन इसे आवश्यक नही मानता। महाकाव्य की समय-सीमा के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार मिन्टरनों, होरेस और जिराल्डी से भिन्न

1 Epic poetry agrees so far with tragic as is an imitation of great characters and actions by means of words; but in this it differs, that it makes use of only one kind of metre throughout, and that it is narrative. It also differs in length, for tragedy endeavours, as far as possible, to confine its actions within the limit of a single revolution of the sun, or nearly so ; but time of epic action is indefinite.

—Aristotle's Poetice, Dometrius, Page, 13.

2 The epic poem must be simple or complicated, moral or disastrous.

—Ibid, Page, 47.

3 Unlike the hero of tragedy, who should not, according to Aristotle be either faultless or a ruffian, the epic hero should be perfectly virtuous, says Tasso, but argues Dryden, it is not essential that the manners of the hero should be immaculate.

—English Epic & Heroic Poetry : Dixon, Page, 3.

है, क्योंकि मिन्टरनों ने एक साल के घटना-क्रम को स्वीकार किया है, होरेस ने इसका यथेष्ट विस्तार आवश्यक माना है और जिराल्डी ने नायक का पूरा जीवन-वृत्त अनिवार्य माना है।[1]

डब्लू० पी० केर के विचार

डब्लू० पी० केर ने महाकाव्य को एक विकसनशील प्रक्रिया मानते हुए बौद्धिक और कल्पनाशील स्वतंत्रता की ओर इसकी गति मानी है। उन्होंने महाकाव्य की विषय-वस्तु के अन्तर्गत बहुत से विषयों का समावेश किया है[2] और महाकाव्य को साहित्य की अन्य कोटियों की अपेक्षा सर्वाधिक गंभीर और प्रमुख समझा है।[3]

डिक्सन के विचार

डिक्सन ने अपनी पुस्तक 'इंगलिश एपिक एण्ड हिरोइक पोयट्री' के 'द आइडिया औफ एपिक' प्रकरण में महाकाव्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए

---

1 Minturno, however, would restrict the canvas of the epic poet, permitting him only the events of a single year and Ronsard allows no more. Horace, not venturing himself upon so wide a sea as epic, was prepared nevertheless to legislate for his friends, and episodes inthe life of the hero, he thought, with his accustomed moderation, should provide sufficient materials, but Giraldi held both the theory and practise that the whole biography of the hero was indispensible.

—Eng. Epic and Heroic Poetry, Page 3.

2 Epic poetry is one of the complex and comprehensive kinds of literature, in which most of the other kinds may be included—romance, history, comedy, historical, pastoral are terms not sufficiently various to denote the variety of the Iliad and the Odessey.

Ibid, Page 16.

3 Epic is the most solemn, statedy and frigid of all kinds of composition

Ibid, Page 39.

उसे किसी युग-विशेष की आवश्यकता और देन माना है और किसी महाकवि की विशिष्टता को युग-सापेक्ष कहा है।[१]

एबरक्रॉम्बी ने महाकाव्य-निर्माण का विवेचन करते हुए विषयवस्तु और शैली दोनों का मूल्यांकन किया है और यह बताया है कि महाकाव्य के निर्माण के लिये महाकाव्यात्मक तत्त्वों का कहाँ तक हाथ है। उन्होने वस्तु और शैली की परम्परा को स्वीकार करते हुए महाकाव्य मे अन्य काव्यों की अपेक्षा इसका उपयोग अधिक आवश्यक और कौशलपूर्ण माना है।[२] महाकवि परम्परा के बिखरे तारों को जोड़कर मनोनुकूल राग निकलता है।[3] उन्होने माना है कि प्रत्येक कवि अपने समय को दृष्टि में रखकर महाकाव्य की रचना करता है। अतः उन्होने युग-सापेक्ष परिभाषा को भी मान्यता दी है। उनके विचार से जिस काव्य को पढ़ने से 'पैराडाइज लॉस्ट', 'इलियड' आदि को पढने-जेसा भाव मिले, वह महाकाव्य है।[४] यह विचार भ्रामक है।

---

1 Epic, let us say, is a type of poetry caught and fixed at a given stage, poetry which would not have been exactly as it is had the movement been stayed a generation or two earlier or a generation or two later.

Ibid, Page 13.

2 The epic poet has behind him a tradition of matter and a tradition of style; and that is what every other poet has behind him too, only for the epic poet, tradition is rather narrower, rather more strictly compelling.

—The Epic, Page 19.

3 He makes this heap of matter into a grand design, he forces it to obey a single presiding unity of artistic purpose.

—Ibid, Page 20.

4 An easy way to define epic, though not a very profitable way, would be to say simply that an epic is a poem which produces feelings similar to those produced by Paradise lost or the Iliad, Beowulf or the song of Roland.

—Ibid, Page 51.

बावरा का मत और उसकी समीक्षा

सी० एम० बावरा ने 'फ्रॉम वर्जिल टू मिल्टन' में महाकाव्य के सम्बन्ध में जो परिभाषा दी है, उसके निम्नलिखित तत्त्व हैं:—[1]

१—इसमें कथात्मकता हो, जिसका आकार बड़ा हो।

२—इसमें महत्त्वपूर्ण और गरिमामयी घटनाओं का वर्णन हो।

३—युद्ध आदि बड़े कार्यों का वर्णन हो।

४—आनन्द की उपलब्धि हो।

५—मनुष्य में महानता, गौरव आदि भावों को जगानेवाले तत्त्व हों।

श्री बावरा ने संक्षेप में महाकाव्य के सभी भावात्मक और आन्तरिक तत्त्वों की चर्चा की है, पर उसके बाह्य तत्त्वों का समावेश इसमें नहीं है।

पौरस्त्य विद्वानों की भाँति ही पाश्चात्य आलोचकों के महाकाव्य-सम्बन्धी मतों की विभिन्नताओं के बीच भी बहुत कुछ समानता है। कुछ हद तक बाह्य लक्षणों में अन्तर होते हुए भी आन्तरिक लक्षणों में साम्य है।

पाश्चात्य विचार से महाकाव्य के रूप और उनके पारस्परिक भेद

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार दो प्रकार के महाकाव्य होते हैं:—एक संकलनात्मक, प्राकृतिक, संचित या विकसनशील महाकाव्य (दि एपिक ऑफ ग्रोथ, या ऑथेन्टिक एपिक) और दूसरा कलात्मक, साहित्यिक या अलंकृत महाकाव्य (दि एपिक ऑफ आर्ट या लिटररी एपिक)। जहाँ पहली कोटि की रचना अनेक व्यक्तियों की प्रतिभा का प्रसाद होती है, वहाँ दूसरी कोटि की रचना किसी एक कलाकार की देन होती है।

पहले में स्वाभाविकता, अस्त-व्यस्तता और विकसनशीलता होती है और दूसरे में आलंकारिकता, कलात्मकता और सुनियोजन होते हैं। इलियड और

1 An epic, poem is by common consent a narrative of some length and deals with events which have a certain grandour and importance and come from a life of action, especially a violent action such as war, It gives a special pleasure because its events and persons enhance our belief in the worth of human achievements and in the diginity and nobility of man.

—Page 1,

ओडेसी, रामायण, महाभारत और पृथ्वीराज रासो इस कोटि की रचनाएँ हैं। पैराडाइज लॉस्ट, रघुवंशम्, कुमार-सभवम्, कामायनी, साकेत, एकलव्य आदि दूसरी कोटि की रचनाएँ है। पहली कोटि के महाकाव्य जहाँ मुख्यत: गेय होते हैं, वहाँ दूसरी कोटि की रचनाएँ मुख्यत: पाठ्य होती हैं।[1]

पाश्चात्य विचारों के निष्कर्ष

कलात्मक महाकाव्य के भी कई भेद है, जैसे, प्रमाणित महाकाव्य (ऑथेन्टिक एपिक), रूपात्मक महाकाव्य (एलिगोरी), उपहास-महाकाव्य (मॉक एपिक) आदि। जहाँ यथार्थ महाकाव्य किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक पर आधारित होता है, वहाँ रूपात्मक महाकाव्य का आधार कल्पित कथानक होता है। पहले में मानव-जीवन की सामयिक समस्या का और दूसरे में आध्यात्मिक समस्या का निदान ढूँढा जाता है। पहले में रूपक का प्रयोग यत्र-तत्र हो सकता है, पर दूसरे मे इसका आद्यन्त निर्वाह होता है।

कथानक

पाश्चात्य विद्वानों के मत से महाकाव्य के निम्नलिखित आदर्श निर्धारित किये जा सकते हैं :—

१—कथानक—केम्स (Kames) ने प्राचीन, लुकन (Lucan) ने नवीन और तासो (Tasso) ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुए न बहुत प्राचीन और न बहुत नवीन कथानक को महाकाव्य के उपयुक्त समझा है।[2] कुछ

---

1. The first epics (i. e., the Authentic) were intended for recitation, the literary epic is meant to be read. It is more difficult to keep the attention of hearers than of readers.

The Epic; Abercrombie, Page 39,

2 Kames is in agreement, 'familiarity', he tells us, "ought more especially to be avoided in an epic poem, the peculiar character of which is dignity and elevantion : modern mannars make no figure in such a poem". Yet Lucan, to him corneille confused greater indebtedness than to virgil, preferred themes of recent date, and historical characters whose names were fresh in men's kinds, trusting perhaps a safer instinct. Tasso, again, steering a middle course, advised a subject neither too old nor too new.. ....

—English Epic & Heroic Poetry, Dixon, Page 2-3.

विद्वान् महाकाव्य के कथानक में वास्तविकता, व्यापकता और लोक-प्रसिद्धि की अनिवार्यता मानते हैं।[1] वे कथानक को वास्तविक मानव-जीवन की अनुभूतियों से सम्बद्ध होना इसलिए आवश्यक मानते हैं कि सुपरिचित कथा को नये सिरे से पढ़-समझकर पाठक यह अनुभव करे कि जीवन जैसे अभिव्यक्त-कल्पना के रूप में स्वयं उपस्थित हो गया हो।[2] अधिकांश विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि महाकाव्य के कथानक को लोक-प्रसिद्ध, मनोरञ्जक और विशाल पृष्ठभूमि पर आधारित होना चाहिये। मूल कथानक को विविध चरित्रों के मर्म-व्यापार, उपकथाओं की योजना आदि के द्वारा पुष्ट किया जाता है।

२—नायक :—नायक महान्, उदात्त, पराक्रमी और नायकत्व के अन्यान्य गुणों से सम्पन्न हो। कहीं-कहीं एक से अधिक नायक की स्थिति को भी विद्वानों ने स्वीकार किया है।[3] ये नायक जातीय और राष्ट्रीय भावनाओं के सम्वाहक होते हैं।[4]

---

1 The prime material of the epic poet then, must be real and not invented.. ...The reality of the central subject is, of course, to be understood broadly. It means that the story must be founded deep in the general experience of men.

—The Epic, Abercrombie, Page 55 56.

2 And the reasons why epic poetry so imperiously demands reality of subject is clear, it is because such poetry has symbolically to re-create the actual fact in the actual particulars of human experience in terms of a general significance...the reader must feel that life itself has submitted to plastic imagination.

Ibid, Page 56-57.

3 The longer and more artistic epic poems, however, embrace an extensive series of events and the actions of numerous personages.

—The Dictionary of Science, Arts and Literature, Page 792.

4 The heroic character of the epic has in many cases made it the embodiment of the ideals of the nation or race.

—The Columbia Encyclopaedia. Page 577.

३—अलौकिक कृत्य—महाकाव्य के कथानक को बढ़ाने और नया मोड़ देने तथा चरित्रों के कार्य-कलाप को प्रभावित करने के लिए पाश्चात्य आलोचकों ने अलौकिक शक्तियों का सृजन आवश्यक माना है।[1]

४—भाषा-शैली और छन्द :—पाश्चात्य विद्वानों ने आद्यन्त एक समर्थ और प्रवाहपूर्ण छन्द का प्रयोग आवश्यक माना है। शैली में पर्याप्त गम्भीरता और भाषा पर पूर्ण अधिकार भी आवश्यक माने गये है। साथ ही वर्णन और दृश्य-चित्रण का अपूर्व कौशल एवं कल्पनाशक्ति की उर्वरता भी आवश्यक मानी गयी है।

महाकाव्य-सम्बन्धी पौरस्त्य और पाश्चात्य विद्वानों के मतो का विवेचन करते हुए दोनों दिशाओं की विचार-पद्धतियो की तुलना करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि दोनो के विचारो मे मूलत· कोई बहुत अधिक अन्तर नहीं है! महाकाव्य का आन्तरिक स्वरूप प्रत्येक देश मे प्राय: एक-सा होता है—कुछ ऊपरी भिन्नताएँ होती है। प्रत्येक देश की कुछ प्रकृत विशेषताएँ होती हैं, फिर भी उनमें बहुत अधिक समता होती है।[2] दोनों दिशाओं के महाकाव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण का तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है—

कथानक

१—यद्यपि दोनों ही दृष्टियों से महाकाव्य का कथानक लोक-प्रसिद्ध अथवा ऐतिहासिक होता है, तथापि पौरस्त्य महाकाव्यों में समय का प्रसार पाश्चात्य

---

1 But very few epic poets have ventured to do without super-natural machinery of some sort.

Epic, Abercrombie, Page 67.

2 Yet heroic poetry is one; whether of East or west, the north or south, its blood and temper are the same, and the true epic, wherever created, will be narrative poem, organic in structure, dealing with great action and great characters in a style commensurate with the lordliness of its theme ; which tends to idealise these characters and actions and to sustain and embellish its subject by means of episode and amplification.

—English Epic and Heroic Poetry , Dixon, Page 24.

महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक होना है। इलियड और ओडेसी जैसे विशालकाय महाकाव्यों की घटनाएँ कुछ ही दिनो के भीतर ही घटती हैं, पर महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों मे युग-युग की घटनाएँ संगृहीत हैं।

२—दोनो ही दृष्टियो ने नायक धीर, महान् तथा जातीय गौरव और संस्कृति का अग्रदूत होना है। लेकिन आदर्श प्रधान देश भारत नायक के आदर्श चरित्र और लोक-उन्नायक व्यक्तित्व को महाकाव्य में चित्रित करता है, जबकि 'पैराडाइज लॉस्ट' की भाँति पाश्चात्य महाकाव्यों के नायक पराजय या पतन की ओर भी उन्मुख दिखलाये जा सकते हैं। हमारे यहाँ के महाकाव्यों में शरीर-बल की अपेक्षा आत्मिक बल की प्रधानता दी गई है। बलवीर ही नहीं हमारे नायक सत्यवीर, दानवीर और धर्मवीर भी होते हैं।

रस

३—हमारा दृष्टिकोण संघर्ष को नही, आनन्द, शान्ति और वैराग्य को प्रधानता देता है। पाश्चात्य देशों की संघर्ष-प्रधान संस्कृति के अग्रदूत उनके महाकाव्यों के नायक विशेष युद्ध-प्रेमी दीखते है। हमारे महाकाव्यों में श्रृंगार, वीर या शान्त रसो की प्रधानता होती है, किन्तु पाश्चात्य महाकाव्यों में प्रायः वीर रस की प्रधानता होती है।

अलौकिकता

४—अलौकिक घटनाओं और अदृश्य शक्तियों का जितना प्रभाव पाश्चात्य महाकाव्यों मे है, उतना पौरस्त्य नहीं। हमारे यहाँ ये शक्तियाँ गौण होती है, और अप्रत्यक्ष रूप मे मानव-व्यापारो की मुख्यतः तटस्थ दर्शिका होती है, मानव के सुख-दुख में हँसने-रोनेवाली! दूसरी बात यह है कि हमारा देश कर्मवाद के साथ भाग्यवाद का समन्वय दिखलाता है, जबकि पाश्चात्य महाकाव्यों में दैवी शक्ति का निर्मम रूप दीखता है, जिसमे मानव के उपकार की अपेक्षा अपकार करने की प्रवृत्ति अधिक दीखती है।

छन्द

५—हमारे यहाँ सर्ग के अन्त में छन्द बदलने और अनेक छन्दों के प्रयोग की छूट है—प्रवाहपूर्ण रसानुकूल तथा भावानुकूल छन्दो के प्रयोग की आवश्यकता बतलायी गई है, पर विदेशी महाकाव्यों में प्रायः एक महाकाव्य में एक ही छन्द के प्रयोग पर जोर दिया गया है।

आकार

६—प्राचीन पाश्चात्य महाकाव्यो की अपेक्षा हमारे प्रचीन भारतीय महाकाव्यों का आकार बडा है। यह निवेदन किया जा चुका है कि इलियड और ओडेसी दोनों मिलकर भी रामायण से छोटे है और महाभारत तो इन दोनों के सम्मिलिति रूप से लगभग आठ गुना बडा है।

निष्कर्ष

इन ऊपरी भेदों के होते हुए भी महाकाव्य की महाप्राणता, कथावस्तु की व्यापकता, नायक की महत्ता, वर्णन की प्रचुरता, भाषा शैली की गरिमा आदि तथ्यों पर दोनों ही देशों के आचार्यो ने जोर दिया है।

वर्त्तमान अतीत का पारस्परिक सम्बन्ध और मौलिकता का प्रश्न

प्रत्येक वर्त्तमान अतीत के कन्धे पर चढे होने के कारण दूर तक देखने की क्षमता रखता है, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि अतीत के कन्धे मजबूत और वर्त्तमान के पैर सुदृढ हों। अतीत की खाद न हो, तो वर्त्तमान का पौधा पीला पड़ जाय। अतीत सुचिन्तित क्षणों की जो जयमाल गूँथता है, वर्त्तमान उसे पहनकर चमक उठता है। सृष्टि मे नवीनता कहाँ, कितनी है ? हर मौलिकता परम्परा का संस्कार है। हर नवीनता प्राचीनता का परिष्कार है। नवीनता, मौलिकता आदि शब्द साहित्य मे सदैव अभिनन्दनीय है। किन्तु किसी साहित्य को सर्वथा नवीन, सर्वथा मौलिक कहना वैसा ही है, जैसे किसी नये लहराते पौधे को देखकर उसकी जड़ मे दम तोड़नेवाले बीज के अनुग्रह को भुला देना।

प्रत्येक युग का साहित्कार, किसी-न-किसी रूप में, अनेक पूर्वतर्त्ती साहित्य-कारों का ऋणी रहता है। उसके कंठ से फूटनेवाले नये गीत की कीड़ियों में या तो पुरानी धुन का मेल होता है या नये तर्ज मे लहरनेवाली स्वर-लहरी से लिपटी कड़ियो में पहचाने-से भावो की मिठास होती है। नये युग के मौलिक कहे जानेवाली कवि की वाणी मे अपना स्वर-सन्धान देखकर प्राचीन कवि सन्तोष की साँस लेता है।

नवीनता, अतः भिन्नता

नवीन और मौलिक बनने का प्रयास ही एक युग के साहित्यकार को दूसरे युग से भिन्न बनाता है। यदि साहित्यकार के मन की यह आकांक्षा नष्ट हो

जाय, तो साहित्य-धारा का विकास रुक जाय और नये साहित्यकारों की आवश्यकता न रह जाय।

महाकाव्य में जातीय जीवन और संस्कृति का महोच्चार

महाकाव्य प्रचीनता और नवीनता के समन्वय का महान् प्रयास होता है। महाकाव्य में केवल एक व्यक्ति की नहीं, युग-युग की आशा-आकांक्षा और विश्वास केन्द्रित रहते है। इसमें जातीय जीवन और राष्ट्रीय संस्कृति का महोच्चार रहता है, इसलिए इसका दायित्व इस दिशा में और भी बढ़ जाता है। जातीय जीवन और संस्कृति का प्रतिनिधित्व करनेवाले महाकाव्य के नायक की पृष्ठभूमि में परम्परा का सम्बल और उसके हाथ में वर्तमान की ज्वलन्त समस्याओं की मशाल रहती है, जिसके सहारे वह युग-पथ पर शक्ति-संचय करता, पथ देखता दिखाता आगे बढ़ता जाता है।

प्राचीन-कथा, नया वातावरण और शिल्प-विधि की नवीनता

प्रत्येक युग की अपनी समस्याएँ होती है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक शताब्दी में मानवीय कार्यों के मूल्यांकन की कसौटियों में कुछ परिवर्तन आते रहते हैं। हर पीढ़ी अपनी समसामयिक समस्याओं का निदान अपने ढंग से ढूँढ़ा करती है। फलत: उस काल के महाकाव्य प्रचीन कथा को नये वातावरण की खराद पर चढाकर नये रूप मे ढालते हैं। इस क्षेत्र में वे नये टेकनीक (शिल्प) का प्रयोग करते हैं। कथानक के मोड मे, घटनाओ के चुनाव मे, अभिव्यजना-शैली में, जीवन-दर्शन की स्वीकृति में, चरित्रो के विकास मे—सभी दिशाओं मे ये महाकवि नये कौशल काम में लाते है। शिल्प-विधि की ऐसी ही नवीनताएँ उन्हें महाकवि की प्रतिष्ठा देती है। बाल्मीकि के राम वे ही नही, जो तुलसी के हैं। इसी प्रकार केशव के राम गुप्त या बलदेव प्रसाद मिश्र के राम से बहुत भिन्न हैं। आधुनिक युग मे जब रावण, मेघनाद, दैत्यवंश, कर्ण, एकलव्य आदि पर महाकाव्य लिखे गये, तब कहाँ गया नायकों कीकुलगरिमा का आदर्श? जब कामायनी जैसा मनोवैज्ञानिक महाकाव्य लिखा गया, तब कहॉ गया घटनाओं और इतिवृत्तों के आधिक्य का प्रश्न?

नये शिल्प की दिशायें

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महाकाव्य अपने समय के अनुकूल अपने नये शिल्प का निर्माण करता है और उसी के सहारे परम्परा को नये साँचे में ढालकर

उसका विकास करता है। दिनकर ने कुरुक्षेत्र मे कथा तो महाभारत की ली, पर क्या कुरुक्षेत्र के भीष्म महाभारत के भीष्म रहे ? क्या कुरुक्षेत्र आधुनिक युग की युद्ध से संत्रस्त आत्म की पुकार नही है ? सच तो यह है कि महाकवि के तीर-कमान (इतिवृत्त) पुराने भी हुए तो क्या, लाघव (शिल्प) से, नये लक्ष्य (आदर्श, जीवन-दर्शन, मानवीय मूल्यांकन) का संधान करना वह नही भूलता। यही कारण है कि आधुनिक युग के महाकाव्यो मे प्राचीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य लक्षणों का पूर्णत: समावेश नही मिलता। प्राचीन आचार्यो के निर्देशन पर आज के कवि आँखे मूँदकर नही चलते। जब प्राचीन आचार्य ही महाकाव्य के लक्षण युगानुकूल बदलते रहे तो सहस्रों वर्षों बाद के ये हिन्दी के महाकवि बदली हुई परिस्थिति, बदले हुए जमाने मे लकीर के फकीर कैसे रहते ! फलत: नये महाकवियों ने कुछ नये टेकनीक अपनाये, कुछ नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किए और इस प्रकार इन्होने महाकाव्य के लक्षणो पर पुन: विचार करने के लिए आचार्यो को प्रेरित किया। संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यो को दृष्टि पथ पर रखकर ही भारतीय आचार्यो ने महाकाव्य के लक्षण स्थिर किये थे। वैसे ही इलियड ओडेसी आदि महाकाव्यों को ध्यान में रखकर ही पश्चिम के विद्वानों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किये थे। यह ठीक है कि संस्कृत महाकाव्यों की रचना-शैली और शिल्प का प्रभाव आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो पर है, किन्तु युग-धर्म, परिस्थितियों और व्यक्तिगत मेधा ने प्राचीन लक्षणो को परिवर्त्तित कर दिया है।

आधुनिक महाकाव्यों में दृष्टिकोण की नवीनता

आधुनिक महाकाव्यों में निम्नलिखित नए दृष्टिकोण अपनाये गये :—

१—कथानक के सम्बन्ध में आधुनिक महाकाव्यों में भी प्राचीनता को मान्यता दी गई है। ऐतिहासिक, पौराणिक या लोक-प्रसिद्ध अन्यान्य कथाओं को आधार मानकर आजकल के धिकांश महाकाव्य लिखे गये। किन्तु उन कथानकों की घटनाओं के चुनाव या मार्मिक प्रसंगों के ग्रहण में दृष्टिकोण की नवीनता किसी-नकिसी रूप में आ गयी। कथा की लोक-प्रसिद्धि के कारण कवि को एक बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि जनता के मन में संचित संस्कारों जगाने में उसे बहुत सुविधा होती है। प्राचीन कथा को पढ़ने-सुनने में पाठक-श्रोता ऊब न जाएँ, चर्वित-चर्वण के कारण उन्हें रसोद्रेक में बाधा न हो, इसलिए प्रत्येक महाकवि कों कथानक मे नये शिल्प की अवतारण की आवश्यकता पड़ती है। शिल्प की नवीनता कुछ दूर तक इस बात के लिए कारगर है कि

हम बाल्मीकि रामायण के पश्चात् रामचरित-मानस को और रामचरित-मानस के बाद साकेत या रामराज्य को पढ़ने में आनन्द का अनुभव करते हैं।

सर्ग

२—सर्गों के सम्बन्ध में प्राचीन दृष्टिकोण को स्वीकार करना सम्भव नहीं हुआ। प्राचीन आचार्य भी सर्गो की संख्या के सम्बन्ध में एकमत नही थे। यदि उनके अनुसार कम-से-कम आठ सर्गों की संख्या को स्वीकार करें तो सप्त-सोपान वाले मानस को क्या कहेंगे ? आधुनिक युग में छह, सात, पचीस आदि-विभिन्न संख्याओं के सर्गों का प्रयोग किया गया है। सर्गों के नामकरण विभिन्न नवीन आधारों पर किये गये हैं; जैसे, कामायनी के सर्गों का विभाजन पात्रो की मनोवैज्ञानिक भाव-धारा के प्रतीकों के आधार पर !

नायक

३—आधुनिक महाकाव्यो मे नायक के सम्बन्ध में जाति-वंश आदि की उच्चता के आदर्श-सम्बन्ध ढीले पड़े। कर्ण, एकलव्य जैसे व्यक्ति भी, जो कदापि प्राचीन महाकाव्य के नायक नही हो सकते थे, इस युग के लोकप्रिय नायक बने।

नारी

४—नारी-उद्धार-आन्दोलन के इस युग में न केवल उपेक्षित महान् पुरुषों ने नायक का महत् पद प्राप्त किया, प्रत्युत कैकेयी, पद्मिनी प्रभृति उत्कृष्ट चारित्रिक गुण-सम्पन्ना महिलाओं ने भी प्रधान पात्रत्व को गौरवान्वित किया।

अन्य पात्र

५—महाकाव्य में नायक-नायिका के उद्देश्यों की पूर्ति और उनके कार्य-व्यापार के विस्तार के लिये और अनेक पात्र-पात्रियों की सृष्टि की जाती है। ये पात्र अच्छे-बुरे, उत्कृष्ट-निकृष्ट, सच्चरित्र-दुश्चरित्र सभी प्रकार के होते है, क्योंकि महाकाव्य सम्पूर्ण जातीय-जीवन का व्याख्याता होता है और सम्पूर्ण जातीय-जीवन में केवल अच्छे ही नहीं आते। खलनायक की सृष्टि नायक के चरित्र को और उज्ज्वल बना देती है। खलनायक के विरोध नायक के कार्य-व्यापार को बढ़ाकर उन्हें कर्मठ बना देते हैं और अन्त में खलनायक की पराजय द्वारा नायक की उत्कृष्टता स्थापित हो जाती है।

यथार्थ-आदर्श और स्वाभाविकता

६—आधुनिक युग के महाकाव्यों में केवल आदर्श की प्रतिष्ठा नहीं, यथार्थ का चित्रण भी है। घटनाओ और चरित्रो को अधिक से अधिक स्वाभाविक और मानवोचित बनाने का प्रयास किया जाता रहा है। अतिमानवीय और अविश्वसनीय अलौकिक कृत्यों को हटाकर उन्हे स्वाभाविक बनाने के शिल्प पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

एक उदाहरण 'साकेत' से लिया जा सकता है। अब तक पद्मावत आदि प्राचीन महाकाव्यों मे पक्षियों को मनुष्य से वार्त्तालाप करते दिखलाया गया है। आधुनिक युग में तोते आदि को प्रस्तुत करके भी उसके द्वारा मनुष्यो की भाषा बोलने की बात को स्वीकार करने मे हिचक का होना स्वाभाविक ही है। गुप्तजी ने पात्र-प्रवेश के शिल्प को अपनाकर स्वाभाविकता की रक्षा कितनी कुशलता से की है, यह दर्शनीय है:—

मौन होकर कीर तब विस्मित हुआ,
रह गया वह देखता-सा स्थित हुआ।
प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा—
रे सुभाषी, बोल चुप क्यों हो रहा ?
पार्श्व से सौमित्र आ पहुँचे तभी,
और बोले—लो बता दूँ मैं अभी।[१]

लक्ष्मण के प्रवेश द्वारा तोते को बोलने से रोककर भी उर्मिला को उचित उत्तर दिलाने का यह शिल्प कितना स्वाभाविक है !

वस्तु-वर्णन

७—घटनाओं की मार्मिकता और वस्तु-वर्णन की आवश्यकता आज भी अनुभव की जाती है, पर प्राचीन महाकाव्यों की भाँति परम्परा के निर्वाह के लिये किसी वस्तु की नामावलि गिनाना आजकल स्वीकार्य नही, जैसे 'पृथ्वीराज रासो' 'पद्मावत'[२] आदि मे वर्णित कहीं अस्त्र-शस्त्रों की सूची, तो कहीं

१ 'साकेत' प्रथम सर्ग, पृ० २०-२१

२ जायसी के कथा-प्रवाह में इस प्रकार के अनावश्यक विराम बहुत से हैं। बहुत से स्थलो पर तो ऐसा विराम उस भद्दी परम्परा का अनुसरण है, जिसमें वस्तुओ के नाम और भेद गिनाये गये हैं। जैसे, सिंहलद्वीप-वर्णन खण्ड में फल-फूलो और

फल-फूलों की। आज के अधिकांश महाकाव्यों में दो रूपों में वस्तु-वर्णन आये हैं:—

१—कला की मार्मिकता बढ़ाने के लिये और २—रसोद्रेक के लिये। ऐसे भी महाकाव्य है जिनमे वस्तु-वर्णन या घटना चित्रण की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक चित्रण या चिन्तन की प्रधानता है। इसी युग मे कामायनी और कुरुक्षेत्र जैसे महाकाव्य लिखे जा सके!

रस

८—प्राचीन महाकाव्यों में शृंगार, वीर और शान्त रसों को प्रधानता दी जाती रही है, किन्तु आधुनिक महाकाव्यों में करुण आदि अन्यान्य रसों का भी प्राधान्य रहता है। आधुनिक महाकाव्यों में कहीं-कही रसों से अधिक महत्व समस्याओ को दिया गया है।

लक्ष्य

९—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चार फलों की प्राप्ति का उल्लेख जिस रूप में (काव्यों या महाकाव्यो के उद्देश्य के सम्बन्ध मे) प्राचीन आचार्यों ने किया है, यथार्थत: उसी रूप में आज के महाकवियो ने उसे स्वीकार नहीं किया है। आजकल धर्म और मोक्ष के प्रश्न गौण हैं। काम का भी अर्थ बहुत व्यापक हो गया है। अर्थोपार्जन का प्रश्न भी कुछ टेढ़ा ही है; यदि हम काव्य को सीमित अर्थ में ग्रहण करें तो महाकाव्यों की अपेक्षा उपन्यासों की अधिक माँग है और अब राजदरबारों के प्रश्रय का प्रश्न ही नही रह जाता! सरकार की ओर से जो पुरस्कारो की योजना है, वह अपर्याप्त और अव्यवस्थित है।

आज के महाकाव्यों मे आनन्द और यश की प्राप्ति के साथ ही मानव-जीवन की समस्याओं की अभिव्यक्ति और चिन्तन की उपलब्धि, सांस्कृतिक चेतना का गान और अबतक के अनादृत, उपेक्षित चरित्रों के उद्धार का प्रयास—ऐसे बहुत से उद्देश्य मिलते हैं।

संधियाँ

१०—आधुनिक महाकाव्यों में पंच नाट्यसंधियों के समावेश की अनिवार्यता नहीं मानी जाती।

घोड़ों के नाम; रत्नसेन के विवाह और बादशाह की दावत में पकवानों और व्यञ्जनो की लम्बी सूची।

—जायसी ग्रंथावली की भूमिका: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७६।

प्रकृति

११—प्रकृति भी अनिवार्यतः स्वतंत्र होकर आलम्बन रूप या यथातथ्य चित्रण-रूप में आजकल महाकाव्यों में नहीं वर्णित होती। आचार्य विश्वनाथ आदि के द्वारा गिनाए गए सूर्य-चन्द्र, प्रभात-सन्ध्या आदि सभी वर्णनों की अनिवार्यता आज स्वीकार नहीं की जाती। प्रकृति मानवीय भावनाओं के रंग में रंगकर आती है। वह परिस्थिति और परिवेश की पृष्ठभूमि में विशेष उद्देश्य से चित्रित की जाती है। केवल प्रकृति-वर्णन की खानापूर्ति के लिए प्रकृति का उपयोग आज के श्रेष्ठ महाकाव्यों में प्रायः नहीं किया जाता है।

नामकरण

१२—महाकाव्य के नामकरण के भी आज के युग में कई आधार हैं—नायक-नायिका, स्थान विशेष (नगर आदि), मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार, घटना, घटना-स्थल, नायक-नायिका की विशेषता का प्रतीक-बोध आदि।

समयुगीन नायक

१३—आज के युग में समसामयिक व्यक्तियों पर भी प्रबन्ध काव्य लिखे गये हैं, लेकिन स्वयं कवि द्वारा उनके महाकाव्य घोषित किये जाने पर भी इस क्षेत्र में वस्तुतः महाकाव्य कहलाने लायक कोई रचना सामने नहीं आयी। प्राचीन काल की परम्परा और आधुनिक काल की विलक्षणताओं को देखते हुए महाकाव्य की परिभाषा इन शब्दों में दी जा सकती है:—

निष्कर्ष—एक परिभाषा

मेरी दृष्टि में, महाकाव्य मर्मस्पर्शी घटनाओं पर आधारित एक महान् कवि की ऐसी छंदोबद्ध कृति है, जिसमें मानव-जीवन की किसी ज्वलन्त समस्या का व्यापक प्रतिपादन, किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति या जातीय संस्कृति के महाप्रवाह का उद्घाटन उदात्त वर्णन-शैली, व्यंजक भाषा, पूर्ण रसात्मकता और उच्चकोटि के शिल्पविधान द्वारा किया जाता है और जिसका नायक किसी भी लिंग, जाति या वंश का होकर भी अपने गुणों से कवि के आदर्शों को मूर्त्तिमान करनेवाला होता है।

तृतीय प्रकरण

हिन्दी के प्रमुख महाकाव्य
(प्राचीनकाल)

वीरगाथा काल

साहित्य के युग-विभाजन के कारण



साहित्य का इतिहास साहित्यिक प्रवृत्तियों के जन्म और विकास को राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में परखता है। वह कवि की व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ ही उसे समाज-सापेक्ष वातावरण में जाँचता है। अतः यह आवश्यक है कि साहित्य के इतिहास को समय-सीमाओं या काल-विभाजन का आधार लेना पड़े। साहित्य के युग-विभाजन के तीन प्रमुख कारण हैं:—एक तो वैज्ञानिक और ठोस अध्ययन हो जाता है, दूसरे, साहित्य के विस्तृत क्षेत्र को छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर विधिवत अध्ययन-मनन के योग्य बनाया जाता है और तीसरे, साहित्य और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह हो जाता है।

यों तो आचार्य शुक्ल के पूर्व गार्सा द तासी, शिवसिंह सरोज, ग्रियर्सन आदि कई स्वदेशी-विदेशी साहित्यकारों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन प्रारम्भ किया था, किन्तु सर्वप्रथम अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक विवेचन शुक्लजी के हिन्दी साहित्य के इतिहास में ही हो सका।

आचार्य शुक्ल के अनुसार वीर-गाथा-काल

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में सम्वत् १०५० से १३७५ तक के समय को आदिकाल या वीर-गाथा काल के अन्तर्गत रखा है। उन्होंने प्रकरण २ में अपभ्रंश साहित्य का विवेचन कर प्रकरण ३ में देश-भाषा काव्य के अन्तर्गत वीर-गाथा-काल का वर्णन किया है। उनकी दृष्टि में यह काल राजाओं-महराजाओं और आश्रय-दाताओं की वीरता के गान का था। दरबारी कवि-'जिनका खाना, उनका गाना' के सिद्धान्त के अनुसार आश्रयदाताओं के शौर्य-वीर्य और पराक्रम का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे। इस काल का

मुख्य रस वीर था। इन्हीं कारणों से शुक्लजी ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखना उचित समझा।[1]

शुक्लजी की उलझन

उस समय तक अपभ्रंश की पर्याप्त सामग्रियों के अभाव के कारण शुक्लजी अपभ्रंश काल और वीरगाथा काल के बीच उलझ कर रह गए और उन्होंने वीरता के क्रोड में पलनेवाली कामुकता और झूठी कलाबाजी की ओर भी विशेष ध्यान नहीं दिया। फलतः अन्यान्य इतिहासकारों ने इस काल का दूसरे रूप में नामकरण करना अधिक युक्तसंगत समझा।

डा० वर्मा का चारण-काल

डा० रामकुमार वर्मा ने अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारो की अपेक्षा अधिक विस्तृत और अधिक वैज्ञानिक रूप से विवेचन करते हुए इस काल के कवियों की विशिष्ट मनोदशा और प्रवृत्ति को देखकर इसका नाम चारणकाल रखा। चारणों की इस विशिष्टता की ओर शुक्लजी ने भी संकेत किया था। पर वे इस शब्द को प्रमुखता देने के पक्षपाती न थे। वे वीरगाथा को चारणों की पारिवारिक सम्पत्ति मानते थे।[2] डा० वर्मा उस काल के शत-प्रतिशत कवियों को जाति, परम्परा और प्रवृत्ति से चारण मानते है। राजनीति और साहित्य की समीपता को वे इस काल की प्रमुख विशेषता मानते है।[3] इस काल के कवियों ने केवल आश्रयदाताओं को ही नही, सामान्य जनता को भी उत्साहित और प्रेरित किया।[4] इसलिए इस काल का साहित्य केवल राजदरबारों मे सुरक्षित न रहकर जनता के बीच भी लोकप्रिय हुआ।

---

१ राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य-पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियो के साथ किया करते थे और वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे। ...इसीसे इस काल को वीरगाथा काल कहा गया।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २९।

२ भट्ट चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास छोड जाते थे।

वही, पृ० २९।

३ इतिहास की घटनाओं का वर्णन भी साहित्य के अन्तर्गत आ गया था, क्योंकि साहित्य इस समय वीर-पूजा अथवा धर्म और राजनीति के नेता के गौरव का गीत था। सत्य और धर्म के किसी भी अग्रणी का जीवन-चरित्र उस समय साहित्य था। राजनीति और साहित्य का इतने समीप आ जाना हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारण काल की विशेषता है।

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १५१

४ प्रशस्तिमूलक वीरकाव्य में कवियों ने राजाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशस्तिगान

श्री राहुल का सामंत-युग

श्री राहुल सांकृत्यायन ने इस काल को सामन्त युग माना है। उनकी दृष्टि में इस युग का सारा वातावरण सामन्ती था। क्या विचार, क्या नीति, क्या आहार-व्यवहार सब कुछ सामन्ती थे।[१] वस्तुत: राहुलजी का ध्यान तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति की ओर है, जब ६५० ई० से १४०० ई० तक का काल भारतीय इतिहास में पारस्परिक युद्ध, प्रतिद्वन्द्विता और भीतरी-बाहरी दुश्मनों से युद्ध का समय था। ६५० ई० १००० ई० तक मुख्यत: आपसी-युद्ध का और शेष चार सौ वर्षों का काल मुख्यत: मुसलमानों के साथ संघर्ष का था। भारतीय इतिहास के इस संकटापन्न काल में सामूहिक एकता का अभाव हो गया। गुप्तकाल के सुशासन के अन्त के साथ ही सामान्य जनता राजाओं के प्रति उदासीन हो गयी। राष्ट्र-भक्ति का स्थान चाटुकारिता ने ले लिया और स्वार्थरत, निरंकुश और अनैतिक सत्ताधिकारियों के प्रति प्रजा के मन में कोई समादर का भाव नहीं रह गया। सबल शासन-सूत्र के अभाव में एक-एक राज्य कई प्रान्तीय सामन्तों के अधीन बँट गया, जो स्वयं अवसर पाकर खुदसर होते गये। जनता की राष्ट्रीय चेतना इतनी मर गयी थी कि वह तात्कालिक लाभ देखकर इन्हीं सामन्तों के प्रति वफादार होती थी। सामंतवाद के इस युग को ध्यान में रखकर ही राहुल जी ने यह नामकरण किया।

डा० द्विवेदी का आदिकाल

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने शोध-व्याख्यान 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' के अन्तर्गत इस काल की विस्तृत और वैज्ञानिक समीक्षा की है। इस युग को हिन्दी-साहित्य का प्रथम काल मानकर, उन्होंने आदिकाल नामकरण

ही नहीं गाया है, उन्हें साहस, उत्साह, शक्ति और वीरोचित कार्यों के लिये प्रेरणा भी दी है। उनका यह काव्य राजा-सामंतों में ही नहीं; सामान्य जनता में भी वीरता की भावना और उमंग जाग्रत करता रहा है।

—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास, डा० शंभूनाथसिंह, पृ० २१८।

१. कविता और कवि को सदा आश्रय की जरूरत होती है। यह युग सामंतों का था। जिस काव्य और कवियों को सामंत वर्ग का आश्रय प्राप्त था, वह आर्थिक लाभ के तौर पर ही सफल नहीं होता, बल्कि वह चिरस्थायी होने का अधिकार रखता था।... मगर उनके चिरस्थायी होने के मार्ग में बहुत-सी बाधाएँ थीं।

—हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ० ४६।

किया है। उन्होंने राहुलजी के सामन्तकाल शब्द के औचित्य पर भी प्रकाश डाला है।[1] द्विवेदी जी ने शुक्लजी के उन बारह ग्रंथों की आलोचना की है, जिनके आधार पर शुक्लजी ने यह लिखा है कि 'इनमें से अन्तिम दो खुसरों की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक है। अत: आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है।' द्विवेदीजी ने आधुनिक अनुसंधान के बल पर इन बारह ग्रंथों के आधार को पूर्णत: उचित नहीं माना है।[2] उन्होंने अपभ्रंश की रचनाओं को आदिकालका सहायक माना है और वीरगाथाकाल को आदि-काल के व्यापक नाम में सम्मिलित किया है, क्योंकि इस काल में जैनों-सिद्धों आदि के काव्य भी है, प्राय. जिनकी प्रवृत्तियाँ वीरगाथात्मक से भिन्न है। अत: द्विवेदीजी का यह कथन कि 'ये अपभ्रंश की रचनाएँ आदिकालीन हिन्दी साहित्य के अनुमान में सहायक हैं'—[3] ठीक है।

अन्य नाम

वीरगाथा काल, सामन्तकाल, आदिकाल, चारणकाल के अतिरिक्त इस काल को मिश्रबन्धुओं ने पूर्व प्रारम्भिककाल एफ० ई० को ने आरभकाल (वीर-गाथाकाल) और डा० श्यामसुन्दरदास ने आदियुग (वीरगाथा का युग) भी माना है।

ये सभी नाम वस्तुत: एक ही सत्य को कई रूपों में परखने की विविध चेष्टायें हैं। जिन्होंने काव्य के प्रमुख गुणों को ध्यान में रखा, उन्होंने वीरगाथा; जिन्होंने कवि को प्रधान समझा, उन्होंने चारण; जिन्होंने काव्य-विषय आश्रय-दाता को प्रधान, माना, उन्होंने सामन्त तथा जिन्होंने साहित्य की प्राचीनता को ध्यान में रखा, उन्होंने पूर्व प्रारम्भ तथा आदिकाल नाम रखे।

---

१. सामन्त काल में सामन्त शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणा-स्रोतों का भी पता चलता है।

—हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० २३।

२. ………उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनका मूलरूप क्या था।

वही, पृ० ११।

३. वही।

निष्कर्ष

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि इस काल का काव्य हिन्दी के लिए आदिकालीन और मुख्य: चारणों-भाटों द्वारा रचित वीरगाथात्मक आख्यानों से पूर्ण है। यों आदिकाल कहकर हम अपने दृष्टिकोण का विस्तार कर लेते हैं और वीरगाथाओं के अतिरिक्त जैनों-बौद्धों के काव्य को भी इसके अन्तर्गत स्वीकार कर लेते हैं।

प्रारम्भिक महाकाव्य के उपयुक्त वातावरण

कहा जाता है कि प्रत्येक देश और भाषा के लिये प्रारंभिक महाकाव्य के उपयुक्त वातावरण संघर्ष और युद्धकाल में तैयार होता है। परिवर्त्तनशील परिस्थितियों में महाकाव्य की प्रेरणा अधिक मिला करती है।[1] संक्रान्तिकाल में ही प्राचीन मान्यताओं के स्थान पर नवीन धारणाएँ पनपती हैं। साथ ही, जब अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण का भाव जाग्रत होता है तभी कोई महाकाव्य की रचना कर पाता है। पृथ्वीराज रासो के कवि चन्दवरदाई ने अपने आश्रयदाता के प्रति अपना पूर्ण आत्मसमर्पण व्यक्त किया, मानसकार ने अपने आराध्यदेव में अपने आपको एकाकार कर दिया एवं कामायनीकार ने आनन्द तत्त्व और भारतीय संस्कृतिमें अपने आपको पूर्णत. निमज्जित कर दिया। यहाँ आत्मसमर्पण का अर्थ आत्मा की पूर्ण तल्लीनता से है। इस आत्म-विस्मृति का अर्थ कवि की व्यक्तिगत विशेषताओं का लोप नहीं है।

हिन्दी का प्रथम महाकाव्य

हिन्दी का प्रथम वीर गीत तो बीसलदेव रासो है, पर प्रथम महाकाव्य है, 'पृथ्वीराज रासो'। यह वीरगाथाकाल की प्रवृत्तियों का उदाहरण काव्य है, जिसके मूल कवि तो चन्दवरदाई है पर जिसमें परवर्त्ती कवियों ने अपनी रचनायें जोडकर इसकी विशालता ही नही बढाई, इसके वास्तविक स्वरूप को समझने में कठिनाई उपस्थित कर दी। हिन्दी के इस प्रथम विकसनशील महाकाव्य के स्वरूप और शिल्प-विधि को समझने के लिये तत्कालीन परिस्थितियों का अवलोकन करना पड़ेगा, जिनकी पृष्ठभूमि में इस महाकाव्य का निर्माण हुआ।

---

१. युद्ध के अवसर पर प्रत्येक व्यक्ति को, विशेषकर कवि को, सेनाओं के आवागमन, उनकी प्रगति, उनकी जय अथवा पराजय, उनकी संचालन-विधि, नीति विशारदों की कूटनीति आदि बातों का सम्यक ज्ञान प्राप्त होता है।......महाकाव्य के रचयिताओं के लिये भी यह स्वर्ण अवसर होता है।

—बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपाल सिंह, पृ० ३७।

दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल : राजनैतिक स्थिति

दसवीं से चौदहवी शताब्दी का काल केवल राजनैतिक दृष्टि से नही, धार्मिक, साहित्यक, सांस्कृतिक और सामाजिक—सभी दृष्टियों से उथल-पुथल का काल था। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद ही सातवीं शती के उत्तरार्द्ध से भारत की राजनैतिक सत्ता का ह्रास होने लगा था।[1] उत्तर-पश्चिम से मुसलमानों के आक्रमण ने इस देश की कमर ही तोड़ दी। मुसलमानी आक्रमणों और युद्धों का बहुत बुरा प्रभाव दिल्ली, कन्नोज, अन्हलवाड़ आदि पर पड़ा, जो उस समय भारतीय संस्कृति के केन्द्र थे। पारस्परिक फूट और वंशगत जातीय अभिमान ने सामूहिक एकता को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

धार्मिक दृष्टि से भी यह काल अधःपतन का था। ब्राह्मण और बौद्ध दोनों धर्मों में वाह्याडम्बर की प्रधानता हो गयी थी और दोनो ही पारस्परिक कलह और संघर्ष में निमग्न थे। पारिवारिक संघर्ष का एक कारण यह भी था कि एक ही परिवार में विभिन्न धर्मो के माननेवाले सदस्य थे। मुहम्मद बिन-कासिम का अधिकार सिन्ध के राज्यवंशों पर नही हो पाता, यदि वहाँ धार्मिक विवादों के कारण फूट नही होती। ब्राह्मणो ने अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिये कर्मकाण्ड को प्रधानता दे दी थी। अहिंसा और शांति के मार्ग को भूलकर बौद्ध हिन्दुओं को सताने और उनकी मूर्तियो के ध्वंस से प्रसन्न होने लगे थे। तात्पर्य यह है कि धर्मो ने देश को एक सूत्र में बाँधने और प्रेममय सम्बन्धो के विस्तार की जगह पारस्परिक कलह को ही उत्तेजना दी।

साहित्यिक स्थिति

साहित्यिक क्षेत्र की दिशा भी संघर्षपूर्ण थी। संस्कृत-साहित्य के प्रचार-प्रसार का समय समाप्त हो रहा था और उसका स्थान अपभ्रंश और डिंगल आदि ले रहे थे। दरबारों में विद्वान् ब्राह्मणों के स्थान पर चारण-भाट आदि समादृत हो रहे थे। जनता में यह बात कहावत की तरह प्रचलित हो रही थी—'ब्राह्मण के मुख सी कविता कुछ भाट लई, कुछ चारण लीन्हीं।' अनर्घराघव नाटक के प्रसिद्ध कवि मुरारि ने चारणों की ऐसी बढ़ती हुई ख्याति के विरोध में ही

---

१. इस काल का इतिहास अनेक छोटे-छोटे राज्यों के उत्थान और पतन की कहानी मात्र है, किसी एक महान् राज्य अथवा राजनैतिक केन्द्र का इतिवृत्त नही।

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,
डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १४० ।

वाग्बाण छोड़े थे।[२] पांडित्य की महत्ता समाप्त हो रही थी, शास्त्रार्थों की धूम कम पड़ रही थी और छोटे-छोटे राज्यों मे उन कवियो की पूछ बढ़ रही थी, जो उनकी शूरता-वीरता, पराक्रम-शत्रु-कन्या-हरण, भोग-विलास आदि के वर्णन प्रस्तुत कर सकते थे। उस समय राजनीति का प्रधान केन्द्र राजस्थान था, अत: चारणों और भाटों का आधिक्य भी वहीं दिखायी पड़ा।

पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर विचार

पृथ्वीराज रासो पर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की काव्य-शैलियों का प्रभाव है, साथ ही उसमें अपने युग के अनुकूल प्रत्यक्ष रूप से जन-जीवन से महाकाव्य की सामग्रियों को ग्रहण किया गया है। यह महाकाव्य अपने प्रक्षिप्त अंशों के कारण जितना आलोचित और भाट-भणन्त या जाली ग्रंथ कहा जाकर जितना अपमानित हुआ है, उसकी आवश्यकता नहीं थी। इतना तो आज सर्वमत से स्वीकृत है कि इस महाकाव्य का मूल रूप चन्द द्वारा लिखा गया था। फिर यदि बाद को जल्हण ने इसे पूरा किया और इसके गायकों के आशुकवित्व के कारण या परवर्त्ती चारणों के द्वारा अपने आश्रयदाताओं को महत्त्व देने के लिये उनके पूर्व-पुरुषों को इसमे सम्मिलित करने के कारण प्रक्षिप्तता आ गयी, तो इसमे दोष किसका है ?—उन भाटों या चरणो का, जो इसे परिवर्द्धित करते गये ? या चन्द के आश्रयदाता के वंशजो का, जिन्होंने मूल रासो की सुरक्षा नही की ?—वस्तुत: दोष किसी का नही ! यह तो कवियों का युग-धर्म था। विकसनशील महाकाव्थ को कई हाथो का श्रृंगार बनना ही पड़ता है। क्या महाभारत भी एक ही प्रतिभा का चमत्कार है ? उसे भी वैशम्पायन, उग्रश्रवा आदि ने विस्तृत किया। वस्तुत: यदि हम सम्पूर्ण रासो को पूरे युग की जातीय, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना का महाकाव्य और बारहवी-तेरहवीं

---

२. चर्चाभिश्चारणानां क्षितिरमण ! परा प्राप्य संमोदलीलां,
मा कीर्तेःसौ विदल्ला नवगणय कवि प्रोतवाणीविलासान् ।
गीतं ख्यातं न नाम्नाकमपि रघुपतेरेद्य यावात्प्रसादा—
द्वाल्मीकेरेव धात्री धवलयति यशो मुद्रया रामभद्रः ।

अर्थात् "हे महीपाल, चारणों की चर्चाओं से बडा आनन्द पाकर कवियो की रचनाओ का अनादर मत कीजिए" क्योकि वे कीर्त्ति रूपी नायिका के रखवारे या लाकर राजाओं से उसे मिलानेवाले हैं, वाल्मीकि की ही कृपा से आजतक रामचन्द्र अपने यश की छाप से पृथ्वी को अलंकृत कर रहे है।"

शती का वीरकाव्य मानें तो विवाद बहुत दूर तक सुलझ जाये। इसका रचनाकार मात्र एक कवि को न मानकर पूरे युग को मानें, तो इसकी महत्ता का वास्तविक मूल्यांकन हो।

रासो की विशिष्टताएँ

युग-चेतना, महाकाव्य-रूढ़ियों, कथा-रूढ़ियों, परम्परागत काव्य-शैलियों, भाषा, काव्य-सौष्ठव, शिल्प-विधि आदि दृष्टिकोणों से पृथ्वीराज रासो में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

विकसनशील काव्य-परम्परा का प्रतिनिधि महाकाव्य

१—यह अपने युग की विकसनशील काव्य-परम्पराओं का प्रतिनिधि महाकाव्य है, जो उस काल की चेतना का व्यंजक है। प्रत्येक देश के वीर-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य की यह विशेषता होती है।[1]

इतिहास-ज्ञान में सहायक

२—यह ग्रंथ कवियों की आँखों देखी घटनाओं का इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। अतः इतिहास की जानकारी की दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता है। अतिरंजित वर्णनों के कारण यद्यपि इतिहास की सामाग्रियों का पूर्णतः वैज्ञानिक स्वरूप उपलब्ध नहीं होता, फिर भी क्षत्रिय जाति, हिन्दू-मुसलमान-संघर्ष और सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों का प्रामाणिक इतिहास छानकर निकाला जा सकता है।[2]

भाषा का महत्त्व

३—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की कड़ी का काम करनेवाले रासो की भाषा वैज्ञानिकों के लिये बड़े काम की है।

---

1. The growth of Epic out of the older and commoner forms of poetry, hymns, dirges, or panegyrics, is a progress towards intellectual and imaginative freedom.
—Epic And Romance, W. P. Ker, Page 13.

२. ये लोग अपने जिन आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ग्रंथ लिखते थे, प्रायः उनके समसामयिक हुआ करते थे और बहुधा आपबीती तथा आँखों देखी घटनाओं का चित्रण करते थे। अतएव इतिहास की दृष्टि से ये ग्रंथ बड़े उपयोगी हैं।
—डिंगल में वीररस, मोतीलाल मेनारिया, पृ० १९।

कथा-शिल्प

४—रासो में ऐतिहासिक औ निजन्धरी कथाओं का योग कर कथा-शिल्प सहारे कथानक को लचीला बनाने का प्रयत्न किया गया है।[1]

चरित्र-चित्रण के व्यापकत्व का अभाव

५—रासो की चरित्र-चित्रण कला व्यापक नही है। नायक पृथ्वीराज के शौर्य-पराक्रम, आत्माभिमान, संयम, त्याग, दानशीलता, धर्म-परायणता आदि गुणो का तो विकास हुआ है, पर जयचन्द, संयोगिता, शहाबुद्दीन आदि अन्यान्य चरित्रों के चित्रण में कोई विशिष्टता नहीं है। वस्तुत: चरित्र प्रधान महाकाव्य होने के कारण कवि का सारा ध्यान नायक पर ही केन्द्रित हो गया है।

चरित्र और कथा के शिल्पों का सम्मिश्रण

६—वर्णणों के क्रम में आयी अतिरंजना में भी एक कौशल होता है, जिससे वर्णन जीवन्त हो उठता है। रासो में यह सजीवता पर्याप्त मात्रा में है।[2]

७—रासो एक ऐसा चरित्र काव्य है, जिसमें प्रबन्धत्व और कथा-आख्यायिका आदि के शिल्पों का सम्मिश्रण हुआ है। यही कारण है कि चरित्र और कथा दोनों ही रूपों में इसकी विशेषता बतलायी गयी है।

वार्त्ता-शैली

८—वार्त्ता-शैली को अपनाकर रासोकार ने जहाँ एक ओर परम्परा पालन किया है, वहाँ दूसरी ओर लोक-रुचि को प्रतिष्ठा दी है। इस दृष्टि से रासो में कवि और कवि-पत्नी की वार्त्ता द्रष्टव्य है।

१—पृथ्वीराज रासो और पद्मावत भी ऐतिहासिक व्यक्ति के नाम से संबंद्ध काव्य हैं। परन्तु अन्यान्य ऐतिहासिक काव्यो की भाँति मूलत: इनमें भी ऐतिहासिक और निजन्धरी कथाओं का मिश्रण रहा होगा।

—हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ० ह० प्र० द्विवेदी, पृ० ७३।

2 "The art of the Epic poet is the art of deliberate amplifications. To retain and highten our interest without satisfying it he will check his step, he will pause to describe the hero's sword or shield, or weave a simile or turn aside into some Elysian meadow."

—English Epic and Heroic Poetry, Dixon, Page 23

कुतूहल-वृत्ति के लिए प्रयुक्त शिल्प

९—रोमांचक और भयानक कृत्यों के वर्णण द्वारा रासोकार ने जहाँ पाठकों की कुतूहल-वृत्तियो को जगाया है, वहाँ प्रकारान्तर से नायक की वीरता का चित्रण किया है। इस शिल्प का उपयोग प्रायः सभी चरित-काव्यों में मिलता है। ऐसी घटनाओ के वर्णन में कवि ने कौशल से काम लिया है और छंद-प्रवाह में ओजस्विता भर दी है।[1]

मंगलाचरण की व्यापकता

१०—मंगलाचरण आदि के प्रसंग मे एक नयी बात रासो मे दिखायी पड़ती है, जो चरित-काव्यों की विशेषता मानी जाती है। प्राम्भिक शास्त्रीय महाकाव्यों से कुछ आगे बढ़कर रासोकार ने सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा आदि की रूढ़ियों के अतिरिक्त विनम्रता-प्रदर्शन, भापा-काव्य लिखने के लिये सफाई, काव्य लिखने के कारण आदि की चर्चा भी की है।

तीन शैलियाँ

११—रासो में ऐतिहासिक, रोमांचक और पौराणिक—तीनों शैलियों का सम्मिश्रण है।

कवि स्वयं एक पात्र

१२—रासो में अन्य पात्रों के साथ ही स्वयं चन्दवरदाई भी एक प्रमुख पात्र है, जो अलौकिक गुणो से सम्पन्न है। लगता है यह बाद के कवियो की कृपा का फल है।

उपकथाओं की अनावश्यकता

१३—रासो में जिन उपकथाओं का उपयोग किया गया है, उनमें कुछ ऐसे हैं जो अनावश्यक हैं और किसी तरह मूलकथा के विकास में या चरित्र-चित्रण में सहायक नहीं हैं। पर कुछ उपकथाएँ कथा को नयी भंगिमा प्रदान करती है—जैसे ४५ वें समय में संयोगिता के पूर्व जन्म की कथा।

---

1 "The first thing required would be to translate the prowess of champions into good and moving narrative; and this would be metrified, because so it becomes both more exciting and more easily remembered."

—The Epic : Abercrombie, Page, 16.

रूढ़ लक्षणों का निर्वाह

१४—महाकाव्य के प्राय: सभी लक्षणों का निर्वाह किया गया है—यथा, सर्ग-विभाजन मंगलाचरण, नगर-वर्णन, छंद-परिवर्त्तन, महान् नायक का चित्रण, महान् उद्देश्य की प्राप्ति का प्रयत्न, गाम्भीर्य, युग-जीवन का चित्रण आदि।

निष्कर्ष

तात्पर्य यह कि पृथ्वीराज रासो हिन्दी का सर्वाधिक प्राचीन एक ऐसा महाकाव्य है, जिसमें प्राचीन परम्परा के साथ ही पर्याप्त मौलिकताएँ हैं और जिनमें किसी भी देश के वीर काव्य की सामान्य विशेषतायें समाहित हैं। प्रशस्तिपूर्ण संस्कृत महाकाव्यों की अपेक्षा, लोक-भाषा का रासो जैसा महाकाव्य अधिक प्राणवान सिद्ध हुआ है। पांडित्य के बोझ से दबे हुए ये संस्कृत के कवि अपनी अलंकृत शैली और रूढ़िबद्ध परम्परा में दब से गये थे, किन्तु रासो-कार की लेखनी व्यक्तिगत अनुभूतियों से तड़पकर मचली थी। चन्द या उनके वंशज चारणों ने साक्षात् अनुभव के द्वारा वीरता का गान किया था। वे कलम के ही नहीं, तलवार के भी धनी थे। लोकभाषा का सहारा लेकर उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति का और भी सहज माध्यम चुना। फलत: संस्कृत के प्रशस्तिमूलक काव्य जहाँ ऐतिहासिक अनुसंधान और विद्वद्-मंडली की संपत्ति बन गये, वहाँ रासो जनता की निधि बन गया। एक बँधे कूप की तरह हो गया, दूसरा बहती गंगा की तरह—और तभी तो विश्व कवि रवीन्द्र ने चारणों की काव्य-कला पर मुग्ध होकर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1]

---

१ भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रांत में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है। परन्तु अपने रक्त से राज-स्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया, वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूतों के कवियों ने अपनी कठोर वास्तविकता का स्वयं सामना करते हुए युद्ध के नगाड़ों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्य-गान किया है। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के ताण्डव की तरह नृत्य देखा था।……मैंने कई बार सुना था कि चारण अपने काव्य से वीर योद्धाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया करते थे। आज मैंने उस सदियों से पुरानी कविता का स्वयं अनुभव किया है। उसमें आज भी बल और ओज है।

—मॉडर्न रिव्यू, दिसम्बर, १९३८ में 'दि चारन्स औफ राजपूताना' शीर्षक रचना में १९३७ में 'राजस्थान रिसर्च सोसाइटी' में दिये गये भाषण का अनूदित अंश।

भक्तिकाल के महाकाव्य

भक्तिकाल मे दो महाकाव्य ऐसे लिखे गये जो जन-समाज और विद्वानों के बीच समानरूप से समादृत हुए। भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग है और इस काल मे अलंकृत महाकाव्य के रूप मे वे दो ऐसे ग्रंथ लिखे गए, जिन्हे साहित्यक महाकाव्य कहा जाता है। वे महाकाव्य है—सूफी संत और प्रेमाश्रयी भक्ति-शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री मलिक मुहम्मद जायसी कृत 'पद्मावत' और भारती के सर्वाधिक लोकप्रिय महाकवि गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस'।

पद्मावत

कथानक:—कथानक को महाकाव्य का मेरुदण्ड माना गया है। यह ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध हो सकता है। नाटकीय संधियों से युक्त कथानक को कई छोटे-बड़े सर्गो मे विभक्त रहना चाहिये। इन सर्गो की सख्या कम से कम आठ और उनमे परस्पर तारतम्य भी अपेक्षित है। महाकाव्य की कथावस्तु के सम्बन्ध मे प्राचीन काल से चले आते हुए साहित्यदर्पणकार के इस मत के अनुसार पद्मावत की कथावस्तु प्राय: ठीक उतरती है। कहना न होगा कि पद्मावत की कहानी ऐतिहासिक और लोक-प्रचलित दोनों है। शुक्लजी के मतानुसार इसका पूर्वार्द्ध कल्पित तथा उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है।

ऐतिहासिक तथ्यों को काव्योपयोगी बनाने में सफलता

ऐतिहासिक तथ्यो को काव्योपयोगी बनाने के लिये जायसी ने कल्पना की सहायता ली है। राघवचेतन की कल्पना, अल्लाउद्दीन की ओर से रत्नसेन से पाई गई पॉच वस्तुओ को मॉगने की बात, रत्नसेन का अल्लाउद्दीन के शिविर मे बन्दी न होकर दिल्ली मे बन्दी होना, दर्पण मे पद्मावती की छाया आकस्मिक रूप से देखना—ये सारी बाते जायसी द्वारा कल्पित है। इन परिवर्त्तनों और नूतन उद्भावनाओं का विशेष महत्व है। राघवचेतन की कल्पना से मनुष्यों की प्रकृति का चित्रण, आकस्मिक रूप से प्रतिविम्ब देखने से रत्नसेन की मर्यादा की रक्षा, रत्नसेन को दिल्ली मे बंदी दिखलाने से रानियो के विरह-वर्णन और गोरा-बादल के प्रयत्न-विस्तार के चित्रण का सुअवसर मिलता है।

कथानक का पूर्वार्द्ध लोक प्रसिद्ध कथा—अवध की पद्मिनी और हीरामन सूए की कथा के आधार पर है। पद्मावती की कथा संस्कृत मे जायसी से पूर्व पाठक राजबल्लभ ने लिखी थी।

पंचसंधियाँ और काव्य-खंड

पद्मावत मे नाटक की पाँचों संधियों का निर्वाह हुआ है। कथानक खंडों (सर्गो) मे निबद्ध होने के कारण सुसंगठित है। खंडो का आनुपातिक विस्तार प्राय: उचित ही है। रत्नसेन संतति खंड, रत्नसेन साथी खंड आदि कुछ खंडों के अत्यन्त लघु होते हुए भी कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा नहीं है। नागमती-वियोग-खंड में कथा टूटती-सी जान पडती है। कथानक नायक का साथ छोड़कर सहसा नागमती से सम्बद्ध हो जाता है। किन्तु ऐसा नही करने से पद्मावत के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्यांश का अभाव हो जाता। इस विरह-गाथा की हार्दिकता और काव्यत्व के कारण कथा-प्रवाह का सहसा विराम कुछ खलता नहीं। खंडों की संख्या आठ से बहुत अधिक ५८ है।

इतिहास-विरुद्ध घटनायें

शास्त्रीय दृष्टिकोण से पद्मावत मे प्राय: सभी निर्देशित कथांगों का समावेश हुआ है। किन्तु कुछ घटनायें इतिहास-विरुद्ध होने के कारण खलती है। सिहलद्वीप मे गंधर्वसेन नामक कोई राजा नही हुआ। इस समय तक कुभंलनेर आबद भी नही हुआ था। अल्लाउद्दीन का चितौड़ पर केवल एक हमला हुआ था और उसी मे वह विजयी हुआ।

कथा के व्यर्थ प्रसंग

पद्मावत के कथानक से यह स्पष्ट है कि घटनाओं को किसी आदर्श परिणाम पर पहुँचाने का कवि का लक्ष्य नही है। संसार की स्वाभाविक गति का चित्र उपस्थित किया गया है। इतिवृत्तात्मक तथा रसात्मक दोनो प्रकार की घटनाओं का समावेश हुआ है। शुक्लजी के अनुसार जायसी का सम्बन्ध-निर्वाह अच्छा है और प्रासंगिक वृत्त आधिकारिक वृत्त से परस्पर संबद्ध है।[1] कहीं-कही व्यर्थ के विस्तृत वर्णन के कारण अनावश्यक प्रसंग आ गये हैं। जैसे—सिहलद्वीप का भोज-वर्णन, चढ़ाई-युद्ध आदि का बर्णन, रत्नसेन-पद्मावती के समागम के वर्णन मे राजा का रासायनिक प्रलाप, शतरंज के मोहरो और चालों का वर्णन, नागमती-पद्मावती के भीतर फूल और पौधों की नाम-गणना आदि। इसी तरह सोलह-शृंगार, नखशिख-वर्णन, ज्योतिष का लम्बा-चौड़ा यात्रा विचार, पकवानों, घोड़ों आदि की सूची भी अरोचक लगती है।

---

१ जायसी का सम्बन्ध-निर्वाह अच्छा है। एक प्रसग से दूसरे प्रसंग की शृंखला बराबर लगी हुई है।

—जायसी ग्रथावली की भूमिका, पृ० ७२।

नायक

पद्मावत का नायक रत्नसेन है, जो एक उच्चवंशीय क्षत्रिय और धीरोदात्त नायक के रूप मे चित्रित किया गया है; यद्यपि कथानक के लौकिक तत्त्व पर विचार करने से उसकी रसलोलुपता और कामुकता भी सिद्ध होती है। महाकाव्यों में रस, लक्षण या प्रारंभ के सम्बन्ध की जो रूढियाँ हैं, उनका भी पालन किया गया है। पद्मावत शृंगार-रस-प्रधान ग्रंथ है, जिसका पर्यवसान शान्त रस में हुआ है और अन्य रस भी सहायक बन कर आये है। इसका लक्ष्य लौकिक दृष्टि से आत्मा-परमात्मा के मिलन का चित्रण करना है।

प्रारम्भिक स्तुति

पुस्तक के प्ररम्भ में ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर-स्तुति भी है, साथ ही साथ कथा-निर्देशन, खलों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा भी है।[1] पुस्तक का नाम नायिका के आधार पर है, जो परमात्मा की प्रतिरूप है।

प्रमुख और गौण चरित्र

पद्मावत में पद्मावती, रत्नसेन, सूआ और नागमती प्रमुख चरित्र हैं तथा राघव-चेतन, गोरा-बादल, बादल की पत्नी, देवपाल की दूती, अल्लाउद्दीन आदि गौण पात्र हैं। यों तो कवि के द्वारा रत्नसेन मे आदर्शो की स्थापना करने का प्रयास किया गया है, पर वस्तुत: रत्नसेन को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कुछ भी विचार नहीं है। विवाहिता पत्नी नागमती को छोड़कर पद्मावती का रूप-वर्णन सुनकर दीवाना योगी बनकर घर से निकल पड़ना लौकिक दृष्टि से अत्यन्त घृणित कार्य है। यों इस नैतिक पृष्ठभूमि को छोड़ देने से रत्नसेन मे त्याग, नम्रता, कोमलता, वीरता आदि गुण देखे जा सकते हैं। गोरा-बादल के समझाने पर भी अल्लाउद्दीन के प्रपंच को नहीं समझ कर उसके साथ गढ़ के बाहर जाकर रत्नसेन ने राजनैतिक दृष्टि से अदूरदर्शिता का प्रमाण दिया है। स्वयं मरने से पहले आहत रत्नसेन का देवपाल को मारना उसकी प्रतिक्रिया-भावना का परिचायक है, जो राजपूतों की मुख्य जातीय विशेषता है।

---

१ तन चितउर, मनराजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पद्मिनि चीन्हा।।

गुरुसूआ, जेइ पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।।
नागमती यह दुनिया धंधा।
बांचा सोइन एहि चित बंधा।।

पद्मावती

पद्मावती को शुक्लजी ने चित्तौड़ आने के पूर्व एक सच्ची प्रेमिका के रूप में देखा है, पर उन्होने उसके प्रबल कामुक रूप को नही देखा।[1] वह काम-प्रेरिता होकर ही अपने लिये एक सुन्दर वर ढूँढ लाने के लिये कहती है। ऐसी स्थिति में रत्नसेन की चर्चा सुनकर उसपर मुग्ध हो जाना किसी विशेष प्रेम का परिचायक नहीं है। प्रथम-मिलन के अवसर पर पद्मावती एक रूप-गर्विता के समान दीखती है। अथक प्रतीक्षा के बाद मिलन में चरमोत्कर्ष का अभाव है। प्रथम मिलन के अवसर पर रत्नसेन किगड़ी बजाता दीखता है। पद्मावती को देखते ही रत्नसेन तो बेहोश हो जाता है, पर पद्मावती निःसंकोच एक व्यावहारिक नारी की भाँति उपदेश देती दीखती है।

पद्मावती के प्रेम का उच्च रूप

पद्मावती के प्रेम का उच्च स्वरूप तब दिखाई देता है, जब वह रत्नसेन के साथ ही शूली पर चढ़ने को तैयार हो जाती है। राघवचेतन के राज्य से निकाले जाने पर मूल्यवान दान देकर उसे अपने पक्ष मे मिलाने की चेष्टा के द्वारा वह अपनी दूरदर्शिता का परिचय देती है। उसके सपत्नी-भाव का परिचय नागमती-पद्मावती-विवाद के समय मिलता है, जो सामान्य पत्नी की दृष्टि से स्वाभाविक है। उसका सती होना, उसके सच्चे प्रेम का परिचायक है।

नागमती

इस पुस्तक की सर्वाधिक हृदयग्राही और करुणतम विभूति है—नागमती। नागमती का चरित्र कही भी स्खलित नही है। सपत्नी-भाव-जन्य ईर्ष्या भी है तो साधारण और स्वाभाविक। वह अत्यन्त उपेक्षिता और साथ ही उच्च हृदया होने के कारण पाठकों की सहानुभूति सहज ही पा लेती है। उसका विरह-वर्णन तो विप्रलम्भ का आदर्श उदाहरण है ही, उसका निर्दोष जीवन, आदर्श-प्रेम और पातिव्रत्य भी अत्यन्त मार्मिक है।

राघवदूत सोई सैतानू।
माया अलाउद्दीन सुलतानू॥

—पद्मावत. स० आचार्य शुक्ल। उपसंहार, पृ० ३०१।

१. सुनु हीरामन कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
जीवन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम लाग अनंगा॥

वही, पृ० २१।

राघवचेतन और गोरा-बादल

वाममार्गी राघवचेतन दुष्ट, लोलुप, हृदयहीन और अनैतिक व्यक्तियो का प्रतिनिधि है। वह पंडित होकर भी दुर्जन और कृतघ्न है। गोरा और बादल क्षत्रिय वीरता की उज्ज्वल मणियां है, जिनमे उच्च कोटि के स्वाभिमान और आत्मसम्मान हैं। गोरा वृद्ध होकर भी शक्तिशाली हैं, बादल कमउम्र होकर भी त्यागी और अबला-रक्षक। जायसी ने बादल की अल्पायु और नवागत वधू को हमारे सामने रख उसके कर्त्तव्य की गुरुता बढा दी है और सम्पूर्ण प्रसंग को मर्मभेदी बना दिया है। देवपाल की दूती, शास्त्र-वर्णित दूती-लक्षणो से पूर्ण, प्रगल्भा, धूर्त्त, आडम्बरपूर्ण हैं। रत्नसेन और बादल की माताएँ सामान्य माताओं की भाँति ही स्नेह-विह्वल हैं। बादल की पत्नी भी आदर्श क्षत्राणी की भाँति बादल को प्रेरित करनेवाली है। अल्लाउद्दीन लोभी, लम्पट, क्रोधी और अभिमानी पात्र है, जो पर-पत्नी और पर-धन पर आसक्त है।

चरित्र-संबंधी निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि पद्मावत के चरित्रो मे सामान्य मानवीय प्रकृति का कुशल-चित्रण बहुत दूर तक नही हो पाया है। न तो कवि शील-निरूपण की कला में दक्ष दिखाई पड़ता है और न भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों का पारखी; न तो किसी चरित्र की विलक्षणता पूर्णरूप से लक्षित होती है और न हम वर्ग और समुदाय की विशेपताओं का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण ही पाते है। पद्मावत मे न राम-लक्ष्मण, भरत-हनूमान जैसी वैयक्तिक विशेपताओं वाले नररत्न की झॉकी हैं और न मंथरा-कैकेयी जैसी वर्गगत विशेपताओं वाले व्यक्ति की।

रस

जैसा निवेदन किया जा चुका है, पद्मावत का प्रधान रस शृंगार है—संयोग और वियोग दोनों। कथा की परिणति शान्त रस में होती है। संयोग से अधिक विप्रलंभ-शृंगार मार्मिक है। संयोग चित्र दो प्रकार के आलंबनों के सहारे उपस्थित किये गये हैं—नागमती-रत्नसेन और पद्मावती—रत्नसेन। नागमती-रत्नसेन के संयोग का एक ही स्थल दीख पड़ता है—जब रत्नसेन सिहल से लौट कर नागमती से मिलता है। यहाँ रत्नसेन का चरित्र बहुत कुछ गिर गया है। क्योंकि वह नागमती से दिन में सब लोगों से मिलने के बाद रात को मिलता है……'भइ निसि नागमती पहआवा।' इस प्रसंग में भी नागमती का चरित्र ही उदात्त बन पड़ा है। वह मान किये बैठी है, क्योंकि—तूजोगी होइगा

बैरागी । हौं जरि छार भयंउ तोहि लागी ।।' वह अपने परम त्याग और विशाल हृदय का भी परिचय देती है—'काह हसे तुम मोसो, किअउ और सों नेह। तुम दुख चमकै बीजुरी मोहि दुख बरसत मेह' । नागमती के इस कथन मे उसके हृदय का करुणा-तरल अनुराग और जायसी की काव्य-कला दोनों का उज्ज्वल रूप दीखता है । इस मार्मिक कथन का जैसा उत्तर रत्नसेन देता है, उसमें सिवा धूर्तता, चाटुकारिता और कामुकता के और कुछ नही है—'नागमती तू पहिल बियाही' और 'जमुन सो साम नीर अति मीठा ।'

मिलन के गौण चित्रण

नागमती और रत्नसेन के मिलन के दो और अत्यन्त गौण चित्र हमे दो अवमरों पर मिलते हैं—एक नागमती द्वारा चुराये सूए के प्रसंग मे और दूसरा सिहल जाते समय । दोनों में संयोग-शृंगार का सर्वथा अभाव है और दोनों मे रत्नसेन की हृदयहीनता का परिचय मिलता है ।

रत्नसेन-पद्मावती संयोग-प्रसंग

रत्नसेन और पद्मावती के संयोग के अनेक प्रसंग वर्णित है—बसन्तखन्ड, विवाहखंड, पद्मावती-रत्नसेन-भेंटखंड, लक्ष्मी-समुद्र-खंड, चित्तौड़-आगमन-खंड और पद्मावती-मिलन खण्डों मे । इन वर्णन में मनोवैज्ञानिकता का अभाव है । न तो वसन्त खंड मे दो चिर-प्रतीक्षित हृदयों के मिलन की सघनता-उत्सुकता आदि के दर्शन होते हैं और न विवाह-खण्ड में उद्दाम वासना पर कोई संयम दिखाई पड़ता है । पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खंड में भी परम्पराभुक्त वर्णनों का ही प्राधान्य है ।

नागमती का विरह-वर्णन

नागमती का विरह चित्रण वेदना की गोमुखी गंगा है ।[1] सहानुभूति की व्यापकता, बारहमासा के द्वारा प्रकृति के कार्य-व्यापार के साथ एक वियोगी हृदय का रागात्मक सामंजस्य, विरह की दयनीयता, दुख के विभिन्न रूपो और कारणों को उद्भावना, उपमाओं की सरलता और स्वाभाविकता, विरह-वर्णन की अतिशयता में भी गांभीर्य, प्रेम के द्वारा दो हृदयों के जन्म-जन्मातर के

---

१ नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है ।

—जायसी ग्रंथावली की भूमिका, आचार्य, शुक्ल, पृ० ४०

वेदना का जितना निरीह, निरावरण, मार्मिक, गंभीर, निर्मल एवं पावन स्वरूप उस विरह-वर्णन में मिलता है, उतना अन्यत्र दुलर्भ है ।

—मालिक मुहम्मद जायसी, भागव, भ्र० कमलकुल श्रेष्ठ, पृ० १०१

सम्बन्धों का निर्देशन, निराशा की कालीघटा में आशा की विद्युत्-रेखा, पंछी के द्वारा मार्मिक संदेश, नागमती के प्रेमाधिक्य के कारण ही सपत्नी से भी स्नेह सौदार्द्र आदि ऐसे तथ्य हैं जो नागमती के विरह-वर्णन को अत्यन्त उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं।

भाषा-शैली

पद्मावत में ठेठ अवधी का रूप दीखता है। अधिकांश रूप से पूर्वी और ठेठ अवधी के रहते हुए भी नये-पुराने पूर्वी-पश्चिमी प्रयोग भी दीखते हैं। जायसी और तुलसी की अवधी के प्रयोग में यह अन्तर है कि जायसी की भाषा में अवध का घरेलूपन है, पर तुलसी पर संस्कृत का अमोघ प्रभाव भी है। मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव के कारण पद्मावत की रचना-शैली मसनवी ढंग की है। कथा सर्गों और अध्यायों में विभक्त न होकर घटनाओं के शीर्षकों के आधार पर है। कथा के प्रारंभ में ईश्वर-स्तुति के साथ मुहम्मद और उनके चार मित्रों की वन्दना तथा शाहे वक्त शेरशाह की भी स्तुति है।

आध्यात्मिकता

महाकवि जायसी की गणना भक्तिकालीन सूफी कवियों के अन्तर्गत की जाती है, जो तत्वत. निर्गुणवादी ही हैं और जो ईश्वर को अनादि मानने वाले हैं; जो आत्मा-परमात्मा के मिलन को जीवन का साध्य तथा माया को उसका बाधक मानते हैं। इनकी विशेषता यह कही जा सकती है कि ये कवि परमात्मा-मिलन के लिये प्रेम के सहज और सुकोमल पंथ को ही श्रेयस्कर समझते हैं। जायसी के इस महाकाव्य के कथानक में ब्रह्म-सम्बन्धी विचारों को ढूँढने की चेष्टा की गई है. उसे आध्यात्मिक चश्मे से देखने का प्रयत्न किया गया है; और उसके दार्शनिक पहलुओं पर भी सोचा-विचारा गया है। कवि ने पद्मावत के अन्त में प्रतीक-विधानों की एक सूची देकर आलोचकों को ऐसा सोचने-समझने को विवश कर दिया है। जायसी द्वारा दिये गये इस प्रतीकात्मक कोष को पढ़कर यह तो निश्चित रूप से मानना पड़ता है कि कवि का उद्देश्य आध्यात्मिक भावों की व्यंजना करना है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि कवि इस दिशा में कहाँ तक सफल हुआ है—उसका पद्मावत अन्योक्ति है या समासोक्ति ? अर्थात् जायसी के द्वारा प्रस्तुत संकेत सम्पूर्ण पद्मावत पर आदि से अन्त तक घटित होते हैं या उनमें यत्र-तत्र ही ऐसा हो पाया है। विचारना यह है कि पद्मावत का अध्यात्मवाद उसके कथानक में नीर-क्षीर न्याय से मिला है या तिल-तंडुल-न्याय

से। आचार्य शुक्ल ने पद्मावत के सारे वाक्यों में दुहरे अर्थ नही माने हैं और पद्मावत मे समासोक्ति ही मानी है। डा० सूर्य कान्त शास्त्री ने इसे अन्योक्ति माना है।

प्रतीकों की संख्या

यदि हम जायसी द्वारा दिये गये संकेतों को स्वीकार करें तो पर्यायवाची शब्दों के नगण्य अन्तर को हटाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन के दो प्रतीक है—रत्नसेन और सिहल, माया के तीन प्रतीक है—दुनिया-धंधा-नागमती, माया अल्लाउद्दीन और शैतान राघवचेतन। तन के लिये चित्तौड़ का, गुरु के लिये हीरामन का और बुद्धि के लिये पद्मावती का प्रतीक अकेला है।

प्रतीकों पर विचार और आपत्तियाँ

प्रतीकों की सफलता आदि से अन्त तक उसके निर्वाह करने की कला में हो सकती थी। दुर्भाग्यवश, पद्मवत मे इन प्रतीको का संकेत ही नितान्त भ्रामक, अपूर्ण और अनुचित है। इनका निर्वाह भी ठीक से नहीं हो पाया है।[1] पहले प्रतीकों की पुनरावृत्ति पर विचार करना उचित है, फिर कथा-प्रवाह में उसके प्रयोग के औचित्य पर। समझ मे नही आता कि रत्नसेन और सिंहल—दोनों हृदय या मन के प्रतीक क्यो माने गये है। दो प्रकार का मन मानना हास्यास्पद है। माया को विद्या और अविद्या दो रूपों में माना जा सकता है, लेकिन उसके तीन प्रकार समझ मे नही आते। यदि शब्दो की इस पकड़ को जायसी के अत्यन्त उदार आलोचक निरर्थक समझें तब भी कई समस्याएँ अपनी समस्त उलझनों के साथ मुँह बाए रहती है। प्रश्न यह है कि मन तथा बुद्धि (रत्नसेन तथा पद्मावती) के समन्वय हो जाने पर माया (राघवचेतन और अल्लाउद्दीन) उन्हे विलग कैसे करा देती है ? कवि की यदि यह आस्था है कि माया उन दोनों का संबंध-विच्छेद कराने मे सफल नही हो सकी, तो आध्यात्मवाद की पूर्ण रक्षा के लिये यह आवश्यक था कि कथा का अन्त ऐसे स्थल पर करते, जहाँ स्वर्ग मे रत्नसेन और पद्मावती मिलते दीखते। किन्तु यहाँ तो मन और बुद्धि के समन्वय हो जाने के बाद भी माया से मन अर्थात्, नागमती से रत्नसेन यह कहता दीखता है कि—

---

१. ······जायसी आध्यात्मिक संकेत को पूर्ण रूप से नही निवाह सके।·········कथा की व्यापकता में अध्यात्मवाद सम्पूर्ण रूप से घटित नहीं हो पाता। क्योकि कथा घटना-प्रसंग से प्रेरित होकर कही गयी है।

—हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा पृ० २११

नागमती तू पहिल बिआही ।
कठिन बिछोह दहै जन दाही ॥[1]

यदि पद्मावती बुद्धि की और नागमती माया की प्रतीक है तो उनसे उत्पन्न कमलसेन और नागसेन में वर्ण और रंग के अतिरिक्त और कोई अन्तर क्यो नही माना गया है; और रत्नसेन दोनो से विवाह कर समान व्यवहार करते क्यो दिखाया गया है ? फिर यह बात भी नही समझ मे आती कि दोनों ही अपने पति की चिता पर बैठकर क्यो भस्म हो जाती हैं और दुनिया-धंधा-नागमती के जल मरने पर भी 'सरग भये रतनार' क्यों लिखा गया है । पं० गणेश प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक मे[2] इस प्रसंग का एक दूसरा अर्थ निकाला है । उनके अनुसार पद्मावती परमात्मा, रत्नसेन आत्मा तथा राघवचेतन, नागमती और अल्लाउद्दीन माया बतलाए गये हैं । प्रथम तो ये प्रतीक कवि के स्वकथन से सिद्ध नहीं होते, दूसरे इन प्रतीकों को स्वीकार करने पर भी इनकी एकरूपता पुस्तक में नहीं दीखती । यदि पद्मावती परमात्मा और रत्नसेन आत्मा है तो मायारूपी अल्लाउद्दीन और राघवचेतन को उनके विवाह के पहले ही उपस्थित होकर विघ्न कर देना चाहिए था । फिर आत्मा रत्नसेन परमात्मा पद्मावती के मिलन के बाद माया नागमती के साथ आत्मा का सम्बन्ध-निर्वाह अनुचित है । साथ ही पद्मावती का पुत्र कमलसेन माया नागमती के पुत्र नागसेन से किसी तरह श्रेष्ट नहीं दिखलाया गया है । इससे भी अधिक, नागमती के प्रेम को पद्मावती के प्रेम से अधिक उच्च पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है ।

वस्तुतः जायसी एक प्रेमी कवि थे । उन्होंने परमात्मा संबधी अपनी गहन अनुभूतियों को सरल और हृदयग्राही रूप देना श्रेयस्कर समझा और जन-जीवन के लिये उसे ही अधिक उपयोगी समझा । फलतः उन्होंने 'अखरावट' के सिद्धांत वाक्य—'कहा मुहम्मद प्रेम कहानी, सुनि सौ ज्ञानी भये धियानी' को पद्मावत में चरितार्थ किया । इसीलिये वे लौकिक कथानक के माध्यम से आध्यात्मिक और अलौकिक तथ्यों को रखने में सचेष्ट दीखते है । लेकिन हम देख चेके हैं कि किसी भाँति सर्वत्र उन्हें सफलता नहीं मिली है । आध्यात्मिक और

---

१. पद्मावत, चितौड-आगमन खड, पृष्ट १८९ ।

२. हिन्दी के कवि और काव्य—भाग ३ ।

लौकिक दोनों पक्ष कहानी में सर्वत्र एक रस नहीं दिखाई देते ।[१] इतने बड़े कथानक मे इनका निर्वाह कठिन ही है । वस्तुत: ग्रंथ को पढते समय पाठक यह भूल जाता है कि कहानी का कोई इतर लक्ष्य भी है । सच्चाई तो यह है कि जब पाठक को यह पता चलता है कि कहानी का कोई दूसरा लक्ष्य भी है तो उसे आकस्मिक आघात लगता है और वह कथा-प्रवाह मे रमे अपने मन को आध्यात्मिक सूचना वाले बाधक प्रसंगों से बचाकर निकल जाना चाहता है । अत: सम्पूर्ण कथानक में आध्यात्मिक संकेतों का निर्वाह, अर्थात पद्मावत का अन्योक्ति मानना अनुचित है । शुक्ल जी का मत ही मान्य है कि केवल बीच-बीच मे कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होती है । ······वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिये ।[२]

दुहरे अर्थवाले प्रसंग

पद्मावत में ऐसे स्थल जिनके दुहरे अर्थ हैं, निम्नलिखित है—रत्नसेन का संदेश सुनकर मूर्च्छित होना, रत्नसेन की सिहल-यात्रा, रत्नसेन-पद्मावती-भेंट, सिहंगढ़ का वर्णन, पद्मावती का जन्म-वर्णन, राजा-सूआ-संवाद आदि ।

अर्थ संगति में कठिनाई

उपर्युक्त स्थलों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मुख्यत: पद्मावत के पूर्वार्द्ध से ही सम्बद्ध हैं । कहीं-कहीं आध्यात्म पक्ष की प्रबलता के कारण लौकिक पक्ष की अर्थ-संगति में पर्याप्त कठिनाई हो जाती है ।

प्रतीकों की एकरूपता का अभाव

प्रतीक की एकरूपता का भी जायसी ने निर्वाह नहीं किया है । कहीं रत्न-सेन की दृष्टि में पद्मावती तो कहीं पद्मावती की दृष्टि मे रत्नसेन ब्रह्म है । एकरूपता के निर्वाह के लिये सम्पूर्ण पुस्तक में पद्मावती को ही ब्रह्म मानना चाहिये था । परन्तु यहाँ तो नागमती और पद्मावती—दोनों ही भारतीय सतियों के रूप में हैं, जिनके लिये उनका पति ही परमेश्वर होता है ।

जायसी की हृदयहीनता

आध्यात्मिक प्रतीक के फेरे मे पड़कर नागमती को दुनिया धंधा कहकर जायसी ने जिस हृदयहीनता का परिचय दिया है वह अक्षम्य है ।

१ कहानी अध्यात्मकवाद की हँसी उड़ा रही है और अध्यात्मवाद कहानी को विरूप बना रहा है ।

—योग प्रवाह, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, पृ० २६६

२ जायसी ग्रंथावली की भूमिका, पृ० ५७

पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध

निष्कर्ष रूप में, हम कह सकते हैं कि पूर्वार्द्ध की कथा लोक-कथा पर, और उत्तरार्द्ध की, इतिहास पर आधारित है। पूर्वार्द्ध में ही समासोक्ति के द्वारा सूफीमत की आध्यात्मिकता का आरोप स्थल-स्थल पर किया गया है। यों तो, गढ़-छेंका-खंड आदि कई स्थानों पर हठयोग की पारिभाषिक शब्दावलियों का उपयोग किया गया है, पर प्रमुखता सूफी-दर्शन की ही है।

संतुलन का अभाव

अंश पूर्ण नहीं है—लहर को सागर नहीं माना जा सकता। ठीक उसी प्रकार पद्मावत में यत्र तत्र विशृंखल रूप में बिखरे दार्शनिक संकेतों के कारण इसे कोई आध्यात्मिक ग्रंथ नहीं माना जा सकता। हमें यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं कि पद्मावत की कहानी और कवि द्वारा मान्य प्रतीक दोनों ही स्वतंत्ररूप में महान् हैं; पर दुख इस बात पर है कि दोनों का सम्मिलन और संतुलन ठीक नहीं हो पाया है।

चाहे जो भी हो, यह निर्विवाद है कि पद्मावत प्रेमाश्रयी शाखा का सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ और मानस को छोड़कर अवधी भाषा का सर्वोच्च महाकाव्य है।

रामचरित मानस



मानस का प्रणयन, एक घटना

रामचरितमानस जैसे ग्रंथ का प्रणयन एक घटना है। किसी भी देश और जाति के इतिहास में ऐसी घटनाएँ बार-बार नहीं घटतीं। भारतीय आदर्शों का इतना काव्यमय चित्रण और कहीं नहीं दीखता। नानापुराणनिगमागमसम्मत होने पर भी तुलसी की प्रतिभा की विशालता और अन्तर्दृष्टि की व्यापकता ने इसे मौलिकता के ऐसे रंग में रंग दिया है कि इसमें एक अपूर्व नवीनता, एक अद्भुत निखार आ गया है। न राम की गाथा गाए बिना तुलसी रह सकते थे और न तुलसी के मानस के बिना राम इतने पूज्य, इतने लोकप्रिय हो सकते थे। मानो, वे एक दूसरे के महत्त्व के कारण हैं। जिसकी भावनाओं ने मनुष्य को उसकी क्षुद्रताओं से ऊपर उठाकर लोकोत्तर आनन्द प्रदान किया हो, जिसकी कल्पना ने निराकार ब्रह्म को हाड-मांस का राम बनाकर मानव के सुख-दुख के बीच संचरण कराया हो, जिसकी साधना ने अलौकिक स्वर्ग को धरातल पर उतार कर रख दिया हो और जिसकी अन्तर्दृष्टि ने राजनीति, समाज और धर्म का समुचित मूल्यांकन किया हो, उस महाकवि की वाणी यदि लोकप्रिय बन

सकी, तो इसमें आश्चर्य क्या ! अट्टालिकाओं से झोपड़ियों तक, विद्वानों से सामान्य-जनों तक जिस ग्रंथ ने समादर पाया हो, उसकी महानता निर्विवाद है।[1] कार्य-व्यापार की सफलता, घटना-संघटन की कुशलता, चरित्रों के शील-निरूपण, नाटकीयता, प्रवाहमयता, कर्त्तव्य की गुरुता, प्रेम की निश्छलता, मानव-परिवार के विभिन्न सम्बन्धों के निर्वाह, समन्वय की विराटता, प्रकृति-चित्रण की विशदता, जीवन-दर्शन की व्यापकता और काव्य-कला के सर्वाङ्गीण सौष्ठव की दृष्टि से मानस एक अतुलनीय ग्रंथ है। महाकाव्य के लक्षण अपने पूर्व आदर्शों के साथ मानस में प्रतिष्ठित होकर भी उसे चिर-नवीन बनाये हुए है, यही तुलसी के शिल्प की महानता है।

मानस की आलोचनात्मक दृष्टियाँ

मानस में भाषा, छंद, अभिव्यक्ति, कथानक, चरित्र-चित्रण आदि के क्षेत्रों में शिल्प-विधान की नवीनता और परम्परा को नवीन युगभूमि पर सँवारने की कला एवं महाकाव्य-सम्बन्धी अन्य मौलिकताओं की दृष्टि से निम्नलिखित विशेषताएँ द्रष्टव्य है :—

लोक-भाषा का चुनाव

१—संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होते हुए भी तुलसी ने लोक-भाषा को अपने महाकाव्य का माध्यम चुनकर अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। यों तो अवधी का प्रयोग पद्मावत महाकाव्य में हो चुका था, पर उसका साहित्यिक परिष्कार मानस में किया गया।[2] अवधी को संस्कृत-मिश्रित रूप देने की कला ने इनकी भाषा को अधिक उदात्त, अधिक व्यंजक और अधिक मधुर बना दिया है।[3]

---

१ यह ग्रंथ जितना सर्वप्रिय है, उतना अन्य कोई भी ग्रंथ नहीं है। केवल अक्षर-ज्ञान रखने वालों से लेकर वेदान्ती तक समान रूप से इसका आदर करते है, और 'निज पौरुष परमान ज्यों मसक उडहि आकास' के अनुसार इसकी प्रशंसा करते है'।

—संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, मिश्रबंधु, पृ० ३९।

२ तुलसीदास के पहले अवधी भाषा में रचना हो चुकी थी, किन्तु उसमें साहित्यिक परिष्कार नहीं हो पाया था, मानस में उसका प्रयोग कर गोस्वामी जी ने उसका परिष्कार कर दिया।

—हिन्दी काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनका मूल स्रोत, सत्यदेव चतुर्वेदी, पृ० १७३।

३ गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे, अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखायी देता है।

—तुलसी का काव्य सौन्दर्य, डॉ॰ श्यामसुन्दर दास, तुलसीदासः चिन्तन और कला, (सम्पादक, डॉ० इन्द्रनाथ मदान) में संगृहीत निबंध, पृ० ११०।

छंदों के चुनाव में शिल्प-कौशल

२—छंदों की दिशा में भी तुलसी ने नये कौशल का उपयोग किया है। जायसी की तरह केवल दोहा-चौपाई की शैली ही इन्होंने नहीं अपनायी, मानस में अन्यान्य छंदों का मिश्रण कर एक ऐसे शिल्प की स्थापना की, जिसके द्वारा भावों के अनुकूल छंदो के विधान मे सहायता पहुँची और छंदों की एकरूपता के साथ ही प्रसंगानुकूल नवीन छंद पाठकों को रुचिकर लगे। दोहा-चौपाइयो के क्रम के साथ, हरिगीतिका, सोरठा—एक बड़े, इक छोटे छंद की योजना की। इन्होंने लंका-काण्ड में युद्ध के वर्णन में चन्द आदि चारण कवियों के वीर रसात्मक छंदों के प्रयोग किये।

प्राचीनता और नवीनता का समन्वय

३—तुलसी की विशेषता प्राचीनता और नवीनता का समन्वय है—जैसे दूध को मथकर जो नवनीत निकाला जाता है, उसमें दूध का अंश तो रहता है, पर उनका स्वरूप और गुण—बाहर और भीतर सब नये हो जाते हैं। यद्यपि मानसकार ने बाल्मीकीय रामायण, हनुमन्नाटक, अध्यात्म रामायण, योगवाशिष्ठ, महारामायण, भुशुंडीरामायण, याज्ञवल्क रामायण, भागद्गीता, श्रीमद्भागवत, भारद्वाज रामायण, प्रसन्नराघव, रघुवंश, अनर्घ्यराघव आदि ग्रथों को मथकर उसकी विशेषताएँ ग्रहण की हैं, तथापि श्रीमद्भागवत, बाल्मीकीय रामायण तथा अध्यात्म-रामायण मानस के प्रधान उपजीव्य ग्रथ हैं। इन सभी उपजीव्य ग्रंथों के अध्ययन-मनन तथा तुलसी के व्यक्तित्व के संयोग से जिस शिल्प का निर्माण हुआ, वह सर्वथा नवीन है। प्राचीन कथा को ये साँचे मे ढालने की क्षमता ने इस शिल्प की श्रृद्धि की। इस दिशा में तुलसी की सारग्राही प्रतिभा और उसके भीतर से फूटनेवाली अन्तर्ज्योति की नवीन किरणो को सहज ही परखा जा सकता है :—

(i) वाल्मीकीय रामायण के राम एक धीरोदात्त नायक हैं, पर तुलसी के राम अवतारी व्यक्ति हैं, लीलामय पुरुषोत्तम हैं; वाल्मीकि के राममें पग-पग पर मानवीय दुर्बलताएँ हैं, तुलसी के राम में ईश्वरत्व की स्थापना है। अतिशय रामभक्ति के कारण एक मौलिकता तुलसी की कृति में सहज ही आ गयी है, और वह है,—तुलसी के पात्रों की रामभक्ति। रामभक्ति को शीलरूपमें प्रतिष्ठित कर चरित्रों का एक-सा निर्वाह करना तुलसी की विशेषता है।

स्वाभाविकता

(ii) चरित्रों को संयमित और मर्यादित करने की ओर कवि ने विशेष ध्यान दिया है, जिससे अध्यात्मक रामायण की अपेक्षा मानस के पात्रों में महाकाव्योचित्त गरिमा अधिक आ गयी है। अध्यात्म रामायण के पात्र पग-पग पर आत्महत्या करने को उद्यत दीखते हैं। आत्महत्या की यह प्रवृत्ति उनकी मानसिक दुर्बलता की परिचायिका है—यथा, राम के वण जाने के प्रसंग पर कौशल्या की; वन-गमन के समय वन न ले जाने पर लक्ष्मण, सीता और गुह की; कैकेय के द्वारा राज-सिंहासन पर बैठने के लिये कहने पर भरत की; खरदूषण के समक्ष राम लक्ष्मण के रुधिर-पान को आतुर शूर्पणखा की और ऐसे ही भिन्न-भिन्न अवसरों पर अन्यान्य पात्रों की आत्महत्या का भय दिखलाया गया है।[1]

अध्यात्म रामायण से बहुत अधिक प्रभावित होते हुए भी तुलसी ने ऐसी हास्यास्पद दुर्बलताओ से अपने पात्रो को सर्वथा मुक्त कर दिया है। यद्यपि राम के नटखटपन, माखन-चोरी आदि की बाल-सुलभ चपलताएँ अध्यात्म रामायण की भाँति रामरहस्य, मानस आदि मे दीखते हैं[2], तथापि अध्यात्म रामायण के राम की भाँति मानस के राम में उद्दण्डता नहीं दीखती-यहाँ वे अधिक संयमित और स्वाभाविक है।

कथा-विस्तार की संक्षिप्तता

(iii) पूर्ववर्त्ती कवियों द्वारा वर्णित कथा के विस्तार को मानसकार ने आवश्यक स्थानो पर संक्षिप्त कर दिया है। अध्यात्म रामायण मे[3] विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण के माँगे जाने पर दशरथ की व्यथा और वशिष्ठ द्वारा उनके समझाये जाने के वृत्तान्त को तुलसी ने एकअद्र्धाली में कह दिया है—

---

१. कम से कम दस विभिन्न अवसरो पर अध्यात्म रामायण के सात विभिन्न पात्र अपने जीवन का अन्त कर देने का निश्चम प्रकट करते है यदि कोई कार्य विशेष उनकी इच्छा के अनुकूल नही किया जाता है अथवा नही होता है।

तुलसीदास : डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ७३।

२. अध्यात्म रामायण में राम की नटखटी, माखन की चोरी, बरतनों का तोडना आदि वर्णित हैं, जो स्पष्टतया भागवत पुराण पर निर्भर है। यह वर्णन रामचरित मानस, रामरहस्य आदि में भी पाया जाता हे।

—रामकथा : डा० कामिल बुल्के, पृ० २५९

३. अध्यात्म रामायणः बालकाण्ड, ४-१२-२०

नब वसिष्ठ बहुविधि समुझावा ।
नृप संदेह नाम कंह पावा ॥

बालकांड, २०८

एक 'बहुविधि' शब्द के द्वारा कुछ न कहकर बहुत कुछ कह दिया गया है !

अहल्या की वासना-कथा

अहल्या की वासना-कथा को तुलसी ने सर्वथा छोड दिया है । इस कथा का वाल्मीकि और अध्यात्म रामायण मे विस्तार किया गया है। वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड के अडतालीसवें-उन्चासवें सर्गो मे तथा अध्यात्म रामायण के बालकाण्ड के पाँचवें सर्ग के १६ से ३४ श्लोको तक मे इसका वर्णन है । इस संक्षिप्तता का कारण यह भी हैं कि तुलसी ने सोलहवी शदी तक जनता के मस्तिष्क में राम-कथा और उससे सम्बद्ध अन्यान्य कथाओं के संस्कार से लाभ उठाया है ।[1]

कथा का स्थान-परिवर्त्तन

(v) किस कथा को कहाँ स्थान देना चाहिये, उसका पूरा ध्यान तुलसीदास ने रखा है। कथा-स्थान-परिवर्त्तन की इस कला के द्वारा मार्मिकता प्रदान करने का प्रयास किया गया है । यथा—अध्यात्मरामायण मे अहल्या के उद्धार करने के बाद निषाद के पैर धोने की कथा आयी है, पर मानस में यह कथा अधिक कलात्मकता से शृंगबेरपुर के निषादराज के साथ सम्बद्ध कर दी गयी है ।

शिव-पार्वती की कथा

(vi) शिव-पार्वती के प्रणय और विबाह की कथा शिवपुराण से तुलसी ने ली है, पर कथा को संक्षिप्तता, पात्रों की मर्यादा और शील-निरूपण की दृष्टि से मानस का वर्णन श्रेष्ठ है । इस दिशा में कथा-संक्षिप्तता, चरित्र-चित्रण आदि दृष्टियों से कई शिल्प-विधियों के प्रयोग तुलसी ने किये है । उन्होंने पार्वती के चरित्र को अधिक मार्मिक तथा सम्पूर्ण शिव-पार्वती कथा को संक्षिप्त और तीव्र बनाया है । साथ ही, पार्वती के सम्मुख शिव के मन मे काम के बाण मारने, काम के अनंग होने, प्रद्युम्न के रूप मे जन्म लेने, ब्रह्मा का पार्वती को देख कामातुर होने आदि ऐसे प्रसंगों को कवि ने छोड़ दिये हैं, जी अनावश्यक, अविश्वसनीय

---

१. तुलसी की पूरी कथा इस अभिव्यक्त आधार पर निर्मित हुई है कि राम की मौलिक कला पाठकों और श्रोताओं को ज्ञात है ।

—ए० पी० वारिन्निकोव, मानस की भूमिका, पृ० ६२

और असंगत है। शिवपुराण मे स्वयं हिमालय अपने भावी दामाद को पुत्री देने के लिये पत्र लिखते है, पर इस कार्य के लिये मर्यादावादी तुलसी ने अभिभावक ब्रह्मा के पास सप्तर्षियों द्वारा पत्र भेज कर अपनी सूझ का परिचय दिया है।

नायक के गुणों का विस्तार

४—तुलसी ने नायक के गुणों का विस्तार और कथानक मे उसका निर्वाह इस सीमा तक किया है कि विश्व-साहित्य मे वैसे आदर्श महापुरुष का जोड़ा नहीं है। देश-विदेश के सम्पूर्ण महाकाव्यों में ऐसा नायक नही दीखता।[1]

नरोत्तम रूप

५—मानसकार ने राम के ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाने के साथ ही उनके नरोत्तम रूप की प्रतिष्ठा की है।[2] ईश्वरत्व और मनुष्यत्व के सामंजस्य ने तुलसी की चरित्र-चित्रण कला को अपूर्व बना दिया है।

काव्य-शैलियाँ

६—तुलसी ने अपनी रचनाओं में अपने समय की सभी काव्य-शैलियों का समावेश किया—वीरगाथाकाल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, गंग आदि चारणों की कवित्त-सवैया-पद्धति, कबीर की दोहा-पद्धति, ईश्वरदास की दोहा-चौपाई की प्रबन्ध-पद्धति। शैलियों का यह समन्वय उनके रचना-विधान को ऊपर उठाने मे बहुत अधिक सहायक हुआ।[3]

सम्पूर्ण जीवन के व्याख्याता

७—हिन्दी के अन्य कवियों की भाँति किसी एक रस या जीवन-खंड के नहीं, सम्पूर्ण जीवन के व्याख्याता के रूप में तुलसी ने मानस की रचना की। सम्पूर्ण जीवन-फलक के इस चित्रकार की रचना इसीलिये इतनी लोकप्रिय हुई।

---

१ किसी जाति की काव्य-प्रतिभा ने कभी भी जिन उदात्त गुणों की कल्पना की होगी कदाचित् उनका एक आदर्शमय रूप हमें राम के चरित्र में समाहित मिलता है।

—तुलसीदास : डा० माता प्रसाद गुप्त, पृ० २७४।

२ तुलसीदास के आराध्य श्रीरामचन्द्रजी एक ओर ब्रह्मविद् 'ब्रह्मैव भवति' के अनुसार पूर्ण ब्रह्म हैं; दूसरी ओर नर-भूप भी हैं।

—साहित्य-सम्राट्, तुलसीदास : गंगाधर मिश्र, पृ० ३१४।

३ तुलसीदास के रचना-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सबके सौन्दर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी मे दिखा कर साहित्य-क्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए।

—हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१४।

मर्मस्पर्शी स्थल

८—मानसकार ने घटना-निर्वाह के साथ ही वस्तु-व्यापार-वर्णन, भावाभिव्यंजन और सम्वाद-योजना के मर्मस्पर्शी स्थल की पहचान मे अतिशय कुशलता दिखलायी है। कवि के रचना-कौशल का यह बहुत बड़ा प्रमाण है।

दर्शन

९—मानस में दार्शनिक मतों का विस्तार के साथ समावेश है, पर इससे काव्यकला की सुन्दरता बढ़ी है। सरल से सरल रीति में निगूढ दार्शनिक सिद्धान्तों को व्यक्त करने की कला में तुलसी पारंगत दीखते हैं। ईश्वर-भक्ति निरूपण, लक्ष्मण-निषाद-सम्वाद, राम-नारद-सम्वाद, वर्षा-शरद्-वर्णन, राम-लक्ष्मण-सम्वाद, गरुड़-कागभुशुन्डि-सम्वाद आदि प्रसंग इस तथ्य के प्रमाण है।[1]

सात सोपान, तीन खंड

१०—यद्यपि मानस सात सोपानों मे बँटा है, पर कथा की दृष्टि से इसके तीन खंड माने जा सकते है—पहला भरत चरित्र तक, दूसरा रावण-वध तक और तीसरा कागभुशुडि चरित। पहला खंड भाव का, दूसरा विचार का और तीसरा ज्ञान का प्रतीक है। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध होकर भी अपनी मौलिकता बनाये हुए हैं।

सोपानों का आकार

११—मानस में सोपानों की लम्बाई का क्रम अन्यान्य महाकाव्यों की अपेक्षा इतिहास-पुराण की शैली से अधिक मिलता है। इसमें प्रथम और द्वितीय सोपान बहुत बड़े, तीसरे-चौथे बहुत छोटे और फिर छठे सातवे सोपान पहले-दूसरे से छोटे पर तीसरे चौथे से बड़े हैं।

लक्षणों की स्वीकृति और मौलिकता

१२—महाकव्य के सभी लक्षणों को स्वीकार करते हुए भी तुलसी ने मानस का स्वर परम्परामुक्त संस्कृत महाकाव्यों से बहुत ऊपर रखा है, क्योंकि उन्होंने जन-जीवन की समस्याओं के चित्रण के साथ ही निदान भी प्रस्तुत किये है। इन्होंने स्वांतः सुखाय के साथ ही लोकोपकार भी किया है।

---

१. तत्कालीन साहित्य में कोई भी ऐसा कवि नही है, जिसने दर्शन-शास्त्र का परिचय इतनी दक्षता के साथ किया हो।

—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० वर्मा, पृ० ४४३

नया वातावरण

१३—महाकव्य-सम्बन्धी रूढ़ियों का पालन करते हुए भी मानसकार सर्वथा नवीन लगते है क्योकि घटनाओ, वर्णनो और भावो की इन्होंने सुष्ठु योजना की है, अपनी मौलिक प्रतिभा से एक नये वातावरण की सृष्टि की है।

धार्मिक कटुता की समाप्ति की चेष्टा

१४—तुलसी ने उदार ईश्वर-भक्त की भाँति अपने मानस मे तत्कालीन धार्मिक कटुता को अन्त करने के हेतु सभी धर्मो के सार तत्वों और महत्वो को स्वीकार किया है; शैव, शाक्त और पुष्टिमार्ग—सभी के साथ समझौता किया है। कही राम मे शिव की प्रशंसा करायी है, कही जानकी से शाक्तमत की स्वीकृति कराई है और कही पुष्टिमार्ग के तत्त्व को व्यक्त किया है।

चारित काव्य और पौराणिक शैलियों का सम्मिश्रण

१५—मानस है अपभ्रंश के चरित काव्य और पौराणिक शैलियों का सम्मिश्रण है। साहसिक और रोमांचक तत्त्वों की अधिकता, प्रेम, वीरता और वैराग्य के समंजस्य, शान्तरस के पर्यवसान, प्रबन्ध-रूढ़ियों, छंद-योजना आदि दृष्टियो से जहाँ इसमे चरित काव्य की विशेषताएँ मिलती हैं, वहाँ दूसरी ओर श्रोता-वक्ता-परम्परा, वंश-परम्परा, उपदेशात्मकता, अलौकिक कार्यो आदि की दृष्टि से यह पौराणिक काव्य की परम्परा मे आता है। तुलसी की विशेषता यह है कि उसने दोनो प्रकार के तत्त्वों का विवेकपूर्ण और कलात्मक उपयोग किया है।

पात्रों और उक्तियों की शालीनता

१६—तुलसी ने अपने उपजीव्य ग्रन्थो के पात्रो और उक्तियो को अपनी भक्तिभावना और गंभीर प्रवृत्ति के कारण अतिशय शालीन बना दिया है। जैसे स्वर्णमृग के प्रसंग मे वाल्मीकि की सीता ने लक्ष्मण को दुर्वचन कहे[1] और लक्ष्मण ने भी सीता को धिक्कारा[2]; पर तुलसी ने इस प्रसंग को मर्यादित कर दिया। वाल्मीकि रामायण और मानस दोनों मे हनूमान द्वारा लका के उद्यान

---

१. अब्रवीत परुषं वाक्य लक्ष्मणं सत्यवादिनम्।
अनार्याकरुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥
—वाल्मीकीय रामायण, अरण्यकाण्ड—सर्ग, ४५, २१

२, न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषंत्वया।
धिक्त्वमद्य प्रणश्च त्वं यन्मामेव विशङ्कसे ॥
—वही, सर्ग ४५, ३२

का ध्वंस-वर्णन है, पर मानस के हनूमान सीता से फल खाने की आज्ञा लेकर ऐसा करते हैं। वाल्मीकि ने आदेश की अपेक्षा नहीं समझी।

जहाँ मानस की अनेक पंक्तियाँ वाल्मीकि या अध्यात्म रामायण से मिलती हैं वहाँ भी कुछ न कुछ मौलिकता है, अंधानुकरण नहीं; यथा, अध्यात्म रामायण और मानस में बध करने योग्य व्यक्तियों की सूची प्रस्तुत करते हुये जो उक्तियाँ कही गयी हैं,[1] उनमें तुलसी ने 'रमते' और 'रमसेवलात्' जैसे शब्दों को त्याग कर अपने कथन को शिष्ट बना दिया है।

निष्कर्ष

तात्पर्य यह कि रामचरित मानस महाकाव्यों की शिल्प-विधि, चरित्र-चित्रण, कथा-सम्पादन, संवाद-योजना, दर्शन-निरूपण आदि सभी दृष्टियों से एक आदर्श महाकाव्य है। रवीन्द्रनाथ ने प्राचीन साहित्य में संग्रहीत अपने निबन्ध में जिस महाकाव्य की कल्पना की है, मानस के संबंध में वह सर्वांशतः ठीक है।[2] तुलसी की साधना ने अपने ज्ञान, चिन्तन और मनन को लोक-सामान्य भाव-भूमि के अनुकूल बनाकर अपनी अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया।

---

१ दुहितानभगिनी भ्रातुर्भार्या चैव तथा स्नुषा।
समा यो रमते तासामेकामपि विमूढधीः ॥
पातकी स तु विज्ञेयः स बध्यो राजभिः सदा।
त्वं तु भ्रातुः कनिष्ठस्य भार्यायां रमसे बलात् ॥

—किष्किंधाकाण्ड, सर्ग २, ६०-६२

अनुजबधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ ये कन्या समचारी।
इनहि कुदृष्टि बिलोकै जोई, तिनहि बधे कछु पाप न होई ॥

—किष्किंधाकाण्ड, दोहा ८।

२ इस श्रेणी के कवियों की रचना के अन्तरतल में एक सारा देश, एक सारा युग अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके; उस रचना को सदा के लिये समादरणीय बना देता है। दूसरी श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं। सारे देशों और सारी जातियों की सरस्वती इसका आश्रय ले सकती है।......उनकी रचना उस बड़े वृक्ष की सी मालूम होती है जो देश के भूतलरूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आश्रय-रूपी छाया देता हुआ खड़ा हो।

— प्राचीन साहित्य, अनु० रामदहिन मिश्र, पृ० १-२

रीतिकाल



युग-परिवर्त्तन और रुचि-परिवर्त्तन

युग-परिवर्त्तन के साथ रुचि-परिवर्त्तन होता है और युग की आवश्यकता और मांग के अनुकूल साहित्य की दिशाएँ और शैलियाँ भी बदलती है। भक्ति-काल के भव्य-काव्यप्रसाद के निर्माण के बाद रीतिकाल में ऐसे छोटे-छोटे राम-मड़ैया या कृष्ण-कुटीर बनने लगे, जिनके निवासी, हाथ में भगवद्-नाम की सुमिरनी लेकर, मन से नायिकर-भेद पर विचार करने और आँखो से काम-केलि के कुंज टोहने लगे। वे रसिक तो थे, —पर राम या श्याम के नहीं, काम के। वे दास तो थे,—पर हरि-चरणो के नही, अपनी इन्द्रियों के। इतना ही नही, तुलसी के मर्यादापुरुषोत्तम राम, सूर के लीलामय घनश्याम और 'दासमीरा' के 'लालगिरधर' को स्थान-च्युत कर उनके स्थान पर भूषण के शिवाजी, लाल के छत्रसाल और पद्माकर के जगतसिह आ विराजे थे। भक्तिकाल के 'स्वांत: सुखाय' का स्थान 'स्वामिन: सुखाय' ने ले लिया। कवियों का ध्यान विनोद, वाग्चातुरी, कलाबाजी और चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक गया। अत: रीतिकाल के कवियो ने राधा-कन्हाई के सुमिरन का जो बहाना ढूँढ़ा, उसे भी कृष्ण काव्य की गीति-परम्परा ही मिली। फलत: इस काल मे प्रबन्धों से अधिक मुक्तक लिखे गये और जो प्रबन्ध लिखे भी गये वे महाकाव्य की गरिमा के अनुकूल नहीं उतरे। महाकाव्य-रचना के लिये जिस सहृदयता और व्यापक दृष्टि की आवश्यकता होती है, वे इन कवियों मे नही थी। दरवारी वातावरण में पले ये कवि प्रशंसा और सस्ते यश के भूखे थे। इनकी विशेष आसक्ति या तों शृंगार की घिसी-पटी उद्भावनाओ पर थी या आचार्यत्व-निरूपण और पांडित्य-प्रदर्शन पर। लक्षणग्रंथ के निर्माण और उदाहरण बनाने मे भी बहुत से कवियो की प्रतिभा का दुरुपयोग हुआ। महाकाव्य-निर्माण के लिये जिस उदार चित्त-वृत्ति की अनिवार्यता है, उससे ये परे थे। इस काल में प्रबन्ध की अपेक्षा उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण मुक्तकों मे हल्के-फुल्के मनोरंजन का अधिक अवकाश था। नायिका-भेद, नख-शिख-चित्रण और ऋतु-वर्णन के लिये इन कवियों ने मुक्तक के क्षेत्र को ही अधिक अनुकूल समझा।

रीतिकालीन प्रबन्ध

मुक्तक के प्राधान्य के बावजूद नाम गिनाने को कई प्रबन्ध-काव्य लिखे गये:—

१—छत्रप्रकाश —लालकवि

२—विजयमुक्तावली —छत्रसिंह
३—महाभारत —सबलसिंह
४—चंडीचरित्र —गोविन्दसिंह
५—हम्मीर रासो —जोधराज
६—नैषधचरित —गुमान मिश्र
७—जैमिनी पुराण —सरयूराम
८—सुजानचरित्र —सूदन
९—ब्रजविलास —ब्रजवासीदास
१०—वैतालपचीसी —देवीदत्त
११—भाषा सप्तशती —नवलसिंह
१२—हम्मीर हठ —चन्द्र शेखर
१३—रामरसायन —पद्माकर
१४—हिम्मत बहादुर विरुदावली —पद्माकर
१५—रामाश्वमेध —मधुसूदनदास
१६—राजविलास —मानकवि
१८—कृष्णचन्द्रिका —गुमान मिश्र
१८—इन्द्रावती —नूरमुहम्मद
१९—सीत-बसन्त —चन्दन
२०—कृष्णायन —मंचित
२१—रामचन्द्रिका —केशवदास

प्रबन्धात्मकता का ढाँचा मात्र

इन ग्रंथों में प्रबन्धात्मकता का ढाँचा भर है। मौलिकता और हार्दिकता के स्थान पर पिष्टपेषण ही अधिक है। अधिकांश वर्णनात्मक काव्य हैं। कही वस्तुओं की सूची है, कहीं आश्रयदाता की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा। कुछ कवित्व हम्मीर हठ, हम्मीर, रासो, सुजान चरित्र, छत्रप्रकाश, ब्रजविलास, रामाश्वमेध आदि में मिलते है। महाभारत और छत्रप्रकाश दोनो की कथायें, दोहा-चौपाई छंदों में लिखी गयी हैं, पर सबलसिंह चौहान के महाभारत की अपेक्षा गोरेलाल के छत्र प्रकाश की कथा-योजना, वर्णन और मार्मिकता अधिक प्रभविष्णु और घटनायें सच्ची हैं। सुजान-चरित के वर्णनों मे नीरसता, पर छंदों में विविधता है। सूरसागर पर आधारित ब्रज-विलास अपेक्षाकृत अधिक लोक-प्रिय है। रामाश्वमेध की प्रबन्धात्मकता सुरुचिपूर्ण और सुगठित है। हम्मीर

रासो पृथ्वीराज रासो से बहुत अधिक प्रभावित है, पर पृथ्वीराज रासो-सी उदात्तता का अभाव है। महाकाव्य कहलाने का अधिकार इसे भी नही है। मानकवि का राजविलास भवसाहसांक चरित के आधार पर एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमे महाकाव्य की प्राय: सभी रूढ़ियों का पालन किया गया है, पर दृष्टिकोण के विस्तार के अभाव और अपूर्णता के कारण इसे भी महा-काव्य के पद पर प्रतिष्ठित नही किया जा सकता।

रीतिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध महाकाव्य—रामचन्द्रिका

रीतिकाल का सर्वाधिक आलोचित और प्रशंसित महाकाव्य है केशवदास की रामचन्द्रिका। एक ओर तो मिश्रबन्धु जैसे आलोचक[1] है, जो रामचन्द्रिका को उच्चकोटि का काव्य मानते है और दूसरी ओर रामचन्द्र शुक्ल जैसे आचार्य, जो केशव को कवि मानने में भी संकोच करते हैं।[2] इन दोनों मत भिन्न-ताओ के कारण सामान्य पाठक केशव को कठिन काव्य का प्रेत मानकर इसकी रचनाओं से किनाराकशी कर लेते है। अत: रामचद्रिका का मूल्यांकन करना आवश्यक है।

कवि की सहृदयता

कवि के लिये सहृदयता उतनी ही आवश्यक है, जितना सोने के लिये उसका सुनहलापन। कवि की ऑखो में दिल और दिल मे ऑखे चाहिए। नयनहीन व्यक्ति तो महाकवि भी हो सकता है, लेकिन हृदयहीन व्यक्ति कवि क्या, कविता का सामान्य पाठक होने का भी अधिकारी नही माना जाता। भावुकता उस व्यक्ति का गुण है, जिसके हृदय पर किसी घटना, दृश्य या भाव का शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है और जो उदारतापूर्वक किसी तथ्य पर विचार करता है; जिसका दृष्टिकोण विशाल और जिसकी ग्राहिका शक्ति विस्तृत होती है। स्वयं शुक्लजी ने यह परिभाषा दी है कि 'कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह

---

१. हिन्दी साहित्य में तुलसीकृत रामायण के सिवा ऐसा रोचक ग्रथ एक भी नही है।
संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु, पृ० १७४

२. केशव को कवि-हृदय नही मिला था। उसमें वह सहृदयता और भावुकता न थी, जो एक कवि में होनी चाहिये। वे संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे, पर इस कार्य मे सफलता प्राप्त करने के लिये भाषा पर जैसा अधिकार चाहिये वैसा उन्हें प्राप्त नही था।
हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०९

प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करें'।[1] सहृदयता और भावुकता को वे इस सीमा तक आवश्यक मानते हैं कि 'सच्चा कवि वही है, जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विचित्रताओं और विशेषताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सकें'।[2] वस्तुतः आचार्य शुक्ल की इस कसौटी पर रामचन्द्रिका बहुत दूर तक खरी नहीं उतरती।

मार्मिकता के अभाव का कारण

रामचन्द्रिका एक प्रबन्ध काव्य है, उसमें एक महाकाव्य के सभी लक्षणों के निर्वाह का प्रयास है। उसमें 'मार्मिक स्थलों की पहचान' और अनेक 'विचित्रताओं और विशेषताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सकने' की पूरी गुंजाइश थी, पर केशव अपने पांडित्य का लोभ संवरण नहीं कर सके, फलतः उनके हृदय पर मस्तिष्क हावी हो गया। उनकी सहृदयता और भावुकता के स्थान पर चमत्कार-प्रियता, बुद्धि-विलास और अलंकार-बोझिलता आ बैठी।

पांडित्य-प्रदर्शन

केशव एक आचार्य कवि थे। संस्कृत साहित्य का उनका विस्तृत अध्ययन था और वे अपने इस ज्ञान को लेकर हिन्दी-साहित्य में अपना महत्व स्थापित करना चाहते थे। फलतः उनका ज्ञान बोझ बन गया और उनकी रचनाओं में संस्कृत साहित्य से उधार लिये हुए अनेक स्थल आपसे आप आने लगे। जहाँ तक रामचिन्द्रका का प्रश्न है, क्या कथानक, क्या भाव और क्या भाषा—सभी दिशाओं में उन पर संस्कृत साहित्य का प्रत्यक्ष और स्पस्ट प्रभाव है। जब प्रभाव अनुकरण बन जाता है, हेय हो जाता है। कवि का व्यक्तित्व पूर्ववर्त्ती कवियों के बोझ से दब जाता है और नवीन उद्भावनाओं के लिये पिष्टपेषण स्थान ही नहीं छोड़ता। किसी सत् कवि का ज्ञान और पांडित्य उसके भावों को परिमार्जित और परिष्कृत कर सके, तब तो सोने में सुगन्ध की कहावत चरित्तार्थ होती है, किन्तु इसके विपरीत यदि उसकी यह विशेषता उसके हृदय को उससे छीन ले, उसके कवित्व को एक निर्जीव कला के रूप में बदल दे, तो वह पांडित्य किस काम का! कविता के रसमय स्रोत में अलंकारों, छंदों और ज्ञान-विज्ञानों की कोरी प्रदर्शनी भली नही लगती।

---

१. त्रिवेणी, पृ० १२०

२. चिन्तामणि, पृ० ३०८-३०९

केशव की सहृदयता और भावुकता की परीक्षा करते हुए यह देखना है कि संस्कृत साहित्य के ज्ञान को उन्होंने किस रीति से अपनी रामचन्द्रिका में निवाहा है। क्या उनके ज्ञान ने रामचन्द्रिका के शिल्प को संवारा है ? क्या राम-कथा की दिशा में यह शिल्प कुछ नयापन ला सका है ? ये सारी बाते विचारणीय हैं।

केशव का उद्देश्य

केशव रीतिकालीन दरबारी कवियों से भिन्न नही थे। वे राजा इन्द्रजीत के दरबार के विलास और सुख-सुविधाओं में पले रसिक कवि थे। उनकी कविताओं का भी मुख्य उद्देश्य राजा को प्रसन्न कर उनका स्नेह-भाजन बनना था। अत: उनकी कविताओं में जीवन की समस्याओ का नितान्त अभाव मिलता है। रीतिकालीन राजदरबार के वातावरण के अनुकूल ही रामचन्द्रिका में भी गंभीरता और उच्च कोटि की भावुकता के अभाव मिलते हैं। पतनोन्मुख संस्कृत-साहित्य का उन पर प्रभाव था, जिनमे भाव गाभीर्य के स्थान पर शब्द-चमत्कार और अलकार-योजना का प्राधान्य था। अत: केशव की प्रवृत्ति गंभीर भावों की व्यञ्जना के स्थान पर चमत्कार-प्रदर्शन मे अधिक दीखती है।

किसी भाव या रस को पाठकों के हृदय में कैसे जगाया जाये, इस कला से केशव अनभिज्ञ थे। ऐसा लगता है कि वे केवल विभावानुभावादि की योजना कर देना ही पर्याप्त समझते थे। उन्होंने लिखा भी है —

जिनतें जगत अनेक रस प्रकट होत अनयास।
तिनसों विमति विभाव कहि बरनत केशवदास ॥

रसोद्रेक की असमर्थता

पर वे कदाचित् इस तथ्य मे अवगत नहीं थे कि विभागों से अनायास रसोद्रेक नहीं होता। वे केवल सप्रयास विभावादि की योजना करना, अपने कवि-कर्म से निश्चिन्त होना समझते थे। उदाहरणार्थ, रामचन्द्रिका के एक हास्यरस के प्रसंग को देखा जा सकता है,[1] जहाँ केवल हँसा कहने मात्र से यह समझा गया है कि हँसी आ गयी है। कवि की हृदयहीनता का विशेष उदाहरण भरत का राम से मिलने का प्रसंग है। कहाँ तुलसी की भावुकता, कहाँ केशव का असमय युद्ध-वर्णन। मानस मे भरत का वर्णन करते तुलसी आत्मविभोर हो

१. मोहि सचम्भु महा सुहहा, कहि चाहि कहा बहुबबारन लीनी।
हैं मिर हाथ दियो उनके, उन गोठि कहाँ हँसि आँचर दीनी।

गये हैं—भरत राम से क्या मिलने आ रहे हैं—एक भक्त भगवान से मिलने आ रहा है। मिलने की कल्पना मात्र से कैसा उछाह है, कैसी प्रेमाकुलता।[1] मानस के लक्ष्मण की आशंका अनुमान-जन्य आशंका है (जो जिय होत न कपट कुचाली)[2] उस आशंका का आधार राम के प्रति लक्ष्मण की अपूर्व भक्ति हैं। यहाँ तक कि मानस के राम लक्ष्मण की आशंका को निर्मूल बतलाते हैं। उन्हें भरत के चरित्र पर पूर्ण विश्वास है। रामचन्द्रिका के उस प्रसंग को देख कर रीतिकाकीन साहित्य के मर्मज्ञ और केशव के भक्त दीन जी भी खिन्न हो गये थे।[3]

अतिशय शृंगारिकता

शृंगार रस-राज है, लेकिन इसका अर्थ नहीं की बिना समझे-बूझे उसके विरोधी रसों के साथ भी उसका वर्णन हो। यों तो भिन्न-भिन्न आलम्बनों का अवलम्बन कर एक ही समय में दो परस्पर-विरोधी भावों की व्यंजना की जा सकती है, पर एक ही आलम्बन का आश्रय ग्रहण कर दो विरोधी भाव एक ही समय में उत्कृष्ट नहीं दीखते। शृंगार रस के रसिक केशव ने इस औचित्य पर भी ध्यान नहीं दिया है। यहाँ तक कि केशव का पांडित्य और शृंगार के प्रति उनका व्यामोह अपनी अतिशयता के कारण अत्यन्त अमर्यादित और अश्लील हो गया है। उनके दरबारीपन और रीति-प्रभाव ने उनके कवि को गुमराह कर दिया है। उदाहरणस्वरूप रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में सीता की दासियों का नख-शिख वर्णन देखा जा सकता है। जिस राम के विषय में तुलसी ने 'जेही सपनेहु पर- नारि न हेरी' लिखा है, वही राम केशव की कृपा से सीता की दासियों के नख-शिख-निरीक्षण के

---

१. मंगल सकुन होहि सब काहू, बरकहिं सुखद विलोचन बाहू।
भरतहिं सहित समाज उछाहो, मिलिहहिं रामु मिटिहि दुखदाहू।
करत मनोरथ जस जिय जाके, जाहिं सनेहसुरा सब छाकें।
सिथिल अंग पग, मग डगि डोलहिं, बिह्वल वचन प्रेमवस बोलहिं॥
—अयोध्याकाण्ड।

२. करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करहिं अकंटक राजू।
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोर दोउ भाई॥
जौं जिय होत न कपट कुचाली। केहि सोहात रथ बाजि गजाली॥
भरत हि दोसु देइ को जायें। जग बौराइ राजपद पायें॥
—अयोध्याकाण्ड।

३. इसमें केवल सूखा पांडित्य-प्रदर्शन ही प्रधान है। कैसा समय है और कैसा प्रसंग है, इसका ध्यान कुछ भी नहीं है।
— केशव कौमुदी, प्रथम भाग, पृ० १८९-१९०।

वर्णण मुनने मे रत[1] और तरुणियों के साथ जल-क्रीड़ा करते दीखते हैं।[2] दूसरा दुर्भाग्य यह है कि केशव नख-शिख-वर्णण मे भी अपने अलंकार-कौशल के प्रदर्शन के कारण सफल नही उतरे। अलंकारो की चकाचौंध और शब्दो के तोड-मरोड के बीच कही चित्त को रमाने वाली भावनाएँ नहीं मिलती। जहाँ-जहाँ उन्होने पांडित्य-प्रदर्शन नही किया है, वहाँ-वहाँ की शोभा दर्शनीय है—

१--छबान की छुई न जाति शुभ्र साधु माधुरी[3]
 बिलोकि भूलि-भूलि जात चित्त चाल-आतुरी
२--कुसुम गुलाबन की गलसुई।
 बरनि न जाय न नैननि छुई।।

यहाँ 'साधु माधुरी' विशेषण, 'उनका नेत्रो से भी छूने मे संकोच होना' और 'नैननिछुई' से गलसुई की सुकुमारता का हृदयग्राही वर्णन हो गया है।

कवि-हृदय

कहीं-कहीं हृदय-पक्ष और मस्तिष्क-पक्ष तथा यथार्थ और कल्पना के संगम पर केशव के कवि-हृदय की शक्ति का पता चलता है। उदाहरण-स्वरूप यह कथन देखा जा सकता है--

कचन के भार कुचभारन सकुचभार
लचकि-लचकि जात कटितट बालके।

एक ओर, सहज संकोच के हेतु बालिका का सीधी न खडी होकर कमर में बल पैदा करती चलना और दूसरी ओर, सकोच का बोझ हृदय पर न दिखलाकर, उसे शरीर पर दिखलाकर कवि ने अपनी कल्पना-शक्ति का परिचयदिया है।

करुण प्रसंगों की अवहेलना

सहृदयता और भावुकता का स्वरूप आँसू के तुनुक दर्पण में स्पष्ट दीखता है। भावुक और सहृदय कवि अपने काव्य-नायक या नायिका की वेदना और करुणा से द्रवीभूत हुए बिना नही रह सकता। पर केशव ने राम के जीवत के

---

१. रामचन्द्रिका,सम्पादक, लाला भगवान 'दीन',

—३१ वाँ प्रकरण, पृ० २०७।

२. रा‌‍सुंग शुक एक प्रवीनो। सीयदासि गुण वर्णन कीनो।

—वही, पृ० ११?

३. वही, पृ० २०७।

करुण प्रसंगों की अवहेलना कर दी है। जिस स्थल पर तुलसी ने हृदय उड़ेल दिया है, वहां के प्रसंगों को केशव ने चलता कर दिया है। राम-सीता-लक्ष्मण के वन-गमन के बाद न तो दशरथ की, न अयोध्या की प्रजा की, न कौशल्या की ओर न सुमित्रा की वेदना का चित्रण किया गया है। सीधे 'विपिन मारग राम विराजहि, कहकर कवि ने अपनी हृदयहीनता का परिचय दिया है। इतना ही नहीं, हनुमान द्वारा अशोक-वन में सीता राम की अंगूठी पाकर मानों रोने की फर्ज-अदायगी करती है।[1] उनके मन के उठते भावों, अनुराग, चिन्ता, हर्ष आदि का वर्णन नहीं है। रोती सीता का संकेत कर कवि मुद्रिका में संबद्ध अलंकारों के घटाटोप में पाठकों को रस--वंचित कर देता है। यदि है तो केवल सीता की चातुरी और हनुमान की जाँच-पड़ताल आदि की मेधा।

अलंकारों के सुप्रयोग

कहीं-कहीं अलंकार भावाभिव्यंजन में सहायक सिद्ध हुआ है। वहाँ कला-पक्ष और हृदय-पक्ष के संतुलन की दिशा में कविता का स्वाभाविक रूप विकसित हुआ है। जैसे सीता की दी हुई चूड़ामणि पाकर हृदय में एक ओर परमानन्द उमड़ता है। और दूसरी ओर सीता के पता लगने से कर्त्तव्य मार्ग का निश्चय मालूम पड़ता है—फूलि उठ्यो मनेज्यो निधि पाई। मानहूं अंध सडीठि सुहाई'।[2] किन्तु फिर अग्नि-प्रवेश के समय सीता के मनोभावों का, लक्ष्मण, राम और अन्य पुरजनों की प्रतिक्रियाओं का कुछ भी वर्णन न कर केशव उत्प्रेक्षा, सदेह आदि की योजना कर भुजंगप्रयात, उपेन्द्रवज्रा और मत्तगयन्द सवैया छंदों में अपना पांडित्य दिखलाने लगते हैं।[3]

रामचन्द्रिका के कुछ ऐसे स्थल भी है, जिनमें केशव की सहृदयता और भावुकता का पता चलता है। मेघनाथ के वध पर रावण का विलाप, विश्वामित्र को राम-लक्ष्मण सौंपते समय दशरथ का तथा चित्रकूट में माताओं का मौन, युद्ध-चित्रण में भयानक रस की निष्पत्ति आदि अंशों को अपवाद के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। राम के सामने भी अपनी हार नहीं मानने वाले वीर रावण का सम्पूर्ण अधिकारों को छोड़कर एक सामान्य पिता की तरह विलाप करना अत्यन्त स्वाभाविक और हृदय-द्रावक है—

१. आस अहह्रय उरलाय मुंदरी लई—वही, तेरहवां प्रकरण, पृ० २८०।

२. वही, चौदहवां प्रकाश, पृ० ३०२।

३. वही, पृ० ४१८-४२१।

आज आदित्य जल पवन पावक प्रवल,
चद आनन्दमय त्रास जगको हरौ,
गान किन्नर करौ, नृत्य गंधर्व-कुल,
यक्ष विधिवक्ष उर, यक्षकर्दमधरौ,
ब्रह्म रुद्रादि दै, देव तिहु लोक के,
राजको जाय अभिषेक इन्द्रहि करौ।
आजु सिय राम दै, लंक कुल दूषणहिं,
यज्ञ को जाप सर्वज्ञ, विप्रहु वरौ।[1]

अप्रस्तुत प्रशंसा के सहारे रावण की इस उक्ति की एक गहरी छाप पाठकों पर पडती है। विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण के जाने पर केशव के दशरथ मौन रहते हैं। उनके मौन-धारण के द्वारा पीड़ा की अतिशयता का द्योतन होता है—'पायन परि ऋृषि के सजि मौनहिं। केशव उठि गये भीतर भौनहि।'[2] इसी कला का उपयोग चित्रकूट मे भी किया गया है। अपनी माताओं से रामचन्द्र जब पिता का कुशल पूछते हैं, तब वे मौन हो जाती है और फिर फूटकर रो पड़ती है।[3]

कौशलपूर्ण वर्णन

राजदरबार में रहने के कारण राजाओं के वर्णन एवं युद्धचित्रण की सजीवता में केशव कुशल दीख पड़ते है।[4] एक विचित्रता यह है कि केशव ने राम-रावण-युद्ध से भी अधिक भयानक चित्रण लव-कुश-राम-युद्ध का किया है। वीर तथा रौद्र रस के साथ बालक लवकुश की वीरता और दर्प-भरी उक्तियों की मनोहारिता दर्शनीय है। परशुराम का जनकपुर की धनुष-यज्ञ सभा में राम के धनुष को तोडने के बाद आने पर वहाँ के वीरों की स्थिति का वर्णन कर केशव ने भयानक रस का सफल चित्रण किया है[5]—

---

१. वही, दसरा प्रकाश, पृ० ३८
२. वही, दूसरा प्रकाश, पृ० ३८
३. तव पूछियो रघुराई। सुख है पिता तन माई॥
तव पुत्र को मुख जोई। क्रमते उठी सब रोई॥
—वही, दसवाँ प्रकाश, पृ० १९१
४. केशव राजकवि थे। रामराज्य के सम्बन्ध मे राजपाट का ऐसा वर्णन किया है कि वैसा वर्णन चन्दवरदाई को छोड कोई भी दूसरा कवि नहीं कर सका।
—दीन, रामचन्द्रिका का वक्तव्य, पृ० ३
५. वही; सातवाँ प्रकाश, पृ० १२१

अनूदित अंशों के भी अकलात्मक प्रयोग

कहीं-कहीं संस्कृत-ग्रंथों से शब्दों और भावों के शाब्दिक अनुवाद तो केशव ने प्रस्तुत कर दिए हे, पर यह ध्यान नहीं रखा है कि वे प्रसंगानुकूल और और रसोत्पत्ति मे सहायक है या नही। जैसे, रावण और महोदर के सम्वाद को हनुमन्नाटक से ग्रहण तो किया, किन्तु केशव ने यह ध्यान नहीं दिया कि रावण का अपने दूत महोदर द्वारा राम की अतिशय प्रशंसा सुनकर भी मौन ग्रहण करना, कितना अस्वाभाविक है। इसी तरह जयदेवकृत प्रसन्नराघव नाटक के अनुसार रामचन्द्रिका के तीसरे, चौथे, पाँचवे और सातवें अंकों के कथाक्रम ही नहीं अपनाये गये है बलिक इन अंकों में उक्त नाटक की बहुत सारी सरस पंक्तियो और स्थलों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये है।

केवल नाम-परिवर्त्तन

रामचन्द्रिका के धनुर्यज्ञ-प्रसंग में दो बन्दीजन द्वारा आगत नृपो का परिचय देना भी प्रसन्नराघव के प्रथम अक के आधार पर वर्णित है। परिवर्त्तन है तो केवल उन दो बन्दीजनो के नामों में! पूरक और मजीरक की जगह रामचन्द्रिका मे उनके नाम हैं—सुमति और विमति।

आदर्श और अनुकरण के भिन्न स्तर तथा केशव और तुलसी में अन्तर

हनुमन्नाटक की भाँति ही केशव ने सीता-स्वयंवर के अवसर पर वाणसुर-रावण-सम्वाद, रावण की प्रतिज्ञा, विश्वामित्र-जनक सम्वाद, रावण की राजनैतिक दक्षता आदि चित्रित की हैं। वस्तुतः केशव ने अपने सामने आदर्श रखा है वाल्मीकि का और अनुसरण किया है संस्कृत नाटकों का। प्रभाव तो तुलसी पर भी है हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव का; पर तुलसी ने अपनी प्रतिभा और मोलिकता से उन गृहीत सामग्रियो मे भी चार चाँद लगा दिये हे। केशव या तो अपनी आलंकारिकता और चमत्कार-प्रदर्शन के पीछे दीवाने रहे या इस सत्य के प्रमाण देते रहे कि उन्होंने संस्कृत-साहित्य का कितना विस्तृत अध्यन किया है। केशव की रामचन्द्रिका बहुत हद तक उनके संस्कृत-ज्ञान का सूची-पत्र बन गयी, पर तुलसी का संस्कृत-ज्ञान उनकी रामायण का शृंगार बन गया। तुलसी ने स्थान-स्थान पर अपने आधार-ग्रंथो के दूषणों का परित्याग कर साभिप्राय सौन्दर्यबोधक परिवर्त्तन किये है। जैसे प्रसन्नराघव में सीता के 'चन्द्रहास हरमे परितापम्' रामचन्द्र विरहानल जातम्' को तुलसी ने 'चन्द्रहासहरुमम परितापं रघुपति-विरह अनल संजातं' कर दिया है। इस प्रकार सीता अपने पति का नाम लेने से बच गयी है।

कौशलहीन आचार्यत्व

निष्कर्ष यह कि रामचन्द्रिका मे केशव अपने कवित्व का उच्च रूप प्रस्तुत नही कर सके। उनका आचार्य रूप और संस्कृत-ज्ञान उनके लिये वरदान नही बन सके, अभिशाप बन गये। वे एक सहृदय कवि और भावुक प्रबन्धकार के रूप मे अपनी रामचन्द्रिका के चरित्रो का न तो मनोवैज्ञानिक चित्रण कर सके, न मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन कर पाठको के हृदय मे रसोत्पत्ति कर सके और न अपने संस्कृत के अध्ययन और पांडित्य के विशाल-सागर से कुछ अनमोल मोती ही निकाल सके। अलकारवादी और चमत्कारवादी केशव का यही दुर्भाग्य हिन्दी साहित्य के सबसे बदनाम काल रीतिकाल का बहुत अंशो मे पथ-प्रदर्शक बना। केशव की राम-कथा मे उनका कोरा पांडित्य बेमेल लगता है।

प्रबन्ध की कसौटी पर

प्रबन्ध काव्य के लिये तीन बाते अनिवार्य मानी गयी है—सम्बन्ध-निर्वाह, कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलो को पहचान और दृश्यों की स्थानगत विशेषता (लोकल कलर)। शुक्लजी के शब्दो मे 'सम्बन्ध-निर्वाह की क्षमता केशव मे न थी। उनकी रामचन्द्रिका अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह सी जान पड़ती है।'[१] मार्मिक स्थलों की पहचान के अभाव के कई उदाहरण दिये जा चुके है। केशव ने राम-कथा की संक्षिप्तता और विस्तार के औचित्य पर ध्यान ही नही दिया है। जहाॅ वर्णन अनावश्यक है, वहाँ व्यर्थ का प्रदर्शन है और जहाॅ मानव-मनोभावो के चित्रण की आवश्यकता है, वहाॅ लाघव से काम लिया गया है। पहले तथ्य के उदाहरण-स्वरूप अनेक प्रसंग हैं—इक्कीसवें प्रकाश में सनाढ्योत्पत्ति-वर्णन, उन्नीसवें प्रकाश मे चोगान-वर्णन, तीसवें प्रकाश मे छप्पन प्रकार के भोजनो का वर्णन, चोतीसवें प्रकाश मे सनाढ्यद्विज-आगमन-वर्णन, मथुरा-महात्म-वर्णन आदि आदि। अंगद की मर्यादा का भी ध्यान कवि ने नही रखा है। उसके द्वारा मन्दोदरी के बाल पकडकर चित्रशाला से बाहर लाते समय उसके कंचुकी-रहित उरोजो के वर्णन का उद्देश्य सिवा कामुकता के और क्या हो सकता है![२]

अस्वाभाविकता और हृदय-हीनता

इसके विपरीप, परशुराम-राम-सम्वाद के बीच झगड़ा होने पर महादेव का आकर समझना-बुझाना तथा चित्रकूट मे भागीरथी का प्रकट होकर भरत को

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २१० ।

२ उन्नीसवां प्रकाश, पृ० ४०५

समझाना अनावश्यक रूप में कथा को सांक्षत कर उसकी मार्मिकता नष्ट कर देते हैं। शील-निरूपण के क्षेत्र में भी कवि ने हीन व्यक्तित्व का परिचय दिया है। राम की नाक-झाँक और नख-शिख की बात पहले लिख आया हूं, तनिक भरत के चरित्र को देखें! जिस भरत के चरित के सम्बन्ध में तुलसी के राम ने 'भरतहि होइ न राजमद विधि हरिहर पद पाइ' कहा है, उसके सम्बन्ध में केशव के राम शंका करते हैं, वे लक्ष्मण को वन न जाकर घर रहने का इसलिये आदेश देते हैं कि वे एक तो माँ-बाप का दुख हरें, उनकी सेवा करें और दूसरे भरत की करनी पर विचार करें। यदि वे माताओं को, राज्य को या लक्ष्मण को दुख दें तो वे चुपचाप सह लें—

धाम रहो तुम लक्ष्मण राज की सेवा करो।
मातन के सुनि तात! सुदीरघ दुःख हरो॥
आय भरत्थ कहा धौ करैं जिय भाय गुनो।
जो दुख देयँ तो लै उर गो यह सीख सुनो॥[1]

भरत के जिस आदर्श चरित्र और ऊँचाई के भाव हमारे संस्कार में सुरक्षित हैं, उनके सम्बन्ध में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की यह शंका कवि की हृदयहीनता का परिचायक है।

कथा-सूत्र

कथा-सूत्र का क्रम भी टूट गया है। दशरथ राम को राज्य देने की बात सोच ही रहे हैं कि कैकेयी उन्हें झट वन भेजने की बात सोच लेती है—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊं बन रामहि बुद्धि गुनी॥
तेहि मंदिर मो नृप सो विनयो। बरदेहु हुतो हमको जुदयो॥
नृप बात कही हँसि हेरि दियो। वर मांगि सुलोचनि मैं जुदियो॥
नृपता सुविसेस भरत्थ लहै। बरषै बन चौदह राम रहै॥[2]

फिर पात्रों की मनःस्थिति का सूक्ष्म चित्रण किए बिना पुत्र-धर्म-वर्णन, विधवा-धर्म-वर्णन आदि व्यर्थ के प्रसंगों में कवि अपना समय नष्ट करता है। राम-वन-गमन प्रसंग भी अस्वाभाविक है। पता नहीं कैसे राम को वन-गमन की बात मालूम होती है कि वे सहसा, यह कह उठते हैं—

उठि चले विपिन कहँ सुनत राम, तजि तात-मात, तिय बन्धु धाम।

---

१ नवा प्रकाश, पृ० १७०
२ नवा प्रकाश, पृ० १६१

मानो, राम पहले से ही सब कुछ जान समझ रहे थे ! फिर राम सीता-लक्ष्मण को साथ लेकर माता-पिता परिजन-पुरजन से मिलते विदा लेते नही दीखते है । सहसा 'विपिन मारगु राम विराजहि' लिखकर केशव ने कथा को चलता कर अपनी भावहीनता का परिचय दिया है । दशरथ-मरण जैसे हृदय-द्रावक दृश्य का भी अभाव है ।

चरित्र के शील का अभाव

रीतिकालीन मुद्रा का एक चित्र राम और सिता के वन-गमन के समय दीखता है । सीता के श्रम को राम वल्कल-वस्त्र को झल कर दूर कर रहे है और बदले मे सीता बाँकी चितवन से हेर कर श्रीराम का श्रम मिटाती हैं । राम-सीता के चरित्र का यह विपरीत-कर्म भारतीय पाठकों को सुरुचिपूर्ण नहीं लगता—

मगको श्रम श्रीपति दूर करें सिय को, शुभ बाकल अंचल सों
श्रम तेऊ हरै तिनको कहि केशव चचल चारु दृगंचल सों ॥[1]

तुलसी की सीता और केशव को सीता की तुलना मे एक उदाहरण पर्याप्त है । केशव की सीता 'मारग रजअतितापित' होने के कारण 'ज्यौं पदपकज ऊपर पायनि दै' चलती हैं और उन्हे वह सुखदायिनी प्रतीत होती है—

मारग को रजतापित है अति, केशव सीतहि सीतल लागति ।
ज्यौं पदपंकज ऊपर पायनि दै जु चलैतेहिते सुखदायिनी ॥

पर तुलसी की सीता श्रद्धातिरेक से राम के पग-चिह्नों पर पैर तक नही रखती है—'प्रभुपद रेख बीच बिच सीता । धरति चरन मग चलति सभीता ।'[3] फिर 'सीयाराम पद चिह्न बराये, लषन चलहि मगदायें-बायें ।'

मानस की कौशल्या के चरित्र का पतन भी द्रष्टव्य है । आदर्श मातृत्व, आदर्श पत्नीत्व और आदर्श त्याग के स्थान पर रामचन्द्रिका की कौशल्या की यह खीझ कितनी निम्नकटि की है—

---

१. नवां प्रकाश, पृ० १८०
२. नवा प्रकश, पृ० १७६
३. अयोध्याकाण्ड

अवधपुरी मह गाज परै
कै अब राज्य भरत्थ करै ।[1]

काल-दोष

आलंकारिता और चमत्कार-प्रदर्शन के कारण रामचन्द्रिका में कुछ काल-दोष भी आ गये हैं। दंडक वर्णन के प्रसंग मे केशव द्वारा पांडव का उल्लेख इस बात की अवहेलना है कि वे कृष्णावतार के समय हुए थे, रामावतार के बहुत बाद। उसी तरह उन्नीसवें प्रकाश में नृसिंह अवतार और भक्त प्रह्लाद की कथा अनुचित है। रामचन्द्रिका में यवनो और जैनियों, तथा वाममार्गियो के वर्णन भी कालदोष के अन्तर्गत आते है।

महाकाव्य के शास्त्रीय नियमों के बावजूद

तात्पर्य यह कि महाकाव्य के सभी स्थूल नियमो का बहुत अंशों मे पालन करने पर भी केशव की रामचन्द्रिका मे महाकाव्योचित गरिमा का अभाव हैं; क्योंकि कथा में आनुपातिक विस्तार नही है, चरित्र-चित्रणो मे न तो लोक-शिक्षा का आदर्श है, न धार्मिक या दार्शनिक सिद्धान्तो का निर्वाह। न महत् उद्देश्य का सम्यक् विस्तार है और न कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान। है तो केवल पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकार-चमत्कार।[2] इस पर भी दुखद बात यह है कि इतना अधिक पांडित्य होने पर भी केशव रीति-शास्त्र के या काव्य-शास्त्र के अधिकारी विद्वान नहीं माने गये।[3]

फलतः वे न लोकप्रिय सिद्ध कवि हुए और न मान्य आचार्य ही।

---

१. नवां प्रकाश, पृ० १६३

२—यथार्थ में केशव का उद्देश्य चमत्कारपूर्ण कविता करना और कवियों को शिक्षा देना था। गंभीर शास्त्रीय रीति मे काव्यांगो का विवेचन कर कोई सिद्धान्त खड़ा करना नहीं। उसका कारण यह था कि केशव का उद्देश्य न तो काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों का गहराई के साथ विवेचन करना ही था और न रस को बहानेवाली कविता लिखना ही, वरन् संस्कृत के ज्ञानभंडार को सामने रखना ही उन्हें अभीष्ट था।

—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ५३

3. It is also a fact that Keshava a great master of poetics with suffieint originality could not attract people to follow him. There is hardly to be found any poet or scholar Hindi who is ready to recognise his authority and accept his view on Poetics.

—Evolution of Hindi poetics · Dr. S Shukla.

शिल्प की दृष्टि से सफलता केवल सम्वाद में

शिल्प की दृटि से रामचन्द्रिका के सम्वादो की योजना सुघर है। राम-चन्द्रिका की सम्वाद-योजना में राजकीय मर्यादा का विशेष ध्यान रखा गया है।

कथनोपकथन या सम्वाद नाटक, उपन्यास और प्रबन्धकाव्य का एक ऐसा तत्त्व है, जो उसमे रोचकता और सजीवता भर कर उसे प्राणवान बना देता है। भारतीय वाङ्मय में उपनिषद् पुराण और वाल्मीकीय रामायण के युग से लेकर आजतक सम्वादो का उपयोग अल्पाधिक मात्र में किया गया है। सम्वादो की योजना से पात्रों में स्वाभाविकता आ जाती है और पाठक इससे अपनी निकटता का अनुभव करते है। ऐसी अवस्था में पाठकों और पात्रों के बीच लेखक प्रत्यक्ष रूप से नहीं रहता है, पर उसका व्यक्तित्व उन पात्रो मे समाहित होता है। दृश्य काव्य जहाँ मुख्यत: सम्वादों पर निर्भर करता है, वहॉ श्रव्य-काव्य में उपयुक्त और आवश्यक स्थलों पर ही उनकी योजना की जाती है। ऐसा करने से श्रव्यकाव्यकार अपने पात्रों का स्वरूप पाठको के सम्मुख उपस्थित कर देता है। सम्वादों के कारण चरित्रांकन होता है, भावचित्रण मे क्षिप्रता आती है और जिन बातो के वर्णन में कई पृष्ठ लग सकते थे, उन्हे पात्रों के पारस्परिक संलाप द्वार सुविधापूर्वक, चुस्ती के साथ व्यजित किया जा सकता है।

रामचन्द्रिका केशव के पांडित्य-प्रदर्शन और अतिशय अलंकार-छंद-प्रियता क कारण हीन भले ही समझा जाये, लेकिन अपनी सम्वाद-योजना की कला के कारण वह आज भी अपना विशेष महत्त्व रखती है। रामचन्द्रिका के चरित्र-चित्रण अमनोवैज्ञानिक और शिथिल है, पर उसके सम्वाद इतने उपयुक्त और मॅजे हुए हैं कि जहॉ-जहाँ उनके प्रयोग हुए हैं, वहॉ-वहॉ काव्योत्कर्ष बढ़ गया है।

बहुत संभव है, इस दिशा में केशव की सफलता का कारण उनका दरबारी-पन हो। राजनीति और कूटनीति से भरे प्रसंगों और बार्तालाप मे शिष्टता एवं चुस्ती के वे जानकर थे। केशव ने अधिकांश रूप से उन्हीं स्थलो पर साम्वादो की योजना की है, जहॉ पात्रों की कूटनीतिज्ञता एवं व्यंग्य से भरी बातों की गुंजाइश है। तुलसी को भॉति गभीर मनोवृत्तियाँ के चित्रण करते घमय इन्होंने सम्वादों की योजना नही की है। जैसे, रामचद्रिका के चित्रकूट-प्रसंग के उपयुक्त अवसर पर राम-भरत सम्वाद का अभाव है। दशरथ और कैकेयी के वार्त्तालाप का मनोवैज्ञानिक-चित्रण भी उपस्थित नही किया गया है।

रामचन्द्रिका के निम्नलिखित सम्वाद प्रमुख हैं—

दशरथ-विश्वामित्र-संवाद, वशिष्ठ-दशरथ-संवाद, रावण-वाणासुर-संवाद, जनक-राम-विश्वामित्र-संवाद, राम-परशुराम-संवाद, परशुराम-वामदेव-संवाद, राम-कौशल्या-संवाद, शूर्पणखा-राम-लक्ष्मण-संवाद, रावण-हनुमान-संवाद, रावण-अंगद-संवाद, सीता-रावण-संवाद, लव-कुश-शत्रुघ्न-संवाद, विभीषण-अंगद-संवाद आदि-आदि ।

संवादों की पृष्ठभूमि में चारित्रिक विशेषताओं का ध्यान रखा गया है । जिस दशरथ के हृदय के द्वन्द्व का चित्रण राम-वन-गमन की घटना के संक्षिप्तरूप के कारण रामचन्द्रिका में नहीं हो सका है, उसी दशरथ के विषय में विश्वामित्र और दशरथ-प्रसंग में केशव ने राम-लक्ष्मण की विदा करते समय 'राम चलत नृप के युगलोचन, बारिभरित भय बारिद लोचन' कहकर उनके पितृ-हृदय का अच्छा परिचय दिया है । यह करुणपरिवेश विश्वामित्र-दशरथ-संवाद को मार्मिक बना देता है ।

राम-परशुराम-संवाद में राम की उच्चता, श्रद्धा-भावना एवं संकोचशीलता का परिचय दिया गया है । उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में क्रमिक रूप से क्रोध का विकास दिखलाया गया है । धीर राम को गुरु-निन्दा सुनकर क्रुध होते चित्रित किया गया है, अपनी निन्दा से नहीं । जब परशुराम यह कहते हैं कि 'गाधि के नन्द तिहारे गुरु गिनगे ऋषि-वेश किये उबरे हैं' तब राम भी उत्तर देते हैं,—'भृगुनन्द संभारुकुठार मैं कियो सरासनयुक्त ।'

परशुराम-वामदेव-संवाद में व्यंग्यपूर्ण उक्ति और वाग्विदग्धता मिलती है । जब परशुराम राम के प्रति जानबूझकर अनभिज्ञता प्रकट करते हैं तब वामदेव बड़ी कुशलता से राम के महत्व का प्रतिपादन करते हैं—

परशुराम—यह कौन को दल देखिये ?

वामदेव —यह राम को प्रभु लेखिये ।

परशुराम—कहिकौन राम न जानियो ?

वामदेव —सर ताड़का जिन मारियो ।

परशुराम—ताड़का संहारी, तियन विचारी, कौन बड़ाई ताहिहने ?

वामदेव—मारीच हुतो संग, प्रबल सकलखल अरु सुबाहु काहू न गने ।

करिक्रतु रखवारी, गुरु सुखकारी, गौतम की तिय शुद्ध करी ।
जिनहरधनु खंड्यो, जगयश मंड्यो, सीय स्वयंवर मांझ बरी ।।[१]

जहाँ तुलसी रावण-अंगद-सवाद को अपनी अतिशय भक्ति-भावना के कारण अस्वाभाविक बना डालते हैं, वहा रामचन्द्रिका का अंगद राजकीय मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखता है । यहां अंगद अपने को एक दूत से अधिक कुछ भी नहीं समझता है और रावण जैसे प्रतापी राजा के सामने ससम्मान बातें करता है और रावण की कूटनीति एवं दावों को अच्छी तरह बचाते हुए समुचित उत्तर देता है ! यहाँ तक कि वह रावण की पत्नी के प्रति भी उचित सम्मान प्रकट करता है—यथा, देवि मंदोदरी, कुम्भकर्णादि दै, मित्र मंत्री जिते पूछि देतौ सबै।' रावण के अवगुणो के वर्णन मे कथन के विशेष शिल्प का प्रयोग किया है—प्रश्न के रूप मे दुर्गुणों का बखान है—

कौन के सुत ? बालिके, वह कौन बालि, नजानिये ?
काँख, चापि तुम्हे जो सागर सात न्हात बखानिये ।

मानस के अंगद की भाँति चन्द्रिका का अंगद रावण को दांत मे तृण गबा कर, गले मे कुठार लटका कर सपरिवार राम की शरण में जाने को नही कहता है ।[२] रामचन्द्रिका का अंगद तो इतना ही कहता है—

राखिये जातिको, पाँतिको, बंसको, गोत को साधिए लोक, परलोक को।
आनिकै पाँ परौ देसलै, कोसलै, आसुही ईस सीता चले ओक को ।।[३]

मानस का अंगद उत्तर-प्रत्युत्तर के क्रम में नही, बिना प्रसंग के ही बालि आदि की कथा सुनाता है और रावण चुपचाप एक निष्क्रय श्रोता की भाँति सब कुछ सुनता है । पर यहाँ अंगद द्वारा शरण में जाने की बात सुनकर रावण दर्पपूर्ण उक्ति कहता है—

ताहि हौं छोड़िकै पाँय काके परौं
आजु संसार तौ पाँय मेरे परे ।।

---

१. सातवां प्रकाश, पृ० १२४ ।

२ दसन गहहु तृण कंठ कुठारी । परिजन सहित संग निजनारी ।।
सादर जनकसुता करिआगे । यहि विधि चलहु सकल भये त्यागे ।।

३. सोलहवां प्रकाश, पृ० ३४०

उत्तर-प्रत्युत्तर की योजना में केशव की संवाद-कला में एक कथा आ खड़ी होती है। इसकी योजना में केशव की तल्लीनता का यह फल भी देखने को मिलता है कि वे वक्ता का संकेत करना ही भूल जाते हैं। नाटकों मे तो पात्रों के नाम होते हैं, पर यहाँ वह भी नही है। प्रभाव तो केशव पर संस्कृत नाटककारों का है, पर रामचन्द्रिका मे बिना विशेष ध्यान दिए, कहीं-कही यह जानना कठिन हो जाता कि कौन-सी उक्ति किसकी है। फिर भी इतना मानना ही पड़ता है कि संवादों की योजना का शिल्प-विधान उनमे अन्तर्हित वाग्विदग्धता और रीति-नीति की दृष्टि से सुघर है।

चतुर्थ प्रकरण

आधुनिक काल में महाकाव्य की प्रेरणाएँ तथा परिवेश एवं आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कथा-शिल्प

आधुनिक काल में महाकाव्य की प्रेरणायें तथा परिवेश



नयी संभावनाएँ, नये विचार और ज्ञान-विज्ञान के क्षितिज का अन्वेषण करता जो युग आया, उसे आधुनिक काल के नाम से अभिहित किया जाता है। उन्नसवीं शताब्दी का प्रारंभ साहित्य के क्षेत्र में नये मूल्यों का उद्योतन करता आया। विषय, भाषा, भाव, शिल्प—सभी दृष्टियों से साहित्य की प्रत्येक विधा में परिवर्तन का आभास मिलने लगा। इसके कुछ पूर्व के कवि न तो अपने इतिहास को स्मरण रख सके थे, न वे आर्यों की वीरता से प्रभावित थे। मरणशील युग के वे आलंकारिक कवि अपनी रचनाओं में इस तथ्य का आभास भी नहीं दे पाते थे कि देशवासी नैतिकबल से हीन हो रहे थे। आत्मिक तेज का सर्वथा ह्रास हो गया था। पिछले दो सौ वर्षों तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जो शासन या समाज या धर्म की दिशा में होनेवाले अन्यायों के प्रति खुलकर विद्रोह कर सके। एक पतनशील सांस्कृतिक वृत्त के बाहर कदम रखने की प्रेरणा ही किसी कवि में नहीं थी।

आधुनिक काल में इन संकीर्णताओं के विरुद्ध विद्रोह का स्वर फूटा। रीति-काल की शारीरिक वासना की जगह मानसिक, सामाजिक और राजनैतिक चेतना का जन्म हुआ। इस काल के साहित्यकारों के मस्तिष्क की आँधी ने विद्रोह और क्रान्ति का रूप धारण किया।

आधुनिक काल को प्रभावित करनेवाली मुख्य घटनायें—आधुनिक काल को प्रभावित करनेवाली प्राचीन और तत्कालीन प्रमुख घटनाएँ और तथ्य निम्नलिखित हैं:—१—फ्रान्स की राज्यक्रान्ति, २—इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति, ३—दमामी बन्दोवस्त, ४—कलकत्ता में सबसे पहला अँग्रेजी स्कूल, ५—मेकॉले की शिक्षण-संस्था, ६—राम मोहन राय, ७—सती-प्रथा पर रोक, ८—बंगाल ऐसियाटिक सोसाइटी, पुरातत्त्व विभाग और थियोसिफिकल सोसाइटी का स्थापना, ९-अभिलेखों का पढ़ा जाना, १०-विदेशियों द्वारा भारत-प्रशस्ति, ११—पश्चिम के संसर्ग से ज्ञान-विज्ञान का प्रचार, १२—बुद्धिवाद के प्रचार के कारण अन्धविश्वासों का नाश, यथार्थवाद की ओर प्रवृति, स्वच्छन्दतावाद का स्वागत, १३—विदेशी एवं अन्य स्वदेशी भाषाओं के सम्पर्क से दृष्टि-

विस्तार, १४—इन्डियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना और राष्ट्रीय भावना की जागृति, १५—स्वदेशी आन्दोलन और गाँधीवाद का प्रभाव, १६—दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज द्वारा राष्ट्रीय गौरव के भाव और सुधारवादी दृष्टि-कोण का प्रचार, १७—१९०८ मे रूस पर जापान की विजय द्वारा पूर्व की विजय से एक उत्साह का भाव, १८—प्रथम युद्ध द्वारा विश्व के व्यापक रूप के प्रति जिज्ञासा का उदय और अँग्रेजी के अतिरिक्त अन्य विदेशी साहित्यों के प्रति रुचि, १९ नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन आदि हिन्दी संस्थाओं की स्थापना, २०—सरस्वती का प्रकाशन और महावीर प्रसाद द्विवेदी का सम्पादन आदि-आदि।

इन घटनाओं का प्रभाव—फलत. हिन्दी-साहित्य मे सर्वतोमुखी विकास की किरणें फूट पड़ी। ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली ने कविता के क्षेत्र मे शनैः शनैः पदार्पण प्रारंभ किया। पद्य-प्रधान हिन्दी-साहित्य गद्य की ओर भी उन्मुख हुआ। विषय-वस्तु शृंगार के क्षेत्र से निकल कर जीवन की विविध समस्याओं की ओर फैली। काव्य की प्रायः सभी शैलियाँ नये रूप में प्रयुक्त होने लगी।

आधुनिक काल की प्रमुख विशेषताएँ

आधुनिक काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

१—गद्य का विकास—नये-नये ज्ञान की उपलब्धि, पाश्चात्य-साहित्य के विभिन्न अंगो से परिचय, पाठ्य-पुस्तकों की आवश्यकता और मुद्रण-यन्त्र की सुलभता के कारण।

२—देश के मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की नयी भूख।

३—स्वाधीन चिन्तन का विकास।

४—गद्य-पद्य की एक भाषा के लिये आन्दोलन—खडी बोली का प्रमुख आन्दोलन।

५—साहित्यिक नियमों की अवहेलना।

६—इतिहास की ओर झुकाव।

७—अतीत-गौरव।

८—कर्म की अनिवार्यता का ज्ञान।

९—राष्ट्रीयता के साथ ही विश्व-बन्धुत्व का विकास।

१०—कविता मे वैयक्तिकता (सब्जेक्टिविटी) की वृद्धि।

११—प्रकृति-वर्णन मे नवीनता।

१२—उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति।

१३—प्राचीन मान्यताओ के प्रति शंकित दृष्टि—नये समाधान।

आधुनिक हिन्दी कविता का काल-विभाजन--आधुनिक-युग की हिन्दी-कविता का प्रथम उत्थान भारतेन्दु-युग से, द्वितीय उत्थान द्विवेदी-युग से, तृतीय उत्थान छायावाद-युग से तथा चतुर्थ उत्थान प्रगतिवाद-युग मे प्रारंभ होता है। हम पाँचवें उत्थान को नयी कविता का युग कह सकते है। यदि हम प्रगतिवाद को छायावाद की प्रक्रिया का परिणाम और नयी कविता को एक प्रयोग मानें, तो १९१८ से अबतक कविताओ को इन रूपों में स्वीकार कर सकते है—छायावाद काल, छायावाद की प्रक्रिया के परिणाम का काल और प्रयोग-काल। द्वितीय महायुद्ध के बाद की रचनाओं में एक नये स्वर को गूंज सुनायी पड़ने लगी थी। अत: छायावाद-युग के बाद की रचनाओं को द्वितीय महायुद्ध के बाद की रचनाओं के रूप मे भी स्वीकार किया जा सकता है।

महाकाव्य की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की असमर्थता—यह ठीक है कि भारतेन्दु-युग मे ब्रजभाषा सुबोध हुई, खडी बोली की रचनाओं का प्रारंभ हुआ, विषयों की संख्या बढी, देशभक्ति का स्वर फूटा, जन-साहित्य की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ, प्रगति-शील दृष्टिकोण के दर्शन हुए और साहित्य के विविध रूपों में विकास दृष्टिगत हुए, पर महाकाव्य की दृष्टि से यह युग नितान्त अयोग्य सिद्ध हुआ। यह मुक्तक का काल था। इस युग में वीरगाथा, भक्ति तथा रीतिकालों का प्रभाव एक साथ दिखाई पड़ा; पर जो सबसे बड़ी विशेषता इस युग की थी, वह थी इन प्राचीन प्रभावों के बीच से नवीन राह का अनुसधान। भारतेन्दु प्राचीन और नवीन की कड़ी थे। प्रयोग और विकास के इस काल मे स्थिर होकर महाकाव्य के प्रणयन पर किसी का ध्यान ही न गया। वस्तुतः सम्पूर्ण उन्नीसवी शताब्दी का साहित्य पारस्परिक प्रोत्साहन और साहित्यिक मंडली की कृति है। इसीलिये डा० श्रीकृष्णलाल ने इस समय के साहित्य को 'गोष्ठी-साहित्य' माना है।[1] उन्नीसवी शताब्दी उत्तरार्द्ध

१. उन्नीसवी शताब्दी का हिन्दी साहित्य मूलतः एक गोष्ठी-साहित्य था, जिसे कुछ इने-गिने साहित्यिक ही समझ सकते थे।

—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १५

में दो महाकाव्य-(रघुवीर सिंह कृत 'राम-स्वयंवर' और 'रुक्मिणी परिणय') लिखे भी गये, तो नितान्त हीन कोटि के। उनमें पिष्ट-पेषण और चर्वित-चर्वण के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

महाकाव्य की दृष्टि से द्विवेदी-युगीन-समर्थता—आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों की दृष्टि से द्विवेदी युग का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य, 'प्रियप्रवास' और आधुनिक-युग का सर्वाधिक लोकप्रिय महाकाव्य 'साकेत' इसी काल में लिखे गये। इन दोनों महाकाव्यों के अतिरिक्त रामचरित उपाध्याय का रामचरित चिन्तामणि और रामचन्द्र शुक्ल द्वारा आर्नल्ड-कृत 'लाइट आफ एशिया' का अनुवाद बुद्धचरित भी इसी समय प्रकाशित हुए।

छायावाद-काल—द्विवेदी-युग के बाद छायावाद-काल में शिल्प, दर्शन और मनोविज्ञान की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कामायनी लिखा गया। साथ ही, प्रियप्रवास के महाकवि ने उसी काल में (१९३५) वैदेही वनवास लिखा। नूरजहाँ (गुरुभक्तसिंह), सिद्धार्थ (अनूपशर्मा), अंगराज (आनन्द कुमार, हल्दी घाटी (श्याम नारायण पांडेय), तक्षशिला और मानसी (उदयशंकर भट्ट), नल-नरेश (पुरोहित प्रताप नारायण), रामचन्द्रोदय (रामनाथ ज्योतिषी), पुरुषोत्तम (तुलसीराम शर्मा) आदि प्रबन्ध काव्य लिखे गये जिनमें कुछ रचनाएँ महाकाव्य कहलाने की वास्तविक अधिकारी है और जिनका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। ब्रजभाषा में केसरीसिंह कृत प्रतापचरित्र और हरदयालु सिंह कृत दैत्यवंश महाकाव्य इसी काल में लिखे गए।

सन् ४० के बाद महाकाव्यों की प्रगति—१९४० के बाद महाकाव्यों के क्षेत्र में बाढ़ आ गयी। विषय की विविधता और शिल्प-संबन्धी प्रयोगों का बाहुल्य दीखा। दिनकर का कुरुक्षेत्र (१९४३) और डा० रामकुमार वर्मा का एकलव्य (१९५८) इसी काल में प्रकाशित हुए, जिन्हे शिल्प-विधान की दृष्टि से महाकाव्य के क्षेत्र में सर्वथा क्रान्तिकारी कदम माना जा सकता है। इतना ही नहीं, वियोगी का आर्यावर्त्त (४३), श्यामनारायण पांडेय का जौहर (४५), डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का साकेत-सन्त (४६), भक्त का विक्रमादित्य (४७), नवीन का उर्मिला (५८), गिरीश का तारकवध (५८), प्रभात का कैकेयी (४९), मैथिलीशरण गुप्त का जय भारत (५१), डा० बलदेव प्रसाद मिश्र का राम-राज्य (६०) आदि महाकाव्य भी इसी काल में प्रकाशित हुये। प्रबन्ध के क्षेत्र में

रामकुमार वर्मा का जौहर और दिनकर का रश्मिरथी भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त महाकाव्य के नाम पर छोटे-बडे अनेक कथा-काव्य लिखे गये, जिन्हे महाकाव्य क्या एक उच्चकोटि का काव्य-ग्रंथ स्वीकार करने में भी बाधा है।

प्रेरणा-सूत्र

आधुनिक काल के महाकाव्यो के प्रेरणा-सूत्र बड़े व्यापक सिद्ध हुए—पौराणिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, राष्ट्रीय, सामाजिक सभी क्षेत्रों से आधुनिक महाकाव्यों को प्रेरणाएँ मिली है। आधुनिक कहाकाव्यों के दृष्टिकोण निम्न-लिखित तथ्यों से पुष्ट हुए—

१—अतीत-प्रेम की भावना—ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों मे। महाभारत और रामायण के आधार पर अनेक रचनाएँ लिखी गयी। प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, साकेत, साकेत-सन्त, रामराज्य, उर्मिला आदि इसके प्रमाण है। आर्यावर्त्त, हल्दीघाटी, जौहर, विक्रमादित्य, नूरजहाँ आदि ऐतिहासिक महाकाव्य है। कामायनी सांस्कृतिक महाकाव्य है। मीरा और युग-स्रष्टा प्रेमचन्द साहित्यिको के जीवन पर आधारित प्रवन्ध काव्य है।

२—आधुनिक युग की बौद्धिकता का प्रभाव—प्रियप्रवास मे अलौकिक घटनाओ का लौकिक रूप, साकेत के हनूमान का आत्म-परिचय आदि। फिर बुद्धिवाद से संत्रस्त मानवता को कामयनी में शांति और आनन्द का संदेश।

३—समसामयिक घटनाओं और युग-पुरुष पर रचना—गाँधी (महामानव, जननायक, जगदालोक) और प्रेमचन्द (युगस्रष्टा: प्रेमचन्द) पर रचना। लोक-सेवा, देशभक्ति, विश्व-प्रेम, जातिवाद, युद्ध-हिसा, अछूतोद्धार आदि पर विचार।

४—उपेक्षित और अनादृत चरित्रो का उद्धार—दैत्यवंश, रावण, उर्मिला, कर्ण, कैकेयी, एकलव्य आदि पर अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुयी।

५—नारी को महत्त्व—मीरा, पार्वती कैकेयी आदि पर महाकाव्य तथा साकेत में उर्मिला और कामायनी मे श्रद्धा को महत्त्व।

६—वाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष का मनोविज्ञानिक चित्रण—कामायनी इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण।

७—आदर्शवाद की अपेक्षा यथार्थवाद को महत्व—कुरुक्षेत्र के कवि ने युद्ध और हिसा-सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया है।

८—नये-नये शिल्पों के प्रयोग का प्रयास ।

नये महाकाव्यों की नयी धाराणाएँ—तात्पर्य यह है कि आधुनिक हिन्दी के क्षेत्र में महाकाव्य-सम्बन्धी प्राचीन शास्त्रीय नियमों के पूर्णत: निर्वाह का कोई दायित्व कवियों पर नहीं रहा । वे समसामयिक युग की परिस्थितियो से प्रभावित होकर अपनी समस्याओं के निदान के लिये प्राचीन ऐतिहासिक और पौराणिक कथाओ से घटनाएँ चुनने लगे । फिर भी संस्कृत या अपभ्रंश से सीधा प्रभावित न होकर इस काल के कुछ महाकवियो ने हिन्दी मे महाकाव्य-सम्बन्धी नये दृष्टिकोण भी अपनाये । हिन्दी के इन महाकवियो पर पाश्चात्य दृष्टिकोण का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा । इस युग मे सर्गो के बन्धन ढीले पड़े, चरित्रों के आदर्श बदले, मगलाचरण आदि ने या तो नये रूप धारण किये या विदा लिए, छंदो के परिवर्त्तन के भिन्न-भिन्न रूप सामने आये । भाषा-शैली में चित्रात्मकता और प्रतीकात्मकता आयी । प्रकृति-वर्णन की परम्परागत प्रणाली का काया-कल्प हुआ । वस्तु-दृश्य-वर्णन के कितने ही फालतू प्रसंग लुप्त हुए । कितनी ही नवीन समस्याओ का समावेष हुआ । जगत और जीवन-सम्बन्धी कितने नये मूल्यांकन स्थिर किये गये !—तात्पर्य यह कि आधुनिक महाकाव्यो मे प्राचीन और नवीन का, पौरस्त्य और पाश्चात्य का, यथार्थ और आदर्श का एक अपूर्व सम्मिलन हुआ, जो विकास की दृष्टि से साहित्य का एक मंगलमय परिच्छेद माना जायेगा ।

शिल्प-विधान का स्वरूप और आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में उसके अनुसंधान का औचित्य

शिल्प-विधान की प्राचीनता—शिल्प के विकास का इतिहास कदाचित उतना ही प्राचीन है, जितना प्रचीन कविता का इतिहास; क्योंकि किसी भी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिये किसी न किसी कौशल की आवश्यकता पड़ती है । प्रत्येक कवि की अपनी प्रकाशन-भंगिमा होती है । यही कारण है कि एक ही विषय पर लिखी गयीं कई कवियो की रचनाओ मे भी अन्तर होता है । यह पार्थक्य तो इस सीमा तक देखा जाता है कि एक ही विषय पर एक कवि द्वारा विभिन्न अवसरों पर लिखी गयी कई रचनाओ मे भी अन्तर होता है । यह अन्तर इस बात का प्रमाण है कि कथ्य ही सब कुछ नही है, कथ्य की अभिव्यक्ति की प्रणाली का भी व्यक्तित्व होता है ।

प्रेषणीयता की योग्यता—किसी वस्तु या घटना की प्रतिक्रिया के रूप में कवि के मन मे जो भाव उठते हैं और उसे नाना रूपात्मक जीवन और जगत

से प्रभावित जो अनुभूति होती है, उन्हे कविता बनने के पूर्व दो स्थितियो से गुजरना पड़ता है—पहले, अनुभूति के रूप मे भाव कवि के मन-प्राणों तक ही सीमित रहते हैं, यहाँ वे कविता नही बन पाते; कविता बनने के लिए उन भावों को उच्चरित या लिपिवद्ध होकर श्रोताओ या पाठकों के सामने आना पड़ता है। तात्पर्य यह कि अनुभूतिमात्र कविता नही, उसकी प्रेषणीयता की योग्यता ही कवि-कर्म है।

शिल्प-विधान, एक माध्यम—अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार कोई कवि अपनी अनुभूति को ठीक उसी प्रकार पाठकों तक पहुँचाये! उसे एक समीचीन माध्यम की आवश्यकता होती है। अत: जिस कौशल के द्वारा कवि अपनी भावनाओं को उसी भाषा और उसी रूप मे दूसरों तक पहुँचाने का प्रयास करता है, उसे कविता का शिल्प-विधान कहते है। यह शिल्प-विधान एक माध्यम है, अरूप और रूप के बीच, अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच, कवियों और पाठकों के बीच। यह एक ऐसी कला है, जिसका आश्रय प्रत्येक कवि को लेना पड़ता है। हाँ, सफलता की मात्रा प्रतिभा के अनुसार बदलती रहती है।

विषय और विधान, दो विचार धाराएँ—विषय और विधान (सब्सटेन्स एण्ड फॉर्म) कविता मे इन दोनों रूपो मे किसकी प्रधानता है? वर्ण्य तथ्यों और अनुभवों की श्रेष्ठता स्वीकार की जाय, या उनकी वर्णन-भंगिमा की या उनके शिल्प-विधान की? आचारवादी आलोचक प्रथम को और कलावादी दूसरे को प्रधानता देते रहे है। आचारवादियो की ओर से विषय की प्रधानता के पक्ष में यह कहा जाता है कि आकार या वाह्य रूप की महत्ता उतनी नहीं जितनी आन्तरिक गुणों की। हीन विषयों पर लिखी गयी निम्न भावों वाली रचना श्रेष्ठ स्वरूप-विधान से युक्त होकर भी एक निष्प्राण, सुन्दर मूर्ति की भाँति है। कभी कोई उस सुन्दर मूर्त्ति पर रीझ कर उसे कुरूप दीखने वाले चेतन मानव से श्रेष्ठ नही कह सकता। विषय और भाव की महत्ता ही पाठकों की विचार-शक्ति को उद्वेलित करती और सोयी वृत्तियो को झनझनाती है। ऐसे विचारवालों की दृष्टि मे उच्च कोटि के विषय ही उच्च कोटि के विचार जाग्रत कर सकते है। शिल्प तो बदलता रहता है, वह एक फैशन है, एक सतही विशेषता है। विषय-पक्ष के हिमायती तलवार का मोल करते हैं, म्यान का नही।

इसके विपरीत, रचना-विधान और शिल्प के हिमायती यह कहते हैं कि विषय ही यदि सब कुछ होता तब तो आज हजारों वर्षों बाद एक ही भाव और एक ही विषय पर लिखी गयीं रचनाएँ कुछ भी रस उत्पन्न नहीं कर पातीं। तब तो महान् ज्ञानी या मेधावी तार्किक ही कवि माने जाते, क्योंकि उन्हें विषय की ठोस जानकारी होती है। यदि रचना कौशल का महत्त्व नहीं होता, तो एक ही विषय पर लिखी गयी दो रचनाओं में एक क्यों पाठकों को रस-विभोर करती और दूसरी शब्द-प्रलाप मालूम पड़ती! एक ही रामकथा, एक ही कृष्ण-कथा से सम्बद्ध जो इतनी साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं, आखिर उनका क्या महत्त्व होता! व्यक्तित्व की छाप और मौलिकता के रंग के लिये शिल्प-विधान से बढ़कर और कौन-सा साधन है।

यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो दोनों ही प्रकार के मतावलम्बियों के विचार अतिव्याप्ति दोष से पूर्ण हैं। विषय और शिल्प, भाव और स्वरूप-विधान या प्रकाशन-भंगिमा दोनों के महत्त्व हैं। इतना ही नहीं, दोनों अविच्छिन्न हैं, एक दूसरे के पूरक और प्रकाशक हैं। विषय ही नहीं, तो उसका प्रकाशन कैसा? और यदि प्रकाशन की रीति ही समीचीन नहीं, तो विषय की उच्चता का फल क्या? विषय भगवान हों और उस पर लिखी रचना का शिल्प ऐसा हो कि मन में भक्ति और प्रेम ही न उपजे, तो उस विषय की महानता से क्या लाभ? फिर विषय हो 'कुकुरमुत्ता' किन्तु उससे अनुभूत विचारों को व्यक्त करने की भंगिमा ऐसी हो कि पाठकों के मन में कवि की अनुभूतियाँ साकार हो उठें, तो वही रचना श्रेष्ठ समझी जायगी।

संतुलन-विन्दु—वस्तुत: उच्च कोटि की रचना के लिये विषय और शिल्प दोनों के समन्वय और एकरूपता की आवश्यकता है। विषय वहीं श्रेष्ठ समझा जायगा जहाँ वह सर्वथा उपयुक्त शिल्प-विधान के माध्यम से प्रकट हुआ है। विषय के साथ शिल्प की एकरूपता आवश्यक है। शिल्प यदि रचना से श्रेष्ठ हुआ, तो उसमें कृत्रिमता और चमत्कार-प्रियता आ जायेगी, पर वह यदि विषय से हीन हुआ तो अभिव्यक्ति की असमर्थता और रस-निष्पत्ति की बाधा प्रकट हो जायेगी! उसका स्वरूप सर्वथा विषय के अनुकूल ही होना चाहिए।

इसी संतुलन को ढूँढ़ने का प्रयास काव्य-रचना के निर्माण के पहले दिन से जाने-अनजाने आजतक चलता आ रहा है। वाल्मीकि के करुणा-विगलित कण्ठ से फूटीं पंक्तियाँ उपयुक्त रचना-कौशल में प्रकट हुई थीं—शोक-करुणा,

और कठोरता के प्रति घृणा से भरी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये तुक-विहीन गंभीर शब्दों से पूर्ण अनुष्टुप् से बढ़कर कोई छन्द नहीं हो सकता था। इसी तरह माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा भाषा-भाव और प्राचीन महाकाव्य की परम्परा को तोड़ने के प्रयास की अभिव्यक्ति मेघनाद-वध की ओजस्वी, प्रवाह-पूर्ण भाषा और अमित्राक्षर छन्द से पूर्ण रचना-कौशल के माध्यम से ही संभव थी।

हिन्दी-महाकाव्यों में पृथ्वीराज रासो जैसे विषय के लिये वर्णनात्मक और ओजस्वी शैली, पद्मावत के लिये मसनवी शैली एवं लोक-कथात्मक प्रणाली तथा मानस के लिये सभी प्राचीन महाकाव्यों की विशेषता से पगी शिल्प-कला अपनायी गयी। मानस को विषय और शिल्प दोनों उपयुक्त मिले तो उच्चकोटि के महाकाव्य का प्रणयन हुआ। इसके विपरीत रामचन्द्रिका को विषय श्रेष्ठ और शिल्प निम्नकोटि का मिला तो उसकी प्रबन्धात्मकता निम्नकोटि की हुई।

निष्कर्ष

प्रत्येक युग को अपने आवश्यकतानुसार विषय के साथ शिल्प को बदलना पड़ता है। एक ही काल में दो विभिन्न विषयों के लिये दो विभिन्न रचना-पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं। राम-काव्य के लिये जहाँ प्रबन्धात्मक शिल्प लोकप्रिय हुआ, वहाँ कृष्ण-काव्य के लिये गीतात्मक शिल्प। द्विवेदी युग जहाँ कथा-काव्य के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ, वहाँ छायावाद गीतिकाव्य के लिये।

तात्पर्य यह कि शिल्प-विधान का विकास काव्य-धारा के अनुरूप होता है और प्रत्येक कवि, प्रत्येक युग अपने लिये भिन्न-भिन्न कोटियों के शिल्प का निर्माण करता है। आधुनिक काल के महाकाव्यों में शिल्प-विधान की दृष्टि से अनेक प्रयोग हुए। कामायनी में पश्चिमी और पूर्वी शिल्पों का सम्मिश्रण हुआ। उसका दुःखान्त और सुखान्त दोनों ही दृष्टियों से मूल्यांकन किया जा सकता है।[1]

---

१. वस्तु-विन्यास की दृष्टि से कामायनी को दुःखान्त रचना मान लेने में कोई आपत्ति नहीं। उपसंहार के आनन्दात्मक दृश्यों को हम संधियों से परे काव्य की दार्शनिक और आलंकारिक (ऑर्नामेन्टल) पूर्ति मानकर भी संतोष कर सकते हैं।
—जयशंकर प्रसाद, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० ११०

इसी तरह नूरजहाँ मे रोमांटिक शैली के उपन्यासों का शिल्प अपनाय गया, जो हिन्दी महाकाव्यो के लिये सर्वथा नवीन प्रयोग कहा जायेगा।[1] आधुनिक काल में नवीन शिल्प के साथ ही शास्त्रीय प्रणाली का समन्वय भ दिखाई देता है। श्री मैथिलीशरण गुप्त का साकेत इसका उदाहरण है।[2] इसी तरह उर्मिला, कृष्णायन, साकेत-सत, रामराज्य, आर्यावर्त्त, कैकेयी, कुरुक्षेत्र एकलव्य आदि अनेक महाकाव्यो मे शिल्प-विधि के भिन्न-भिन्न प्रयोग देख को मिलते हैं।

यह ठीक है कि आधुनिक काल मे महाकाव्य के नाम पर आने वाली दर्जन पुस्तकें अल्प-प्राण है पर इतना मानना पडता है कि प्रयोगों की बाढ मे शिल्प नये चमत्कार प्राय: दीख गए है, फलत: इतनी रचनाओं के बीच कुछ महत्त्वपू कृतियाँ भी हमारे सामने आ गयी है। आज के महाकाव्य कलात्मक (एपि ऑफ आर्ट) है और प्रत्येक कवि अपनी विशेषताओ की स्थापना मे संल दिखाई पड़ता है। हम अगले प्रकरणों मे शिल्प की दृष्टि से अपने विचा बिन्दुओं के आलोक मे इन सभी वास्तविक और तथाकथित महाकाव्यो औचित्य पर विचार करेंगे।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कथा-शिल्प

कथानक की आवश्यकता—कथानक महाकाव्य का मेरु-दण्ड होता है कथानक की आधार शिला ही महाकाव्य को खड़ा रखती है, ऊँचा उठाती है इसके अभाव मे न चरित्रों का विकास सभव है, न पाठकों की उत्सुकता जा रह सकती है। कथा के आवर्त्त मे पाठकों का मन रमता है, कवि के क को बल मिलता है। प्राचीन लक्षणकारों ने इसीलिये कथा की अनिवार्य मानी है। प्रथम परिच्छेद में महाकाव्य के जो लक्षण दिये गये हैं, इस कथ्य

---

१. नूरजहाँ में उन्नीसवी शताब्दी के रोमांटिक उपन्यासो की शैली का प्रयोग है वह पद्यवद्ध उपन्यास के समान ही है। काव्य के रोमाटिक वातावरण के प्रकृति के ब्योरेवार वर्णनों से एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है जो हिन्दी पा को बहुत परिचित नही है।

—हिन्दी साहित्य, डा० हजारी प्र० द्विवेदी, पृ० ४७७.

२. उधर शिल्प-विधान की दृष्टि से भी गुप्तजी के महाकाव्यो मे अनिवार्य तत्व नही, महाकाव्य के शास्त्र-प्रतिपादित गौण अंग भी मिल जाते है।

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त-अभिनन्दन-ग्रंथ, उमाकांत गोयल, पृ० ५

प्रमाण है। महाकाव्य को सर्गबद्ध होने की आवश्यकता बतलाते हुए प्राचीन लक्षणकारों ने कथा की सुश्रृंखला पर ही जोर दिया है। इतिहास, लोक-प्रचलित कथा या अन्य सद्‌वृत्त पर आधारित कथानक को दण्डी ने महाकाव्य का आधार माना है। रुद्रट ने उत्पाद्य, अनुत्पाद्य, महत् या लघु आख्यान की आवश्यकता बतलायी है। प्रकारान्तर से रुद्रट ने कथानक मे कल्पनाशीलता और अवान्तर कथाओं के महत्व को स्वीकार किया है। विश्वनाथ ने कथा-वस्तु में सभी सन्धियो की आवश्यकता बतलाकर कथानक के सुनियोजन की ओर इंगित किया है। विश्वनाथ ने एक काम और किया। उसने पहलीबार अप्रत्यक्ष रूप से महाकाव्य के कथानक की सीमा का उल्लेख किया। उसने कम से कम आठ सर्गो मे सम्पूर्ण महाकाव्य की समाप्ति का निर्देशन किया। प्रथम परिच्छेद के अन्त मे इस बात का निवेदन किया जा चुका है कि प्राचीन कथानको को आधुनिक युग के महाकवियों ने भी स्वीकार किया है, क्योंकि इससे उन्हें पाठकों के संस्कार को जाग्रत करने और रसोद्रेक के लिये पृष्ठभूमि तैयार करने मे सुविधा मिली है। किन्तु यहाँ इन चार बातो पर विचार करना आवश्यक है कि १—क्या प्राचीन कथा को आज के महाकाव्यों में ज्यों का त्यों स्वीकार किया गया है। २—यदि परिवर्त्तन किया गया है, तो क्यों और किस रूप मे। ३—उस परिवर्त्तनों में कौन-सा शिल्पात्मक दृष्टिकोण है तथा ४—आज के युग में कथानक-रूढ़ियों का किस सीमा तक प्रयोग किया गया है।

प्राचीन हिन्दी महाकाव्यों की कथानक-सम्बन्धी विशेषताएँ—प्राचीन हिन्दी महाकाव्यो मे प्रयुक्त कथानकों की निम्नलिखित विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं:—

१—वे इतिहास, पुराण, लोक-कथाओं या अन्य सद्‌वृत्तों पर आधारित है।

२—रोमांचकता, अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों तथा दुष्कर कार्यो और घटनाओं का उल्लेख है।

३—मूल कथा के साथ अवान्तर और प्रासंगिक कथाएँ भी है।

४—कथानक-सम्बन्धी रूढ़ियों का प्रयोग मिलता है।

५—प्रेमाख्यान-काव्य में कथानक की स्थिति कहीं क्षीण, कहीं मांसल है पर या तो उसमें भावुकता और वस्तुवर्णन की प्रधानता मिलती है, या पूर्ण काल्पनिकता मिलती है; या लोक-कथाओं का पूर्णाधार पाया जाता है या ऐतिहासिक पौराणिक कथाओं के साथ किसी कल्पनाप्रसूत-कथा या लोक-प्रचलित कथा का सम्मिश्रण मिलता है।

६—नाटकीय सन्धियों और कार्यावस्थाओं के यथासाध्य निर्वाह की चेष्टा है।

किन्तु ये सारी विशेषताएँ सभी महाकाव्यो में समान रूप से नही मिलती। प्रत्येक महाकवि ने अपनी आवश्यकता के अनुसार कथानक का उपयोग किया। पद्मावत में यदि लोक-कथा और ऐतिहासिकता का समन्वय हुआ, तो मानस पर नाना पुराण निगम, आगम और अपने पूर्ववर्त्ती रामायणकारो का ही नही, राम-कथा पर आधारित नाटकों का भी प्रभाव है। तुलसी ने प्रचलित और समादृत राम-कथा के अनेक प्रसंगों में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन परिवर्द्धन किये।

आधुनिक महाकाव्यों में प्राचीन विशेषताओं के उपयोग का प्रश्न—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में कथानक-सम्बन्धी प्राचीन धारणाओं में अनेक परिवर्त्तन हुए। आधुनिक बुद्धिवाद ने अनेक मान्यताओं को खंडित कर दिया। ज्ञान-विज्ञान के नवीन आलोक को कथानक की जीर्ण परम्पराएँ सह न सकी, ढह गयी। साथ ही, आधुनिक-काल के महाकाव्यो के लिये कथा-द्रव्य उस सीमा तक स्वीकार नही किया गया, जिस सीमा तक उनकी आवश्यकता प्राचीन महाकाव्यो में मानी गयी। ऐसे भी महाकाव्य लिखे गये है जिनमे कथानक की मांसलता न रहकर विचारों, चिन्तनों और मनोवैज्ञानिक चित्रणो का प्राधान्य है। युग बदलता गया और आज के व्यस्त समाज के अनुकूल छोटे आकार के महाकाव्य भी लिखे जाने लगे।

आधुनिक महाकाव्यों में कथानक के आधार—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रयुक्त कथानक को निम्नलिखित आधारों में विभक्त किया जा सकता है—

१—श्रीमद्भागवत या अन्य पौराणिक कृष्ण-साहित्य पर आधारित महाकाव्य—प्रियप्रवास, कृष्णायन।

२—रामायण या अन्य राम-काव्य पर आधारित महाकाव्य—रामचरित-चिन्तामणि, साकेत, रामचन्द्रोदय, वैदेही-वनवास, उर्मिला, साकेत-संत, राम-राज्य, कैकेयी, रावण।

३—महाभारत पर आधारित महाकाव्य—कुरुक्षेत्र, एकलव्य, कर्ण, अंगराज।

४—पौराणिक अख्यानों पर आधारित महाकाव्य—कामायनी, दैत्यवंश, तारकवध, पार्वती।

५—ऐतिहासिक इतिवृत्त पर आधारित महाकाव्य—नूरजहाँ, हल्दीघाटी, जौहर, आर्यावर्त्त, विक्रमादित्य ।

६—समसामयिक विषयो पर आधारित महाकाव्य—जननायक, युगस्रष्टा, प्रेमचन्द, महामानव, जगदालोक ।

७—हिन्दू धर्मों को छोड़कर अन्य धर्मों पर आधारित महाकाव्य—सिद्धार्थ और वर्द्धमान ।

आधुनिक महाकाव्यों के कथानक में परिवर्त्तन और मौलिकता—कथानक मे परिवर्त्तन और मौलिकता की दृष्टि से एक-एक कर आधुनिक महाकाव्यों के विवेचन के पश्चात हम उन परिवर्त्तनों के औचित्य पर विचार कर सकेंगे ।

प्रियप्रवास



कथा-वस्तु का स्वरूप—श्रीमद्भागवत के दशम अध्याय के पूर्वार्द्ध पर आधारित हरिऔध का प्रियप्रवास आधुनिक काल का हिन्दी का पहला महाकाव्य है, जिसमे चरित्र-चित्रण-भाषा-शैली आदि के अतिरिक्त कथा-शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये गये है । प्रियप्रवास है तो सत्रह सर्गों का महाकाव्य, पर उसकी कथा-वस्तु सघन नही है, यद्यपि है वह अति प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान पर आधारित । कई सर्ग तो नितान्त रूप से वर्णनों में ही समाप्त हो जाते हैं । कई सर्गो में कृष्ण के व्यक्तित्व के मादक प्रभावों के चित्रण हैं; यथा—प्रथम सर्ग में सन्ध्या-वर्णन से प्रारम्भ तथा अंत गाएँ चराकर लौटे कृष्ण के व्यक्तित्व और उनकी वंशी के प्रभाव से प्रसन्न ब्रजवासियो के चित्रण से होता है । इसी प्रसन्नता का प्रसार द्वितीय सर्ग में भी दीखता है, जिसमें ब्रजवासी नाच-गान मे प्रवृत्त झूमते दीखते है और ऐसी ही आनन्ददायिनी पृष्ठभूमि में अचानक ढिंढोरे के साथ कंस के आमंत्रण पर कृष्ण-बलराम के मथुरा-गमन की पूर्व सूचना दी जाती है । रंग मे भंग हो जाता है और जन-समूह पर एक कातर चिन्ता व्याप जाती है । तृतीय सर्ग मे मथुरा-यात्रा की तैयारी भर है । चतुर्थ सर्ग में राधा-परिचय, कृष्ण-राधा-लीला चित्रण और कृष्ण-वियोग में विरह-व्यथिता राधा का मार्मिक वर्णन है । पांचवें सर्ग में नंद का मथुरा-गमन और उस समय व्रजवासियों के आर्त्त-विलाप एवं यशोदा के वात्सल्य की करुण झाँकी मिलती है । छठे सर्ग मे कृष्ण के ब्रज न लौटने की चिन्ता और राधिका

के पवन-दूत भेजने का प्रसग तथा सातवें सर्ग मे निराश, एकाकी नद का ब्रज-आगमन और ब्रजवासियो की, विशेषत: यशोदा की मार्मिक व्यथा वर्णित है। आठवें-नवें सर्ग में कृष्ण-लीला वर्णन एव उद्धव-ब्रज-गमन-वर्णित है। दशम वर्ग में कृष्ण की बाल-लीला तथा ग्यारहवें सर्ग मे उद्धव-प्रवचन तथा कालिय-दमन की कथा है। बारहवें-तेरहवें सर्गो मे गोबर्द्धन-धारण, अघासुरकेशी-दैत्य एवं व्योमासुर की कथा है। चौदहवें सर्ग मे उद्धव-गोपी-सवाद एवं शरदोत्सव वर्णन है। पन्द्रहवें-सोलहवें सर्गो में एक गोपी की कृष्ण-भक्ति तथा उद्धव-राधा-संवाद एवं निर्गुण पर सगुण की विजय और हृदय-परिवर्त्तन की कथा है। सत्रहवें सर्ग में समाहार के रूप मे ब्रज-मथुरा दोनो की पृष्ठभूमि में कथा का विकास है। उद्धव व्याकुल-हृदय मथुरा पहुँचते हैं। लोकनायक कृष्ण-जरासंध के अत्याचार-त्रस्त मनुष्यो की रक्षा के लिये द्वारका जाते हैं और इधर राधा भी एक लोक-सेविका के रूप मे ब्रज की सेवा में तन-मन-धन से जुट जाती हैं।

कथानक की विशेषताएँ, परीवर्त्तन और नवीनताएँ—प्रियप्रवास के कथानक को दृष्टि-विन्दु में आद्यंत रखते हुए हम उसमें निम्नलिखित विशेषताएँ पाते है, जिनके परिवर्त्तन के कारणों में उसकी मौलिकता और नवीनता परिलक्षित है—

१—घटनाओं की न्यूनता और वर्णन के विस्तार के कारण प्राचीन महा-काव्यों की अपेक्षा इसका कथानक अतिसंक्षिप्त है।

२—कथा से अधिक प्रधान भावपूर्ण वर्णनात्मकता है।

३—कृष्ण के बाल-जीवन और वीर-चरित्र के अनेक कथा-प्रसंग प्रकारान्तर से आये हैं।

४—ग्रंथ का प्रारभ सन्ध्या-वर्णन की पृष्ठभूमि में अक्रूर-आगमन से होता है—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।[1]

× × × ×

कियतकाल हुई यह भी क्रिया।
फिर हुआ इसका अवसान भी।

१. सर्ग १, पद १

प्रथम थी बहु धूम मची जहाँ,
अब वहाँ बढ़ता सुनसान था ।[1]

भागवत मे भी अक्रूर का आगमन सन्ध्या समय ही है—

इति संचितयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि ।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं गतः ॥[2]

पर कवि ने संध्या-वर्णन का विस्तार कर एक हृदयहारी चित्र प्रस्तुत किया है, और वंशी-वादन एवं कृष्ण के प्रति ब्रजवासियों के प्रेम की पृष्ठभूमि इतनी मधुर है कि कथा की संक्षिप्तता नही खलती ।

५—भागवत के श्वफल्कसुत ब्रज में आते ही कृष्ण और बलराम से गोदोहन के लिये जाते समय मिलकर कस का आदेश सुनाते है[3], पर प्रियप्रवास में वे सीधे नंद के पास जाकर यह कार्य करते है, जिसकी अप्रत्यक्ष संकेत नंद के ढिढोरा पिटवाने पर मिलता है। ब्रज-निवासियों को कृष्ण-बलराम के कंस के द्वारा आमंत्रण की सूचना कवि ने आधुनिक प्रणाली पर दी है—

अमित-विक्रम कंशनरेशने ।
धनुषयज्ञ विलो-न के लिये ।
कल समादार से ब्रज-भूप को ।
कुंवर संग निमंत्रित है किया ।[4]

६—कृष्ण के मथुरागमन के समय भागवत में केवल गोपिकाएँ व्यथा-विदग्धा दिखाई देती हैं—

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
ब्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः ।
विसृज्य लज्जां रुरुदुःस्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति ॥[5]

---

१. सर्ग १, पद ४८

२. दशम स्कन्ध, अध्याय ३८, श्लोक २४

३ ददर्श कृष्णं रामं च ब्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ।
—वही, श्लोक २८

४. द्वितीय सर्ग, पद १३

५. दशम स्कन्ध, अध्याय ३९, श्लोक ३१

पर प्रियप्रवास में उनके साथ यशोदा और समस्त पुरवासियों का दुख वर्णित है—

विकलता लख के ब्रजदेवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु वारि था॥[१]
विलखती दृग वारि विमोचती
यह विषाद-मयी जनमंडली।
परम आकुलता संग थी बढ़ी
सदन और नराधिप नंद के॥[२]

राधा की व्यथा भी विशिष्ट रूप में वर्णित है—

यह सकल दिशाएँ आज रो-सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन में है भागता सा-दिखाता।[३]

७—उपर्युक्त भावनाओं का चिन्ता-रूप में प्रसार मथुरा से कृष्ण के नहीं लौटने पर समस्त ब्रज में दिखाई पड़ता है। राधिका के द्वारा पवन-दूती के भेजने का प्रसंग भी नया है।[४]

८—ब्रज में उद्धव के आने की कथा तो नयी नहीं है, पर उसकी योजना प्रियप्रवास में नये ढंग से की गयी है। इस दिशा में निम्नलिखित मौलिक उद्भावनाएँ दीखती हैं:—

---

१. तृतीय सर्ग, ८७
२. पंचम सर्ग, १३
३. चतुर्थ सर्ग, पद्य ३२
४. मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्रवाले
जाके आये न मधुबन से कौन भेजा संदेसा।
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ
जाके मेरी सब दुखकथा श्याम को तू सुना दे॥

—षष्ठ सर्ग, ३३

(i)—भागवत मे ब्रजवासियों को उद्धव की सूचना दूसरे दिन प्रात:काल नंद के द्वार पर रथ को देखकर मिलती है, पर प्रियप्रवास मे उद्धव के रथ को देखकर गोपियाँ कृष्ण के लौटने की आशा से उनकी ओर देखती हैं और उद्धव से परिचित होती है।

उसी दिशा से जिस ओर दृष्टि थी।
विलोक आता रथ मे स—सारथी।
किसी किरीट पट-पीट गौरवी
सु-कुण्डली श्यामल-काम पान्थ को॥
अतीव उत्कठित ग्वाल-बाल हो।
स-बेग जाते रथ के समीप थे।
परन्तु होते अति ही मलीन थे।
न देखते थे जब वे मुकुन्द को।[1]

इस प्रसंग मे भागवत की अपेक्षा सूर का प्रभाव हरिऔध पर अधिक दीखता है।

(ii) भागवत के कृष्ण केवल ब्रज गोपिकाओ की सुधि लेते हैं पर प्रिय-प्रवास के कृष्ण उनके साथ यशोदा-नन्द और अन्य पुरवासियों का भी पूर्णत: ध्यान रखते है।

(iii) उद्धव के ब्रज-गमन के समय प्रकृति का जो मनोरम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, वह भी सर्वथा नवीन है। भागवत मे यह वर्णन नही मिलता।

६—भ्रमरगीत की योजना अत्यन्त प्राचीन है। भागवत आधारित इस क्षीण प्रसंग को हरिऔध के पूर्व सूर, नन्द, रत्नाकर, सत्यनारायण आदि अनेक कवि पुष्पित-पल्लवित कर चुके थे, पर प्रियप्रवास मे भ्रमरगीत का प्रसंग नवीन परिवेश मे चित्रित किया गया है। प्रियप्रवास मे एक गोपी भ्रमर को सम्बोधित करके अपना दुखड़ा रोती है, उद्धव दूर से इसे सुन लेते है। उद्धव-गोपिका-वार्त्तालाप का यहाँ अभाव है। भागवत के उद्धव की ऐकान्तिकता भी यहाँ नही है—वे केवल गोपिकाओ के नही, यशोदा-नन्द और पुरजनों के समाचार के लिये भी उत्सुक है।

---

१. नवम सर्ग, ११३-११४

१०—पुस्तक के अन्त में आते-आते हरिऔध सर्वथा नवीन कथा-योजना प्रस्तुत करते है। कृष्ण और राधा दोनो के लोक-चिन्तन और लोकसेवी रूप की उद्‌भावना के अनुसार ही कथा को वे मोड़ देते हैं।

११—कालिय-दमन, गोवर्द्धन-धारण, पूतना, तृणावर्त्त, अघासुर, केशीदैत्य, व्योमासुर आदि की कथाओं का प्रासंगिक रूप मे वर्णण मिलता है।

१२—हरिऔध ने मार्मिक स्थलों की पहचान का परिचय प्रियप्रवास मे स्थल-स्थल पर दिया है। यशोदा का कृष्ण के प्रति प्रेम, राधा की कृष्ण के प्रति प्रेम-भक्ति, पवनदूत की मार्मिक कल्पना, ग्वालबालो का निश्चल अनुराग, पशु-पक्षियो और जड़चेतन की कृष्ण-वियोग मे व्याकुलता आदि अनेक मर्मस्पर्शी प्रसंग प्रियप्रवास को अतिशय भावपूर्ण बना देते हैं।

१३—कथा का वृत्त कृष्ण के बचपन से लेकर द्वारका-गमन तक की घटनाओं तक प्रसारित है, फिर भी भावपूर्ण वर्णनात्मकता का ही प्राधान्य है। कथा का जितना विस्तार है, उतना घनत्व नही।

परिवर्त्तनों का औचित्य—उपर्युक्त परिवर्त्तनो और नवीनताओ के कारण प्रियप्रवास में उत्कर्ष भी आये हैं, कुछ अपकर्ष भी। कुछ आलोचक प्रियप्रवास की कथा की संक्षिप्तता के कारण उसे महाकाव्य मानने से अस्वीकार करते हैं,[1] और कुछ ऐसे हैं, जिन्हें इसके कारण उसकी महाकाव्योचित गरिमा में कोई संदेह नहीं मालूम होता।[2]

---

१ (i) जैसा कि इनके नाम से प्रकट है, इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्ध-काव्य के लिये भी अपर्याप्त है। अतः प्रबन्ध-काव्य के सब अवयव कहाँ आ सकते?

—हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० ६०८

(ii) गंगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी वस्तुतः एकार्थ काव्य ही हैं।

—वाङ्‌मय विमर्शः आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ४५

(iii) उसमें काव्यात्मक उत्कृष्टता तो है किन्तु जीवन के केवल एक ही पक्ष और हृदय-भावना की प्रधानता होने से वह महाकाव्य की दृष्टि से एकांगी है।

—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शंभूनाथसिंह, पृ०६६६

२ सर्गों और छन्दों की दृष्टि से प्रियप्रवास में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमें महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः आ गये हैं।

—सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप, भाग-२, गुलाबराय, पृ० ९२

यह काव्य महाकाव्यों की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है।

—बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, डा० प्रतिपाल सिंह, पृ० १०१

आपत्तियाँ और उनका निराकरण

वस्तुत: प्रियप्रवास को पुराने मानदण्ड से मापना ही भूल है। यह हिन्दी का सर्वप्रथम महाकाव्य है, जिसके आदर्शों का निर्माण कवि को बहुत अंशों में स्वयं करना पड़ा है। कथानक की संक्षिप्तता से तीन प्रकार की त्रुटियों का उल्लेख डा० गोविन्द राम शर्मा ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है।[1] पहली त्रुटि है,— वह बहुत व्यापक और विस्तृत होने के कारण एक महाकाव्य के लिये उपयुक्त नहीं है। वस्तुत: आज के युग मे—हरिऔध के परवर्त्ती महाकावियों ने भी कथा की मांसलता का विशेष औचित्य कहाँ स्वीकार किया? कामायनी, कुरुक्षेत्र, कैकेयी आदि महाकाव्य में कथा की सुदृढता को अल्प सीमा तक स्वीकार किया गया है। महाकाव्य मे प्रयुक्त कथानक केवल कथानक के लिये प्रयुक्त नहीं होता, उसका एक इतर उद्देश्य होता है, और वह है कथा के भीतर से फूटती हुई चारित्रिक विशेषताओं, मर्मस्पर्शी स्थलों के चित्रण और महदुद्देश्य आदि की किरणें। इन दृष्टियों से यद्यपि इसका विवेचन अगले प्रकरणों मे होगा, तथापि यहाँ इतना कह देना अनावश्यक नहीं होगा कि कृष्ण, नन्द-यशोदा, गोपी, उद्धव आदि के चरित्रों की मनोरमता और अनेक मार्मिक प्रसंगों की अवतारणा प्रियप्रवास के कथानक के बीच से होती है। इनके भीतर से स्पष्ट रूप से झाँकनेवाली लोक-दृष्टि तो प्रधान और सोद्देश्य है ही। दूसरी आपत्ति है- कथावस्तु के साथ विविध घटनाओं का पूरा सामंजस्य नहीं दीखता। मेरी दृष्टि मे ये घटनाएँ मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार मे खरी उतरती है। कृष्ण के बालचरित की घटनायें गोपियों द्वारा वर्णित हैं, क्योंकि पूर्व-स्मरण विरह अवस्था में जीवन की साँस है। गोपियों ने जिन लीलाओं के वर्णन किये है, सर्वथा प्रसंगानुकूल हैं, क्योंकि कृष्ण कितने प्यारे, कितने भले, कितने मनमोहक थे—कि गोपियों को उनका विषाद इतना खलता है, इस तथ्य की व्यंजना सर्वथा उचित है। मन्दाक्रान्ता छन्द के एक शब्द 'ऐसे' में हरिऔध की इस प्रसंग-योजना का सारा शिल्प झलक उठा—

ऐसे सारी ब्रजअवनि के एक ही लाड़िले को।
छीना कैसे किस कुटिल ने क्यों कहाँ कौन बेला।[2]

---

१ हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० १३९-४०

२ अष्टम सर्ग, ६१

इस सम्पूर्ण बाललीला के स्मरण का रहस्य इस एक भाव में खुल गया है कि कैसे वे कृष्ण ऐसी लीलामयी भूमि को भूल बैठे होंगे, कैसे उनका हृदय इस भूमि के लिये (कि जहाँ उन्होंने ऐसी लीलायें की थी) चिन्तित न होगा।[1] ऐसे ही कालिय-नाग के प्रसंग को लें। ग्यारहवें सर्ग में उद्धव को एक गोप कालिय-दमन की कथा सुनाता है। मेरी दृष्टि से यह प्रसंग भी कथा की भावना और वातावरण से सर्वथा सामंजस्य रखता है। छविशाली कालिन्दीकूल शोभी नव किसलय वाले पादपो मध्य गोपों के पास सविनय बैठे उद्धव को एक वृद्ध गोप ने कालिय दमन की कथा सुनायी है। एक तो कालिन्दी का किनारा है[2], दूसरे, कृष्ण के प्यारे गुणो के प्रभाव से विवश गोपो को उनके सद्गुण का उल्लेख करना ही है।[3] मनोविज्ञान के साहचर्य-नियम (लॉ ऑफ एशोसियेशन) के कारण ही गोप ने यह कथा सुनायी है। इसका औचित्य स्थापित करने को कवि ने सर्वथा अनुकूल वातावरण का निर्माण किया है। बारहवें सर्ग मे इन्द्र-कोप तथा गोवर्द्धन-धारण की कथा भी ऐसी ही पृष्ठभूमि मे है। एक कृष्ण-सखा उद्धव को दूसरे कृष्ण-सखाओं का रो-रो कर कृष्ण-महिमा सुनाना अनुचित नही है--

ऊधो से यों स-दुख जब थे भाखते गोप बातें।
आभीरो का यक-दल-नया वाँ उसी काल आया।

---

१ लीलाकारी ललित गलियों, लोभनीयालयों में।
क्रीड़ाकारी कलित कितने केलिवाले थलों में।
कैसे भूला ब्रज अवनि को कृष्ण को कालिन्दी के।
क्या थोडा भी हृदय मलता लाड़िले को न होगा।
—वही, ६२

२ प्रवाहिता जो कमनीय धार है।
कालिन्दजा की भवदीय सामने।
विदूषिता सो पहले अतीव थी।
विनाशकारी विष-कालियनाग से।
—वही, ११

३ विचित्र ऐसे गुण हैं ब्रजेन्द्र में।
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
निवद्ध सी है जिनमें नितान्त ही।
ब्रजानुरागी-जन की विमुग्धता।।
—एकादश सर्ग ७

नाना बातें विलख उसने की कही छिन्न हो हो।
पीछे प्यारा सुयश स्वर से श्याम का यों सुनाया।[1]

आज भी हम न केवल किसी की विदाई के समय उसकी समस्त श्रेष्ठ कार्यावलियो का स्मरण दिखाते है, बल्कि उस प्रियजन की अनुपस्थिति मे आये उसके मित्र से प्रसंग छिड़ जाने पर उसकी विरुदावलि भी सुनाने लगते हैं। यह तो मानव-स्वभाव है।

तेरहवे सर्ग मे अघासुर, केशी-दैत्य और व्योमासुर के बध की कथायें भी गोप के द्वारा उद्धव को सुनाई गयी हैं। यहाँ भी १ मे १० पद तक उस प्राकृतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया है, जिसमे इन कथाओं का वर्णन करना है। फिर ग्यारहवे पद में बलवीर के आगमन का वर्णन है। बारहवें पद के उत्तरार्द्ध की दो पंक्तियों से लेकर तेरहवें पद के पूर्वार्द्ध की दो पंक्तियों तक मे उस तथ्य की चर्चा है,[2] जिसके प्रत्युत्तर मे ये कथायें कहीं गयी है। जिस वन्य वातावरण की कथा है, उसी वन्य वातावरण में उन्हे कहलाया गया है, किन्तु इस कथा-प्रसंग मे उद्धव का मौन खलता है। कुछ उनके सम्वाद की भी आवश्यकता थी। 'लगे समाचार समस्त भाखने' कह देना मात्र कुछ अच्छा नही लगता। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने भी इस दूषण की ओर लक्ष्य किया है।[3]

डा० शर्मा की तीसरी आपत्ति है, पाठकों को खटकने वाली कथा-वस्तु की एकता, क्योंकि "कृष्ण के विरह मे यशोदा, गोप और गोपिकाओं का विलाप ही सारे काव्य में दुहराया गया है। उद्धव के समक्ष एक पात्र अपनी कथा

---

१ द्वादस सर्ग, १

२ बड़े सुखी उद्धव भी प्रसन्न हो।
लगे समाचार समस्त भाखने ॥१२॥
अतीव उत्कंठित-अन्मनस्क हो।
जनैक ने यो हरि-बंधु से कहा ॥१३॥
—त्रयोदश सर्ग।

३ अच्छा होता कि जनैक के विस्तृत कथन के साथ-साथ उद्धव जी का 'समाचार समस्त' का 'भाखना' भी हमलोग सुनते। किन्तु यहाँ तो कथानक के लम्बे प्रवाह मे उद्धव जी प्रायः सर्वत्र मौन ही रहे हैं······
—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० ६६।

समाप्त करता है, तो दूसरा अपनी राम-कहानी आरंभ कर देता हैं।" मैं भी यह मानता हूं कि कथा में दुःख के एक ही मानसिक स्तर पर बहुत सारे तथ्य वर्णित हैं, पर उनके वर्णन में पर्याप्त मनोरमता और छवियों की विविधता है कि जिनमें रस-भंग नहीं होता। विलाप तो दुहराये गए है पर उनकी व्यंजना के रूप अलग-अलग हैं, पुनरुक्ति की एकरसता नहीं है। अतः मेरी दृष्टि में यह कहना युक्तियुक्त नहीं दीखता कि प्रियप्रवास की कथा-वस्तु में रोचकता, विविधता और धारावाहिकता नहीं है।[१] वस्तुतः प्रियप्रवास के कथानक की आलोचना करते समय यह नहीं भूलना चाहिये कि कृष्ण चरित्र का जो रूप यहाँ वर्णित है, उसके लिये पर्याप्त विविधता वर्तमान है, क्योंकि बुद्धिवाद के इस युग में घटनाओं की अपेक्षा विचारों का प्राधान्य दिखाया जा रहा है।

डा॰ शम्भूनाथ सिंह ने यह आपत्ति की है कि 'कवि ने जितनी शक्ति यशोदा, राधा तथा गोप-गोपियों के विरह-वर्णन में लगायी है, उतनी, कृष्ण के महान चरित्र के चित्रण और उनके सशक्त व्यक्तित्व के उद्घाटन में नहीं,[२] वस्तुतः कृष्ण के चरित्र के महान् प्रसंगों का वर्णण कवि ने विरह-निवेदन के प्रसंग में कर दिया है। कवि का उद्देश्य कथानक के माध्यम से 'राष्ट्र-जीवन की जिस केन्द्रीय समस्या'[३] का उद्घाटन करना था, उसके लिये वर्णनों की स्थूलता की विशेष आवश्यकता नहीं थी।

अलौकिक प्रसंगों की स्वाभाविक व्याख्या:—प्रियप्रवास के कथानक की एक बहुत बडी विशेषता है, उसका सहज-स्वाभाविक वर्णन। अलौकिक घटनाओं के रूप को लोक-सामान्य भूमि पर प्रतिष्ठित कर कवि ने आधुनिक मौलिकता का अद्भुत परिचय दिया है। उंगलियों पर गोवर्द्धन उठाने का प्रसंग ऐसा ही है। जिस घटना को आजतक लोग अलौकिक और काल्पनिक समझते थे, उसे कवि ने बुद्धि-सगत दिखलाकर एक ओर जहाँ अपनी वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है, वहाँ दूसरी ओर कृष्ण की व्यापकता का प्रमाण भी दिया है—

---

१ हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० १४० ।

२ हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास, पृ० ६९६

३ वस्तुतः प्रियप्रवास में उन्होंने समय से पहले ही राष्ट्र-जीवन की एक केन्द्रीय समस्या की पूर्व झलक दे दी है और उसका आदर्शवादी अतः स्थूल समाधान भी उपस्थित किया है......समस्या है स्थानीय और सार्वदेशिक, व्यक्तिगत और सकल मानवगत हितों, राग-संबंधों के वैषम्य और परस्पर सम्बन्ध की।

—हिन्दी साहित्य अस्सी वर्ष · शिवदान सिंह चौहान, पृ० ५०-५१

भ्रमण ही करते सबने उन्हे ।
सकल काल लखा सप्रसन्नता ।
रजनि भी उनकी कटती रही ।
सविधि रक्षण मे ब्रजलोक के ।
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र मे ।
ब्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का ।
सकल लोग लगे कहने उसे ।
रख लिया उंगली पर श्याम ने ।[1]

कृष्ण की अलौकिक कार्य-दक्षता को देखकर ब्रज-जन कितने प्रभावित थे, उसका वर्णन ६२ वें पद मे किया गया है, उसी प्रभाव की चरम परिणति ६६-६७ वे पद मे हुई है । 'सकल लोग लगे कहने' लिखकर स्वाभाविकता दे दी गयी है तथा 'उंगली पर उठाना का प्रयोग मुहावरा-जैसा किया गया हैं । कथा का शिल्प शब्द-शिल्प से एकाकार हो गया है ।

कथानक का एक दोष उसमे नाटकीयता का अभाव है । नाटकीय-परिस्थिति की न्यूनता वार्त्तालाप और कथनोपकथन का सृजन नही होने दे सकी है । जहाॅ कथनोपकथन की संभावना थी, वहाॅ पूर्व-स्मृति के रूप में पूरी कथाएँ एक-एक व्यक्ति के मुख से कहलायी गयी हैं । कथा मे औत्सुक्य जगाने की प्रवृत्ति[2] इसलिये नही है कि प्रियप्रवास घटना-क्रम-प्रधान नहीं, विरह-भावना और गुण-चिन्तन-प्रधान महाकाव्य है ।

साकेत का कथा-शिल्प



साकेत और रामकाव्य—साकेत गुप्तजी की समस्त कृतियों मे शिल्प-विधान की दृष्टि से सर्वोत्तम ग्रंथ है और मानस के बाद इससे बढ़कर कोई रामकाव्य नहीं है। गुप्तजी की कृतियों मे यह एक मात्र महाकाव्य है, जबकि परिमाण की दृष्टि से इनसे अधिक काव्य-पुस्तकें आधुनिक युग के किसी एक

१ द्वादश सर्ग ६६-६७ :

२ प्रियप्रवास की वस्तु में आश्चर्य, रोमांच और प्रस्पन्दन का अभाव-सा है, अतः उसकी एकरसता खटकती है ।

—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डा० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री, पृ० ६६

कवि ने नहीं लिखी है। यों जयभारत भी महाकाव्य की कोटि में परिगणित होता है, पर उसमें कुछ शिल्प-विधानात्मक विशेषताओं के अतिरिक्त महा-काव्यात्मक गरिमा बहुत कम अंशों में दीख पड़ती है। राम के जीवन-वृत को आधार बनाकर लिखी जाने वाली पुस्तकें कृष्ण-साहित्य की अपेक्षा कम हैं। कदाचित मानस जैसे विशाल और उत्तम काव्य के प्रणयन के बाद किसी कवि के लिये इस क्षेत्र में अपनी प्रतिभा को आजमाने की गुंजाइश बहुत कम रह गयी। साथ ही, भक्तिकाल के बाद रीति की जो हवा चली, शृंगार की जो धारा बही, उसके अनुकूल भी कृष्ण-चरित्र ही उपयुक्त बैठा। मुक्तक के क्षेत्र में राधा-कृष्ण को लेकर शृंगारिक पद्य लिखने की पूर्व परम्परा संस्कृत से हिन्दी को मिली और यह स्वयं भी हिन्दी में पहले से वर्त्तमान थी। राम का जो शील-मर्यादित रूप तुलसी ने प्रतिष्ठित कर दिया था उससे उत्तरवर्ती कवियों को प्रेरणा नहीं मिली। अतः राधा-कृष्ण के आध्यात्मिक रूप को सहज ही भुला कर उनके रासविलास को इन कवियों ने अपना आधार बनाया। फिर भी आधुनिक उनमें गुप्तजी के साकेत तथा डा० बलदेव प्र० मिश्र के साकेत-संत और राम-राज्य रामकाव्य की कड़ी को सुदृढ बना सकने में समर्थ हुए।

रामकथा के आधार के कारण—साकेत के कवि ने राम-कथा को आधार बनाया, इसके कई कारण थे। एक तो कवि स्वयं वैष्णव है—रामोपासक, दूसरे, पिता के कारण उसके संस्कार में राम-भक्ति की महिमा पहले से प्रतिष्ठित थी। तीसरे, वह आधुनिक युग के प्रभावों की व्यंजना के लिये रामचरित्र को ही अनुकूल समझता था। चौथे, वह भारतीय गार्हस्थ्य जीवन को समग्र रूप से देखने-समझने का अभिलाषी था; और इन सबसे बढ़कर काव्य की उपेक्षित उर्मिला को वाणी देने के लिये उसे रामकथा को प्रकारान्तर से स्वीकार करना आवश्यक था। यह बात दूसरी है कि उर्मिला को चित्रित करने के लिए रामकथा को कितनी दूर तक प्रश्रय देना चाहिये था। इसका विवेचना हम चरित्र-चित्रण के प्रसंग में करेंगे।

कथा-सूत्र का विवेचन—साकेत की कथा बारह सर्गों में विभाजित है। पुस्तक का प्रारंभ वाणी-वन्दना से होता है। कवि ने साकेत के विशद वर्णन के बाद उर्मिला का परिचय दिया है। लक्ष्मण-उर्मिला के हास-परिहास का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन किया गया है, जिसकी पृष्ठभूमि में आगे आनेवाला वियोग-वर्णन अत्यन्त मार्मिक हो उठा है। हृदयग्राही चित्रण का यह शिल्प

सफल हुआ है। प्रारंभ में राम-सीता का परिचय न देकर कवि ने लक्ष्मण-उर्मिला का चित्रण कर केवल मौलिकता ही नही दिखलायी है, उन दोनों चरित्रो को महत्व भी दिया है। साथ ही गार्हस्थ्य जीवन के मनोरम वातावरण और दाम्पत्य सुख की अपूर्व झलक भी उस ने दिखलायी है। वह घटना-क्रम का आभास देना भी नही भूला है—

कल प्रिये, निज आर्य का अभिषेक है,
* * *
राम राज्य विधान होने जा रहा।[१]

द्वितीय सर्ग में घटना-सूत्र अधिक व्यापक है। मानस के आधार पर अयोध्या काण्ड के इतिवृत्तो का वर्णन है, जिसका प्रसार आठवें सर्ग तक है। इस सर्ग मे कवि ने कैकेयी-मन्थरा संवाद का मनोवैज्ञानिक रूप चित्रित किया है। दशरथ को वरदान देने की विवशता और राम को वन भेजने की कठोरता के बीच द्वन्द्व करते दिखलाकर कवि ने कौशल से इस सर्ग का अन्त किया है—

वचन पलटें कि भेजे राम को वन मे,
उभयविध मृत्यु निश्चित जानकर मन में,
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत से वे,
रहे बस अर्द्धजीवित, अर्द्धमृत से वे।[२]

तृतीय सर्ग में राम-लक्ष्मण को परिवार के श्रेष्ठजनों के सम्मुख उपस्थित किया गया है तथा उन सब की प्रतिक्रियाओ का वर्णन किया गया है। राम की धीरता और लक्ष्मण के भावावेश के चित्र भी मिलते हैं। इस सर्ग में कथा की प्राचीनता सुरक्षित है।

चतुर्थ सर्ग का प्रारम्भ कौशल्या-सीता के पारिवारिक सौहार्द से होता है। आगे चलकर वन-गमन को उद्यत सभी पात्रो की चर्चा है। सीता, लक्ष्मण, उर्मिला, सुमित्रा, सुमंत--सभी पात्रों की मुखरता दीखती है। उर्मिला की विरह-व्यथा की भूमिका से सर्गान्त होता है—

उस मूर्च्छित वधू का सिर
गोदी में रखे अस्थिर......[३]

---

१. पृ० ३३-३४

२. पृ० ६८

३. पृ० १२२

पांचवें सर्ग में राम-वन-गमन की कथा है। राम के द्वारा अपना उद्देश्य-कथन, राम की मातृभूमि-वन्दना, लक्ष्मन का गुह्राज को उपदेश आदि अनेक नवीन प्रसंग है।

छठे सर्ग मे सम्पूर्ण साकेत की मनोव्यथा का चित्रण है, जो उर्मिला की वेदना मे प्रारभ होकर दशरथ-मरण और तज्जनित वैधव्य-विलाप से समाप्त होता है।

सप्तम सर्ग की कथा मे भरत-शत्रुघ्न के नानिहाल मे अयोध्या लौटने, सारा इतिवृत्त जानने और उसी प्रतिक्रिया का वर्णन है। इसमें दशरथ के दाह-संस्कार का करुण चित्र है और चित्रकूट जाकर भरत द्वारा राम को लौटा लेने का निश्चिय किया गया है।

अष्टम सर्ग मे चित्रकूट-सभा प्रसग है। पर इसके पूर्व जंगल मे मंगल करती सीता का वर्णन है। गांधीवादी और मानवतावादी गुप्त के उद्देश्यो की योजना का आभास है। साकेत-परिवार के आगमन और वार्त्तालाप का वर्णन है। कैकेयी के चरित्र का परिमार्जन और उर्मिला-लक्ष्मण का क्षणिक किन्तु हृदयस्पर्शी मिलन है।

नवम सर्ग का कथा-विकास मे कोइ विशेष संबन्ध नहीं है। उसमें उर्मिला की विरह-गाथा का विस्तार है। कुछ हल्के-फुल्के प्रसंग भी संयोजित किये गये है, जिनसे कवि की मौलिकता सिद्ध होती है और जो विरह-व्यथा को उद्दीप्त करने या स्मरण के संचारी के रूप मे प्रयुक्त हुए है। यद्यपि नवम सर्ग कथा-क्रम टूटता-सा है, तथापि उर्मिला को महत्व देने के लिये कवि ने इस सर्ग की सृष्टि की है। काव्य-कला की दृष्टि से नवम सर्ग का उत्कर्ष दर्शनीय है।

दशम सर्ग मे भी उर्मिला का विरह-वर्णन परिव्याप्त है। नवम सर्ग मे एकाएक विरह-प्रसंग को समाप्त न कर उसका क्षीण प्रसार आगे तक दिखलाकर कवि ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। राम के अन्य भाइयो के बाल-वर्णन का पूर्व स्मरण चित्रित है। बालकाण्ड की कथा को संक्षेप मे चित्रित किया गया है। जनकपुर छोडने से लेकर अयोध्या आने तक की कथा भी वर्णित है।

एकादश सर्ग में भरत-मांडवी के चरित्र से कथा का प्रारम्भ है। कथा पुनः जुड़ गयी है। साकेत में हनूमान द्वारा सम्पूर्ण वन्य समाचार का कथन है और वहीं संजीवनी की व्यवस्था भी। पंचवटी-प्रसंग से सीता-हरण तक की कथा को उपस्थित करने का नया ढंग मिलता है।

अतिम सर्ग मे मांडवी की उत्कृष्टता, भरत की सदल-बल लंका पर चढ़ाई करने की तत्परता, कैकेयी को भी युद्ध मे भाग लेने की आतुरता, उर्मिला का भी रोना छोड वीर-वेश अपनाना, वशिष्ठ द्वारा दिव्य-दृष्टि सम्पन्न करा पूरे राम-रावण-युद्ध, मेघनाद-वध की घटनाओं का वर्णन आदि बाते मिलती हैं। कथा की समाप्ति उर्मिला लक्ष्मण मिलन से है। "पारिवारिक कथा की परिसमाप्ति रामादि के प्रत्यागमन से होती है और प्रेम-कथा की पूर्णता लक्ष्मण उर्मिला के पुनर्मिलन से।[1]

कथा-परिवर्त्तन के दृष्टिकोण और मौलिकताएँ—साकेत के कथानक मे निम्नलिखित परिवर्त्तन और मौलिकताएँ दीख पडती है, जिनके औचित्य पर विचार करना है—

१—रामायण की कथा जो अयोध्या से लका तक फैली है, उसे कवि ने साकेत मे ही केन्द्रित कर दिया है। एक स्थल पर चित्रकूट के भरत-मिलन प्रसंग का चित्रण विलग है ; कारण है भरत मिलाप के मार्मिक प्रसंग के प्रति कवि का सहज अनुराग।

२—साकेत का प्रारम्भ बालकाण्ड से नही अयोध्याकाण्ड से किया गया है। यह भी राज्याभिषेक की तैयारी से। बालकाण्ड का अप्रत्यक्ष रूप से विरहिणी उर्मिला के उद्दीपन के रूप मे नवम सर्ग मे संक्षेप में वर्णन है। इस कारण साकेत की प्रेम कथा में एक तीव्रता आ गयी है।[2]

३—बारह सर्गो मे आठ सर्गो में अभिषेक की तैयारी, कैकेयी के कोप-भवन-प्रवेश, रामवन-गमन, दशरथ-मृत्यु, चित्रकूट आदि प्रसगों का चित्रण है; शेष चार सर्गो मे चौदह वर्षो के वनवास की लम्बी अवधि का चित्रण है। इसे कुछ विद्वानो ने स्थल संकलन और काल-संकलन के असमन्वय का दोष माना है, पर नवम सर्ग मे उर्मिला की वेदना के चित्रण के माध्यम से मानो कवि ने सारी अयोध्या की मनःस्थिति का वर्णन कर दिया है—

---

१ मैथिलीशरण गुप्तः व्यक्तित्व और काव्य, डा० कमलाकान्त पाठक, पृ० ४४०।

२ बालकाण्ड के अभाव से साकेत की प्रेम-कथा शिथिल न होकर अधिक संक्षिप्त और प्रभावशालिनी बन गयी है।

—हिन्दी साहित्य, बीसवी शताब्दी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ४३।

अवधि शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जलधार ।[1]

मानो यह 'दृग-जल-धार' केवल उर्मिला ही नहीं, सारी अयोध्या 'काट रही थी'।

४—उर्मिला के सम्बन्ध की बहुत सी घटनाएँ कविकल्पित है, सर्वथा मौलिक हैं, यथा उसके पूर्व राग, संयोग-वियोग, पुनर्मिलन आदि। कथा का प्रारम्भ भी लक्ष्मण उर्मिला के प्रेम-प्रसंग मे ही होता है। उर्मिला के चरित्र को महत्व देने के कारण ही कवि ने इन मौलिक प्रसंगो की योजना की है।

५—उर्मिला ही नहीं कैकेयी के चरित्र के परिमार्जन के लिये कथा-प्रसंग को मोड़ा गया है मानस से भिन्न वरदान की बात कैकेयी-मंथरा द्वारा नहीं, स्वयं दशरथ के द्वारा उठायी जाती है। कथानक में इस तनिक से परिवर्त्तन से दशरथ की उदारता और कैकेयी का चरित्रोत्कर्ष झलकता है—

माँगना हो तुमको जो आज
मांग लो, करो न कोप न लाज।
तुम्हे पहले ही दो वरदान
प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान।[2]

मानो, कैकेयी के इरादे पहले से बुरे न थे, वह आकस्मिक कारण और मनोवैज्ञानिक स्थिति से इस दिशा में सोचने को उद्यत हुई।

हुआ सचमुच यह प्रिय सम्वाद
आ गयी कैकेयी की याद।[3]

इतना ही नहीं, कैकेयी चित्रकूट-सभा में अपने कर्म पर पाश्चाताप भी करती है। उसके प्रायश्चित्त का स्वाभाविक और उदात्त रूप बारहवे सर्ग में प्रकट होता है, जब वह राम के सहायतार्थ युद्ध-स्थल मे जाने को तैयार होती है। यह उद्भावना मौलिक के साथ ही स्वाभाविक भी है, क्योंकि वह एक बार रणभूमि में पति की बहुत बड़ी सहायता कर चुकी थी, जिसके फलस्वरूप इसे दो वरदान माँगने की छूट मिली थी।

---

१ पृ० ३४१
२ पृ० ६३
३ वही।

६—कुछ और चरित्रों को भी रामायण की अपेक्षा महत्व देने के लिये कवि ने कथा मे उनका आवश्यकतानुसार विस्तार किया है। शत्रुघ्न-माण्डवी आदि के नाम इस दिशा मे लिये जा सकते है। माण्डवी को अंतिम सर्गो के कथा-विकास मे स्थान दिया गया है। अरण्यकाण्ड की कथा शत्रुघ्न से कहलायी गयी है।

७—मानस की तरह दशरथ की कैकेयी को वरदान देने के बाद राम-लक्ष्मण *बुलाये नही जाते, नित्य नियम के अनुसार वे स्वयं पिता की वन्दना के लिये* आ जाते है। इतना परिवर्त्तन कर देने से दशरथ, राम, लक्ष्मण—तीनों का चरित्रोत्कर्ष हो जाता है और मर्यादा का निर्वाह भी।

८—हनूमान ने भी कथा के संगठन मे महत्वपूर्ण काम किया है। किष्किन्धा-काण्ड, सुन्दरकाण्ड और लकाकाण्ड की उन्होने कथा ही नहीं वर्णित की है, बल्कि वे संजीवनी बूटी लाने को किसी वैद्य से पता पूछकर पहाड़ पर नही जाते, वे उसे भरत द्वारा (जिन्हें किसी साधु ने वह जड़ी दी थी) साकेत मे ही पा लेते है। इन दोनों ही रूपो से हनूमान कथा को संक्षिप्त बनाकर साकेत नगरी की महत्ता बढ़ाते हैं।

९—जडी-बूटी का एक और उपयोग कवि ने साकेत मे किया है। नवम सर्ग मे उर्मिला इस तथ्य का उल्लेख करती है कि चित्रकूट मे सीता ने उसे गुड़मार जड़ी दी है,[1] जिसके खाने से भूख-प्यास मर-सी जाती है।…और उसके वियोग के क्षणों मे वह जड़ी बहुत अधिक सहायता पहुँचा रही है। इस कल्पना का कारण उर्मिला का बिना खाये पीए भी वियोग सह लेने के लिये जीने का औचित्य सिद्ध करना है, क्योकि उसके लिये भोग रोग बन रहा है—

रस है बहुत परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग
बिना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग।[2]

१०—नवम सर्ग में कथा की एक क्षीण किन्तु मौलिक झलक दिखायी गयी है, चित्रकूट में उर्मिला की माता के आने का आभास देकर—

साल रही सखि, माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको।[3]

---

१ वहीं, पृ० २७१

२ वही।

३ पृ० २७३

११—साकेत में कवि ने जिस रण-सज्जा का चित्रण किया है, वह केवल कैकेयी की समर-यात्रा की भावना ही प्रकट नहीं करती, बल्कि वह कवि की राष्ट्रभक्ति और उर्मिला की वीर-भावना का भी परिचायक है। कवि ने भारतमाता के रूपमें सीता को बन्दिनी देखने की कल्पना की है...

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसो के बन्धन मे,
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।[1]

१२—राज्याभिषेक के समय भरत की अनुपस्थिति के कारणो की योजना कर कवि ने बुद्धिवादी युग की चेतना का परिचय दिया है।

१३—विरह-भावना के प्रेमी साकेतकार ने मानस की अपेक्षा दशरथ-मरण का विस्तार से वर्णन किया है और रानियो के सती होने की योजना को स्थान देकर भी उसे नये रूप में बुद्धिवादी युग के अनुकूल रखा है—

सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु-भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ ॥[2]

१४—प्रत्यक्ष रूप से, और पूर्वस्मृति के रूप में अप्रत्यक्ष रूप से भी, हास-परिहास की लघु कथाओ की मार्मिक योजना की गयी है। यथा; प्रथम सर्ग में उर्मिला-लक्ष्मण और कीर का प्रसंग, नवम सर्ग में किसान की अबला, बरसात की रात, जम्बु फल आदि के प्रसंग। ये छोटे-छोटे चित्र भाव को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

१५ मानस की भाँति साकेत का चित्र-कूट-प्रसंग एक आध्यात्मिक नहीं, वरन् पारिवारिक घटना है।

१६—राम के कार्य और उनके जीवन से सम्बद्ध घटनाएँ मानवोचित स्वाभाविकता लिये हुई हैं। इसीलिये कुम्भकर्ण का वध भी भाई का बदला भाई से लेने के प्रसंग मे चित्रित किया गया है। साहचर्य सम्बन्ध के कारण

---

१ पृ० ४५४
२ पृ० १४८

मानवधर्मी राम को रावण की मूर्च्छा देख कदाचित लक्ष्मण की मूर्च्छा की याद आ जाती है। इसीसे वे दुखी हो जाते है। यदि केवल यह कथन होता कि 'मैं सह सकता नहीं दुःख रावण अब तेरा' तब तो इसकी ध्वनि कुछ और होती—अर्थात् 'मैं तुझे शीघ्र मारकर दुख मुक्त कर देना चाहता हूँ।' पर कवि ने राम के इस कथन को स्वयं ही करुणामय माना है—

मेरे स्वामी धन्य हुए उनके पद-सेवी,
अरि का भी यों दुःख जिन्हें दुःसह है देवी ॥[1]

१७—कवि ने कथानक में नाटकीय वैषम्य के द्वारा विस्मय की सृष्टि की है। यथा, अष्टम सर्ग में राम-सीता के जंगल मे मगल के प्रसंग में सीता कहती है—

हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूं मैं वन मे
तुम मुझे खोजते फिरो गंभीर गहन में ॥[2]

और यह परिहास का प्रसंग आगे कितना ठीक निकल जाता है!

१८—पंचम सर्ग मे कवि ने राम को लोकनायक बनाकर 'पिकेटिंग' के दृश्य को उपस्थित किया है। निश्चय ही यह आधुनिक युग मे गांधीवादी सत्याग्रह का प्रभाव है। पर इस समय रामचन्द्र का अपने आदर्शों का कथन[3] राम-कथा की एक नवीन-योजना भले ही हो, है आवश्यक। इसीलिए इसे नंददुलारेजी ने 'कृत्रिम आधुनिकता' कहा है।[4]

१९—साकेत की सीमा समाप्त होते समय कवि ने मातृभूमि-प्रेम की व्यंजना कर एक ओर अपनी देशभक्ति और दूसरी ओर राम की विनम्रता प्रकट की है—

जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे। आदि-आदि।[5]

---

१ पृ० ३२६
२ पृ० १६३
३ पृ० १२८-१३२
४ आधुनिक साहित्य, पृ० १००-१०१
५ पृ० १३३

२० चित्रकूट के मूल-निवासी केवल राम के प्रति भक्ति-भाव ही नही रखते, उन्हे अपने आदर्शो के पालन के लिये अनुकूल वातावरण भी देते है । इस संबंध मे डॉ० कमलाकान्त पाठक ने ठीक लिखा है, 'पूर्ववर्ती रामकाव्य के प्रणेताओ ने इस कथा के पारिवारिक पार्श्व और साधारण जीवनन-चर्चा के प्रसंगो को उद्घाटित नही किया । वे महद् चरित्रो की अवतरणा करने मे संलग्न रहे ।'[१]

२१ षष्ठ सर्ग मे नायिका को प्रमुखता देकर पारिवारिक क्लेप से उसे आक्रान्त दिखलाकर कथा-विकास के तन्तु को सुदृढ बनाया गया है ।

२२ चित्रकूट मे लक्ष्मण के साथ उर्मिला का क्षणिक मिलन सुख की अपेक्षा विरह को ही घनीभूत बनाता है ।

२३ बारहवें सर्ग मे वशिष्ठ द्वारा दिव्य-दृष्टि सम्पन्न कराकर लका-काण्ड की घटनाओं को साकेत मे घसीटा गया है । यह अलौकिकता बुद्धिवादी युग के अनुकूल नही है । टेलिविजन के इस युग में भी आत्मा द्वारा इस शक्ति का उपयोग कवि के पौराणिक विश्वास का ही परिणाम कहा जायेगा ।

२४ राम से अधिक लक्ष्मण को महत्व देने के क्रम मे कवि ने रावण-वध की कथा से अधिक प्रमुखता मेघनाद-वध को दे दी है ।

२५ उसी प्रकार उर्मिला को महत्व देने के लिये ही अन्य रामायणों से विलग उर्मिला को पुष्पवाटिका और धनुप-यज्ञ के प्रसंगों का स्मरण करते हुए साकेत में उपस्थित किया गया है । तात्पर्य यह कि सीता की जैसी प्रीति राम के प्रति थी, वैसी ही उर्मिला की लक्ष्मण के प्रति । कवि कथा की इसी सिद्धि के लिये यह मोड़ देता है ।

निष्कर्ष

इसी तरह गुप्त जी की राम-कथा यद्यपि अपने पूर्ववर्त्ती राम-काव्य के प्रणेताओं से प्रभावित है तथापि साकेत में वह नये परिवेश मे चित्रित और नयी उद्भावनाओं से परिपूरित है । इस दिशा मे गुप्तजी ने साकेत में अपने उस आदर्श का पालन किया है जिसे उन्होंने मेघनाद-वध के अनुवाद की भूमिका में व्यक्त किया है ।[२]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्तित्व और काव्य, पृ० ४२१

२ किसी कथानक में आवश्यकतानुसार फेर-फार करने का अधिकार कवियों को है, पर आदर्श को विकृत करने का अधिकार किसी को नही है ।

--द्वितीय आवृत्ति, पृ० ७२ ।

यद्यपि कवि ने साकेत मे स्थान-स्थान पर वाल्मीकि (चतुर्थ सर्ग) तुलसी (षष्ठ सर्ग), भास (सप्तम सर्ग) भवभूति (नवम सर्ग), कालिदास (दशम सर्ग) और व्यास (एकादश सर्ग) को बन्दना की है, तथापि उन पर विशेष प्रभाव तुलसी का है। हाँ, प्रेम-कथा के आदर्श पर कालिदास का विशेष प्रभाव है।[1]

शिल्प की दृष्टि से प्रारम्भ, मध्य और अन्त—साकेत के प्रारम्भ, मध्य और अन्त भी पर्याप्त मौलिकता लिये हैं। कवि द्वारा प्रबन्धात्मकता के शिल्प-विधान मे अपने पूर्ववर्त्ती कवियों-जैसी इतिवृत्तात्मकता-प्रधान शैली को नही अपनाया गया है। यद्यपि कवि द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्माकया से प्रभावित था, पर यहाँ छायावाद का ही पूर्ण प्रभाव है। साकेत की रचना द्विवेदी-युग और छायावाद-युग के बीच हुई—जिसके निर्माण में लगभग २८ वर्ष लगे। इसकी रचना सन्१९१४ के आसपास शुरू हुई थी और १९३१ में समाप्त हुई। १९३२ में इसका प्रकाशन हुआ। सन् १४ से १८ के बीच सिर्फ पाँच सर्ग लिखे गये। फिर सन् २९ के आस-पास उसका आठवाँ सर्ग 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ। तात्पर्य यह कि छठे, सातवें और अठवें सर्गो की रचना १९१८ से १९२९ के बीच करीब १२ वर्षो मे हुई, और पुनः २९ से ३१ के बीच दो वर्षो में शेष चार सर्ग लिखे गये। समय के इतने अधिक व्यवधान के कारण साकेत के प्रारम्भ मध्य और अन्त की कथा में अटूट शृंखला न आ सकी। साकेत के प्रारम्भिक अंशो मे (जो आठवें सर्ग तक फैले है) जो व्यवस्था है, वह उसके मध्य भाग में (जो आठवें-नवें सर्ग में है) नहीं है। नवम-सर्ग उर्मिला की विरह-भावनाओं को व्यंजित करनेवाले मुक्तकों से भरा हुआ है और दशम सर्ग सरयू को लक्ष्य कर रची गयी सम्बोधन-गीति है। केवल अयोध्या काण्ड की कथा के लिये जहाँ कवि ने आठ सर्ग लिये हैं वहाँ अन्तिम दो सर्गो में कथा-क्षिप्रता लाकर उसे शेष कहानी पूरी करनी पड़ी है।

संधियाँ—साकेत की कथा में नाट्य संधियों का पूर्ण निर्वाह ढूँढना अन्याय है, क्योंकि महाकाव्य की प्राचीन मान्यताओं का अन्धानुकरण करना कवि का लक्ष्य नही है। पूर्ण नाट्य संधियों के निर्वाह से कवि के लक्ष्य में

---

१ साकेत में मैंने कालिदास की प्रेरणा से, उस प्रेम की झलक देने की चेष्टा की है, जो भोग से आरम्भ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है।

—महात्मा गांधी को लिखित कवि का पत्र, रामनवमी, १९२९

बाधा पहुँच सकती थी। फिर भी कार्य-व्यापार की अवस्थायें कुछ न कुछ अपने आप आ ही गयी है।[1]

अव्यवस्था का कारण—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, श्री गिरीश[2], डा० शम्भूनाथ सिंह,[3] शिवदान सिंह[4] आदि ने साकेत के कथा-तन्तु के सुनिश्चित संयोजन प्रभाव को दोष माना है। किन्तु यह नही भूलना चाहिये कि राम-कथा जितनी दूर तक हमारे संस्कार में बुद्ध मूल है, उसमें परिवर्तन लाना साधारण कौशल का काम नही था और गुप्तजी ने साकेत में जो मौलिकताएँ उपस्थित की है, उससे अधिक की गुंजाइश नही हो सकती थी। कथा-वस्तु के किंचित असंतुलन और अव्यवस्था के कारण ही नवीन उद्‌भावनाएँ सम्भव हुई हैं। प्राचीन कथा को ज्यों का त्यों उपस्थित कर कवि क्या मौलिकता लाता!…… और तब उसके लक्ष्मण-उर्मिला का क्या होता?

निहरी साधना—गुप्तजी ने काव्य की उपेक्षिता को वाणी देने के लिये उर्मिला को महत्व दिया, पर उनके मन में राम-सीता की भक्ति मिट न सकी। फलतः इन दोनों पहलुओ के चित्रण से कथानक में थोड़ी अव्यवस्था आ गयी। उर्मिला-लक्ष्मण की प्रेम-कथा आधिकारिक कथा-वस्तु तो हुई, पर राम-सीता की कथा पूर्णतः प्रासंगिक न बन सकी, अपने चरित्रोत्कर्ष और गुप्तजी की वैष्णव-भावना के कारण उभर गयी। यह दोष इसलिये महत्व न पा सका कि कवि

१—शूर्पणखा-प्रसंग मे ही प्राप्त्याशा आरम्भ हो जाती है और लक्ष्मण की मूर्च्छा भंग होते ही नियताप्ति समझनी चाहिये। आगे मेघनाद-वध मे लक्ष्मण-मिलन निश्चित होता है। बस फिर कार्य सिद्ध हो जाता है।

—साकेत-एक अध्ययन, डॉ० नगेन्द्र, पृ०१७ २८

२. गुप्त जी की काव्य-धारा, पृ० १८६–२३३, चरित्र-चित्रण द्वारा कथा-संगठन के विवेचन में।

३. यद्यपि राम-कथा में नवीनता और आधुनिकता आयी है, किन्तु इनकी अधिकता से रामायण की कथा में जो महान कार्य-व्यापार है, साकेत में उसकी समुचित योजना नहीं हो पायी है। इस तरह महती घटना और महत् कार्यों को योजना उचित ढंग से नहीं होने से उनकी प्रबन्धात्मकता में बहुत बाधा पड़ती है।

—हिन्दी महाकाव्यों का स्वरूप विकास, पृ० ६९८

४. इन अन्तिम चार सर्गों में, विशेषकर दो सर्गों में वस्तु-व्यापार का काव्योचित विकास नहीं हो पाया, जिससे काव्य में शिथिलता आ गयी है।

—हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० ५५

ने एक प्रेम-कथा के साथ ही राम-काव्य की अभिनवता भी प्रमाणित कर दी है। कवि ने साकेत मे राम के गौरव को अक्षुण्य रखने, राम-कथा को मर्यादित रखने और उर्मिला को महत्व देने की तिहरी साधना की है।

लक्ष्य-निर्माण

साकेत की कथा-वस्तु यदि बहुत नियोजित नही है, तो बहुत उखडी-उखड़ी भी नही है। वर्णन की मधुरता, भावो की प्रवणता और अभिनवता के कारण सरसता बनी रहती है। महाकाव्यो के आदर्श का अन्धानुकरण कवि का लक्ष्य नही।[1] वस्तुत: साकेत का कथा-शिल्प अपना प्रतिमान आप है। उसकी विशेषता चर्वित-चर्वण या परम्पराभुक्त होने में नही, नये काव्य-सौन्दर्य के उद्घाटन मे है।

कामायनी का कथा-शिल्प



कामायनी, एक साधन-ग्रन्थ—कामायनी जयशंकर प्रसाद की अमर रचना और छायावाद युग की महत्तम कृति है। महाकाव्य के क्षेत्र मे यह एक नवीन प्रयोग है और शिल्प-विधान की दृष्टि से विश्व-साहित्य को एक अनुपम देन। यह एक साधना-ग्रन्थ है, जिसमें प्रसाद के जीवन का सारा निचोड़ समाहित है। सृष्टि के आदिकाल के प्रथम नर-नारी के जीवन को कथा का आधार बनाकर कवि ने जहाँ एक ओर इसे प्राचीनतम संस्कृति से संयुक्त किया, वहाँ दूसरी ओर उसने कथानक-पक्ष को गौण बनाकर मानव-मनोवेगों के विश्लेषण और प्रतीकात्मकता एवं सांकेतिकता को प्रधानता देकर नयी महाकाव्य-भूमि का अनुसंधान किया।

कथा-सूत्र का आलोचनात्मक स्वरूप—कामायनी की कथा पन्द्रह सर्गो में विभक्त है। प्रत्येक सर्ग का नाम मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर आधारित है—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द।

---

१. क्या आप इसे नहीं मानते कि आपका महाकाव्य भी एक दिन रूढियों में आकर बँध गया।

—आचार्य वाजपेयी के नाम गुप्तजी के एक पत्र से।

प्रथम सर्ग चिन्ता में प्रलयकालीन दृश्य से कथा प्रारम्भ होती है। सम्पूर्ण सृष्टि में केवल मनु बच रहे हैं। हिम-गिरि के उत्तुंग-शिखर पर बैठे मनु कातर नयनों से प्रलय-प्रवाह देखते हुए अतीत-वैभव, प्रलय की भयानकता और सृष्टि की नश्वरता पर विचार कर रहे हैं। पानी धीरे-धीरे सूख रहा है और एक सुनहले प्रात का आगमन हो रहा है। मनु की चिन्ता के कारण इसका नाम चिन्ता सर्ग पड़ा है।

दूसरे सर्ग में नया प्रभात नयी आशा लेकर आता है। प्रकृति में नव-जीवन का संचार दिखाई पड़ता है और मनु भी एक पर्वत-गुफा में अपना निवास-स्थान बनाकर भोजनादि की व्यवस्था करते हैं। यह इस आशा से कि शायद इस जल-प्लावन में कोई और भी बचा हो। वे बची आग सुरक्षित रख देते हैं।

तीसरे सर्ग में विरक्त मनु के सामने काम-गोत्र की बालिका श्रद्धा उपस्थित होती है। प्रज्वलित अग्नि-होत्र देखकर वह किसी व्यक्ति का अनुमान करती है। दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होते हैं। श्रद्धा मनु के चिन्ताग्रस्त, निराशा-भरे जीवन में कर्ममय प्रेरणा का संचार करती है। श्रद्धा के मिलन से मनु खिल उठते हैं और उनका एकाकी जीवन मुस्करा उठता है, काम-प्रेरित हो जाता है।

चौथे सर्ग में वासना का उदय होता है। श्रद्धा-मनु एक दूसरे को आत्म-समर्पण कर देते हैं और मन का जादू तन को प्रभावित कर देता है।

पाँचवें सर्ग में लज्जा का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक स्वरूप अंकित किया गया है। वासना के आने पर लज्जा का विकास स्वाभाविक है। लज्जा और श्रद्धा के वार्त्तालाप के द्वारा लज्जा के स्वरूप, उसकी विशेषता, नारीत्व की महिमा आदि का वर्णन किया गया है।

प्रलय में दो असुर पुरोहित किलात-आकुलि भी बच जाते हैं। वे श्रद्धा द्वारा पालित पशुओं को देखकर खाने को लालायित हो उठते हैं। वे मनु को बहकाते हैं। यज्ञ कराते हैं। पशुओं के बलिदान करते हैं। मनु को सोमपान करा मस्त बना देते हैं। श्रद्धा यज्ञ में बिखरे बलि-पशुओं के रुधिर-हड्डियों आदि को देखकर क्षुब्ध हो उठती है। लेकिन मनु के प्यार और स्पर्श से मान तज कर हिंसा-भावना के लिये मीठी फटकार सुनाती है। फिर श्रद्धा भी

सोमपान करती है। दोनों एक दूसरे पर न्योछावर हो जाते है। यही है कर्म-सर्ग।

ईर्ष्या सर्ग में गर्भवती श्रद्धा का अपनी भावी सन्तान के प्रति खोया रहना मनु को खलता है। वह तकली चलाती है, घर बनाती है और शांत जीवन व्यतीय करती है। पर अपनी वासना की पूर्ति में बाधा और अपने एकाधिकार में भावी संतान के कारण खतरा देख, वह अनमना-सा रहता है। एक दिन इसी प्रतिक्रिया में मनु घर छोड़कर चला जाता है। श्रद्धा रोकती रह जाती है।

इड़ा सर्ग मे श्रद्धा को छोड़कर इधर-उधर उद्विग्न घूमनेवाले मनु का वर्णन है, जो उजड़े हुए सारस्वत नगर की अधिष्ठात्री इड़ा के पास पहुँचते हैं। इड़ा बुद्धि की प्रतीक है और श्रद्धा से विलग प्रकृतिवाली नायिका है। वह इनको ससम्मान सारस्वत नगर की सुव्यवस्था का भार दे देती है।

स्वप्न सर्ग मे श्रद्धा के वियुक्त जीवन की झाँकी है श्रद्धा केपुत्र मानव का अवतरण और श्रद्धा के स्वप्न का विवरण है, जिसमे वह इड़ा के प्रति मनु की कामातुरता, इड़ा की भयातुर पुकार, प्रलयकालीन दृश्य और मनु का बन्दी बनने आदि का दृश्य देखती है।

श्रद्धा का स्वप्न संघर्ष सर्ग मे सत्य निकलता है। बौद्धिकता के आधिक्य ने सारस्वत नगर को अवनति के गर्त्त में पहुँचा दिया। मनु पुत्री के समान इडा को वासना के दामन में समेटने को आतुर हो उठे। प्रजा बिगड़ खडी हुई। किलात-आकुलि के नेतृत्व मे प्रजा ने विद्रोह किया। किलात-आकुलि को तो मनु ने मार डाला, पर इस संघर्ष में वे भी घायल हो गये।

निर्वेद सर्ग में घायल मनु से श्रद्धा को भेंट होती है। इडा मनु को अच्छा भी समझती है और बुरा भी। अच्छा इसलिये कि उसने उसके उजड़े नगर को बसाया, बुरा इसलिये कि वह वासनान्ध था। फिर भी इड़ा मे कुछ सहानुभूति दिखाई पड़ती है। मानव को लिये श्रद्धा मनु को खोजती यहाँ पहुँच जाती है। वह मनु की सेवा करती है। इड़ा श्रद्धा के द्रुति सहानुभूति से भर उठती है। मानव अपने पिता से मिलता है। मनु श्रद्धा के साथ किये गये अत्याचारों के प्रति ग्लानि और पाश्चाताप के अनुभव करते है। किन्तु दुख और पाश्चाताप की प्रतिक्रिया पलायन का रूप धारण करती है। मनु सब को सोते छोड़ एक रात भाग खड़े होते है।

श्रद्धा से इड़ा क्षमा माँगती है। सब कुछ के लिये अपने को दोषी मानती है। श्रद्धा हृदय और बुद्धि के संतुलन का उपदेश देती है। श्रद्धा अपने पुत्र को पति की कलंक-कालिमा धोने और इड़ा के पास शासन-सूत्र सँभालने को छोड़ मनु को खोजने निकलती है। मनु एक गुफा में मिलते हैं। मानव के त्याग की आदर्श महत्ता मुन श्रद्धा के वास्तविक रूप को पहचानते है। यही है दर्शन सर्ग की कथा का मूल।

रहस्य में श्रद्धा का मनु को लेकर हिमालय-अभियान है। मनु को सान्त्वना दे उत्साहित कर श्रद्धा उन्हे ऊपर तक ले जाती है। मनु तीन आलोक-विन्दु देखते हैं। श्रद्धा उसकी व्याख्या करती है। वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लोक का परिचय देती है। तीनो लोक अंत मे प्रज्वलित होकर सम्बद्ध हो उठते हैं।

अंतिम सर्ग है आनन्द। मनु और श्रद्धा वही तपस्या करते है। सारस्वत प्रदेश से इड़ा-मानव और अन्य यात्री वहाँ आकर उनके दर्शन करते है और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द परिव्याप्त देखते है।

कथा-सूत्र की दृष्टि से यही संक्षिप्त रूप है कामायनी का। पर यहाँ कथा के ऊपरी स्वरूप मे कवि का व्यक्तित्व नहीं उभरा है, वह तो उनके प्रतीकों मे है, विश्लेषणो मे में, मनोवैज्ञानिक चित्रो मे है, दार्शनिक-निरूपण मे है।

अध्ययन-मनन और कल्पना—कामायनी की कथा-वस्तु सस्कृत साहित्य के अनेक ग्रंथों के कलात्मक प्रसंगो को एकत्र कर रची गयी है। ऐतिहासिक और पौराणिक आधार होने पर भी उनके संग्रथन में एक नवीनता है। जैसे बिखरी हुई ईंटों को जोडकर कुशल अभियन्ता एक महल बना देता है, उसी तरह भारतीय वाङ्मय के बिखरे हुए कथा-सूत्रों को एकत्र कर कवि प्रसाद ने महाकाव्य का प्रासाद निर्मित कर दिया है। मुख्य रूप से ऋग्वेद, शतपथ, ब्राह्मण छांदोग्य उपनिषद तथा अनेक पुराणो का सहारा लिया गया है। लेकिन कवि की जो सबसे बड़ी मौलिकता है, वह है इन सम्पूर्ण कथाओं का पहली बार एक सूत्र में पिरोकर आदि पुरुष और आदि स्त्री के सम्बन्धो के माध्यम से इतने बड़े कथात्मक महाकाव्य का निर्माण करना। कामायनी मे इतिहास, वेद, पुराण के साथ कल्पना का प्रचुर समन्वय किया गया है।

कथा-शिल्प के परिवर्त्तन-विन्दु और मौलिक उद्भावनाएँ—मुख्य रूप से कथा शिल्प की निम्नलिखित विशेषताएँ कामायनी के कथानक में ऐसी

है, जिनमें कवि की अन्तर्दृष्टि और मौलिकता के साथ ही सकारण परिवर्त्तन के प्रमाण है—

१—प्रथम सर्ग मे जो जल-प्लावन का वर्णन है, वह शतपथ ब्राह्मण पर आधारित है। यों यह वर्णन अग्नि पुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, भागवत पुराण, स्कन्द पुराण, भविष्यपुराण, कालिकापुराण, वायुपुराण, महाभारत, बाइबिल तथा अवेस्ता एवं ग्रीक, बेबीलोनिया, चीन आदि के धर्म-सम्प्रदाय के ग्रथो मे भी मिलता है। पर कवि ने मुख्यत: शतपथ ब्राह्मण का आधार लेकर भी उसमे पर्याप्त परिवर्त्तन कर दिया है।

शतपथ ब्राह्मण में मत्स्य के सीग के सहारे मनु की नाव बॉधकर हिमालय तक पहुँचती है।[1] पर कवि ने आधुनिक युग के अनुकूल इस अलौकिक प्रसंग को विश्वसनीय बनाने के लिये मत्स्य के चपेटे से उस नाव को हिमालय तक पहुँचाया है—

महामत्स्य का एक चपेटा
दीनपोत का मरण रहा।
किन्तु उसी ने ला टकराया।
इस उत्तर गिर के शिर से।[2]

२—ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण एवं पुराणो में श्रद्धा का वर्णन मनु-पत्नी के रूप मे ही मिलता है। उसके जन्म स्थान आदि की चर्चा नही है; पर कामायनी मे प्रसाद ने गान्धार को उसका जन्म-स्थान बनाया है तथा उसके रूप-गुण-स्वभाव आदि की मनोहर कल्पना की है। परम्परागत तथ्यो का यह नया संस्कार पाठको को सुकर लगता है।[3]

३—भागवत आदि ग्रथो मे श्रद्धा-मनु के दस पुत्रो का विवरण है, पर प्रसाद ने केवल एक पुत्र मानव का वर्णन किया है। इस संक्षिप्तता से कथानक

१. स यतिथि तत्समा परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासा चक्रे सहोवाच। अपीपरं वै त्वा वृक्षे नाव प्रतिबध्नीष्व—शतपथ ब्राह्मण, काण्ड १, ८, १ ५-३

२. वही पृ० १७

३ Traditional matter must be glorified, since it would be easier to listen to the re-creation of familier stories than to quite new and unexpected things......

—The Epic; Abercrombie, Page, 39.

उलझनों से बच गया है, क्योंकि इतिवृत्तात्मक वर्णन कवि का न साधन है, न साध्य। साथ ही प्रतीक रूप में मानव से सम्पूर्ण मनुष्य जाति का बोध भी हो गया है।

४—आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की यह धारणा है कि स्त्री के गर्भाधान की बेला में अपनी वासना की पूर्त्ति न होते देख तथा आगामी पुत्र द्वारा अपनी पत्नी की सेवा और अधिकार-भावना के बँट जाने की आशंका से पुरुष कुछ खिंचा-खिंचा-सा रहता है। ईर्ष्या सर्ग में गर्भवती श्रद्धा के प्रति मनु की उदासीनता की जो कथा लिखी गयी है, वह उसी मनोवैज्ञानिक तथ्य पर आधारित प्रसाद का सर्वथा मौलिक काव्य-वर्णन है—

पलभर की उस चंचलता ने खो दिया हृदय का स्वाधिकार।

*　　　*　　　*

मनु को अब मृगया छोड़ नहीं रह गया और था अधिक काम।

*　　　*　　　*

सब कुछ लेकर बैठो है वह मेरा अस्तित्व हुआ अतीत।

*　　　*　　　*

यह जलन नही सह सकता मैं चाहिये मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में मैं रमण करूं बन एक तत्त्व।
यह द्वैत अरे यह द्वैविधा तो है प्रेम बाँटने का प्रकार।[1]

५—इड़ा और मनु के सम्बन्ध मे की बात तो ऋग्वेद और शतपथ ब्राह्मण में आती है, किन्तु 'इडा' 'और' 'संवर्ष' सर्गो के कथानक का विस्तार कवि की सूझ पर आधारित है। कामायनी-कथा के क्षी आधार को कविने सारस्वत प्रदेश मे मनु का इड़ा के प्रति आकर्पन, मन के शासनाधिकार, इड़ा के प्रति वासनात्मक चेष्टा, प्रजा के विद्रोह आदि की अनेक घटनाओ के द्वारा विस्तृत रूप दे दिया है।

६—शतथप ब्राह्मण में किलात-आकुल मनु-यज्ञ मे पुरोहित के रूप मे वर्णित हैं[2]; पर कवि ने घटना-विस्तार मे उनसे साहायता ली है। उन्हे

१. कामायनी पृ० १३१, १६१, १५३

२. किलाताकुली इति हासुररब्रह्मवासतुः। तौ हो चतु श्रद्धादेवो वै मनुः आवनु वेदावेति। तौ हागत्योचतुर्मनो याज यावत्वेति।

—काण्ड, १, १, ४, १४—१५

सारस्वत प्रदेश के विद्रोहियों का नेता बनाया है। इस तरह विश्वासघात के कारण मनु के निर्वेद के कई कारणों में ये दोनों भी एक निमित्त बनते हैं।

७— स्वप्न, दर्शन रहस्य और आनन्द सर्ग की कथा कवि की मौलिक कल्पना है। श्रद्धा का मनु के सम्बन्ध का भयानक स्वप्न, मनु का युद्ध मे आहत होना मनु का पुनः भाग जाना, श्रद्धा का फिर ढूँढ लेना, आनन्द-लोक तक ले जाना आदि कथा-तत्वों का स्वरूप-निर्माण स्वयं प्रसाद ने किया है। इस कल्पना के द्वारा न केवल कथा आगे बढ़ती है, वरन् श्रद्धा के व्यक्तित्व के उत्कर्ष, कवि के जीवन-दर्शन के स्पष्टीकरण और फलागम की प्राप्ति में सहायता पहुँचाती है। उससे कवि के आदर्शों की रक्षा होती है।

८—शतपथ ब्राह्मण में इड़ा मनु को पहले मिलती है, कामायनी मे बाद को। इस क्रम-परिवर्तन से एक बहुत बड़ा लाभ कवि को यह हुआ कि कथा की गति तीव्र हो गयी। मनु के उन्नत-अवनत जीवन की झाँकियाँ एक क्रम से मिल सकीं।

९—कथा के विस्तार और संघर्ष को तीव्रता प्रदान करने की दृष्टि से ही दो-दो बार मनु द्वारा श्रद्धा को छोड़ने की योजना की गई।

१०—छोटे-छोटे कई प्रसंगो की उद्‌भावना ने कथा को नया स्वरूप दे दिया है—अत्यन्त आकर्षक, जीवन्त और रसपूर्ण। यथा, मनु में चिन्ता का संचार, आशा का आगमन, मनु के प्रति श्रद्धा की उत्साह भरी प्रेरक वाणी, श्रद्धा का अहिंसात्मक दृष्टिकोण और उसके द्वारा गार्हस्थ्य-निर्माण की तत्परता, तकली काटने का दृश्य, सारस्वत प्रदेश की सुव्यवस्था और बौद्धिकता के कारण उसका पतन, इड़ा और मानव का तीर्थाटन के प्रसंग मे श्रद्धा-मनु-मिलन आदि।

११—कथानक में सभी कार्यावस्थाओं का उपयोग हो गया है—उनका जानबूझ कर उपयोग किया गया नही मालूल पड़ता है। मनु की चिन्ता और आशा के उदय मे 'प्रारम्भ'; श्रद्धा-मिलन, संभोग एवं सारस्वत प्रदेश की सुव्य-वस्था में 'प्रयत्न'; श्रद्धा और मानव द्वारा मनु की खोज, मिलन, साथ रहने का आश्वासन आदि में 'प्रप्त्याशा'; मनु की दूसरी बार की खोज और त्रिलोक के दर्शन में 'नियताप्ति' एवं समन्वय, आनन्द प्राप्ति आदि में 'फलागम' है। इसमें पाश्चात्य रीति की सभी कर्यावस्थाओं का निर्वाह हुआ है, केवल एक अवसान

का अभाव है। तात्पर्य यह कि कामायनी की कथा में पाश्चात्य और पौरस्त्य कथा-शिल्पों का समन्वय हुआ है।

१२—नाट्य सन्धियों का निर्वाह कथानक की सुश्रृंखला का प्रमाण है। कामायनी में पाचों नाट्य सन्धियों का सफल समन्वय हुआ है। आशा सर्ग के मध्य से[1] लेकर पूरे श्रद्धा सर्ग तक मुख सन्धि, काम सर्ग से लेकर कर्म सर्ग तक प्रतिमुख सन्धि; ईर्ष्या और इड़ा सर्गों मे गर्भ संधि, स्वप्न संघर्ष और निर्वेद सर्गों में विमर्श सन्धि और शेषांश की बहुत सारी घटनाएँ निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत आती हैं।

१३—कामायनी की कथा की एक विलक्षणता उसका रूपकत्व है। स्वय कवि ने भी इसे स्वीकार किया है।[2] मुख्यत: निम्नलिखित रूपकों और प्रतीकों का उपयोग हुआ है—

देव—इन्द्रियाँ

जलप्लावन—मन का सांसारिकता के जल मे पूर्णत: डूब जाना।

मनु—मन

श्रद्धा—हृदय

पशु—करुणा, दया

हिसा-यज्ञ—पाप, हिसा

किलात-आकुलि—आसुरी प्रवृत्तियाँ

इड़ा—बुद्धि

सोमलता—भोग

मानव—नवीन मानव, जो चेतना (मन), हृदय (श्रद्धा) और बुद्धि (इडा) के सम्पर्क से एक विकसित व्यक्तित्व है।

त्रिलोक—इच्छा, ज्ञान और क्रिया के लोक,

बैल—धर्म

---

१. जलने लगा निरन्तर उनका
अग्नि होत्र सागर के तीर
मनु ने तप मे जीवन अपना —पृ० १३
किया समर्पण होकर धीर।

२. यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिये मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

—आमुख, कामायनी, पृ० ३

पर्वत की ऊंचाई—सात्विक जीवन या आदर्श की ऊँचाई ।
मानस—मानसरोवर, समरसता
कैलाश—आनन्दमय कोष

न समासोक्ति, न अन्योक्ति—इस तरह कामायनी की कथा जहाँ एक ओर मानव के विकास की कथा है, वहाँ दूसरी ओर जीव के अन्नमय कोश तक पहुँचने की कथा। किन्तु इस रूपाकात्मकता या 'ऐलिगोरी' का पूर्ण निर्वाह ढूँढने वालों को पूर्ण सन्तोष नही हुआ है।[1] यह भी ठीक है कि कामायनी के कथानक में न समासक्ति है और न अन्योक्ति, पर इनका पूर्ण निर्माह ढूँढना ही व्यर्थ है। प्रसाद का लक्ष्य किसी अन्योक्ति या समासक्ति काव्य का निर्माण भी नहीं है। फिर खींच-तान कर सभी अंगों के कुलावे मिलाने की चेष्टा ही क्यों? महाकाव्य में रूपक कथा के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हुए एवरक्रॉम्बी ने इसीलिये उसे अधिक प्रोत्साहन नही दिया है क्योकि उससे उसने महाकाव्य के ठोस सत्य पर अघात की शंका देखी है।[2] प्रसाद ने कल्पना तत्त्व से सम्बन्धित अपने कथानक मे पूर्णत:—सगोपांग रूमक की व्यवस्था नही की। इसमें कोई कौशल आने की जगह अनावश्यक जटिलता आ जाती। हम आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के इस कथन से सहमत है कि 'कामायनी मे एक दर्शनिक अन्तर्धारा मिलती है। वह काव्य की स्वाभाविक धारा से अभिन्न और तद्रूप होकर आयी है।'[3]

क्षीण कथा, पर महाकाव्योचित गरिमा की पूर्णता—इस तरह कामायनी के कथानक मे पर्याप्त नवीनता है। प्राचीनता की क्षीणधारा पर कल्पना का बायवीय नही, ठोस महल बनाने वाले कलाकार ने महाकाव्य के क्षेत्र मे एक

---

१. यदि हम विशद काव्य की अन्तर्योजना पर न ध्यान दे, समष्टि रूप मे कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढे; श्रद्धा, काम, लज्जा, इडा इत्यादि को अलग-अलग ले, तो हमारे सामने बडी हो रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यन्त मनोरम पद्धति आती है।
—हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृ० ६६३

2 Allegory requires materials ingeniously manipulated and fantastic, what is more important, it requires material invented by the poet himself, That is long way from the solid reality of material which epic requires.
—The Epic Page 53

३. आधुनिक साहित्य, पृ० १२५-१२६

नवीन अध्याय जोड़ा है। सरलता इसका भूषण है जो मार्मिकता की मणियों से जगमग है। 'पार्श्व-व्यापारों की योजना और कथा-विस्तार के अभाव में'[१] इसमें महाकाव्योचित गरिमा का अभाव देखने वाले आलोचक को भी यह मानना पड़ा है कि "इस महाकाव्य में कथा का विस्तार चाहे उतना न हो, किन्तु इसमें संदेह नहीं, इसका मानसिक धरातल अत्यन्त विशाल है और यह अपनी परिधि में समस्त मानवता, उसकी समस्याओं एवं समाधानों को समेटे हुए है।"[२]

प्राचीन कथा में वर्त्तमान और भविष्य—प्रत्येक युग अपने उस प्रतिनिधि कवि की प्रतीक्षा करता है, जो युगानुरूप शब्दावलियों में उसकी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करें।[3] प्रसाद ने प्राचीन कथानक को आधार बनाकर न केवल वर्त्तमान की समस्याओं का चित्रण और समाधान उपस्थित किया है, वरन् भविष्य का स्वप्न भी अंकित किया है।[४] सारस्वत नगर की दशा से आज की वर्त्तमान दुनिया कुछ कम नहीं है और आश्चर्य नहीं कि अणु-युग में वैसे ही भीषण-विध्वंस का दृश्य दिखाई पड़े। मानवता के त्राण के लिये आध्यात्मिक उत्कर्ष आवश्यक है। इच्छा, ज्ञान और कर्म का समन्वय आवश्यक है और आवश्यक है समरसता की उच्च-भाव-भूमि पर पहुँच कर आनन्द की प्राप्ति। कवि ने इस तरह किसी एक देश की नहीं, सम्पूर्ण मानवता के विकास के आदि मध्य और अन्त की कथा कही है और यही महान् दृष्टि उसकी विशेषता है—जो उसे विश्व कवि कहे जाने की पात्रता सिद्ध करती है।[५]

---

१. इसमें न तो महाकाव्योचित कथा-विस्तार ही है और न पार्श्व-व्यापरों की योजना ही।

—कामायनी दर्शनः कमायनी का महाकाव्यत्व सरल, पृ० १२२

२. वही, पृ० २२४

3. The experience of each new age requires a new confession and the world seems always waiting for its poet

—Essays, Second Series, The poet : Emerson, P-33

४ तो क्या कामायनी के आरम्भ के ८ सर्ग भूत के, इडा सर्ग वर्त्तमान के और अंतिम ५ सर्ग भविष्य के इतिहास का संकेत करते हैं?

—कवि प्रसाद, डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० १२३

5 All that is best in the great poets of all countries is not what is national in them, but what is universal.

—Kavanagh, Chap. 20, Longfellow.

कथा-विकास में चरित्रोद्धार, ऐतिहासिक व्याख्या और कल्पना-शीलता— कथा-सूत्र के निर्वाह मे प्रसाद एक महाकवि ही नही एक चरित्रोद्धारक, एक कथा-संयोजक और एक ऐतिहासिक व्याख्याता भी है । कवि की कथा-भूमि पौराणिक से अधिक ऐतिहासिक है और कवि की दृष्टि वर्णनात्मक से अधिक भावुक और कल्पना-प्रवण । कामायनी के कथा-प्रवाह मे मनौवैज्ञानिक चरित्र-निरूपण के कारण पम्परा से चली आती हुई किसी महाकाव्य की धारा-वाहिकता भले न मिले, उसमें एक निश्चित अविच्छिन्नता वर्त्तमान है । कथानक में आदि, मध्य और अन्त का सम्यक् निर्वाह है । वे परस्पर शृंखलाबद्ध हैं । चिन्ता से लेकर ईर्ष्या सर्ग तक आदि के रूप मे, इडा से लेकर स्वप्न तक मध्य के रूप में ओर संघर्ष से लेकर आनन्द सर्ग तक अन्त के रूप मे माना जा सकता है । सृष्टि विकास के कुछ आदि पात्रों को लेकर मानव-मनोवृत्तियो के विश्लेषण और काव्य तथा दर्शन के मणिकांचन संयोग की दृष्टि से ऐसा कोई भी काव्य विश्व-साहित्य मे नहीं लिखा गया ।

कुछ आपत्तियों का खंडन

'बीसवी शताब्दी के महाकाव्य' के विवेचन मे डा० प्रतिपाल सिह ने कुछ विचित्रताएँ देखी हैं [१] जो सर्वथा निरर्थक है । प्रसाद ने श्रद्धा को एक मनो-वैज्ञानिक परिवेश में मनु के सामने उपस्थित किया है । फिर सृष्टि के आदिकाल में बहुत अधिक पात्रों की कल्पना ही निरर्थक है । क्या माता-पिता के प्रस्ताव पर ही सारे सम्बन्ध होते हैं ? और क्या एक महाकाव्य में पूरे इतिवृत्तो का वर्णन आवश्यक है ? फिर प्रसाद ने तो कथा की सांकेतिकता से काम लिया है—वर्णनात्मकता से नही । यही तो कामायनी के शिल्प की विशेषता है कि उसमें उतनी ही कथा है, जिसके बिना काम नहीं चल सकता था । शेष कथा पाठक की कल्पना-शक्ति पर निर्भर है, जो कामायनी की पंक्तियो से अनुप्राणित

---

१ कथानक में कुछ विचित्रताएँ भी हैं:—

(अ) श्रद्धा का मनु के सम्मुख एकाएक उपस्थित होना एवं सहयोग देने के लिये निःसंकोच प्रस्ताव करना ।

(ब) इस प्रस्ताव के लिये माता-पिता की कोई आश्यकता नही समझी गयी ।

(स) मनु द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग ।

(द) सारस्वत प्रदेश में इडा का होना, अकस्मात सारस्वत प्रदेश की समृद्धि

—पृ० १५८-१५९

को स्वर गाढ़ पकड़ लेती है। अनावश्यक विस्तार को समाप्त करने के लिये ही अनेक प्रसंगों को चिन्ता और स्मृति के रूप में चित्रित किया गया है। मनु द्वारा श्रद्धा का आकस्मिक त्याग निर्वेद को घना बनाता है और कथा में तीव्रता लाता है। इड़ा के विस्तृत परिचय की कल्पना में प्रसाद की मौलिकता है और मनु जैसे व्यक्ति के सम्पर्क मे इड़ा की नगरी की सुव्यवस्था में विलम्ब क्यों ?—शासन और राजनीति के लिये मन का बुद्धि से संयोग चमत्कार लाता ही है, भले ही उसका विनाश शीघ्र हो ! जो शीघ्रता वृद्धि में आयी, वही पतन में भी !

कुरुक्षेत्र का कथा-शिल्प



कुरुक्षेत्र-प्रणयन की आवश्तकता— महाभारत के आधार पर जो अनेक महाकाव्य प्रणीत हुए, उनमें शिल्प-विधान की दृष्टि से दिनकर के कुरुक्षेत्र में पर्याप्त नवीनता है। प्रबन्ध के क्षेत्र में यह एक प्रयोग है और प्रकार-विभाजन की दृष्टि से इसे विचार-काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। यों इसका आधार महाभारत का युधिष्ठिर-भीष्म-संवाद है, पर इसके प्रणयन के पीछे कवि का दृष्टिकोण कोई कथा कहना नहीं है, वह तो प्राचीन कथा के माध्यम से वर्त्तमान की समस्या का निदान ढूँढ़ता है। युद्ध और हिंसा विश्व के दो सनातन प्रश्न हैं, जिनके समाधान के बिना मानवता के विनाश का भय रुक नहीं सकता। प्रश्न यह उठता है कि युद्ध का दायित्व किस पर है, उस पर जो कि युद्ध के लिये शोषण और उत्पीड़न का अखिल साम्राज्य फैलाकर युद्ध को अनिवार्य बना देता है या उस पर जो कि इसके प्रतिकार के लिये कटिबद्ध होता है।[1] यद्यपि महाभारत के भीष्म और युधिष्ठिर से कुरुक्षेत्र के ये दोनों पात्र अपनी मर्यादाओं के भीतर भिन्न हैं, तथापि कुरुक्षेत्र का आधार तो महाभारत ही है। लेकिन कवि की सूझ और उद्देश्य के नवीन पार्श्व के निर्माण के कारण कथा में गतानुगतिकता या पिष्टपेषण मात्र नहीं है।[2] नवीनता की आकांक्षा ने प्राचीनता को क्षति नहीं पहुँचायी है, शक्ति दी है।[3]

---

१ युद्ध एक निन्दित और क्रूरकर्म है, किन्तु इसका दायित्व किसपर होना चाहिये ? उस पर जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमंत्रण देता है ? या उस पर जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिये आतुर है।

—कुरुक्षेत्र की भूमिका

२ कुरुक्षेत्र की रचना भगवान व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। —वही

३ मैंने सर्वत्र ही इस बात का ध्यान रखा है कि भीष्म अथवा युधिष्ठिर के मुख से कोई ऐसी बात नहीं निकल जाये, जो द्वापर के लिये सर्वथा अस्वाभाविक हो। —वही

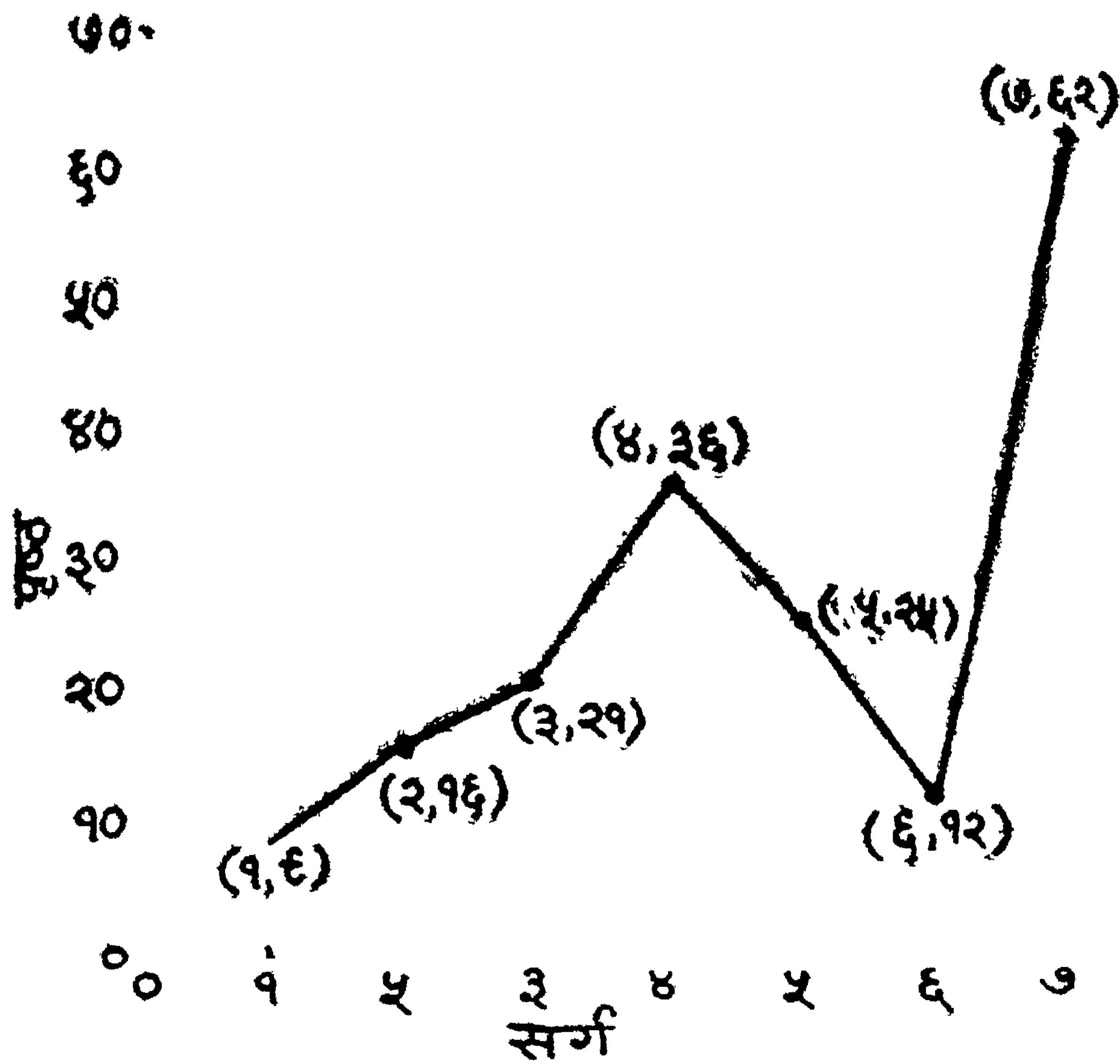
कथा-शिल्प के नवीन विन्दु

हम कथा के विश्लेषण के द्वारा उसके मौलिक विन्दुओं की ओर ध्यान दे तथा उसके औचित्य पर विचार करे, तो अच्छा है—

सर्गों का आकार

प्रथम सर्ग लघुतम और अंतिम बृहत्तम है। विस्तार की दृष्टि से क्रमशः इस प्रकार से सर्ग एक दूसरे से बड़े है—प्रथम, षष्ठ द्वितीय, पंचम, चतुर्थ और सप्तम।

प्रथम सर्ग नौ पृष्ठों मे, षष्ठ सर्ग बारह पृष्ठो में, द्वितीय सोलह पृष्ठो मे, तृतीय इक्कीस पृष्ठो मे, पंचम पचीस पृष्ठो मे, चतुर्थ छत्तीस पृष्ठो मे और सप्तम बासठ पृष्ठों में है।[1] प्रथम से सप्तम सर्गों को इस तरह ग्राफ की लकीरो मे अंकित किया जा सकता है—



प्रथम सर्ग से चतुर्थ सर्गो तक क्रमशः सर्ग बड़े होते गये है, पर पचम और षष्ठ पुनः एक दूसरे से छोटे हो गये हैं और सप्तम सब से बड़ा सर्ग है। चतुर्थ सर्ग के भीष्म के लम्बे प्रवचन के बाद कवि ने बड़ी कुशलता से पांचवें और छठे सर्ग को क्रमशः छोटा बनाया है। पुनः प्रथम सर्ग के विपरीत, अन्तिम सर्ग को

---

१ छात्रोपयोगी संस्करण।

बड़ा बनाया गया है, जिसमें, वैराग्य, भाग्यवाद, आशावाद कर्मयोग आदि पर प्रकाश है। चतुर्थ सर्ग के भीष्म के लम्बे भाषण के बाद पाठकों को जैसे पांचवे सर्ग में विश्राम मिलता है। पुन: छठे सर्ग की शांति और मधुरता से भरी उक्तियों के बाद सातवें सर्ग की लम्बाई खलती नहीं है।

कथा-शिल्प के लिये उत्सुकता

कथा-शिल्प के लिये उत्सुकता का तत्त्व बहुत महत्वपूर्ण है। कौतूहल तीव्रता की सृष्टि करता है।[1] कहानी के लिये प्रारम्भ और अन्त बहुत महत्वपूर्ण होते है। दिनकर जी को उत्सुकता बढाने वाले प्रारम्भ बहुत प्रिय हैं। अत: वे नाटकीय प्रणाली में कविता का प्रारम्भ करते है।[2]

नाट्य-शिल्प

कुरुक्षेत्र का प्रारम्भ भी नाटकीय शैली में हुआ है, जो पाठकों को सहज ही खींचता हुआ आगे ले जाता है।

वह कौन रोता है वहाँ—
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े कुटिल नीतिज्ञ के व्यावहार का,
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है।[3]

द्वितीय सर्ग के मध्य में भी यह नाटकीय शैली भीष्म के युद्ध के विध्वंस भरे प्रतीकात्मक चित्रों को नूतनता और प्रभावोत्पादकता देती है—

औ युधिष्ठिर से कहा—तूफान देखा है कभी ?[4]

कुरुक्षेत्र के मध्य में विचारों की सघनता है और अंत में लक्ष्य और आदर्श की स्थापना।

---

१ कौतूहल में तीव्रता बढती रहती है।
—हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, डा० लक्ष्मी नारायण लाल, पृ० ३२६

२ प्रथम सर्ग पृ० १

३ द्वितीय सर्ग, पृ० १६

४ झनझन झनझन झन झनन झनन, विपथगा, चक्रवाल, पृ० ७१

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि—दिनकर ने कुरुक्षेत्र मे महाभारत के शांतिपर्व मे वर्णित युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर के पाश्चाताप और ग्लानि को अधिक व्यापक, अधिक गंभीर और अधिक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि दी है। महाभारत के युधिष्ठिर के पाश्चाताप के कारण है—कर्ण की मृत्यु और कुन्ती द्वारा अब तक कर्ण के भाई होने के रहस्य को छिपाना। कुरुक्षेत्र मे युद्ध की सामान्य क्षतियों को भी लक्ष्य-पथमे रखा गया है।

कथा-विन्दु का सम्पादन—कुरुक्षेत्र के कवि ने नारद-प्रसंग, पितामह का उपदेश लेने को धर्मराज का हस्तिनापुर जाना, वहाँ के नरनारियों द्वारा सम्मान तथा पितामह द्वारा राजधर्म के साथ ही देव-ब्राह्मण-पूजा, उद्योग, भृत्यानुशासन, प्रजा-रंजन आदि के उपदेशों को छोड़ दिया है। ऐसा करने से कथा-वस्तु क्षीण हो गयी है। आचार्य विश्वनाथ प्र० मिश्र ने कवि के 'निवेदन' के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि "ग्रन्थ का निर्माण प्रबन्ध की रसात्मकता को लक्ष्य करके नही हुआ है।"[१] डा० गोविन्दराम शर्मा ने अपने शोध-ग्रंथ में कुरुक्षेत्र का संक्षिप्त विवेचन कर इसे एक विचार-प्रधान प्रबन्धकाव्य मानते हुए इसकी कथा-वस्तु मे महाकाव्योचित व्यापकता का अभाव देखा है।[२]

विचार-काव्य, कथा-काव्य नहीं—कुरुक्षेत्र का कथानक संक्षिप्त तो है अवश्य, पर इसकी विशेषता कथात्मकता मे नही विचारात्मकता में है। इसे कवि ने भी स्वीकार किया है।[३] प्रो० विश्वनाथ प्र० मिश्र ने प्रबन्ध के चार अवयव माने हैं—घटनात्मक, वर्णनात्मक, संवेदनात्मक और विचारात्मक। उन्होंने यह भी माना है कि "अब प्रबन्धो में प्रायः किसी एक अवयव का ही प्राधान्य कर्त्ता के रुचि-भेद से रहा करता है। कामायनी, साकेत, प्रियप्रवास सभी में ऐसा है। कुरुक्षेत्र मे विचारात्मक अवयव का प्राधान्य है।"[४] अतः हमें यह देखना चाहिये कि दिनकर के विचार कुरुक्षेत्र की संक्षिप्तता को किस रूप से कहाँ तक सबल बनाते है।

---

१ हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृ० १८८

२ हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० ४६६

३ कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध की एकरूपता उसमे वर्णित विचारो को लेकर है। दरअसल, उस पुस्तक मे प्रायः सोचना ही रहा हू।

—कुरुक्षेत्र का निवेदन, पृ० २

४ प्रो० कपिल द्वारा सम्पादित 'दिनकर और उनकी काव्यकृतियाँ' मे संग्रहीत एक निबन्ध, पृ० २८

महाभारत-कथा-एकसाधन – कुरुक्षेत्र मे महाभारत के बहाने मानवीय सभ्यता और संस्कृति के चिरन्तन, मौलिक और विश्वजनीन प्रश्नों पर विचारा गया है। इसमे युद्ध सम्बन्धी धर्माधर्म, कर्त्तव्याकर्त्तव्य, कर्माकर्म, नीत्यानीति के सहज द्वन्द्व पर प्रकाश डाला गया है। पाप के विरुद्ध मे की गयी हिंसा पुण्य है। दया और क्षमा वीरों के आभूषण है। कायरो-कलीबो के लिये अहिंसा-क्षमा एक विडम्बना मात्र है—

> क्षमा शोभती उस भुजंग को,
> जिसके पास गरल हो।
> उसको क्या, जो दन्तहीन,
> विष-रहित, विनीत, सरल हो ?[1]
>
> × × ×
>
> सहनशीलता, क्षमा, दया को
> तभी पूजता जग है,
> बल का दर्प चमकता उसके
> पीछे जब जगमग है।[2]

मोह और अन्तर्द्वन्द्व के क्रम में अन्तर—महाभारत और कुरुक्षेत्र के मोह और अन्तर्द्वन्द्व के क्रम मे अन्तर है। कुरुक्षेत्र का प्रारम्भ धर्मराज के मोह और अन्तर्द्वन्द से होता है। महाभारत के प्रारम्भ मे अर्जुन को जो मोह और द्वन्द्व हुए थे वे युद्ध के पहले के थे, पर कुरुक्षेत्र मे युधिष्ठिर के संशय, मोह और पाश्चाताप विजय के बाद के है।

भावना-प्रधान तर्क—कुरुक्षेत्र मे न तो महाभारत के चित्र उतारे गये है और न अनेक चरित्रों के निर्माण कर चरित्र-चित्रण और कथा-संगठन के कौशल दिखलाये गये है। युद्धान्त के बाद युद्ध के कारणों और मानसिक उपकरणों का सहज भाव से भावना-प्रधान तर्क की कसौटी पर परखने की चेष्टा की गयी है। सम्पूर्ण पुस्तक मे धर्मराज के अन्तर्द्वन्द्व की स्पष्ट छाप है।

क्रान्तिकारी विचार—करुणार्द्र युधिष्ठिर की चिन्ता और ग्लानि को भीष्म जैसे अपने ज्ञान और क्रान्तिकारी विचारों से मिटा देना चाहते हैं। वे महाभारत की हिंसा और रक्तपात को अवश्यंभावी बतलाते है, क्योंकि वह युद्ध

---

१ तृतीय सर्ग, पृ० ३५

२ वही, पृ० ३६

अनीति और अत्याचार के विरुद्ध मे ठाना गया था। महाभारत धर्म-युद्ध और कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र इसलिये कहे गये हैं कि उस युद्ध का उद्देश्य था असत् पर सत् की विजय ! भीष्म अन्यायपूर्ण कृत्य का प्रतिशोध आवश्यक समझते हैं। वे अनीति और अत्याचार के विरुद्ध नहीं लड़ना पाप का साथ देना समझते है। क्योकि उनका विश्वास है कि—

करुणा क्षमा है, क्लीव जाति के कलंक घोर
क्षमता क्षमा की शूरवीरो का सिंगार है।

तथा

जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्म-बलका।[1]

गीता के संदेश को कवि ने अधिक काव्यात्मक वाणी दी है।[2] उसने भी अन्याय को सहनेवाले को पापी माना है—

चुराता न्याय जो रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।
नरक उनके लिये जो पाप को स्वीकार करते है।
न उसके हेतु जो रण मे उसे ललकारते हैं।[3]

कुरुक्षेत्र का कवि मनुष्य की मर्यादा, महत्त्व और शक्ति का गुण-ग्राहक है। मानव का धर्म असहाय और शोषित की रक्षा है। जब वह अन्याय को सहन कर मौनावलम्बन करता है, तब वह धर्म-च्युत हो जाता है। द्रौपदी के प्रति दुःशासन के अत्याचार पर भी पाण्डव मौन रहे, तो गीता में अर्जुन जैसे महाबली को भी क्लीव कहा गया है[4]; और दिनकर भी यह मानते हैं कि 'करुणा,क्षमा हैं क्लीब जाती के कंलक घोर, क्षमता क्षमा की शूर-वीरों का सिगार है।' वे द्रौपदी के चीर-हरण की घटना को एक सामान्य सिद्धांत के रूप में चित्रित करते हैं—

---

१ तृतीय सर्ग, पृ० ३७-३८

२ अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
अकिर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते। —अध्याय २, श्लोक ३३-३४

३ चतुर्थ सर्ग, पृ० ४८

४ क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ —अध्याय २, श्लोक ३३-३४

नर की कीर्ति-ध्वजा उस दिन कट गयी देश में जड से,
नारी ने सुर को टेरा जिस दिन निराश हो नर से ।[1]

तो क्या कुरुक्षेत्र का कवि हिंसावादी है ? गांधी के इस युग में क्या वह हिंसा का बेसुरा राग आलापने चला है ? क्या वह सम्पूर्ण भूमंडल को रक्त-स्नान कराना चाहता है ?—नहीं, हरगिज नहीं ! वह तो उस युद्ध का पक्षपाती है जिसके मूल में अत्याचार और शोषण है । वह पाप और अनाचार से लडकर मनुष्य की रक्षा करना चाहता है । वह तो उस दिन की प्रतीक्षा में है—

जिस दिन वध को वध समझ जयी रोयेगा,
आँसू से तन का रक्त-पंक धोयेगा,
होगा पथ उस दिन मुक्त मनुज की जय का
आरंभ भीत धरती के भाग्योदय का ।[2]

वह तो युद्ध को साधन मानता है, साध्य नहीं । साधन मानकर ही वह समाज की विषमता की जड को नष्ट भ्रष्ट करना चाहता है । वह तो ईश्वर से भी यह प्रार्थना करता है कि—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ।[3]

दिनकर कभी निराशावादी नहीं रहे हैं । कुरुक्षेत्र के चिन्ताकुल वातावरण में भी उन्होंने आशावाद का जीवन्त संदेश दिया है । वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रगति पर जहाँ उन्हें एक ओर आश्चर्य और संतोष है, वहाँ दूसरी ओर अवज्ञा का भाव है—

आजकी दुनिया विचित्र नवीन,
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन ।

और 'यह प्रगति निस्सीम, नर का यह अपूर्व विकास' कहकर वे उसकी प्रशंसा करते हैं । किन्तु उन्हें हृदय और मस्तिष्क के असंतुलन पर बहुत दुख है ।[4] उनकी दृष्टि में ज्ञान निर्माणात्मक उपयोग के लिये है, विध्वंसात्मक प्रयोग के लिये नहीं ।

---

१ चतुर्थ सर्ग, ६१

२ पंचम सर्ग, पृ० ८९

३ षष्ठ सर्ग, पृ० ११९

४ किन्तु है बढता गया मस्तिष्क ही निःशेष
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश ।।

—षष्ठ सर्ग, पृ० ११०

कुरुक्षेत्र मे युद्ध के कारणो पर कवि ने भीष्म के माध्यम मे प्रकाश डाला है। भीष्म ने युद्ध को 'प्राण का आवेगमय विस्फोट' और 'सहज अनिवार्य' माना है। वह मानता है कि 'चाहता लड़ना नही समुदाय है, फैलती लपटें विषैली व्यक्तियो का साँस से।' जब कोई स्वत्व छीनता हो तब ज्वलित प्रतिशोध लेना पाप नही, पुण्य है। वस्तुत: सत्य तो यह है कि—

रुग्ण होना चाहता कोई नही,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो,
तिक्त ओषधि के सिवा उपचार क्या
शमित होगा वह नही मिष्टान से।[1]

और यही कारण है कि कवि का यह विश्वास है कि

कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देश का संग्राम है,
पाशविकता खंग जब लेती उठा,
आत्म-बल का एक वश चलता नही।[2]

कवि का मत है कि युद्ध के लिये व्यक्ति ही प्रेरणा देता है। युद्ध की शिखा व्यक्ति मे जलती है, जिसकी आग समुदाय मे भडकती है। पर कुरुक्षेत्र के पाठको का सहज मन यह समझ नही पाता कि जब एक व्यक्ति की द्रोहाग्नि सम्पूर्ण समाज मे युद्ध की आग जला पाती है, तब क्यो नही गाँधी, बुद्ध और ईसा जैसे मनीषियो के सत्य और अहिंसा से भरी वाणी समाज मे देवत्व स्थापित कर पाती है? भीष्म के तूफान वाले उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि तूफान का उत्तरदायित्व किसी एक पर नही है। उसे कोई रोक भी नही सकता। इस प्रकार आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दो मे हम देखते है कि 'भीष्म की युद्ध सम्बन्धी यह धारणा बहुत कुछ नियतिवादी और अज्ञेय है। हम इतना ही जान पाते हैं कि युद्ध प्राकृतिक विकारो का विस्फोट है। वे विकार कैसे उत्पन्न होते हैं, उनका स्वरूप क्या है अथवा उनके प्रतिरोध का क्या उपाय है—इसका कोई निर्देश प्राप्त नही है।'[3]

युद्ध-संबंधी विचारों का निष्कर्ष—शिल्प-विधानात्मक प्रयोग— कवि के युद्ध-संबंधी विचारों को संक्षेप में यों बाँधा जा सकता है- युद्ध

१ द्वितीय सर्ग, पृ० १९
२ द्वितीय सर्ग, पृ० २४
३ आधुनिक साहित्य, पृ० १३६

अनिवार्य है, संक्रामक है। ज्वलित प्रतिशोध पर आधारित युद्ध पाप नहीं है। तप, करुणा, क्षमा आदि धर्म व्यक्तिगत हैं, सामूहिक नहीं। युद्ध का अंत युद्ध से संभव नहीं। कवि ने अधार्मिक व्यक्तियों की अधिकता और धार्मिक व्यक्तियों की अल्पता के कारण युद्ध की अनिवार्यता बतलायी है। किन्तु युद्ध के रोकने का कोई प्रत्यक्ष समाधान नहीं बतलाया गया है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इसमें एक विशेषता यह है कि अप्रत्यक्ष रूपसे यदि हम युद्ध के कारणों को हटाने का प्रयत्न करें, तो वह भी युद्ध की समाप्ति का प्रयत्न ही होगा, अतः कवि ने बड़े कौशल से एक पक्ष का चित्र खींच कर दूसरे पक्ष पर सोचने का काम पाठकों पर छोड़ दिया है।

एक आपत्ति, एक समाधान—कुछ लोगों ने यह आपत्ति की है कि कुरुक्षेत्र के पात्र वाद-विवाद समिति की प्रतियोगिता में भाग लेनेवाले वाग्मी की भाँति विषय के पक्ष-विपक्ष में अपने विचार रखते हैं। किन्तु यहाँ दिनकर का शिल्प श्लाघ्य है। कवि कम से कम पात्रों के द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। दो पात्रों की इस पुस्तक में पक्ष-विपक्ष के तर्क-वितर्क के अतिरिक्त दूसरा उपाय क्या था? दोष तब माना जाता, जब उनके तर्क नीरस, मन को उबाने वाले और संभाषण बोझिल होते। किन्तु कुरुक्षेत्र में कल्पना और भावना, बुद्धि और हृदय पक्षों का ऐसा ताना-बाना है कि एक-एक पंक्ति रुचिकर प्रतीत होती है। कहीं कोई नीरस प्रसंग नहीं, कहीं कोई रुकावट नहीं।

शान्ति के आवरण में युद्ध के भीषण षड्यंत्र की योजना आज की राजनीति का हेय लक्ष्य है। अतः कवि बड़ी सुधरता से ऐसे लोगों से बचने की सलाह देता है जो आस्तीन के सांप बनकर सम्पूर्ण मानवता को डँस रहे हैं।[१]

संक्रान्तिकाल का कवि—कुरुक्षेत्र के कवि ने अपने आपको संक्रान्तिकाल का कवि माना है।[२] इसलिये इस काल के अन्तर्द्वन्द्व, शंका और संघर्ष को

---

१ आनन सरल, वचन मधुमय है
तनपर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर इस नागिन का
विष से भरा दशन है। —तृतीय सर्ग, पृ० ४५

२ शारदे, विकल संक्रान्तिकाल का नर मैं,
कलिकाल-भाल पर चढ़ा हुआ द्वापर पर मैं।
संतप्त विश्व के लिये खोजने छाया,
आशा में था इतिहास लोक तक आया। —पञ्चम सर्ग, पृ० ८३

उसने वाणी देने का प्रयास किया है। उसने तो 'निवेदन' में स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है कि 'कुरुक्षेत्र में एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढकर बोल रहा है।' कवि ने युग की उस पुकार को सुना है, जो युद्ध नही चाहती, पर युद्ध की रोक और शांति के लिये वह अपने स्वाभिमान को खोना नही चाहती, जो यह समझती है कि सारे युद्ध स्वार्थों की पूर्त्ति के लिये होते है, पर फिर भी पारिस्थितियो से विवश मनुष्य सर्वथा नि:स्वार्थ भी नही बन पाता।

कुरुक्षेत्र का यह स्पष्ट संदेश है कि शोषण और उत्पीड़न के काल में शोषितों-उपेक्षितो को संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध लोहा लेना चाहिये, मानो कवि ने गीता के अनासक्ति-योग को युगानुकूल नये रूप और नयी भाषा मे व्यक्त किया है। षष्ठ सर्ग मे मानव के लिये जिस ज्ञान और तपस्या के संतुलन का स्वप्न देखा गया है, वह भीष्म के शब्दों में इस प्रकार है—

राग में विरागी राज-दंड धर योगी बनो
नर को दिखाओ पथ त्याग-बलिदान से।

तथा

मिट्टी का यह भार सँभालो बन कर्मठ संन्यासी।

आदर्शवाद या यथार्थवाद—दिनकर का दृष्टिकोण, मेरी समझ से आदर्शवादी से अधिक यथार्थवादी है। इसलिये इसके प्रति पाठको को अपनापन का अनुभव होता है। वे दुर्बलता को मनुष्यता का आवश्यक अंग मानकर घृणा नहीं करते, वरन् अपने दुर्गुणों से लड़नेवाले मनुष्य को प्यार और श्रद्धा से देखते है। वे स्वीकार करते हैं कि—

नही एक अवलम्ब जगत का आभा पुण्यव्रती की
तिमिर-व्यूह मे फँसी किरण भी आशा है धरती की।

षष्ठ सर्गमे आधुनिक आविष्कारों के चमत्कारपूर्ण वर्णन के माध्यम से विज्ञान और बुद्धि के क्षेत्र में हृदयतत्व के अभाव और पशुता के विकास का बडा ही मार्मिक चित्र खींचा गया है। मनुष्य के हृदय में होनी चाहिये 'मोम-सी कोई मुलायम चीज, जो ताप पाकर पसीज उठे।'

कवि का आशावाद—कुरुक्षेत्र मे जीवन के प्रति कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त उल्लासपूर्ण है। उसका जीवन-दर्शन आशावाद के मंगलमय उद्गारों से

परिपूर्ण है। कवि कर्मवाद का संदेश देता है, इसलिये भीष्म युधिष्ठिर को वैराग्य त्याग कर जीवन-क्षेत्र मे आने को उत्साहित करते है। योग और संन्यास के नाम पर संसार छोडकर वनों की खाक छानना कभी श्रेष्ठ नही है। महान् वह है, जो संघर्षो में रहकर एव जीवन की ज्वाला मे तपकर, नयी अनुभूति और नयी चमक से अपने अस्तित्व की रक्षा करता है।

निष्कर्ष

कथानक से क्षीण और विचारो से पुष्ट कुरुक्षेत्र के तृतीय, चतुर्थ और सप्तम सर्गो मे भीष्म के भाव और विचार दर्शनीय है। साम्यवाद, धर्म, शान्ति, कर्म, तंत्र-हीन राज्य, आशावाद, जीवन-दर्शन आदि अनेक प्रश्नों पर भीष्म ने अपने उद्‌गार और विचार व्यक्त किये है। 'शरो की नोंक पर लेटे हुए गजराज' 'तथा टूटे गरुड से त्रस्त पन्नगराज' जैसे भीष्म के शब्दो मे एक अपूर्व ओज और और प्रभविष्णुता है। दिनकर की सबसे बड़ी विशेषता महाभारत के ज्वलन्त प्रश्न को सरल बनाने मे है। व्यथा एवं पाश्चाताप के मार्मिक चित्र तथा वाणी की वक्रता के कारण कुरुक्षेत्र राजनीति या दर्शन का नीरस ग्रथ नहीं बना।

कथा की नही, विचारों की मार्मिकता कुरुक्षेत्र की विशेषता है। महाकाव्य के उपकरणों में कथा-वस्तु को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, किन्तु आधुनिक-युग में महाकाव्यों में कथानक का औचित्य उतनी ही दूर तक स्वीकार किया जा रहा है, जितनी दूर तक उसके अभाव मे काम चल नही सकता। प्रियप्रवास और कामायनी के बाद कुरुक्षेत्र के निर्माण मे कथानक की ऐसी क्षीणता कोई आश्चर्यकी बात नही है। आज के अनेक महाकाव्य बेबिलोनिया के हैंगिग गार्डेन की भॉति कथा-भूमि से ऊपर रहकर भी शिल्प-कला और सौन्दर्य की आश्चर्यमयी विभूति है। शिल्प की दृष्टि से कुरुक्षेत्र का निर्माण अपना आदर्श आप है।[1]

---

१ आजकल इस प्रकार के काव्य लिखे ही नही जाते। लिखे ही जाये तो कुरुक्षेत्र से उत्कृष्ट नही होंगे।

—आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, 'दिनकर और उनकी काव्य-कृतियाँ' में संगृहीत निबन्ध से।

एकलव्य का कथा-शिल्प



प्राचीन और नवीन का समन्वय—एकलव्य हिन्दी के प्रख्यात आलोचक, एकांकीकार और कवि डा० रामकुमार वर्मा की एक अभिनव कृति है, जिसमे महाभारत के आधार पर उन्होने अपनी प्रतिभा के प्रसाद से एक निषाद-पुत्र की अल्प-कथा को महाकाव्य की गरिमा प्रदान की है और शास्त्रीय लक्षणो के अनुसार अबतक नायक के पद के लिये सर्वथा अयोग्य समझे जानेवाले व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है। साथ ही, इसमे तत्कालीन भारतीय संस्कृति और आचार-विचार का मनोवैज्ञानिक चित्र उरेहा गया है। कथा की विशालता के अभाव मे किसी ग्रंथ को महाकाव्य नहीं मानने वाले व्यक्ति, प्रियप्रवास, कामायनी, कुरुक्षेत्र की भाँति इसे भी महाकाव्य नही मान सकते हैं;[२] पर महाकाव्य के आधुनिफ दृष्टिकोणों से परिचित व्यक्तियों को एकलव्य महाकाव्य-पद का सर्वथा अधिकारी ज्ञात होगा। शिल्प-विधान, मनौवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण, कल्पना की उदात्तता और भावपूर्ण अभिव्यंजना की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों मे यह अग्रगण्य ग्रंथ है। काव्य में नियोजित उपयुक्त और दुर्लभ उदाहरणो की दृष्टि से आधुनिक-युग का कोई महाकाव्य इसकी समता नहीं कर सकता।

एकलव्य का आधार महाभारत के आदि पर्व के एक सौ इक्कीसवे से एक सौ पचीसवें अध्याय[1] तक का कथा-क्रम है, जिसमे अधिकांश रूप से द्रोण के जन्म, उनकी साधना, दरिद्रता, पाडंव-पुत्रों से उनकी भेंट, उनकी शिक्षा-दीक्षा, कला-कौशल-प्रदर्शन तथा एकलव्य-कथा वर्णित है। इसमे एकलव्य की कथा सिर्फ ३० श्लोको मे है। कवि ने बड़ी कुशलता से कथा के अनावश्यक अंगो को छोड़ दिया है। उसने मौलिक उद्भावनाओ

---

२ कथानक की सीमाओं के कारण इसकी गणना महाकाव्यो में तो नहीं होगी, पर यह प्रबन्ध काव्य डा० रामकुमार वर्मा की काव्य-क्षमता का श्रेष्ठतम निर्देशन रहेगा, इसमे संदेह नहीं।

—डा० रामकुमार वर्मा की कविता, विश्वम्भर मानव, ज्योत्स्ना, नवम्बर' ५६

1. MAHABHARATA, Critıcully edited by Dr. Vishnu S. Sukhthankar (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1931).

और कथा-क्रम के परिवर्तन के द्वारा पात्रों को अधिक आकर्षक और वर्णन को अधिक प्रभविष्णु बना दिया है। यह कवि की भावुक दृष्टि है, जिसने महाभारत के इतने संक्षिप्त प्रसंगों में भी राजनैतिक और सामाजिक स्थिति की सूक्ष्म परख की है और मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा-बिन्दु देखा है।[२]

सर्गों का विभाजन और उनकी कलात्मकता

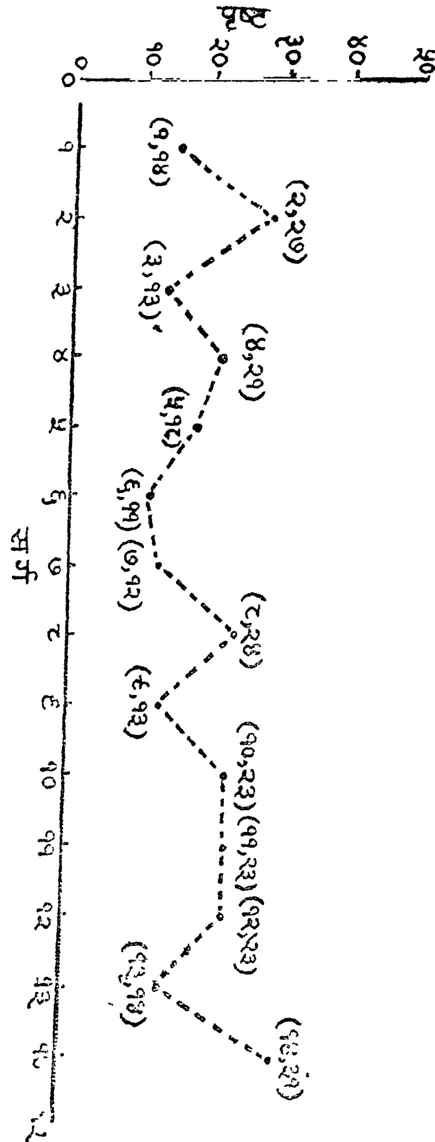
एकलव्य चौदहों सर्गों में सुनियोजित महाकाव्य है, जिसके सर्गों का नाम कामायनी की भाँति मनोवैज्ञानिक या भावात्मक पृष्ठाधार पर है, यथा--दर्शन, परिचय, अभ्यास, प्रेरणा, प्रदर्शन, आत्म-निवेदन, धारणा, ममता, संकल्प, साधना, स्वप्न, लाघव, द्वन्द्व और दक्षिणा। सर्गों की बड़ाई-छोटाई भी मनोवैज्ञानिक स्थितियों पर निर्भर है और भावनाओं के उतार-चढ़ाव के अनुकूल सर्ग भी बड़े-छोटे हैं--

सर्ग	पृष्ठ
१	१४
२	२७
३	१३
४	२१
५	१८
६	११
७	१३
८	२४
९	१३
१०	२३
११	२३
१२	२३
१३	१४
१४	३१

२. जिन प्रसंगों से एकलव्य की कथा के मनोविज्ञान में जिज्ञासा की सृष्टि होती है, उनमें तत्कालीन राजनीति, सामाजिक स्थिति, आचार्य द्रोण का अर्थसंकट और द्रुपद द्वारा अपमान तथा एकलव्य का आशावाद प्रमुख है।

—एकलव्य का आमुख, पृ० ३

मोटे तौर पर इन्हे इस चित्र से परखा जा सकता है—



डॉ० वर्मा हिन्दी के क्रान्तकारी एकांकीकार है, अत: अपने महाकाव्य का प्रारंभ भी उन्होंने नाटकीय प्रणाली से किया है। कुरुक्षेत्र और ऐकलव्य

की नाटकीय प्रणालियो मे अतर यह है कि प्रथम चित्रात्मक है और द्वितीय चित्रात्मक के साथ ही संवादात्मक और घटनात्मक। कुरुक्षेत्र को पढना प्रारभ करते ही मानस के सामने अतीत के ज्वलन्त और झकझोर देने वाले चित्र आ जाते है और इतिहास के अध्याय पर रोने वाले व्यक्ति के प्रति जिज्ञासा का भाव उदित होता है और उसके रोने के कारणो को जानने की भी उत्सुकता होती है। कवि ने 'इतिहास' शब्द कहकर एक अज्ञात घटना की ओर सकेत किया है, उसके किसी स्थानीय या किसी विशिष्ट रूप को सामने नही रखा है। डॉ० रामकुमार ने द्रोण द्वारा सीक मे गेद निकालने वाली घटना पर दो मित्रो के वार्त्तालाप के माध्यम से पुस्तक प्रारम्भ की है। इसमे एक घटना-विशेष वर्णित है। कवि ने वर्णनात्मक शैली मे नही, कुतूहल-वर्द्धक वार्त्तालाप के द्वारा कथाकार की भॉति रोचक ढंग से इसका प्रारम्भ किया है। वर्णन-प्रणाली की मनोरमता के कारण नागदन्त के साथ पाठक के मन मे भी 'कैसे' (?) का भाव उदित होता है।[1]

इस सर्ग में नागदन्त और एकलव्य के वार्त्तालाप के द्वारा द्रोण से पाण्डव-कुमारों की अप्रत्याशित भेंट, उनके चमत्कारपूर्ण कार्मुक-कौशल और उसके अमोघ प्रभाव का व्यापक वर्णन किया गया है। एकलव्य ने राजधानी मे स्वयं इस घटना को निकट से देखा है और उसके आश्चर्यजनक प्रभाव को वह अपने प्रिय सखा से सुना रहा है।

द्वितीय सर्ग मे द्रोण अपना परिचय भीष्म और हस्तिनापुर के सभासदों के सामने देते है। किस तरह उन्होने अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा ली, किस तरह वे धनाभाव में परशुराम के यहां गये और वाण-विद्या सीख कर आये, किस तरह उनके बच्चे दूध तक के लिये तरसने लगे, किस तरह वे अपने अभिन्न बाल-सखा द्रुपद के घर अपमानित हुए और किस तरह प्रतिशोध की भावना से जलते हुए इस नगर की ओर आते समय पाण्डव-पुत्रो से मिले—इनका वृत्तान्त इस सर्ग में है।

---

१ अनुपम गति से···
कैसे ?
अभिमंत्रित हो,
सीक ने विशिख-रूप प्राप्त कर क्षण में
कूप में प्रवेश किया।

—प्रथम सर्ग, पृ० ११ [अर्थात् प्रथम]

तृतीय सर्ग की रचना का उद्देश्य महाभारत के उन दो प्रसंगों का वर्णण करना है, जिसमे अर्जुन की विशिष्टता परिलक्षित है। एक प्रसंग है पक्षी-सिर का छेदन और दूसरा है अन्धकार मे भोजन-ग्रहण। प्रथम मे कुमारों की परीक्षा है और दूसरे मे द्रोण की शिक्षा। प्रथम का लक्ष्य है साध्य-साधन की एकरूपता और दूसरे का अभ्यास की शिक्षा। अर्जुन ने सिवा लक्ष्य के कुछ नही देखा, इसीलिये वह सिर-बेध कर सका।[१] अन्य भाइयो के दृष्टि-पथ पर औरचीजें भी थी इसलिये वे असफल रहे। फिर जिस तरह अन्धकार मे भी अर्जुन का हाथ मुख मे भोजन पहुँचाता रहा, उसी तरह अभ्यास से अन्धकार में भी, बिना पथ-निर्देशन के भी, लक्ष्य-वेध किया जा सकता है।[२] इसके अतिरिक्त लक्ष्य-साधन के आदर्श की स्थापना, इसके पथ मे दो प्रकार के दोष—अहंकार और द्वेष से बाधा का संकेत; सभी कुमारों की विशिष्टआओ का उल्लेख और विभिन्न अस्त्र-सस्त्रों का वर्णन प्रस्तुत करने मे कवि ने उच्च अर्न्तदृष्टि का परिचय दिया है।

चौथे सर्ग 'प्रेरणा' में एकलव्य पर द्रोण के व्यक्तित्व के अमोघ प्रभाव का विस्तृत वर्णन है। माता-पिता और नागदन्त के वार्त्तालाप द्वारा एकलव्य की दृढ़ गुरु-भक्ति का परिचय मिलता है। प्रेरणा का उत्स पाण्डव-कुमार और वीटिका निकालनेवाला दृश्य है।[3] फिर आने वाली घटना का प्रतीकात्मक वर्णन एकलव्य के स्वप्न के माध्यम से किया गया है। पिता के साथ नगर मे कुमारों के अस्त्र-शस्त्र-प्रदर्शन देखने जाने की लालसा से आत्म-विभोर एकलव्य

---

१ दृष्टि और लक्ष्य में न कोई व्यवधान हो,
अन्य भावना न बीच में समा सके कभी।
दोनों कोटियों के बीच प्रत्यंचा मध्य,
कोई ग्रंथि सह्य नहीं होगी धन्वी को।

—अभ्यास सर्ग पृ० ५८

२ तममें तुम्हारा हाथ जैसे मुख मे गया,
तीर उसी भाँति तम में भी लक्ष्य वेधेंगे।

—वही, पृ० ६३

३ वीटिका नही थी, वह मेरा ही हृदय था,
जो गिरा था मेरे ही अज्ञान-रूपी कूप मे।
कोई भी निकाल सकने मे असमर्थ था।
दृष्टि-शर से उन्होंने ऊपर निकाला है।

—प्रेरणा, पृ० ७४

के चित्र मे सर्गान्त होता है-मानो, आगे आने वाली कथा का सकेत मिलता है।

पाँचवें सर्ग 'प्रदर्शन' मे पाण्डव-कुमारों की अस्त्र-शस्त्र-शिक्षा के सामाजिक प्रदर्शन और प्रकारान्तर मे उनकी दक्षता का वर्णन है। जनता के मुग्ध मनोहर प्रभावों का हृदयग्राही चित्रण है और अंत में एकलव्य के एक शब्द-चित्र द्वारा आगामी कथा का सकेत देते हुए सर्गान्त है।[1]

छठा सर्ग है 'आत्म-निवेदन' जिसमें महाभारत के एकलव्य की मूल कथा का प्रारम्भ है।[2] महाभारत के अत्यन्त संक्षिप्त द्रोण-एलव्य-निवेदन की विस्तृत मनोवैज्ञानिक योजना की गयी है। एकलव्य के आत्म-निवेदन में विनयशील और चारित्रिक तेज है और द्रोण के कथन में उनके चारित्रिक परिष्कार की चेष्टा। सर्ग का अंत कबीर के 'रामानंद चेतायो' की भाँति धनुर्वेद के

---

१ उन्हीं दिव्य चरणों में दृष्टि एक बद्ध थी,
सम्मुख विनत एक सावले कुमार की।
कौन जानता है। यह गूंज अविदित थी,
कितने सहस्र कंप लिये किसी तार की।

—पृ० ११४

२ । । । जय गुरुदेव जय
एकलव्य दास हूं
ह निषाद वंश मेरा श्री हिरण्यधनु हैं
मेरे पिता—

। । ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुः सुतः।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ।।

—अध्याय १३३, १०

। । राजपुत्रहीनता को निश्चय प्राप्त होगे
जब तुम भूमि-पुत्र उनके समीप हो
एक पंक्ति में खड़े हो, लक्ष्यबेध सीखोगे
आओ, हे निषाद पुत्र। तुम हो अस्वीकृत।

—पृ० १२७

*　　　*　　　*

न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्,
शिष्यं धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ।।

—वही, ११

आकस्मिक गुरु-मंत्र से किया गया है ।[1] नैराश्य से नहीं, आशावाद के संचार से सर्ग समाप्त होता है ।[2]

सप्तम् सर्ग का प्रारंभ गुरु द्वारा उपेक्षित और अस्वीकृत एकलव्य के प्रति मित्रों के किये गये व्यंग्य से होता है । इसमें शिक्षा की प्रदर्शन-नीति की आलोचना है और एकलव्य द्वारा साधना की आदर्श व्याख्या है । इसी सर्ग में कवि ने बड़ी चातुरी से अपनी पुस्तकों का श्लेषार्थ में प्रयोग किया है । यह कौशल-प्रचार या अभिमान की नहीं, आत्म-निवेदन की भूमिका में होने के कारण हृदयग्राही है । इसमें 'जानबूझकर नामावली प्रस्तुत करने' की दुर्बलता नहीं, सूझ की मनोहारिता है ।[3] इसमें कवि ने आदर्श गुरु-भक्तिका, द्रोण की उपेक्षा का एक नया चित्र उपस्थित किया है ।[4] इस सर्ग में नागदन्त से अपनों को प्रबोधने की प्रार्थना कर एकलव्य घोर वन में धनुर्वेद की साधना के लिये चला जाता है ।[5] कवि ने नागदन्त की पुकार के नाटकीय दृश्य से सर्गान्त किया है ।

---

१ नाम धनुर्वेद सुना श्री-मुख से आपके
और मुझे चाहिए क्या । साधना तो मेरी है ।

—पृ० १२७

२ चन्द्र की कलाएँ पूर्ण नभ के हृदय से,
चिन्ता क्या, जो रात मेरे जग की अंधेरी है ।

—पृ० १२७

३ वर्माजी ने जान बूझकर अपनी नामावली प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।
—हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, डा० गोविन्दराम शर्मा, पृ० ४३४

४ मेरे गुरु विप्र और शूद्र मैं निषाद हूं,
किन्तु गुरु वाणी ही अमोघ अभिषेक हैं
ऊपर और नीचे क्या ओष्ठ भी नहीं हैं दो ?
किन्तु जो निकलती है वाणी, वह एक है ।

—पृ० १४०

५ जाता हूं विलम्ब अब होता है नागदन्त,
शंका तुम्हें हो न कभी किसी अवरोध की ।
सब से प्रणाम एक बार फिर कहना
साधना में बढ़ता हूं, जय गुरुदेव की !

—पृ० १४२

आठवाँ सर्ग मुक्तकों से पूर्ण है, जिसमें कवि ने माता के वात्सल्यपूर्ण वियोग की अन्तर्दशाओं का वर्णन किया है। इस सर्ग की कथा-योजना में नवीनता और अन्तर्दशाओं के वर्णन मे प्राचीनता का निर्वाह है। ऋतु-वर्णन की परम्परा भी है। एकलव्य के इस सर्ग को देखकर ऐसा लगता है कि जैसे निर्झर की उन्मुक्त धार स्वेच्छा से बहते-बहते थोड़ी देर के लिये विश्राम करने को किसी रमणीय वन-प्रान्तर में आकर रुक गयी है। डॉ० रामकुमार छायावाद के समर्थ गीतकार हैं, और उनके गीतों की प्रायः सभी विशेषताएँ यहाँ परिलक्षित होती हैं। इन गीतो में एकलव्य की चारित्रिक विशेषताओं के संकेत भी मिलते हैं। गीत-संख्या १२ से १७ तक में षड्ऋतु वर्णन है और फिर १८ से २८ तक में विरह की अन्तर्दशाओं का चित्रण। अंत में वणिकों के द्वारा एकलव्य के समाचार में कथा-संकेत है।

धारणा और समता के बाद नवां सर्ग है 'संकल्प'। इसमें एकलव्य की साधना की भूमिका है। इसमें माता की स्मृति की सहजता और व्याघ्र-वली की नवीन भावना में प्राचीन आस्था की झलक है। इनमें दलितों-उपेक्षितो की शक्ति की वन्दना है, द्रोण के चरित्र पर नहीं—सामाजिक व्यवस्था पर एकलव्य का आक्रोश है।[२] गुरु के प्रति अटूट भक्ति का निदर्शन है और गुरु-मूर्ति की स्थापना में द्रव्यों के चुनाव की मर्मस्पर्शिता है।

दसवें सर्ग 'साधना' में एकलव्य की ऐकांतिक साधना का चित्रण है। उसके मन में जाति-व्यवस्था के प्रति कसक का वर्णन है और राजनीति की क्षुद्रता के

---

२ गुरुदेव ने कहा था आह ! किस कष्ट से—
'गुरुकुल है कहाँ, यहाँ तो राजकुल है।'
हाय, गुरुदेव ! क्या परिस्थिति के जाल ने,
खींचा तुम्हें भूमिपतियों की राजधानी में।
ऐसी राजधानी का विनाश होगा शीघ्र ही,
जो महर्षियों को राजनीति मे चलाती है।
जिसने किया है भेद मानव के पुत्रों में।
भूमिपति, भूमि-पुत्र वर्ग हो गये हैं दो।

—पृ० १७७

प्रति विद्रोह। इसमें अछूतोद्धार के सपने को साकार करने का प्रयत्न भी है।[1] नवयुग की दृष्टि यहाँ सप्राण हो उठी है।

जैसे कामायनी में स्वप्न की कल्पना की गयी है, वैसे ही एकलव्य में भी। पर जहाँ कामायनी में वह घटना-विस्तार और मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिये प्रयुक्त है, वहाँ एकलव्य में उसकी योजना द्रोण के चरित्र के उद्धार के लिये की गयी है। अपूर्ण और असंतुष्ट इच्छाओं की पूर्ति स्वप्नों मे होती है—यही मनोवैज्ञानिक सिद्धांत यहाँ भी है। द्रोण के पाश्चाताप के लिये स्वप्न का आधार लिया गया है, जिससे प्राचीन संस्कार और कथा को क्षति नही पहुँचती।

बारहवें सर्ग 'लाघव' में श्वान के मुख में एकलव्य के द्वारा वाण-सन्धान की कथा का विस्तार है। पांडु-पुत्रों के लाघव के चमत्कारपूर्ण वर्णन के बाद एकलव्य के चमत्कार का वर्णन और पांडव-पुत्रों के आश्चर्य का चित्रण है।[2] इसमें पार्थ-एकलव्य मिलन और ईष्या से पार्थ का घर लौटना वर्णित है।

तेरहवें सर्ग में पार्थ की ईर्ष्याजनित चिन्ता के भाव हैं, द्रोण के सम्मुख उसकी आकुलता और खिन्नता की अभिव्यक्ति है और द्रोण तथा पार्थ दोनों के मन में द्वन्द्व की सृष्टि है। कैसे हल हो समस्या ?—यही प्रश्न है। इस सर्ग मे भी द्रोण को उठाने का प्रयत्न किया गया है क्योंकि अर्जुन को फटकारने में उसका आचार्य-रूप प्रत्यक्षतः उदात्त है।[3]

---

१ चाहिए तो यह था कि आततायियों को ही
शूद्र मान, हम आर्य अपने को कहते।
किन्तु शूद्र और ब्राह्मणों में भेद कैसा है,
जबकि सम्पूर्ण अंग मानवों के सब में ?

—पृ० ११८

२ गुरु अग्निवेश की तपस्या सब व्यर्थ की,
मैंने ज्ञान-क्षेत्र की पवित्र तीर्थ भूमि में।
धिक्-द्रोण ! तेरी सब साधनाएँ मिथ्या हैं,
तेरा धनुर्वेद सूम की सम्पत्ति जैसा है।
...मै पथ-भ्रष्ट हो गया।

—पृ० २३३

३ प्रण की जो बात कही, वह, बात मेरी है,
किन्तु तुम कैसे वीर अपने को मानोगे ?
जब किसी अन्य वीर की महान् साधना,

अंतिम सर्ग में एकलव्य के महादान की कथा वर्णित है। जहाँ महाभारत में सिर्फ कुछ श्लोकों में इस दक्षिणा का वर्णन है[1] वहाँ डॉ० वर्मा ने एक पूरे सर्ग में इसका अत्यन्त ओज और करुणा में पूर्ण चित्रण किया है। इस सर्ग में कल्पित और ख्यात वृत्तों का संयोग है। माँ की उपस्थिति की मौलिक कल्पना है और द्रोण द्वारा अंगूठे की मांग का अप्रत्यक्ष प्रस्ताव। पुस्तक का अंत वीरता और वात्सल्य के सम्मिलित वर्णन में है। वीर पुत्र के त्याग और ममतामयी माँ के स्नेह की भावनाएँ मन-प्राणों पर छा जाती है—

गहरी सन्ध्या हुई थी, चन्द्र उठा व्योम में,
टूटने को हुई अब अन्धकार कारा थी।
एकलव्य-कर से प्रवाहित जो रक्त था,
उसमें विलीन जननी की अश्रुधारा थी।

—पृ० ३०५

उनको प्रसन्न करने में असमर्थ है।
—स्वार्थ-त्याग करो वीर साधना में व्यस्त हो,
छोड़ो अविवेक, शान्त चित्त बनो ज्ञान में।

—पृ० २७१

१ एकलव्यस्तु तं दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकात्।
अभिगम्योपसंगृह्य जगाम शिरसा महीम्॥
पूजयित्वा ततो द्रोणं विधिवत्स निषादजः।
निवेद्य शिष्यमात्मानं तस्थौ प्रांजलिरग्रतः॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिदं वचः।
यदि शिष्योऽसि मे तूर्णं वेतन सम्प्रदीयताम्॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम्।
किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरुः॥
न हि किञ्चिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम।
तमब्रवीत्त्वयांगुष्ठो दक्षिणो दीयतांमम॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम्।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च निरतः सदा॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीन मानसः।
छित्वाविचार्य तं प्रादाद्द्रोणायांगुष्ठमात्मनः॥

—आदिपर्व, ३१ ३७, संपादक, डा० विष्णुसुखशंकर, पूना, पृ० ५५२

शिल्प की दृष्टि से एकलव्य के कथानक की मौलिक उद्भावनाएँ— कल्पना की शक्ति का सदुपयोग तब कहा जाता है, जब कवि ज्ञात प्रसंगों की मर्यादा के अनुकूल अज्ञात तथ्यों का निर्माण किया करता है और उसके द्वारा अपने इच्छित प्रभाव को पाठकों और श्रोताओं पर और गहरे ढंग से डालता है। महाभारत मे एकलव्य के सम्बन्ध की कथा इतनी छोटी है कि उसे महाकाव्योचित विस्तार देने के लिये कवि को दो काम करने पड़े है—एक तो उसने एकलव्य से सम्बद्ध द्रोण और पांडवों की कथा को अपनाया है, दूसरे, उसने सर्वथा मौलिक उद्भावनाएँ की है। इस दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं—

१—कवि ने एकलव्य की कथा के माध्यम से महाभारतकालीन आर्य-अनार्य-संस्कृति की सामाजिक और रानैतिक स्थितियों के चित्रण तथा उससे निःसृत जीवन और उसके मनोविज्ञान की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।[1] उसके साथ ही आचार्य द्रोण का अर्थ-संकट और द्रुपद द्वारा अपमान तथा एकलव्य का आशावाद प्रमुख है।[2]

२—प्रथम सर्ग की कथा में नागदन्त-एकलव्य-वार्त्ता कल्पित है। महाभारत में नागदन्त-एकलव्य का कही कोई प्रसंग नहीं है। एकलव्य ने द्रोण के प्रभाव का जो वर्णन किया है, उसका आधार महाभारत का वीटिका-प्रसंग है, जो आदिपर्व के १२२ वे अध्याय में वर्णित है। लेकिन कवि ने नागदन्त की कल्पना द्वारा कथा को नाटकीयता दी है और एकलव्य द्वारा 'नाराच हेतु लौह-खंड' लाने वाली बात को जोड़ कर एकलव्य के मन पर पड़े प्रभाव को निकटता के कारण और भी प्रभावशाली बना दिया है। साथ ही, लौह-भांडार को केवल कुमारो के लिये रक्षित होने की बात लिखकर कवि ने राजनीति के अन्यायपूर्ण रूप को पहले ही सर्ग में संकेतित कर दिया है।[3]

---

१ आर्य और अनार्य संस्कृति को लेकर राजनीति और समाज की जैसी स्थितियाँ महाभारत मे आयी है, उनमे जीवन और उसके मनोविज्ञान के अध्ययन की पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसी संदर्भ में एकलव्य की कथा है, जिसके आधार पर प्रस्तुत रचना संभव हो सकी।

—'एकलव्य' का आमुख, पृ० ३

२ वही।

३ मैने तो प्रत्यक्ष पास होके स्पष्ट देखा है।
मै नाराच हेतु लौह-खंड क्रय करने
राजधानी में गया था, किन्तु रिक्त हस्त मैं,

कवि ने बड़े कौशल और सूक्ष्म संकेत से पांचाल नरेश से प्रतिशोध के लिये पांडव-पुत्रों की सहायता का चित्र खींचा है।[१] इस सर्ग में अंगूठी निकालने वाले प्रसग का वर्णन भी अधिक नाटकीय और दुर्योधन के चरित्र को स्पष्ट करने वाला है। महाभारत मे जहाँ यह कथा आयी है, वहाँ दुर्योधन-द्रोण-वार्त्तालाप नही है।[२]

वीटिका निकालने के प्रसग में द्रोण का उदात्त उपदेश भी कवि की अपनी उद्भावना है। इनके द्वारा कवि ने द्रोण के व्यक्तित्व को ऊपर उठाया है और अपने आदर्श दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है।[3]

सर्गान्त में एकलव्य का द्रोण के चले जाने पर श्रद्धा-भक्ति से विभोर होकर धूल सिर पर लगाने, कूप झाँकने आदि का प्रेरणा-पूर्ण चित्रण भी कवि की स्वतन्त्र कल्पनाएँ हैं। इनके कारण जहाँ एक ओर एकलव्य की असीम भक्ति का बीज अंकुरित होता है, वहाँ दूसरी ओर कथा का सूत्र नायक से जुड़ा रहता है।

लौटा आया, क्योंकि सब लौह भांडार थे,
रक्षित कुमारों के विशिष्ठ शस्त्रों के लिये।

—पृ० १२

१ देव द्रोणाचार्य यह सुन कुछ सिहरे
जैसे कोई पूर्व स्मृति छूकर चली गयी।
किन्तु शीघ्र सावधान होके राजपुत्र से
बोले गहरी साँस लेके मन्द स्वर से—
× × ×
तीक्ष्णतर बाण काटते हैं तीक्ष्ण बाणों को
जीवन में वैसे प्रतिशोध भी तो अस्त्र है।
अस्तु, मैं निकालूंगा तुम्हारी यह वीटिका
शुष्क कूप से तुरन्त जानो प्रतिशोध है।

--पृ० १३, १४

२ वीटांच मुद्रिका चैव ह्यहमेतदपिद्वयम्।

—मुरादाबादी संस्करण, पृ० ६७६

× × ×

एकलव्य, पृ० १७

३ जीवन धनुष पर तीर रखो प्राण का।
धर्म-वीटिका पड़ी हो यदि छद्म-कूप में,
तो निकालो शीघ्र उसे लक्ष्य-बोध करके।

—पृ० १९

३ –दूसरे सर्ग की कथा का आधार महाभारत मे द्रोण द्वारा वर्णित पांचाल नरेश का अपमान और अपने पुत्र को दूध के बदले आटा के घोल पिलाने की कथा है । इस सर्ग मे वर्णन के प्रसंग में द्रोण के एकरस कथन को ललित बनाने के लिये कवि ने कथा के नाटकीय घुमाव मे जिस शिल्प का परिचय दिया है, वह अत्यन्त मनोरम है । ऐसे स्थान पर उन्होने कोष्ठक का प्रयोग किया है, यथा, (दृष्टि द्रोण-ओर क्षण-मात्र फिरी सबकी', (धन्य ध्वनि गूंजी), पृषत के पुत्र (या कुपुत्र), मित्र थे (ओ मित्रघाती), (स्वेद-कण मस्तक का पोछ उत्तरीय से, ...), (सांस गहरी ले द्रोण फिर कुछ ठहरे), (बंद कर ऑखें फिर स्मृति-सूत्र पकड़ा ....) आदि ।

४—तृतीय सर्ग 'अभ्यास' मे पाण्डव-पुत्रों की, विशेषकर अर्जुन के अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा का वर्णन है । इसमे महाभारत के दो प्रसंगो—अंधेरे मे भोजन करने और पक्षी के सिर-वेधन को आधार बनाया गया है । पर कवि ने इन प्रसंगों के साथ जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया है, इनसे जो निष्कर्ष निकाले है, उनमें पर्याप्त नवीनता है ।[1] साधना के दो प्रकार के दोषो का उल्लेख महाभारत की कथा में नहीं है । साथ ही, उस सर्ग के पॉचवें खण्ड मे अस्त्रों-शस्त्रो का जो वर्णन है, वह भी यहॉ अन्यत्र से जोड़ा गया है—महाभारत में इस प्रसंग में इसकी योजना नही है ।

५—प्रेरणा सर्ग का निर्माण कवि की अधिकांशत: मौलिक उद्भावना पर ही निर्भर है । पुन: वीटिका-प्रसंग है, जिसके साथ ही एकलव्य के प्रेरक बिन्दुओ की चर्चा है ।[2] कवि ने कथा-प्रसंग को सरस और स्वाभाविक बनाने के लिये

---

१ एक अंहकार है जो छल छद्म रूप लि,
वामन-सा आता है, विराट बन जाता ह ।
'मैं' का पद नाप लेता त्रिलोक क्षण में,
होता है स्थापित बुद्धि के विशाल भाल पै ।

—पृ० ६०

२ वीटिका नहीं थी, वह मेरा ही हृदय था
जो गिरा था मेरे ही अज्ञान-रूपी कूप में ।
कोई भी निकाल सकने मे असमर्थ था,
दृष्टि-शर से उन्होंने ऊपर निकाला है ।

—पृ० ७४

नाटकीय कौशल का उपयोग किया है ।[1] इसके द्वारा न केवल स्वाभाविकता आयी है, बल्कि एकलव्य की तन्मयता का पता चलता है । परिवार में परिचारिका का होना और उसका इतने शिष्ट शब्दों में बोलना इस बात का प्रमाण है कि अनार्य होकर भी निषादराज के परिवार के संस्कार ऊँचे थे ।

इस सर्ग में स्वप्न की कल्पना की गयी है । संपूर्ण पुस्तक में दो स्थानों पर स्वप्न की कल्पना है—एक स्वप्न द्रोण भी देखता है । यहाँ एकलव्य अपने स्वप्न का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है । स्वप्न-योजना के द्वारा कवि ने आगामी कथा का पूर्वाभास दिया है । मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हम स्वप्नों का विश्लेषण प्रतीकों के रूप में कर सकते हैं । यहाँ भी कवि ने 'अट्टहास' के द्वारा द्रोण की अस्वीकृति के व्यंग्य का, 'जैसे भूमि नहीं छोड़ती' से भूमि-पुत्र के शूद्र होने के कारण अस्वीकृत होने का, 'फूलों का खिलना' से साधना की पूर्णता का और 'पन्नग के दाहिने अंगूठे में काटने' से दक्षिणांगुष्ठ के दान के संकेत दिए हैं । पन्नग को द्रोण का प्रतीक इसलिए नहीं, माना जायगा कि कवि ने द्रोण के चरित्र के प्रक्षालन की दृष्टि से तत्कालीन परिस्थितियों और भीष्म की राजनीति के सिर यह दोष मढ़ने की चेष्टा की है ।

इस सर्ग में एकलव्य के माता-पिता की कल्पना के द्वारा कथा का विस्तार किया गया है । गुरु-प्रेरणा में खोये हुए पुत्र को भोजन करने का आग्रह करने आना, नागदन्त से द्रोणा की कथा जानना, भोजन करने के पूर्व द्रोण को गुरु बनाने के आग्रह के लिये माँ से स्वीकृति लेना, माँ के द्वारा जातिगत हीनता और अभाव का स्वाभाविक चित्रण, नागदन्त की हास्य-व्यंग्य-दृष्टियाँ, पिता का पिता-पुत्र-संवाद तथा पिता का राजधानी में पाण्डव-पुत्रों के कौशल-प्रदर्शन देखने के लिये ले जाने का आश्वासन—ये सारे प्रसंग कल्पित हैं । पूरा प्रेरणा सर्ग ही मौलिक उद्भावना है । इनके द्वारा कवि ने कथा का विकास किया है, वात्सल्य-भाव की सृष्टि की है और एकलव्य की भाव-भूमि को सबल बनाया है ।

---

१ आयी परिचारिका कहा विनत भाव से—
मातु श्री बुला रही हैं, भोजन प्रस्तुत है ।
एकलव्य ने की भौंह बंकिम, कहा कि तू
देखती नहीं है ? बातें करता हूं मित्र से ।
जा यहां से ।

—पृ० ७४

६—चतुर्थ सर्ग में पिता-पुत्र के माध्यम से जिस प्रदर्शन की सूचना दी गयी है, वह पंचम सर्ग में चरितार्थ हुई है।[1] इस सर्ग में वर्णनात्मकता की प्रधानता है। यत्र-तत्र नाटकीयता से स्वाभाविकता आ गयी है। पार्थ को देखकर जनता की प्रशंसाभरी कौतूहल-वृत्ति का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है।[2] वर्णन के कारण अस्त्र-शस्त्रों की चातुरी का विशद प्रभाव पाठकों पर पड़ता है। पार्वतास्त्र के कारण समतल भूमि उठकर पर्वत का रूप पा लेती है, मानो एक तुच्छ उदात्त रूप धारण कर लेता है। डा० रामकुमार ने इस प्रसंग के वर्णन में सर्वथा मौलिक उन्मेष किया है--अपने सम्बन्ध का कैसा कलात्मक, कितना विनम्र रूप है—

> पार्वतास्त्र से अनेक पर्वत बना दिये,
> समतल भूमि उठी नभ-स्पर्श करने।
> ज्यों माँ भारती ने इस राम के कुमार को,
> कवि का उदात्त यश हँसकर दे दिया।[3]

'चरण कमल बन्दों हरि राई' का कैसा कलात्मक आधुनिक रूपान्तर है और 'हँसकर' में कितनी सहजता, कितना स्नेह है!

सर्गान्त में आगामी कथा का संकेत भी शब्द-चित्रमय है।[4]

---

१ आज धार्तराष्ट्रों और पांडवों की शिक्षा का,
होने को प्रदर्शन है, जनता के सामने।

—पृ० ९८

'यही कुन्ती पुत्र है' 'यही मध्य पाण्डव है'
'यही इन्द्रपुत्र है' 'यही है कुरुरक्षक',
'यही अग्र-वीर है,' 'कल मुझसे मिले थे ये,'
'कितने धर्मात्मा' और 'कितने शीलवान!'

—पृ० १०८

३ पृ० ११२

४ उन्हीं दिव्य चरणों में दृष्टि एकबद्ध थी,
सम्मुख विनत एक साँवले कुमार की
कौन जानता है! यह गूँज अविदित थी,
कितने सहस्र कंप लिये किसी तार की।

—पृ० ११४

७—महाभारत में सिर्फ इतना लिखा है कि हिरण्यधन नामक निषाद राजकुमार एकलव्य द्रोण के पास आया, पर आकर उसने कैसे प्रार्थना की, कितनी विनती की, इसका वर्णन नही है। षष्ठ सर्ग मे डा० रामकुमार ने महाभारत के इस अंश की विविवत पूर्त्ति की है। कवि ने नाटकीय विडम्बना (ड्रैमेटिक ऐरोनी) की सुन्दर व्यंजना की है।[1] हिरण्यधनु से द्रोण पूर्व-परिचित थे—यह बात भी कल्पित है।[2]

८—घोरणा सर्ग पूर्णतः कवि कल्पित है, जिसका आधार निराश (किन्तु हतोत्साह नही) लौटा एकलव्य है। मित्रों द्वारा व्यंग्य-परिहास के कारण स्वाभाविकता और इसके विरोध के द्वारा एकलव्य के दृढ़ चरित्र का परिचय मिलता है।

९—अष्टम सर्ग भी पूर्णतः कल्पित है, जिसमें विप्रलम्भ वात्सल्य रस की प्रमुखता है और जिसकी विशेषताओं का उल्लेख कथा-वस्तु निरूपण मे किया जा चुका है।

१०—मर्मस्पर्शिता की दृष्टि से एकलव्य द्वारा गुरु-प्रतिमा बनाने के द्रव्य पर उपस्थित किये गये विचार अत्यन्त मनोहर हैं। यह तो महाभारत में भी लिखा है कि 'द्रोण की मिट्टी की एक प्रतिमा गढ़कर उस प्रतिमूर्त्ति में अच्छे आचार्य की वृत्ति देकर एकलव्य नियम से एकचित्त होकर धनुर्वेद सीखने लगा।[3]' पर क्यो मिट्टी की ही प्रतिमा गढ़ी, दूसरी की नही, इस कारण की कल्पना में वर्माजी की भावुकता का उदात्त रूप मिलता है।[4]

---

१ यदि लक्ष्यवेध में न सफल बनूँ मैं तो,
काट के समर्पित करूंगा करांगुष्ठ मैं।

—पृ० १२०

२ श्री हिरण्यधन को मैं जानता दिनों से हूं।
स्वामिभक्त, किन्तु वे निषादराज ही तो हैं।

—पृ० १२१

३ स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परंतपः
अरण्य मनुसंप्राप्तः कृत्वा द्रोणं महीमयम् ॥
तस्मिन्नाचार्य वृत्तिं च परमामास्थितस्तदा।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे परं नियममास्थितः ॥

—आदिपर्व, १२३ अध्याय, १२, १३, पूना संस्करण पृ० १२३

४ मूर्त्ति किस धातु की हो ? धातु की······?
या काष्ठ की ?

इसी तरह कठोर व्रत की शिला में हरी दूब की भाँति मृगछौनों को देख एकलव्य की माँ की स्मृति की योजना भी बड़ी मनोहर है। लगभग तीन पृष्ठों में इसका वर्णन किया गया है। वणिक और व्याघ्र की कल्पना क्रमशः एकलव्य की साधना की एकाग्रता और शक्ति की परिचायिका है।

११—साधना और स्वप्न सर्गों की कल्पना द्वारा कवि ने क्रमशः एकलव्य की तपस्या और द्रोण की चारित्रिक दुर्बलताओं के प्रक्षालन का प्रयास किया है। स्वप्न का कथानक अर्जुन की प्रबल ईर्ष्या के लिये मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार बन गया है।

१२—द्वादश सर्ग में महाभारत के श्वान के मुख में वाण भर कर चुप करने की कथा का आधार है। साथ ही पाण्डु-पुत्रों के लाघव का भी परिचय दिया गया है। यहाँ वर्णन में नवीनता है, भावों के घात-प्रतिघात के चित्रण में सजीवता है। इस सर्ग में ही अपनी असमर्थता से पार्थ की ईर्ष्या चिन्ता में बदल गयी है।

इस सर्ग में श्वान की कथा में भी महाभारत की अपेक्षा अधिक स्वाभाविकता लायी गयी है। महाभारत में रहस्यपूर्ण रीति से, बिना किसी पर्याप्त कारण के स्वेच्छा से पाण्वों के कुत्ता के साथ घूमते हुए आदमी का वर्णन है।[1] यहाँ कवि ने द्रोण की अपूर्व स्नेहशीलता भी दिखलायी है। उन्होंने देर तक भूखे-प्यासे पाण्डवों के नहीं लौटने पर स्वयं एक भृत्य को मार्गप्रदर्शन के लिये एक श्वान के साथ भेजा है।[2]

काष्ठ की हो, हानि क्या है, मूर्त्ति तो है गुरु की।
इन्हीं घने पेड़ का विशाल काण्ड काट के,
शर से बना दूंगा सु-मूर्त्ति गुरुदेव की
जो मुझे संकेत देगी लक्ष्यवेध शिक्षा का।
किन्तु……सूखा पेड मेरी भावना का केन्द्र हो ?
नहीं, भूमि-कण से बनेगी मूर्त्ति गुरु की।
भूमि-कण जो कि आदि अंत में है एक-सा,
रत्न भी तो भूमि कण में उत्पन्न होते हैं।

—पृ० १८०

१ तत्रोपकरणं गृह्य नरः कश्चिदयदृच्छया।
राजन्ननुजगामैकः श्वान मादाय पाण्डवान॥

—आदिपर्व, अध्याय १२३, श्लोक १६

२ राजपुत्र मृगया
खेलकर नहीं लौटे।

१३—तेरहवें सर्ग का द्वन्द्व भी कवि की कल्पना-शक्ति की उपज है, जो आनुमानिक होकर भी सत्य के पास है। गुरु-शिष्य दोनों की चिन्ता का कारण एकलव्य की पार्थ से श्रेष्ठता है। चौदहवें सर्ग में एकलव्य गुरु को आते देख जो सात्त्विक कल्पनाएँ करता है, वे अत्यन्त निरीह हैं। स्वय द्रोण के यह पूछने पर 'कि जानता नहीं हूं तुम कैसे सिद्धि पा गए ?' एकलव्य जो उत्तर देता है, यह उच्चकोटि का है, जिसमें विनय-शीलता और भोलापन दोनों है।[1]

१४—अंतिम सर्ग में द्रोण के चरित्र के परिमार्जन के लिये कथा-शिल्प की विशेषता दर्शनीय है। इसके लिए दो साधन अपनाये गये है एक तो द्रोण के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से पाश्चाताप कराया गया है[2] तथा एकलव्य की प्रशंसा तथा पार्थ की निन्दा करायी गयी है[3] दूसरे, दक्षिणा में भी अंगूठे की मॉग गुरु के

---

* * *

सब राज-पुत्र भूख-प्यास से हो पीडित
किस वन-खंड में विश्राम लेने जावेंगे ?

* * *

राज गुरु ने बुलाया वनाभि ज्ञभृत्य को,
उसको आदेश दिया—भोजन सामग्री ले,
शीघ्र जाओ वन में,

* * *

और सुनो—साथ लो आखेट-श्वान अपना,
वह भी रहेगा साथ, पता शीघ्र पाओगे।

—पृ० २४२

१ यदि किसी लक्ष्यवेध में असफल हुआ,
आपके समीप आया चरणों में नत हो
प्रार्थना की ! देखिये न, बार-बार शीश के
रखने से पद पर यह चिह्न हो गया।

—पृ० २८६

२ एकलव्य हे !
तुम विप्र हो, हे शिष्य ! गुरु द्रोण शूद्र है।
हा, तुम्हारी गुरुता में गुरु हुआ लघु है।

पृ० २९६

३ अहंकार-पूर्ण पार्थ तुम से महान् हो,
यह धारणा तो पूर्ण मिथ्या है त्रिकाल में

—पृ० २९३

मुख से न कराकर परिस्थिति-प्रेरित शिष्य से ही यह कार्य कराया गया है ।[1]

इस मौलिक परिवर्त्तन के कारण न केवल गुरु द्रोण का चरित्र-परिमार्जन हुआ है, बल्कि चिरलांछित आचार्य-पद को बहुत दूर तक बचा लेने मे कवि को सफलता मिली है ।

अन्त मे माता को उपस्थित कर कवि ने मार्मिकता और बढ़ा दी है । वात्सल्य के तेज के सामने गुरु का ज्ञान हतप्रभ हो गया है ।[2]

---

१ 'ऐसा शिष्य पाके गुरु कितना कृतार्थ है ।
उसकी कृतार्थता ही होगी गुरु दक्षिणा…'
चौंक उठा एकलव्य, शब्द 'गुरु-दक्षिणा ।'
* * *
मेरी दक्षिणा है शेष, अर्पित मैं क्या करूँ ?
* * *
आपने अभी कहा है किस आर्त्तवाणी में—
'तुम नहीं वत्स ! यह समय ही शूद्र है,
जिसका कि दक्षिणांगुष्ठ शक्तिशाली बन
निन्दा के नाराच छोड़ता है उग्र वेग से ।
जिससे कि खंड-खंड गुरु का हृदय है ।'
'गुरु का हृदय खंड-खंड हो असंभव
दक्षिणांगुष्ठ ही हो खंड-खंड मेरा जो कि
पार्थ को बना दे अद्वितीय धन्वी विश्व में ।'

—पृ० २९२-२९६

२ 'तुमको क्षमा करें मैं पूछती हूँ आप से,
शिष्य मात्र ही क्या गुरु-दक्षिणा का दानी है ?
आपके विधान में नियम यदि ऐसा हो,
शिष्य-माता से भी दक्षिणा में लिया जाना है ।
तो विनती मेरी प्रार्थना है, देव ! सुनिए
नेत्र मेरे लीजिए पुनीत निज सेवा में
जिससे न देख सकूँ खंडित अंगुष्ठ मैं,
निज प्रिय लाल के सलोने उस हाथ का !'
स्तब्ध सब हो गए ।
* * *
क्षमा करो देवी ! माता की
ममता की सेवा कौन जानेगा जगत मैं
रुक न सकूँगा मैं, वीर एकलव्य, स्वस्ति !

—पृ० ३०४

इस तरह एकलव्य की कथा की क्षीणता मौलिक उद्भावनाओं से पुष्ट है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण, मर्मस्पर्शी भावुकता और चिन्तन ने कथा-शिल्प के स्तर को बहुत ऊँचा उठा दिया है।

कथा-शिल्प की दृष्टि से अन्य आधुनिक महाकाव्य

आधुनिक युग की वैज्ञानिकता ने महाकाव्य के कथानक के शिल्प को बहुत अधिक प्रभावित किया है। केवल चरित्रों के ही मनोवैज्ञानिक चित्रण नहीं हुए है, कथाएँ भी मनोवैज्ञानिक धरातल पर उतारी गयी हैं और असंभव तथा दैवी लगने वाली घटनाएँ स्वाभाविक बनायी गयी हैं। साथ ही, शिल्प-विधानात्मक दृष्टि से युग की मर्यादा के प्रतिकूल लगने वाले अंश त्याग दिये गये है। कथा-शिल्प की दृष्टि से वैदेही-वनवास, रामचरित-चिन्तामणि, साकेत-सन्त, कृष्णायन, नूरजहाँ, विक्रमादित्य, दैत्यवंश, तारक-वध, कैकेयी आदि रचनायें विचारणीय हैं।

वैदेही-वनवास



वैदेही-वनवास वाल्मीकि-रामायण, रघुवंश और उत्तर रामचरित से प्रभावित अठारह सर्गो का एक ऐसा महाकाव्य है, जिसे प्रियप्रवास के बाद हरिऔध का सर्वोत्तम ग्रंथ माना जाता है।[1] कथा का वर्ण्य विषय है :—लंका से अयोध्या लौटने के बाद लोकनिन्दा के कारण सीता का परित्याग और उसका वन-निर्वासन, किन्तु शिल्प की दृष्टि से प्राचीन कथा का बहुत अंशों मे परिमार्जन द्रष्टव्य है—

१—वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति ने सीता-निर्वासन का सम्पूर्ण दायित्व राम पर डाला है, पर हरिऔध ने इसे पूरे परिवार गुरुजन, बन्धु-जन की स्वीकृति और शुभाकांक्षा का फल माना है।[2]

---

१ जो लोग यह कहते हैं कि प्रिय-प्रवास के पश्चात उपाध्यायजी कोई दूसरा उत्तम ग्रंथ न दे सकेंगे, उनको वैदेही-वनवास अवश्य पढ़ना चाहिये।

—हिन्दी काव्य-विमर्श, गुलाबराय. पृ० २५४

२ मंत्रणा-गृह में प्रातः काल,
भरत-लक्ष्मण-रिपुसूदन संग॥
राम बैठे थे चिन्ता मग्न
छिड़ा था जनकात्मजा प्रसंग॥

—तृतीय सर्ग, पद–१।

२—कवि ने इस लोक-निन्दा के मूल में छिपी दुष्ट भावना के उत्स की भी मौलिक कल्पना की है। इसके पूर्व किसी कवि ने इसके कारणों की खोज नही की थी। इस नवीनता के कारण सीता-परित्याग-भावना को बल मिलता है।[1]

३—यद्यपि वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति तीनों की सीता निर्वासन के पूर्व ऋषि-मुनियो के आश्रम को देखने की आकांक्षिणी है,[2] तथापि उन ग्रंथो में उसे निर्वासन के मूल कारण के साथ मुख्य रूप से समन्वित नही किया गया है। हरिऔध ने इसे भी एक मुख्य कारण माना है।

४—गर्भवती स्त्रियों को कुलपति-आश्रम में भेजने की प्रथा का उल्लेख भी नवीन है।[3] इस प्रसंग की उद्भावना से सीता-परित्याग की व्यथा थोड़े अंशों

---

१ कुछ दिनों से लवणासुर की
 असुरता है बढती जाती।
 कूटनीतिक उसकी चालें
 गहन हो पर है उत्पाती॥
 लोक अपवाद प्रवर्त्तन में।
 अधिकतर है वह रत रहता॥
 श्रीमती जनक-नंदिनी को।
 काल दनु-कुल का है कहता॥

—वही, पद ६९-७०

२ (i) तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव।
 गंगा तीरो पविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम्॥

—वाल्मीकि-रामायण, उत्तर काण्ड, ४२-४३

(ii) सा दृष्ट नीवारबलिनिहिस्त्रैः संवृद्ध वैखानसकन्यका नि।
 इये भूयः कुशवन्ति गन्तुं भगीरथीतीरतपोवनानि॥

—रघुवंशम्, सर्ग, १४,२८

(iii) इदं च भातृजनन्यया देवीभिःशान्तया च भूयो भूयः संदिष्टम्।
 यः कश्चिद् गर्भदोहदो भव यस्याः सोऽवश्यमचिरात्संपादयितव्यइति॥

—उत्तर रामचरित, अंक १

३ आर्यजाति की यह चिरकालिक है प्रथा।
 गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति॥
 कुलपति पवन-आश्रम में है भेजते।
 हो जिनमे सब मंगल शिशु हो शुद्धमति॥

—सर्ग ४, पद ५२

मे यह सोचकर कम होती है कि चलो, यह तो एक प्रथा थी इसका पालन कर आश्रम में सीता को भी जाना ही पड़ता।

५—हरिऔध के पूर्ववर्ती कवियों ने सीता के परित्याग के पीछे लोक-निन्दा की बात छिपा दी थी। आधुनिक युग की दृष्टि मे यह अन्याय कहा जायेगा। बिना पर्याप्त कारणों के किसी का निर्वासन उचित नहीं है। कवि ने इस प्रसंग को सुधारा। यहाँ चौथे सर्ग में वशिष्ठ सीता को सारी बात पूर्वसूचित करने का आदेश देते हैं, क्योंकि उन्हें सीता की चारित्रिक मर्यादा मे विश्वास है।[1] ... .. और इस आदेश का पालन भी होता है।

६—हरिऔध के राम सीता को धोखा नहीं देते। स्वयं सीता लोक-मत की रक्षा के लिये वन जाने के लिये तैयार हो जाती है। इस परिवर्त्तन से राम-सीता दोनों के चरित्र का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

७—पूर्ववर्ती कवियों से भिन्न इस पुस्तक का विदा-प्रसंग आनन्द, उत्साह और आदर्श से परिपूर्ण है। वाल्मीकि रामायण और रघुवंश की भाँति चुपचाप गंगा-तट पर सीता को त्यागा नहीं गया है। उसे विधिवत आशीर्वाद, शुभ-कामना और स्नेहाश्रु से सींचकर विदा किया गया है।

८—भवभूति की सीता को लक्ष्मण वन मे छोड़कर चले जाते है। हरिऔध के लक्ष्मण उसे स्वयं वाल्मीकि के आश्रम तक पहुँचा देते हैं। इस परिवर्त्तन से सीता की मर्यादा की रक्षा होती है और दशरथ पुत्रों के चारित्रिक कलंक का कुछ अंशों में परिमार्जन होता है।

९—पारिवारिक स्नेह तथा स्वाभाविकता की सृष्टि के लिये कवि ने भव-भूति द्वारा उपेक्षित, किन्तु वाल्मीकि और कालिदास द्वारा समर्थित शत्रुघ्न का वाणासुर वध के लिये जाते समय वाल्मीकि-आश्रम मे ठहरने के प्रसंग को अधिक विस्तृत फलक पर चित्रित किया है। वाल्मीकि और कालिदास दोनों ने इस प्रसंग में शत्रुघ्न को सीता के प्रति उदासीन दिखलाया है। वह वाल्मीकि से

---

१ किन्तु आपसे यह विशेष अनुरोध है।
सब बातें कान्ता को बतला दीजिए॥
स्वयं कहेगी वह पति प्राणा आपसे।
लोकाराधन में विलम्ब मत कीजिए॥

—वही, पद ५९

ही सीता का कुशल समाचार पूछ कर लौट जाता है। भला यह कैसे संभव है कि एक ही परिवार के दो सदस्य परदेश में मिलने पर एक दूसरे से वार्त्तालाप न करें, मिलें-जुलें नही। कवि ने इसी स्वाभाविकता की रक्षा के लिये शत्रुघ्न और सीता के वार्त्तालाप और कुशल-समाचार का विस्तृत वर्णन किया है।[१] पूरा एकादश सर्ग ही इस प्रसंग के लिये रचा गया है।

१०—शम्बूक-वध की कथा को युगानुरूप नही समझकर अन्य-कवियो से भिन्न हरिऔध ने छोड दिया है। गांधी-युग मे इस कथा का वर्णन आदर्श-च्युत होता।

११—अश्वमेध यज्ञ पर तो वैदेही-वनवास की सीता भी आयोध्या में आती है, पर वह पृथ्वी मे समाने का अलौकिक और अवैज्ञानिक कार्य नही करती, बल्कि हर्षातिरेक से दिव्य-ज्योति में परिणत हो स्वर्गीय हो जाती है।[२] इस तरह कथान्त स्वाभाविक और अधिक प्रभावोत्पादक हो गया है। कवि ने उस ज्योति का व्यापक विस्तार दिखलाकर सीता की लोकप्रियता सिद्ध करने का प्रयास किया है।[३]

कृष्णायन



पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र की यह रचना कृष्ण-काव्य की कड़ी में जोड़ी गयी आधुनिक युग की एक श्रेष्ठ रचना है। परम्परा का पालन करते हुए भी कवि

---

१ आ उसी समय आलय मे।
सौमित्र-अनुज ने सादर॥
पग-वन्दन किया सुता का।
बन करुणा-भाव से कातर॥

—एकादश सर्ग, पद ४५

२ ज्योंही पति प्राणा ने पति-पद-पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव-मूर्त्ति सी बन गयी॥
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का।
दिव्य ज्योति में परिणत वे पल मे हुई।

—अष्टादश सर्ग, पद ४०

३ आज भी कलित उसकी कीर्त्ति-कलाप से
मंजुल-मुखरित उसका अनुपम-ओक है
आज भी परम-पूता भारत की धरा।
आलोकित है उसके शुचि आलोक से।

—वही, ५-४

ने नये युग की पृष्ठभूमि मे इस प्राचीन विषय को पल्लवित किया गया है। यह प्रथम पुस्तक हे, जिसमे कृष्ण के सर्वाङ्गीण जीवन को सामने रखकर एक सुसम्बद्ध कथानक का निर्माण किया है।[1] महाभारत, श्रीमद्भागवत और सूरसागर को उपजीव्य ग्रथ के रूप में स्वीकार करके भी कवि ने पर्याप्त मौलिकता दिखलायी है।

यह मानस की भाँति सात काण्डों मे विभक्त है, जिसमें कृष्ण-जीवन की पूर्ण कथा पिरोयी गयी है।[2] इस कथा मे कृष्ण को नायक मानकर राष्ट्रीय भावनाओ को स्थान दिया गया है। आर्य-सस्कृति की विजय और अनार्य-संस्कृति की पराजय दिखलायी गयी है। आरोहण काण्ड में इस दोनों संस्कृतियो का विस्तृत वर्णन है। कवि ने विदेशी प्रभाव की दासता का विरोध किया है।[3]

प्राचीन कथा के माध्यम से तत्कालीन शासकों का वर्णन भी प्रस्तुत किया गया है।[4] सुधारवादी दृष्टिकोण ने कृष्ण के चरित्र से सम्बद्ध शृंगार-धारा का

---

१ कृष्णायन में प्रथम बार कृष्ण की संपूर्ण जीवन-कथा को संकलित काव्य का स्वरूप दिया गया है।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १५१

२ जब संस्कृत साहित्य में ही इस पूर्णावतार की पूर्ण कथा एकत्र नही मिलती तो हिन्दी-साहित्य में उसका अभाव आश्चर्यजनक नही है। प्रस्तुत ग्रंथ में श्री द्वारका प्रसाद मिश्रजी ने हिन्दी साहित्य की इस कमी को दूर करने का अत्यन्त विशद और सफल प्रयत्न किया है।

—प्राक्कथन, कृष्णायन, डा० राजेन्द्र प्रसाद, पृ० २

३ उदधि पार के नित नव वादा,
धरत शीश जे मानि प्रसाद,
पर-वश तन संग मनहू आपन,
कीन्हेउ निज पर चरण समर्पण
नात पुरातन जिन सब तोरा
तिन हित यह प्रयास नहि मोरा।

—अवतरण काण्ड, पृ० ५

४ काल-यवन, भवनन-महिपाला,
नाम-स्वरूप महा विकराला।
कांपत रहत सप्तनद-वासी।
मैत्री तासु मगधपति संगा,

भी बहुत दूर तक परिमार्जन किया है। कहते हैं, कृष्ण की सोलह हजार पत्नियाँ थीं। इस तथ्य के लिये एक सुधारवादी आदर्श कथा का आश्रय लिया गया है। कृष्णायन के अनुसार कृष्ण ने दैत्यों का संहार करके सोलह हजार एक सौ शोषित और सतीत्त्व-विहीन नारियों का उद्धार किया। वे निराश्रित हो विलाप करने लगीं, क्योंकि समाज में उन से पतिताओं के लिये स्थान नहीं था, और तभी कृष्ण ने उन्हें अपनी पत्नी के रूप में प्रतिष्ठित कर उनका उद्धार किया। यह दृष्टिकोण सर्वथा वैज्ञानिक और आदर्श है। इस ग्रंथ में ऐसे नवीनतावादी दृष्टिकोण अनेक हैं।[1]

बाल-चरित का वर्णन सूरसागर और भागवत के आधार पर तो है, उनसे अधिक व्यावहारिकता और वास्तविकता कृष्णायन है। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला भी मर्यादा के बंधन में बंधी और उनकी अवस्था के अनुकूल है।

अवतरणकाण्ड और मथुराकाण्ड वर्णित घटनाओं में पूर्णतः लोकिकता तो नहीं है, पर उनमें पर्याप्त मानव-सुलभ स्वाभाविकता है।

बाल्यकाल की घटनाओं का संयोजन बाद की घटनाओं से किया गया है, जिससे प्रबन्धात्मकता का सुदृढ़ निर्माण हो सका है। मथुराकाण्ड और द्वारका-काण्ड को सुनियोजित करने के लिये सांदीपन ऋषि के आश्रम में कृष्ण की शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। उसी तरह द्वारका काण्ड में कृष्ण के साथ अनेक राजकुमारियों के विवाह के पीछे भी राजनैतिक एकता का आधार ढूँढा जा सकता है।

कृष्णायन-रुक्मिणी-विवाह के अवसर पर कौरव-पांडवों के समाचार जानने को अक्रूर हस्तिनापुर आते हैं।[2] इस मौलिकता के कारण द्वारका काण्ड का

एक वाटि के दोउ भुजंगा।
भयेउ कंस कुरु दोउन दासा,
विदलित संस्कृति, धर्म-विनाशा।

—मथुराकाण्ड, पृ० १६३

१ इस ग्रंथ-रत्न में केवल कृष्णचरित या महाभारत की कथा नहीं है। इससे देश की धार्मिक तथा सांस्कृतिक विचारधारा का वर्त्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप, पुनर्निर्माण किया गया है।

—कृष्णायन की भूमिका : डा० धीरेन्द्र वर्मा एवं डा० सक्सेना, पृ० १८

२ एक दिवस प्रिय उद्धव साथा,
सुखासीन उपवन यदुनाथा।

*   *   *

सबंध अन्य काण्डों में सहज ही जुड़ जाता है।[2] इसी तरह जयकाण्ड की मुख्य घटनाओं को भी कृष्ण-गाथा में सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है।

कृष्णायन में युद्ध-वर्णन और युद्ध-चातुरी का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है और वार्त्तालाप के द्वारा वीर-भाव को उत्तेजित करने के लिये समुचित वातावरण तैयार किया गया है।

व्यावहारिकता की दृष्टि से आरोहण काण्ड में दार्शनिक विवेचन का आधार हिन्दू-दर्शन न होकर जैन-दर्शन है, जिसके आधार मुक्तात्मा ही परमात्मा के रूप में वर्णित है।

कभी-कभी विद्वत्ता काव्य निर्माण में बाधक सिद्ध होती है, जैसे केशव के लिये हुई; पर कृष्णायन में यह ज्ञान काव्य की भूमि पर निखर गया है! भौगोलिक, ऐतिहासिक और पौराणिक ज्ञान ने कृष्णायन को समृद्ध बनाया है।

साकेत-सन्त



रामायण की कथा को आधार मानकर और भरत को नायक बनाकर पं० बलदेव प्र० मिश्र ने चौदह सर्गों का यह महाकाव्य लिखा है। डॉ० मिश्र तुलसी साहित्य के मनस्वी विद्वान और अत्यन्त आस्तिक कवि हैं। अतः कोशल-किशोर साकेत-संत और रामराज्य काव्यों में उनकी भगवद्भक्ति और काव्य-कला का मणि-कांचन संयोग हुआ है। साकेत-संतके कथानके के शिल्प-सौन्दर्य के लिये आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्त्तन किये गये हैं--

१—विवाह के पूर्व दशरथ ने कैकेयी को यह वचन दिया था कि वह उससे उत्पन्न पुत्र को ही राज्य देगा। यह सूचना भरत को उसके मामा युधाजित् द्वारा दिलायी गयी है। इस परिवर्त्तन के कारण कैकेयी की माँग का औचित्य सिद्ध होता है।

उद्धव सुख सुनत द्विज बानी
कहेउ विप्र सन सारंग पानी—
यह सर्वोत्तम रचेउ प्रसंगा,
समर विवाह दोउ इक संगा।

—द्वारका काण्ड, पृ० २३६, २३९

२ यहीं से यदुवंश की कथा-कालिन्दी भरतवंश की गाथा-भागीरथी के साथ एकाकार होकर बढ़ने लगती है।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १६०-६१

२—दशरथ ने भरत को ननिहाल भेजा था—इस कलंक के परिमार्जन के लिये कवि ने मामा युधाजित् के आग्रह पर केकय जाना दिखलाया है।

३—इसी मामा के कारण षड्यन्त्र की भूमिका तैयार करायी गयी है। उसी ने मन्थरा को सीख दी थी। यहाँ 'गयी गिरा मति फेरि' की अलौकिकता या 'भरत-से सुत पर भी संदेह' की मनोवैज्ञानिकता नहीं है।

४—कैकेयी के पाप के प्रक्षालन के लिये उसके सती होने की बात बतलायी गयी है।

५—षष्ठ सर्ग में पाश्चाताप करती कैकेयी का वशिष्ठ के पास जाकर उन्हे पुनरुज्जीवित करने की प्रार्थना सती होने की भूमिक के रूप में वर्णित है।[1] इसे अलौकिकता के प्रति कवि का मोह न मानकर हम व्यथा-विदग्धा कैकेयी की मानसिक स्थिति मान सकते है।

साकेत-सन्त का कथा-शिल्प साकेत की भाँति ही मनोवैज्ञानिक रूप से सुयोजित है। ग्रंथ के आरम्भ और अन्त दोनो में एक ही प्रकार के है। उर्मिला लक्ष्मण के प्रेमालाप तथा आमोद-प्रमोद से साकेत का प्रारम्भ हुआ है और माण्डवी तथा भरत के प्रेमालाप से साकेत-सन्त का। लक्ष्मण उर्मिला के मिलन से साकेत का और माण्डवी-भरत के मिलन से साकेत-सन्त का अन्त होता है। वशिष्ट की दिव्य-दृष्टि की कल्पना इस पुस्तक में भी है। साकेत की भाँति इस ग्रंथ में भी वर देने की मनाही की गयी है।[2] इस प्रसंग में साकेत में जहाँ प्रत्यक्ष उपदेशात्मकता है, वहाँ साकेत-संत मे लाक्षणिकता है! कथा-विस्तार की प्रवृत्ति दोनों ही ग्रंथों मे न्यून है। साकेत-संत भाषा-शैली, भावाभिव्यंजन, रस-निरूपण और मार्मिकता की दृष्टि से भरत के जीवन पर लिखा गया सर्वो-

---

१ पद १२–१७

—साकेत, पृ० ५१

२ किसीको न दे कभी वर देव,
वचन देना छोड़े नर-देव
दान में दुरुपयोग का वास,
किया जावे किसका विश्वास?
वृथा वर तथा दान के तर्क
घनों से छिपा कहीं क्या अर्क?

—साकेत-सन्त पृ० ५७

त्कृष्ट काव्य है। भरत और राम की एकरूपता[1] की भावना ने नायक की उदात्तता सर्वत्र अक्षुण्ण रखी है।

रामचरित-चिन्तामणि



महाकाव्य के स्थूल तत्त्वों को ध्यान मे रखकर पच्चीस सर्गों मे प० रामचरित उपाध्याय द्वारा रचा गया यह एक साधारण कोटि का प्रबन्ध-काव्य है यद्यपि इसे कवि और प्रस्तावना-लेखक दोनों ने महाकाव्य माना है।[2] द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता-प्रधान-प्रणाली मे लिखे गये इस काव्य मे भावुकता और कल्पना का अभाव है। रामचरित को नये रूप मे सँवारने की जगह कवि ने उसे नष्ट कर दिया है। इसके कथानक की समीक्षा करते हुए हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते है :

१—तुलसीदास की अपेक्षा कवि कथा-प्रसगों मे वाल्मीकि से अधिक प्रभावित है। राम-जन्म, राम-सीता-विवाह, वन-गमन, सीता-हरण, रावण-वध, अयोध्या-आगमन, सीता-त्याग, राम-पुत्र-जन्म, अश्वमेध-आयोजन, राम-लव-कुश-मिलन आदि घटनाओं के चित्रण के समय कवि का ध्यान वाल्मीकीय रामायण पर केन्द्रित दीखता है। लेकिन वाल्मीकि की कल्पना, वर्णन की सूक्ष्मता और कवित्व-कला की ऊँचाई उपाध्यायजी को छू तक नही गयी है।

२—मुख्य और अवान्तर कथाओं की सुसंगति के अभाव में कथा का संगठन नष्ट हो गया है।

३—जो प्रसंग अपनी सरसता के कारण हमारे संस्कार मे मूल्यवान बनकर प्रतिष्ठित हैं, वे भी इस कवि के हाथ मे पड़कर नीरस बन गये हैं। यथा, सीता-स्वयंवर, वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत-मिलाप, सीता-परित्याग आदि के वर्णनों में भी कवि ने कवित्वपूर्ण हार्दिकता नही दिखलायी है।

---

१ अभिराम भाव से जगाने जन-जीवन को,
मेरे जान राम ही भरत बन आए हैं।

—पृ० १८

२ हम अपने पूज्य पुरातन रामायण को नये रंग-रूप मे पढ़ें, नयी रचना में उसका आनन्द लूटें और उसके नये भावों से दीक्षित हों।......इस उद्देश्य को पूर्ण करता हुआ रामचरित-चिन्तामणि महाकाव्य प्रस्तुत हुआ।

—ग्रन्थ की प्रस्तावना, प० रामदहिन मिश्र, पृ० १

४—नीरस और उपदेशात्मक तत्त्वों के कारण महाकाव्योचित सरसता नहीं आ पायी है ।

५—राम को अवतारी पुरुष मानकर चलने पर भी कवि ने उसके विकास के लिये कथा की भूमि तैयार नहीं की है ।

६—वात्सल्य-रस के संचार के लिये कवि ने दशरथ-नन्दनों के जन्म, लालन-पालन आदि का उपयुक्त वर्णन नहीं किया है । कहीं-कहीं तो अचानक परम्परा का स्मरण हो आने पर, वर्णन की अच्छाई होने पर भी चरित्र की मर्यादा भंग हो गयी है, जैसे, कौशल्या का राम को जगाने के लिये प्रयास करना । प्यार-अनुरोध से जगाने का चित्रण तो ठीक है, पर सभी भाइयों के जग जाने पर भी राम का सोया रहना, उनके आलस्य का द्योतक है, जो सर्वथा अनुचित है ।[1] और कवि ने 'कभी' शब्द लिखकर तो राम के आलस्य को उनका स्वभाव बना डाला है । कम से कम 'कभी' को 'अभी' लिखकर भी कवि ने रामचरित को पूर्णत: डूबने से बचा लिया होता !

७—मानस के विपरीत, बिना किसी पूर्वापर प्रसंग और पृष्ठभूमि के राम को विश्वामित्र का सहसा जनकपुर जाने का आदेश भी कवि की सूक्ष्म-दृष्टि के अभाव का परिचायक है ।[2] इसमें विश्वामित्र के हँसने से उनकी भविष्य-कथा का ज्ञान भले ही प्रकट हो, पर जनकपुर-गमन की काव्योचित पृष्ठभूमि नहीं मिलती ।

---

१ उठे नहीं राम कभी प्रभात में,
उठे रहे बन्धु सभी प्रभात में ।
स्वयं जगाने जननी उन्हें गयीं,
खिली मनो चम्पक की कली नयी ।

—दूसरा सर्ग, पद २

२ आकर [illegible] रघुनाथ ने मुनिनाथ से कर जोड़कर
कुछ कार्य फिर मेरे लिये कहिए सहम को छोड़कर ।

* * *

हँसकर कहा मुनिनाथ ने रघुनाथ मत घबड़ाइए;
मेरे कहे सन्मार्ग पर निःशंक चलते जाइए ।
चलिए, चलें, शोभा लखें, राजा जनकपुर की अभी,
है असुर अगणित देश में फिर मारना उनको कभी ।

—तीसरा सर्ग, पद २, ३

८—विवाह का वर्णन कहीं नहीं है, उसकी केवल सूचना है।[1] दो पंक्तियों में सारे प्रसंग को कवि ने चलता कर दिया है।

९—दशरथ, भरत, शत्रुघ्न किसी का भी जनकपुर में आगमन दिखलाये बिना ही कवि ने यह लिख दिया है कि 'चारों सुतों को ब्याह कर आए नृपति निज धाम' पर[2] कवि ने पूर्वापर प्रसंग पर यहाँ भी ध्यान नहीं दिया है।

१०—वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत का अयोध्या-आगमन, चित्रकूट-मिलन, सुग्रीव-मिलन आदि प्रसंगों में कहीं मार्मिकता नहीं दीखती।

११—आधुनिक काल में भी शम्बूक की कथा को दुहराना कवि की अदूरदर्शिता का प्रमाण है। जिस कथा को १६ वीं शती में तुलसी ने अनुपयुक्त समझ कर छोड़ दिया, उसे बीसवीं शती के कवि ने अपनाकर अक्षम्य अपराध कियाहै। मार्मिक प्रसंगों को तो कवि ने छोड़ दिया है, पर इसका वर्णन ११६ पंक्तियों में किया है।[3]

इतने दोषों के कारण इस ग्रंथ को महाकाव्य का ढाँचा भर मिला है, पर प्रियप्रवास के बाद इसकी रचना खड़ी बोली की भाषा की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। आधुनिकता के प्रभाव में देश की दुर्दशा, देश-भक्ति, बहु-विवाह, निन्दा आदि कुछ वर्णन अच्छे बन पड़े हैं। पर, शिल्प विधान की दृष्टिसे इस ग्रन्थका कोई मोल नहीं।

नूरजहाँ



नूरजहाँ गुरुभक्त सिंह भक्त का मुगलकालीन वातावरण और इतिहास पर आधारित एक प्रेम-काव्य है, जो १८ सर्गों में विभक्त है।

इसके कथानक में इतिहास और कल्पना का सुन्दर समन्वय हुआ है। इतिहास का आधार सलीम और मेहरुन्नीसा का प्रेम व्यापार, शेर अफगान के साथ उसका विवाह आदि मुगलकालीन इतिवृत्त है। इस दृष्टि से निम्नलिखित प्रसंग इतिहास सम्मत हैं—

---

१ फिर शास्त्र-रीति से जानकी रघुपति से ब्याही गयी,
सुर-राजपुरी-सी हो गयी जनकपुरी मंगलमयी।

—चतुर्थ सर्ग, पद ५५

२ पांचवाँ सर्ग, पद १

३ पच्चीसवां सर्ग, पद संख्या २४ से ५२

१—गयास का ईरान छोड़ आगरा आना[1] और रास्ते मे मेहर का जन्म ।[2]

२—आगरा में मेहर का पालन-पोषण एवं कपोत-प्रसंग द्वारा सलीम का आकर्षण ।

३—शेर अफगान के साथ मेहर की शादी ।

४—अकबर की मृत्यु और शेर अफगान की मृत्यु के बाद जहाँगीर से मेहर का मिलन ।

इतिहास के तथ्यों को सजाने और कथानक को शक्तिशाली बनाने के लिये कवि की निम्नलिखित उद्भावना शिल्प-विधि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है:—

१—अनारकली के प्रेम की विस्तृत चित्रावली ।

२—प्रेम-प्रसंग को अधिक बल देने के लिये जमीला की कल्पना तथा कुतुबुद्दीन से उसका विवाह ।

३—नाहर की कथा ।

४—शेर अफगान के पुत्र का वध ।

५—सर्वसुन्दरी की कल्पना और उसका अभिशाप ।

६—स्त्री-स्वतंत्रता की झाँकी ।

७—विवाह-विच्छेद की आधुनिकता, जो मुसलमानो के लिये नयी बात न थी ।

८—हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य, भोजन-दान एवं दोनो के प्रति सहानुभूति-प्रदर्शन आदि ।

नूरजहाँ एक वर्णन-प्रधान काव्य है । कथानक सुश्रृंखलित है, पर उच्च-चरित्र के अभाव मे लोकप्रिय होकर भी यह एक उच्चकोटि का महाकाव्य नहीं बन सका ।

---

१ चलने का व्रत कर डाला है अब विदेश, चाहे जो हो ।

—पहला सर्ग, पृ० ६

२ क्षितिज गर्भ से नव ऊषा का जन्म हुआ ज्यो ही नभ पर ।
ओस-बिन्दु-सी लगी खेलने तृणदल पर कन्या सुन्दर ॥
नही ठहर सकती थी, जिसकी अनुपम आभा देख नजर ।
ऐसी कन्या को माता ने लिये अंक मे अपने भर ।

—दूसरा सर्ग, पृ० १७

तारक-वध



'तारक-वध' पं० गिरिजादत्त 'गिरीश' का प्रतीक-प्रधान महाकाव्य है, जिसमे एक पौराणिक-कथा के बहाने मानव-दानव और देव के सनातन प्रश्नो पर विचार किया गया है।[1] इस महाकाव्य की रचना हिन्दी मे एक प्रयोग है।[2] यह प्रयोग कहाँ तक सफल है, विचारणीय है।

कथा का आधार शिव और पार्वती के पुत्र कार्त्तिकेय द्वारा तारक-वध है। कालिदास के कुमार-संभव मे यह कथा है। आधुनिक युग मे रामानंद तिवारी के 'पार्वती काव्य मे भी यह तथ्य है। पर पं० गिरीश का उद्देश्य कथा कहना नही, कथा के आधार पर देव-दानव के संघर्ष का चित्रण है। इस दृष्टि से सब मे बडी बात यह है कि कवि ने प्राचीन कथा के आधार पर यह नही दिखलाया है कि कार्त्तिकेय ने हिंसात्मक अस्त्र से तारक का संहार किया; बल्कि गांधीवादी दृष्टि मे शृंगी ऋषि द्वारा हृदय-परिवर्त्तन के कारण उस पर अधिकार दिखलाया गया है। तारक-वध मे व्यक्ति का नही, उसकी आसुरी वृत्तियो का संहार दिखलाया गया है।

दूसरी बात यह है कि कवि ने दानवो के प्रति घृणा का नही, प्रेम का व्यवहार उचित समझा है।[3] काव्य के उपेक्षितो के उद्धार के प्रयास मे यह

---

१ तारक-वध का कथानक केवल नाम मात्र को प्राचीन परिचित पौराणिक कथानक है। कवि ने उसे अपनी कल्पना का सजीवन पिलाकर, उसे वर्त्तमान युग की जीवन-समस्याओं का व्यापक रंगमंच बनाने के अभिप्राय से, उसका आमूल काया-कल्प कर दिया है। कथा का जीर्ण-शीर्ण पंजर नवीन प्राणों का शक्तिशाली स्पर्श पाकर मूर्त्तिमान होकर जाग उठा है। वास्तव मे पात्रों के प्राचीन नामों को छोडकर समग्र कथावस्तु प्रतीकात्मक परिधान धारण कर जैसे किसी जादू के बल से, मानव-सभ्यता तथा संस्कृति की आधुनिकतम समस्याओं के निरूपण कर युग-मानव के सम्मुख उनका सामाधान प्रस्तुत करने में सफल हो सकी है।

—सुमित्रानंदन पंत, पुस्तक का प्राक्कथन, पृ० १

२ मै कह चुका हूं कि तारक-वध की रचना करके मैंने एक प्रयोग किया है।

—लेखक के दो शब्द, पृ० २१

३ दानव-मानव-देव की आन्तरिक एकता के कारण दानव मूलतः हमारी करुणा, हमारी कृतज्ञता ही का अधिकारी होने योग्य है, उसे हमारा प्रेम-दान ही मिलना चाहिये।

—लेखक के दो शब्द, पृ० ६

भी एक कड़ी है। तारक-वध के कथानक में द्वन्द्वों का चित्रण है, घात-प्रतिघातों का विस्तार है, जो मूल समस्या के निदान में सहायक है।[1]

तारक-वध की कथा में एक वैज्ञानिक संगति है। इसका प्रारम्भ रुद्र के विस्फोट से होता है, जिसके लिये पर्याप्त कारण कवि ने अपने 'दो शब्द' में दिये हैं। कथानक को जीवन-दर्शन का ठोस आधार मिला है, जिसमें तार्किकता के स्थान पर हार्दिकता की प्रधानता है। भौतिक-आध्यात्मिक, द्वैत-अद्वैत के बीच कथा के माध्यम से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

दानवता के नाश की आकांक्षा इस युग के ही नहीं, प्रत्येक युग के महाकवियों को रही है, पर उसका नाश गांधीवादी रीति से हो, उसके हृदय-परिवर्तन द्वारा उसका समाज में मान्य स्थान हो, यह तारक-वध के विचार की नवीनता है। इस दृष्टि से इस महाकाव्य का विधान अभिनंदनीय है।

तारक-वध को एक जनप्रिय महाकाव्य बनाने की कवि की लालसा थी और उसने अपनी इस रचना को पद-लालित्य, भावव्यंजना, अलंकार तथा ध्वन्यात्मकता के साथ माधुर्य तथा प्रसाद गुण से संवारने का प्रयास किया है। लेकिन इतने पर भी यह महाकाव्य जनप्रिय नहीं हो सका है। मेरी समझ से दार्शनिकता की प्रचुरता और कल्पना की ऊंचाई को व्यक्त करने के लिये जिस काव्यत्त्व की आवश्यकता होती है, वह समुचित मात्रा में यहाँ नहीं है। फलत: बौद्धिक पाठकों के लिये यह रचना भले ही ठीक हो, सामान्य पाठकों के रसास्वादन में बाधा पहुँचती है। प्रतीकों के गूढ़-विधान ने भी इसकी लोक-प्रियता में बाधा पहुँचाई है। इस तथ्य की ओर प्रक्कथन में पन्तजी ने भी संकेत किया है।[2] कवित्त्व की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु शिल्प और प्राचीन आख्यान को नया स्वरूप देने की दृष्टि से इस महाकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिये।

---

१ उक्त प्रश्न और उत्तर की प्रगति नियति, रुद्र-शंकर, अग्नि जया, केन्द्रापसरण-केन्द्रानुसरण आदि में निहित दानव-मानव-देव की मौलिक अभिन्नता को हृदयंगम कराने का प्रयत्न चला चलता है। इस अभिन्नता के प्रतिपादन में ही ज्ञान है, यही है—तारक वध ने अपने कथानक में यही तत्त्व भिन्न-भिन्न पात्रों के द्वारा संघटित आघात-प्रतिघात के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है।

—वही

२ तारक-वध महाकाव्य भी मानव-जीवन की अनुभूतियों का आर-पार महासागर है, जिसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये कागज की नाव छोड़ने से काम नहीं चलेगा। उसके अन्तस्तल में पैठ कर गंभीर मनन करना पड़ेगा।

—प्राक्कथन, पृ० ४

दैत्यवंश और रावण



श्री हरदयालु सिंह ने ब्रजभाषा में दो महाकाव्य लिखे हैं—दैत्यवंश और रावण। इन दोनों ही पुस्तकों में महाकाव्य के सभी प्राचीन नियमों का पालन करते हुए भी कवि ने नायक के शास्त्रीय नियन्त्रण को अस्वीकार किया है। इनके नायक दानव हैं और कवि ने दानवों में ही सज्जनों के गुणों को देखने का प्रयास किया है।

इन दोनों ही पुस्तकों की रचना माइकेल मधुसूदन के मेघनाद-वध की कल्पना से प्रभावित है तथा इस युग में भी शुद्ध ब्रजभाषा मे लिखी गयी ये रचनाएँ इस बात का प्रमाण है कि ब्रजभाषा की कोमलता का मोह अब भी कहीं-कहीं सुरक्षित है।

इन महाकाव्यों में प्राचीनता ही की प्रधानता है—प्राचीन-आख्यान, प्राचीन-भाषा, प्राचीन-शैली। पर इतना होते हुए भी कवि के दृष्टिकोण में पर्याप्त नवीनता है।

दैत्यवंश रघुवंशम् की शैली से प्रभावित है, क्योंकि इसमें भी एक कुल के कई व्यक्तियों के चरित्र का गान है—दैत्यवंश के कई भूपालों का वर्णन है। पुराण की कथा को १८ सर्गों में विभाजित किया गया है, जिसका प्रमुख आधार श्रीमद्भागवत् है। कथा में नयी उद्भावनाएँ भी है—यथा, प्रथम सर्ग में शूकर के रूप में भगवान विष्णु का हिरण्याक्ष के उद्यान को नष्ट करना, जिनसे उसके क्रोधित होने का एक स्वाभाविक कारण स्पष्ट हो जाता है। इसकी कल्पना करते समय हनूमान द्वारा रावण का उद्यान-विध्वंस-दृश्य सामने रहा होगा।

२—चौथे सर्ग में सरस्वती द्वारा लक्ष्मी के स्वयंवर मे विविध देवों का परिचय दिलवाया गया है। ऐसे करते समय अन्य महाकाव्यों की स्वयंवर-सभा में परिचय कराने की विधि की पूर्ति की गयी है। साथ ही विद्या की देवी का इस काम के लिये उपयुक्त चुनाव किया गया है।

३-सातवें सर्ग में दूत-दूती की परम्परा का पालन करते हुए कवि ने दैत्य के भय से मानसरोवर में छिपे इन्द्र का शची के पास हंस द्वारा संदेश भेजने की व्यवस्था की है।

४–दसवें सर्ग में वर्णित वामन की विस्तृत बाल-क्रीड़ा का वर्णन अन्यत्र कहीं नही मिलता।

५–दूसरे सर्ग में बलि की शासन-व्यवस्था मे नवयुग के आदर्शों को अपनाया गया है।

६–अठारहवे सर्ग में स्कन्द की ग्राम-सुधार-सम्बन्धी योजनाओं मे भी पर्याप्त आधुनिकता है।

दैत्यवंश के कथानक में न तो संकलत्रय है और न विभिन्न राजाओं के वृत्त में पर्याप्त एकसूत्रता ही है। मार्मिक प्रसंगो की उद्भावना भी नही हो पायी है। बहुत सारे चरित्रों को एक साथ ले चलने के लिए जैसी उच्च प्रतिभा चाहिये वह दैत्यवंशकार मे नही है। इस दृष्टि से इनका दूसरा महाकाव्य 'रावण' कुछ अधिक सफल हुआ है।

रावण की कथा का पूर्वार्द्ध वाल्मीकि की रामायण पर आश्रित है। रावण के पूर्वजों के संबंध मे व्यास के विचार से कवि सहमत नही है। वह दैत्यों के प्रति तुलसी की घृणा-भरी दृष्टि को भी स्वीकार नही करता। कथा का उत्तरार्द्ध कवि-कल्पित है। रावण एक वर्णन-प्रधान महाकाव्य है, जिसमे पर्याप्त नवीनता है।

जहाँ कवि को रावण की उत्कृष्टता दिखलानी है, वहाँ कथा मंदगति से चलती है, पर जहाँ अन्य प्रसंगों की उद्भावना है, वहाँ कथा मे कवि का मन नही रमा है, इसलिए क्षिप्रता है। कवि आधुनिक दृष्टिकोण से प्रभावित होने के कारण विभीषण के चरित्र को जयचन्द-सा राष्ट्र-विरोधी मानता है, अतः उसके दुर्गुणों के चित्रण के लिये उत्तरार्द्ध की कल्पना की गयी है। कल्पना और वाल्मीकि-कथा के मिश्रण से रावण को महाकाव्य का कलेवर मिल सका है।

---

१ लै बालमीकि मुनिसों सुकथा रसीली,
औ दै सुधापुट मनोहर कल्पना का।
स्वान्तः सुखाय हरिनाथ निशाचरों का,
काव्य प्रबन्ध अति मंजुल ह बनाता॥

—पृ० २६

श्री हरदयालु सिंह के ये दोनों ही महाकाव्य चरित्रोद्धार के प्रयास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, पर काव्य-कला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं। कुछ वर्णन काव्यात्मक अवश्य हैं। कथा-संतुलन यद्यपि बहुत संघटित नहीं है, तथापि चरित्र के उत्कर्ष के लिये यत्र-तत्र किये गये परिवर्त्तन श्लाघ्य हैं और कवि की कल्पना शक्ति के परिचायक हैं।

इन महाकाव्यों के अतिरिक्त पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात ने अपने 'कैकेयी' महाकाव्य में कथानक तो मानस का ही लिया है, पर कैकेयी के चरित्र के परिमार्जन के लिये कथा में नये तत्त्वों का समावेश किया है। आर्यों पर अनार्यों के आक्रमण की पृष्ठभूमि लेकर राम को वन भेजने में कैकेयी की राष्ट्रीयता दिखलायी है। शिल्प की दृष्टि से यह कथा-प्रधान नहीं, चरित्र-प्रधान-काव्य है। कथा की दृष्टि से नवयुग के अनुसार राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण दर्शनीय हैं।

आधुनिक वीर-रस प्रधान महाकाव्यों में 'अंगराज' एक सुन्दर रचना है। कर्ण के चरित्र का विकास घटनाओं के आधार पर बहुत सुन्दर रीति से किया गया है। महाभारत के कथानक में यत्र-तत्र कलात्मक परिवर्त्तन किये गए हैं। यथा, प्रारम्भ में सूर्यलोक-वर्णन, पंचाली के सतीत्व तथा चीरहरण-प्रसंग आदि उल्लेख्य हैं। पाण्डवों के स्वर्गारोहण के स्थान पर उनका देश-निर्वासन भी अधिक स्वाभाविक और कर्ण के महत्त्व को प्रतिपादित करनेवाला है।

पृथ्वीराज रासो के प्रख्यात कवि चंद को नायक बनाकर पं० मोहनलाल महतो वियोगी ने 'आर्यावर्त्त' महाकाव्य लिखा है। इस ऐतिहासिक काव्य में राष्ट्रीयता और स्वाभाविकता के कारण पर्याप्त नवीनता है। संयोगिता और अन्य चरित्रों के आदर्शों के लिये कथानक को यत्र-तत्र मोड़ा गया है। इसी तरह श्यामनारायण पाण्डेय का 'जौहर' और 'हल्दीघाटी' काव्य रस-प्रधान होते हुए भी कथा-वस्तु की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। ऐतिहासिक इतिवृत्तों के चित्रण में वर्णनात्मकता की प्रधानता है। गुरुभक्त सिंह के विक्रमादित्य का कथानक ४४ भागों में विभक्त और संस्कृत के देवी चन्द्रगुप्त नाटक पर आधारित है। पर, कथनोपकथन और वर्णनात्मकता की प्रधानता के कारण घटनाएँ संतुलित नहीं है। मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथा का संयोग भलीभाँति नहीं हो पाया है। कथा के संतुलन की दृष्टि से अनूपशर्मा के

'सिद्धार्थ' और 'वर्द्धमान' अच्छी रचनाएँ हैं। इनमें क्रमशः बौद्ध और जैन-साहित्यों के आधार पर बुद्ध और महावीर के जीवन चरितों के गान हैं। कुछ लोग गुप्तजी के 'जयभारत' को भी महाकाव्यों में गिनते हैं, पर इसके कथानक में न धारावाहिकता है और न सुशृंखलता। इसके पैंतालिस सर्गों में भिन्न-भिन्न वृत्तान्तों का समन्वय है। महाभारत के विस्तृत फलक को केवल पैंतालिस छोटे-छोटे सर्गों में बाँध लेना कठिन कार्य भी है। रघुवीरशरण मित्र का 'जननायक' और ठाकुर गोपालशरण सिंह का 'जगदालोक' महात्मा गांधी की जीवन-कथा को लेकर लिखे गये दो प्रबन्ध काव्य हैं, पर इनके कथानक में मौलिक उद्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि गाँधीजी हमारे समकालीन थे। साहित्यकारों के जीवन से सम्बद्ध काव्य—परमेश्वर द्विरेफ का 'मीरा' और 'युगद्रष्टा प्रेमचन्द' तथा श्री करील का 'देवार्चन' कथा-वस्तु की दृष्टि से शिथिल काव्य हैं। कथा की दृष्टि से देवार्चन और मीरा में जो नवीन उद्भावनाएँ की गयी हैं, वे भी विशेष महत्त्व की नहीं हैं। श्री आनन्दनारायण प्रसाद की 'झाँसी की रानी' के कथानक में विस्तार और मर्मस्पर्शिता का अभाव खटकता है।

आधुनिक महाकाव्यों के कथा-शिल्प के अन्य सूक्ष्मतत्त्व



आधुनिक महाकाव्यों में कथानक का अस्तित्व—महाकाव्यों में कथा की स्थिति अनिवार्य है। प्राचीन और आधुनिक दृष्टियों में अन्तर मात्रा का है। अब पहले की तरह कथानक की स्थूलता को पूर्णतः आवश्यक नहीं माना जाता। उसकी न्यूनता की पूर्ति चिन्तन और मनोवैज्ञानिक चित्र-निरूपणों द्वारा की जाती है। प्रियप्रवास, कामायनी, कुरुक्षेत्र, एकलव्य, कैकेयी, तारक-वध आदि रचनाएँ इसके प्रमाण हैं। साकेत में भी कथा की योजना उतनी सुदृढ़ नहीं है, जितनी प्राचीन राम-काव्यों में। महाकाव्यों के कथानक को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये जिन सूक्ष्म तत्त्वों की योजना की ओर आज के महाकवि विशेष ध्यान देते हैं, वे हैं पीठिका, परिस्थिति नियोजन, परिवेश और वातावरण। ये तत्त्व कथा-शिल्प को अधिक जीवन्त बना देते हैं।

पीठिका—पीठिका या पृष्ठभूमि वह तत्त्व है, जिसका आधार पाकर कथा और अधिक निखर आती है, प्रभावशालिनी बन जाती है। आधार-आधेय के इस पारस्परिक सम्बन्ध-संयोजन के शिल्प को दो रूपों में अभिव्यक्त किया जाता

है, एक तो अनुकूलता से दूसरे प्रतिकूलता से; जैसे, अरुणोदय की पृष्ठभूमि में सूर्य के लाल-चक्र का निकलना पृष्ठभूमि की अनुकूलता हुई, पर नील गगन की गोद में श्वेत चन्द्र का खिलना पृष्ठभूमि की प्रतिकूलता हुई। महाकाव्यों में कथा को अनुकूल या प्रतिकूल आधार पर विकसित किया जाता है। उदाहरणार्थ अनुकूल पीठिका का एक चित्र लें! प्रसाद को कामायनी में मनु को श्रद्धा से विलग कर कथा का विकास करना है। मनु और श्रद्धा के पारस्परिक मिलन के बाद उन्हें वियुक्त किये बिना कवि का यह लक्ष्यपूर्ण नहीं होता। अतः प्रसाद ने मनु द्वारा श्रद्धा का त्याग आकस्मिक न दिखला कर क्रमागत रूप से दिखलाया है। 'मनु चले गए, था शून्य प्रान्त', लिखने के पूर्व उन्हें अनुकूल पृष्ठभूमि का निर्माण करना पड़ा है, 'अनुकूल' अर्थात् मनु के मन में उन भावों को उठाने के लिये अवकाश देना पड़ा है, जिनके द्वारा घर के प्रति उसके मन में कोई आसक्ति न हो। इसके लिये कवि को श्रद्धा द्वारा उसके हिंसा यज्ञ की आलोचना, उसका गृह-निर्माण और सूत कातने में व्यस्त रहना, उसके गर्भाधान के कारण वासना-पूर्ति की असमर्थता आदि के रूप में एक पृष्ठभूमि तैयार करनी पड़ी है, जो मनु को घर छोड़ने के दृढ़ निश्चय के लिये प्रेरणा बनती है। वस्तुतः प्रकारान्तर से परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही गृह-त्याग की भावना के लिये अनुकूलता बन जाती है।

दूसरा उदाहरण पृष्ठभूमि की प्रतिकूलता की, साकेत से ले सकते हैं। साकेतकार का एक उद्देश्य है, उर्मिला के वियोग का वर्णन और उस उपेक्षिता को महत्त्व-दान। मैथिलीशरण ने नवम सर्ग में मुख्यतः उर्मिला के वियोग का वर्णन किया है। उस वर्णन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये जिस शिल्प का सहारा लिया गया है, वह है प्रतिकूल पृष्ठभूमि के लिये प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के प्रसन्न और आमोद-प्रमोद-पूर्ण प्रेमालाप के प्रसंग की उद्भावना। प्रथम सर्ग के आह्लादपूर्ण पृष्ठभूमि में नवम सर्ग का विषादपूर्ण वर्णन कितना हृदयद्रावक लगता है! कहाँ प्रथम सर्ग की चुहल और कहाँ नवम सर्ग का रुदन।[1] यहाँ परिस्थितियों की प्रतिकूलता कवि के अभीष्ट भाव की पूर्त्ति करती है। वस्तुतः पृष्ठभूमि की प्रतिकूलता एक दूसरे की पूरक होती है।

---

१ हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले "एक परिरम्भण प्रिये।"
सिमिट-सी सहसा गयी प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।

—प्रथम सर्ग, ३०

परिस्थिति-नियोजन और उदाहरण- परिस्थितियाँ वे कारण हैं, जो घटनाओ और परिणामो को सजीव बनाती है। कथा मे अ ये कार्य-कारण और फल को बुद्धि-संगत रूप मे सँजोना ही परिस्थिति-नियोजन का मुख्य व्यापार है। कार्य-कारण अविच्छिन्न है। महाकाव्यों में परिस्थितियो के माध्यम से कारणो का नियोजन किया जाता है।

कवि को सदा यह ध्यान मे रखना होता है कि यथार्थ और कल्पना का संयोग तर्कपूर्ण हुआ है या नही। एकलव्य के द्वन्द्व सर्ग मे उन परिस्थितियों का नियोजन अत्यन्त कुशलता से हुआ है, जिनके द्वारा अनिच्छा रहने हुए भी आगे चलकर द्रोण को दक्षिणा के निमित्त एकलव्य के पास जाना पडा है अथवा द्रोण के दारिद्रय, द्रोण-पुत्र के दूध तक के लिये तरसना और पांचाल नरेश के अपमान की वे परिस्थितियाँ हैं, जो कारण बनकर द्रोण को आश्रम का उन्मुक्त वातावरण छोड़ राजकुमारो के पास विद्या बेचने को विवश बनाती हैं और कार्य-व्यापार को आगे बढ़ाती है। 'कैकेयी' में प्रभात ने कैकेयी के चरित्र-परिमार्जन के लिये अनार्यो के आक्रमण और राष्ट्रीयता की जो कल्पना की है, वह भी परिस्थिति-नियोजन का अच्छा उदाहरण है।

परिवेश और उसका प्रतिफलन---परिस्थिति-नियोजन, प्रकृति-सज्जा और देश-काल-चित्रण को एक तन्तु मे बाँधने वाला तत्त्व है - परिवेश। इसके भीतर जीवन और जगत का एक खण्ड चित्र होता है। महाकाव्य के कथानक में गुम्फित ये खण्ड-चित्र अपने में पूर्ण होते हुए भी कथा-व्यापार को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस दृष्टि से साकेत के नवम सर्ग में नियोजित छोटे-छोटे चित्रों को देखा जा सकता है।[1] उर्मिला की सूक्ष्म भावनाओ को ये

---

*　　*　　*

अवधि-शिला का उर पर था गुरु-भार
तिल-तिल काट रही थी दृगजल धार।

—नवम सर्ग, २४८

१ नंगीपीठ......फूल से।

पृ० २१३

मैं निज अलिन्द्र......छिपायी थी।

पृ० २१४

लाई खीर......विषाद है।

पृ० २१५

पड़ी थी सुकाल दशा......किसान की।

पृ० २२१

चित्र मूल-कथा से कुछ हद तक सम्बद्ध करते हैं और भाव-भूमि को उर्मिला बनाते हैं।

वातावरण का प्रभाव और उसके उदाहरण—कथा का वातावरण समग्र प्रभाव का व्यंजक होता है। प्रत्येक महाकाव्य को पढ़ लेने पर उसका एक ऐसा वातावरण निर्मित होता है, जो मन को प्रभावित किये बिना नहीं रहता। वातावरण का संबंध हमारे मनोवेगों से होता है। यह व्यक्ति-निष्ठ होता है और परिवेश तथा चरित्रों के भावों से इसका घना संबंध होता है।[1]

कुरुक्षेत्र में दिनकर ने भीष्म के द्वारा तूफान के दृश्य के माध्य से क्रान्ति का जो स्वरूप अंकित किया है, वह अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है। कामायनी के अंत में एक रहस्यमय एवं आनंदपूर्ण लोक के वातावरण में पाठक खो जाता है। रश्मिरथी और एकलव्य पढ़कर एक करुणा, एक त्याग का वातावरण घनीभूत हो उठता है। वातावरण को कुछ लोग दृश्य-योजना समझने की भूल करते हैं। पर वस्तुतः वातावरण वह समष्टिगत प्रभाव है जो पाठकों के मानस पर छा जाता है और जिसके निर्माण के लिये स्वयं लेखक को उस परिस्थिति से होकर गुजरना पड़ता है।[2]

कथानक-रूढ़ियाँ—एतिहासिक काव्यों में भी कुछ ऐसी कथाओं का उपयोग किया गया है, जो निजन्धरी, लोक-विश्वास-आश्रित और काल्पनिक हैं तथा मूल कथा को रोचकता और गति देती हैं। इनका उपयोग जब बहुत बार होने लगता है, तब प्रकारान्तर से ये ही कथानक-रूढ़ियों में बदल जाती हैं। जब ये रूढ़ियाँ बन जाती हैं, तब इनका उपयोग यांत्रिक रूप से होने लगता है।

---

1 ...Atmosphere on the other hand makes its appeal almost entirely to the emotions......The other is subjective......atmosphere attempts to harmonise setting and character with the feelings of a character in a certain time and place.

—A Mannual of the Short Story Art : Glenn clark; Page 72

2 The atmosphere is the impression which envirnment makes upon the beholder and which the beholder, in writing seeks to convey to his readers.

–The Art aad Business of story writing:
W. B. Pitkin Page—194.

डा० हजारी प्र० द्विवेदी ने 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' मे इसकी उपयोगिता का बहुत अच्छा आकलन किया है।[1]

ये कथानक-रूढियां लोक-विश्वासों पर आधारित और कवि-कल्पित दोनों ही प्रकार की होती है। अलौकिक, अतिमानवीय, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, भाग्यवाद से सम्बद्ध, शारीरिक, शकुनात्मक आदि इनके और कई भेद किए जा सकतते हैं।

आधुनिक काल में इनके उपयोग--हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों में प्राय: सभी प्रकार की कथानक रूढियाँ पाई जाती है, पर विज्ञान और बुद्धिवाद के इस काल मे लिखे गये महाकाव्यो में इनकी संख्या बहुत कम हो रही है। जहाँ इन्हें प्रयुक्त किया भी गया है, प्राय: इन्हें वैज्ञानिक रूप देकर स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की गई है। कामायनी में स्वप्न-संबंधी कथानक रूढि का उपयोग किया गया है। श्रद्धा स्वप्न मे सारस्वत नगर की घटनाओं को देखती है। काम और स्वप्न सर्गो मे स्वप्न के द्वारा कथा को गति दी गयी है। इसी तरह अलौकिक कृत्यों के दर्शन मे भी इन रूढियों का उपयोग है, जैसे दर्शन सर्ग मे शिव का ताण्डव-नर्तन, रहस्य सर्ग मे त्रिपुरदाह, आनन्द सर्ग में लास्य नृत्य आदि। अन्तर इतना ही है कि आधुनिक काल के इस कवि ने इन्हे मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर उपस्थित किया है। इसी तरह मत्स्य के सीग से बँधी नौका की रूढि को कवि ने अधिक उपयुक्त बनाने के लिये उसके 'सींग' की जगह 'चपेटा' की कल्पना की है।

साकेत और एकलव्य में कथानक-रूढ़ियाँ---साकेत में शकुन-विचार, जड़ी-बूटियों के उपयोग, वशिष्ठ की दिव्य दृष्टि आदि में भी कथानक-रूढ़ियाँ मिलती है। एकलव्य के संकल्प सर्ग मे आश्रम के हेतु व्याघ्र-वलिदाद में भी यही रूढ़ि है।

---

१ भारतीय कवि इतिहास-प्रसिद्ध पात्र को भी निजन्धरी कथानकों की ऊँचाई तक ले जाना चाहता है। इस कार्य के लिए वह कुछ ऐसी कथानक रूढियो का प्रयोग स्वीकृत करता है जो कथानक को अभिलषित ढंग से मोड देने के लिये दीर्घकाल से भारतवर्ष की निजन्धरी कथाओ मे स्वीकृत होते आये हैं और कुछ ऐसे विश्वासो का आश्रय लेता है जो पुराणों मे और लोक-कथाओ मे दीर्घकाल से चले आ रहे है।

—पृ० ७२

मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना भी एक रूढ़ि हैं, पर प्रिय-प्रवास मे इस रूढ़ि को नये रूप मे उपस्थित किया गया है। किसी मंत्रबल के स्थान पर कृष्ण की शक्ति के व्यापकत्व के वर्णन में इनका उपयोग किया गया है।[1] दिनकर के रश्मिरथी मे परशुराम द्वारा कर्ण को शाप देने की रूढ़ि का उपयोग किया गया है।

कथा-रूढ़ियों के अभाव के कारण—आधुनिक महाकाव्यो मे ये कथानक रूढ़ियाँ इसलिये कम हो गयी है कि इनके प्रति न तो अब विशेष आकर्षण रहा और न इनकी अलौकिकता पर विश्वास।[2] फिर भी इनसे आधुनिक महाकाव्य इसलिये सर्वथा मुक्त नही हो पाये है कि इनके कथानक के उपजीव्य ग्रंथ मुख्यत:प्राचीन साहित्य ही है, जिनमें इनकी बहुलता है। जैसे महाभारत पर आश्रित जयभारत मे यह कैसे संभव था कि इन रूढ़ियों का उपयोग न हो। बुद्ध और महावीर जैसे दिव्य पुरुषो के चरित्र पर आधारित सिद्धार्थ और वर्द्धमान में यह कैसे संभव था कि उनकी अलौकिकता के चित्रण मे इनका उपयोग नही किया जाता; पर विचार-प्रधान प्रबन्ध होने के कारण कुरुक्षेत्र मे इन रूढ़ियो का अवकाश ही नहीं रहा।

आधुनिक महाकाव्यों में नैतिक चेतना का आदर्श—आधुनिक काल के महाकाव्यों के कथानक में नैतिक चेतना का आग्रह मानवतावादी दृष्टिकोण से प्रभावित दीखता है। रामचरित चिन्तामणि आदि कुछ रचनाओं को छोड़कर सर्वत्र नायकों के आचरण मे बुद्धिवादी, राष्ट्रीय, लोकवादी उन्मुखता दिखलायी पड़ती है। नायिकाएँ केवल विलास की नही, कर्म की मूर्त्ति दीखती हैं। साकेत की सीता उद्यान लगाती और सूत कातती है, तो श्रद्धा भी तकली चलाती, घर बनाती है। इतना ही नही, वियोगिनी उर्मिला रण-संचालन

---

१ विचित्र है शक्ति मुकुन्द देव में
प्रभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
सजीव होता जिससे सदैव है।
नितान्त निर्जीव बना मनुष्य भी।

—प्रियप्रवास, त्रयोदश सर्ग, पृ० १७२

2 Even the various motifs which occur in legends, fables and plays are worn out by repetition and loose literally their elements of surprise and charm:

—A history of Sanskrit Literature, S, M, Dass Gupta, Page 28

करने को उद्यत दिखायी पडती है। संक्रान्तिकालीन कवि के पात्रों की नैतिक चेतना अधिक लोकोन्मुख है। प्रत्येक युग की अपनी नैतिकता होती है।[1] इसलिये द्वापर के हजारों रानियों वाले कृष्ण को (एक पत्नी वाले इस युग में) कृष्णायन में एक समाज-उद्धारक के रूप में गलित-यौवनाओं को शरण मे लेना वर्णित किया गया है। वासना या आध्यात्मिकता के स्थान पर समाज-सुधन का आदर्श और स्वाभाविक रूप चित्रित किया गया है।

निष्कर्ष के रूप में आधुनिक महाकाव्यों में कथानक के उपयोग की नवीनता

निष्कर्ष रूप से हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक महाकाव्यों के कथानक का मूलाधार मुख्यत: रामायण, महाभारत, इतिहास, पुराण ही हैं, पर आधुनिक युग की नैतिक चेतना और आदर्श के अनुकूल उनमें यत्र-तत्र परिवर्त्तन किये गये हैं। शिल्प के विविध रूपों द्वारा उनमें मौलिक उद्भावनाएँ की गयी हैं। इस शिल्प की एक आधुनिक विशेषता यह भी है कि कथा-तत्त्व को बहुत अधिक प्रमुखता देने की प्रवृत्ति नहीं दीखती। इतिवृत्तात्मकता का स्थाना बहुत अंसों में मनोवैज्ञानिक भाव-निरूपणो ने ले लिया है और घटनाओं के अलौकिक और अतिमानवीय रूपों का वहिष्कार कर उन्हें स्वाभाविक बनाने की आवश्यकता समझी गयी है। जिस तरह प्राचीन काल से अबतक हीरे भू-गर्भ से ही मिलते हैं पर उनकी तराश को अधिक से अधिक परिष्कृत किया जा रहा है, उसी तरह आधुनिक महाकाव्यों के कथानक पुरानी रचनाओं से ही छनकर आ रहे हैं, पर उनकी तराश, अर्थात् शिल्प में अधिक से अधिक परिमार्जन लाने की चेष्टा की जा रही है। प्राचीन सत्य को नवीन आदर्शों के शीशे से देखा जा रहा है।[2] जैसे पुरानी धरती पर नये वैज्ञानिक तरीकों से खेती की जा रहा है, वैसे ही पुरानी कथा-भूमि से जीवन के नये मूल्यो को जन्म दिया जा रहा है।

---

1 Modern morality consists in accepting the standard of one's age. —Pricture of Dorian Gray : Oscar Wilde Chap. VI.

2 We read the past by the light of the present, and the forms vary as the shadows fall, or as the point of vision alters —Short Studies on Great Subjects : J. A. Froude. Page 39.

पंचम प्रकरण

महाकाव्य में मानव

महाकाव्य में मानव



चरित्र-चित्रण-सम्बन्धी शिल्प

साहित्य ईश्वर की ऐसी देन है,जो मात्र मनुष्य के लिये ही उपयोगी है। धरती, आकाश, जल—प्रकृति के ये सारे उपादान सभी प्राणियों के लिये समान रूप से लाभदायक हैं, पर वाणी का यह अप्रतिम विधान एक मात्र मानव की सम्पत्ति है। इसका कारण यह भी है कि साहित्य अलौकिक प्रतिभा की लौकिक देन है, अर्थात् ईश्वर प्रदत्त उपर्युक्ततत्त्व मानव द्वारा निर्मित नहीं हैं, पर साहित्य प्रभु-प्रेरणा से मानव की देन है। महाकाव्य जीवन और जगत, अन्तरंग और बहिरंग, यथार्थ और आदर्श, इतिहास और कल्पना सबके बीच सेतु-बन्धन करता है, इसलिये कवि की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा का यह परमोज्वल निदर्शन है। महाकाव्य की सारो घटनाएँ, सारे आदर्श और सारी कल्पनाएँ उसके पात्रों के साथ सम्बद्ध होती हैं। प्राचीन काले मे ही नहीं, आधुनिक काल में भी विशिष्ट पात्रों के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर बहुत से महाकाव्य लिखे गये हैं। सामन्त-युग में तो वीर पुरुषों के चरित्रों का गान ही कवियों का विशेष लक्ष्य रहा है।[1] आदि काव्य से लेकर अब तक का काव्य-साहित्य मनुष्य द्वारा मनुष्य से प्रभावित और मनुष्य के लिये लिखा गया है। देवता या अवतारी पुरुष भी, चित्रित हुए हैं तो प्रायः मानव के रूप में ही। तात्पर्य यह है साहित्य का मूलाधार मानव है। महाकाव्य का फलक अन्यान्य काव्यांगों से अधिक विस्तृत होता है, अतः उसमें मानव के विविध रूपों का चित्रण मिलना स्वाभाविक है।

---

1 Once a society conceives of the hero as a human being who possesses to a notable degree gifts of body and mind ; the poets tell how he makes his career from the cradle to grave.
—Heroic poetry : C. M. Bowara, Page, 95.

महाकाव्य में नायक होना चाहिये—यह निर्विवाद है। फिर नायक का सम्बन्ध भी तो अनेक पात्रों से होगा, क्योंकि बिना इस सम्बन्ध के वह कार्य विस्तार कैसे कर सकता है! अतः प्रत्येक नायक से सम्बद्ध स्त्री-पुरुषों के कार्य-व्यापारों का चित्रण भी महाकाव्य मे आवश्यक हो गया। जो स्त्री नायक के जीवन से सबसे अधिक सम्बद्ध रही—प्रेमिका या पत्नी के रूप में, प्रायः उसे नायिका मान लिया गया और जो नायक का सबसे अधिक विरोधी रहा वह खलनायक माना गया। खलनायक के कारण नायक को कौशल दिखलाने और घटना-चक्र को आगे बढाने मे सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त महाकाव्यों मे भिन्न-भिन्न भावों और प्रतिरूपों (टाइप्स) का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों की अवतारणा की जाती है, जो घटनावलियों के साथ जुड़े रहते हैं। मानस को ले! क्या है वह? मानव और मानवता के विभिन्न रूपों का आदर्श चरित्र-गान! यदि राम नायक है, तो रावण खलनायक और सीता नायिका। मानस के चरित्र का विकास और घटना-चक्र की वृद्धि के मूल कारण ये पात्र ही है। पर मानस मे जो और पात्र है वे कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही। कैकेयी, हनूमान, शबरी—कितने सारे 'टाइप' हैं! दशरथ आदर्श पिता के, भरत-लक्ष्मण आदर्श भाई के, और ऐसे ही कितने प्रकार है मानव-जाति के! मानव तो मानव, प्राचीन महाकाव्यो मे तो पशु-पक्षी तक को मानव के कार्य-व्यापार में सहायक माना गया है। पद्मावत का सूआ यदि रत्नसेन का गुरु है, तो नागमती का भौंरा और काग उसके समदुख-भागी।

नायक-सम्बन्धी दृष्टिकोण में क्रान्ति

प्रश्न उठता है कि महाकाव्य का नायक कौन हो? उसमे पात्र-पात्रियों की अवतारणा किस आधार पर हो? प्राचीन लक्षणकारो ने तो बड़े सरल नियम बना दिये—नायक वह हो, जो सद्वंश मे उत्पन्न हो, उच्च-जाति और उच्च गुणों का हो और महापुरुषो के लक्षणो से युक्त हो। साहित्यदर्पणकार ने तो इसे सुर या सद्वंशीय क्षत्रिय तक सीमित रखा और उसे धीरोदात्त नायक के गुणो से युक्त माना।[1] तात्पर्य यह है कि प्राचीन लक्षणो के अनुसार नायक के लिये वंश या जाति की सीमाएँ बँध गयीं। पर आधुनिक काल में विचारों की क्रान्ति और दृष्टि की नवीनता ने नायक-सम्बन्धी इन धारणाओं पर कवियों को फिर से विचारने को वाध्य किया। मानवता के पुनर्मूल्यांकन के

---

१ देखिए इस ग्रन्थ का द्वितीय प्रकरण।

लिये कवियों को उदार दृष्टिकोण अपनाने पड़े। आधुनिक-काव्य-साहित्य पर स्वच्छन्दता और क्रान्तिवादी चिन्ता-धाराओं के प्रभाव पड़े।[1] अभिव्यंजना-प्रणाली, भाव-भाषा आदि के क्षेत्रों में ही नहीं, महाकाव्य के नायकों के चुनाव के सम्बन्ध में भी कसौटियाँ बदल गयी। पाश्चात्य और पौरस्त्य दृष्टियों से मनुष्य के वास्तविक गुणों पर ध्यान दिया जाने लगा, उसकी जातिगत और वंशगत विशेषताओं को सर्वथा भुलाने का प्रयास किया गया।[2] आचार्य विश्वनाथ के···'तत्रैकोनायक: सुर:। सद्वंश· क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वित:' को चुनौती देते हुए दैत्यवंश, रावण, अंगराज, रश्मिरथी, एकलव्य आदि अनेक काव्य लिखे जाने लगे। कवियों ने सकारण ऐसे ग्रथों का प्रणयन किया और अब तक अनार्य कहे जाने वाले व्यक्ति को आर्य माना।[3]

यह बात नही कि आधुनिक महाकाव्यों के नायक सुर या उच्चवंशीय व्यक्ति नहीं हैं, पर अन्तर इतना है कि उनके चरित्रों को भी आधुनिक परिवेश में ही चित्रित किया गया है। मानवतावाद के आधुनिक आदर्शो के अनुकूल ही उन चरित्रों का विकास दिखलाया गया है। प्रियप्रवास और कृष्णायन के कृष्ण 'वैदेही वनवास' और 'साकेत' के राम एवं 'कैकेयी' की कैकेयी—पूर्णत: वे ही नही हैं जो महाभारत या रामायण में चित्रित है। आधुनिक महाकाव्यों

---

१ हमें स्वच्छन्दतावादी और क्रान्तिवादी दोनो मनोदृष्टियों का वर्तमान कविता में प्रभाव दिखाई पडता है। कवियों को गतिशील जीवन में विश्वास है।

—आधुनिक काव्यधारा, डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ०, २१२

2 (i) If hero means sincere man, why may not every one of us be a Hero ?

—Heroes and Hero-worship, The Hero as Priest, Carlyle, page 39.

(ii) बडे वंश से क्या होता है, खोटे हो यदि काम।
नरका गुण उज्ज्वल चरित्र है, नही वंश-धन-धाम।

—रश्मिरथी दिनकर पृ० ७

३ एकलव्य ने जिस आचारण का परिचय दिया है वह किसी उच्चकुल के व्यक्ति के आचारण के लिये आदर्श है। वह 'अनार्य' नहीं 'आर्य' है, क्योंकि उसमें शील का प्राधान्य है। यही उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह सुर अथवा सद्वंश में उत्पन्न क्षत्रिय नहीं हो।

—एकलव्य, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० ६

मे प्राचीन कथाओं का आधार लेकर भी अपने मन्तव्य के प्रतिफलन के लिये नवीन चरित्रों की अवतारणा की गयी है। 'नूरजहाँ' की जमीला, 'एकलव्य' के नागदंत और माता-पिता आदि इसके प्रमाण हैं। इन पात्रों की कल्पना के द्वारा कवियों ने घटना का विकास दिखलाया है।

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते है कि आज के महाकाव्यों के नायक के लिये उसके चरित्र और चारित्र्य की महत्ता ही आवश्यक है। उसकी वैयक्तिक विभूति की प्रतिष्ठा है। शूद्र-वंशी कहलानेवाला कर्ण और किरात-वंशी एकलव्य ही नही, आधुनिक काल के विश्व-वन्द्य महापुरुष वैश्य-वंशी महात्मा-गाँधी भी महाकाव्य के नायक बने है। रवीन्द्रनाथ ने ठीक ही लिखा है कि एक महच्चरित्र का गान महाकाव्य में होता है। यह महत्ता आज युग-सापेक्ष है। इसलिये नायकों के चुनाव में दृष्टि-भिन्नता दीखती है।

नायक की प्रमुखता—महाकाव्यों में व्यक्तित्व अन्य चरित्रों की अपेक्षा अधिक प्रमुख और विस्तृत होता है। वह घटनाओ का प्रधान विधायक होता है, सम्पूर्ण कथा-वस्तु का मेरुदण्ड होता है। कोई आवश्यक नही कि महापुरुषो को नायक बनाने मात्र से उनकी महानता प्रतिष्ठित हो जाये। आवश्यकता इस बात की है कि नायक के चारित्रिक गुणों के विकास लिये वैसी ही पृष्ठभूमि निर्मित की जाये, वैसा ही शील-निरूपण किया जाये। 'रामचन्द्रिका' के नायक तो राम ही हैं, पर उनकी महानता का विकास कहाँ हो पाया है! इसके विपरीत, उपेक्षित पात्रों में भी आदर्श गुणों का विस्तार दिखलाकर कोई कवि अपनी कला-कौशल से उसे महान बना सकता है। रावण, कैकेयी, कर्ण, एकलव्य ऐसे अनेक पात्र हैं, जिन्हे नायक के पद पर सादर थौर सफलतापूर्वक प्रतिष्ठित किया गया है।

व्यक्तित्व की अनेक परिभाषाएँ मनोविज्ञान में दी गयी है। कोई सभी जन्म-जात और अर्जित प्रवृत्तियो को, [1] कोई सभी प्रवृत्तियों के समन्वय को, [2]

---

1 Personality is the sum total of all biological innate disposition, impulses, tendencis, appetides and instincts of the individual, and the acquired disposition and tendencies acquired by experience.
—The Unconcious, Morton Prince, Page—53

2 Personality is an integration of patterns (interests) which gives a peculiar individual trend to the beheviour of the organism.
—Common Principles in Psychology and physiology.
—P. T. Maccurdy, Page, 333

कोई वातावरण के प्रति विशिष्ट अभियोजन करने वाले अभ्यासों के समन्वय को, तो कोई समाज के विभिन्न व्यक्तियों से विलग करने वाली प्रवृत्तियों को व्यक्तित्त्व मानता है।[1]

वस्तुत: महाकाव्य के नायक का व्यक्तित्त्व शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के संगठनों पर निर्भर करता है। उसकी रुचि क्रिया-कलाप, कार्यक्षमता, सामाजिक[2] व्यवहार आदि के द्वारा उसके व्यक्तित्त्व का विकास होता है। वस्तुत: प्राचीनकाल में नायक की शारीरिक शक्ति और आधुनिक काल में मानसिक शक्ति पर अधिक जोर दिया गया है। किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि आत्मबल के साथ शरीर-बल की हीनता दर्शित की गयी।

चरित्रों के चित्रण में आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ता है। यथार्थ वह है जो 'है' पर आदर्श वह है, जो 'होना' चाहिये'। प्रत्येक महाकाव्य के पात्र यों तो यथार्थवादी होते हैं या आदर्शवादी, किन्तु यह विभाजन इस हद तक नही किया जा सकता कि यथार्थवादी चरित्रों मे आदर्श के प्रति कोई झुकाव नही, या आदर्शवादी चरित्र में यथार्थ का सर्वथा अभाव हो। वस्तुत:, मानवके प्राय· सम्पूर्ण कार्य-व्यापार यथार्थ और आदर्श की क्रिया-प्रतिक्रिया से परिपूर्ण होते हैं।

नायकों का मनोवैज्ञानिक विभाजन

इस दृष्टि से महाकाव्य के लिये तीन प्रकार के नायक माने जाते रहे हैं— आदर्शवादी, यथार्थवादी और परम्परागत। आदर्शवादी व्यक्ति प्राय: दोष-विहीन माने गये हैं, जिन्हे हमारे प्राचीन आचार्यो ने धीरोदात्त नायक माना है, पर

---

1 Personality is the organised system, the functions whole or unity of habits, dispostions and sentiments that mark off any one number of a group as being different from any other member of the same group.

—Human Nature, M. Schoen, Page, 397

2 Personality is the dynamic organization within the individual of those psychophysical systesm that determine his unique adjustment to his environment.

—Personality, A psychological Interpretation, G. W. Allaport, Page, 48.

आधुनिक युग मे यह तथ्य विश्वसनीय नही है कि कोई व्यक्ति सर्वथा निर्दोष हो सकता है। अत: आज आदर्श चरित्रवाले नायक से तात्पर्य श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न अनुकरणीय व्यक्तित्व से है। परम्परागत चरित्रवाले नायक प्राय: कवि-कल्पित होते हैं, जिनकी स्थिति यद्यपि इतिहास मे नही होती, तथापि परम्परा से वे मान्यता प्राप्त कर चुके होते हैं। ऐसे चरित्र अधिकांशत: अलौकिक गुणों से सम्पन्न होते है। आधुनिक काल के महाकाव्यों मे ऐसे यथार्थवादी चरित्र की प्रधानता है, जो आदर्शवादी होते हुए भी मानव की सहज दुर्बलताओं के कारण पाठको के अपने लगते हैं। उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द ने कला मे यथार्थ के इस रूप की वास्तविक पहिचान की थी।[1] कामायनी के मनु मे मानवोचित दुर्बलताएँ है। आज के महाकाव्यों में नायक को अपने लक्ष्यादर्श पर पहुँचने के लिये यथार्थ की कठोर भूमि को रौंदना पड़ता है। लक्ष्य के शाद्वल तक जाने के लिये संघर्ष की तिल-तिल जलती मरुभूमि से होकर चलना पड़ता है।

महाकाव्य के नायक उभयमुख

युंग ने मनुष्य के दो प्रकार माने है—अन्तर्मुख और बहिर्मुख। जो चिन्तन और मनस में विश्वास रखता है और अपने मे केन्द्रित रहकर आत्मा का विस्तार करता है वह अन्तर्मुख और बहिर्मुख वह, जो सामाजिक कार्यो मे अपनी विशिष्टता प्रदर्शित करता है। एक आदर्शवादी और स्वप्नदर्शी होता है, दूसरा व्यवहार-कुशल। एक जीवन की समस्याओ का निदान आदर्शलोक में करता है, दूसरा यथार्थ की लोक-भूमि पर। वस्तुत: संसार का कोई व्यक्ति न तो पूर्णत: अन्तर्मुख होता है और न पूर्णत: बहिर्मुख हो, उनमें एक गुण की प्रधानता के कारण उसे विशिष्ट वर्ग में रखा जा सकता है। मेरी समझ से महाकाव्य के नायक प्राय: उभयमुख (एम्बीभर्ट) होते हैं। वे चिन्तन-मनन और लोक-संचालन दोनों मे समर्थ होते है। वे न कोरे आदर्शवादी होते है और न नितान्त यथार्थवादी; वे प्रतिभा के दोनो ही रूपो के उपयोग करनेवाले होते हैं। महाकाव्य के नायक के वंशानुक्रम की अपेक्षा आजकल वातावरण का चित्रण प्रधान हो गया

---

1 Personality may be defined as the most charactertic integration of an individual's structures modes of behavior, interests, attitudes, capacities, abıbilities and aptitudes.

—The Fundamentals of Human Adjustments,

Norman L. Munn, Page 569

है। सामान्य चरित्रों के विकास मे भी मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार का बहुत कुछ हाथ रहता है। नायक मे केवल जन्मजात प्रेरकवृत्तियाँ (इनमेट मोटिवस) ही नही रहती, अर्जित और व्यक्तिगत प्रेरक वृत्तियाँ (एक्वायर्ड एण्ड पर्सनल मोटिव्स) भी रहती हैं। उसमे न तो सूझ (इनसाइट) की कमी रहती है और न लोक-दृष्टि की न्यूनता। वह पूरे कथानक का महान सूत्रधार होता है।

महाकाव्य के लिये चारित्रिक एकात्मता

महाकाव्य के प्रणेता को चरित्रों को परखने की सूक्ष्म दृष्टि चाहिये। ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रो के चित्रण के लिये भी मानव की सहज चारित्रिक विशेषताएँ जाननी होगी। कब किस परिस्थिति मे मानव कौन-सी प्रतिक्रिया करेगा, उस प्रतिक्रिया के क्या स्वरूप होगे—इन सामान्य तथ्यों को समझे बिना प्राचीन पात्रो में प्राण नही फूँके जा सकते। तुलसी या मैथिली-शरण को विरासत मे कैकेयी और मंथरा के पात्रत्व मिले थे, पर कैकेयी-मंथरा संवाद मे दुष्ट मथरा के हाव-भाव उसकी वाग्विदग्धता, उसकी कूटनीति आदि का विस्तार तो इन कवियो को स्वय करना पडा। कुरुक्षेत्र का कथा-सार कितना लघु है, पर भीष्म-युधिष्ठिर आदि के मनोभावो को कवि के हाथों जो व्यापक रूप मिला है, उसमें उसकी सूक्ष्म मानवीय परख की प्रेरणा ही है। रहस्यमय मनुष्य की आन्तरिक दशा को पहचाने बिन कोई महाकाव्य कैसे लिख सकता है! जिन-जिन परिस्थितियों से होकर नायक-नायिका या सामान्य पात्र गुजरेंगे, कवि को उन सबका सम्यक ज्ञान होना चाहिए। उसमें वह भावुकता होनी ही चाहिये, जो मानव की प्रत्येक स्थिति मे उसे डालकर तदनुरूप भावों का अनुभव कराये[1] मानव- चरित्र के इसी व्यापक पृष्ठाधार में कवि को नायक नायिका, सज्जन-दुर्जन, महान्-लघु सब की भूमिका निभानी पड़ती है। क्या तुलसी भावना के स्तर पर राम-रावण दोनों ही बने बिना इतने सफल चित्रण कर सकते? क्या प्रसाद को मनु ही बनना पडा है, श्रद्धा-इड़ा नही? क्या दिनकर को कर्ण ही बनना पडा है, परशुराम नही? क्या रामकुमार को एकलव्य ही बनना पड़ा है, द्रोण नहीं? प्रत्येक चरित्र के साथ तादात्म्य स्थापित किये बिना महाकाव्य में सफल चरित्रांकन नहीं हो सकता।

---

१ कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।

—[illegible], आचार्य शुक्ल, पृ० १२१

अन्तर्द्वंद्वों के कुशल चित्रण से चरित्र-चित्रण का शिल्प निखर उठता है। यह द्वन्द्व-चित्रण प्रत्यक्ष भी होता है, अप्रत्यक्ष भी। यह अप्रत्यक्ष चित्रण परिस्थितियों के द्वन्द्वात्मक स्वरूप को प्रकट करता है। 'कैकेयी' में कैकेयी का द्वन्द्व, 'एकलव्य' मे द्रोण-अर्जुन का द्वन्द्व, रश्मिरथी' मे कुन्ती का द्वन्द्व ऐसे अनेक उदाहरण प्रत्यक्ष द्वन्द्व चित्रण के हैं। साकेत मे उर्मिला का लक्ष्मण को वन जाने देने में स्वाभाविक परिस्थिति-जन्य द्वन्द्व है। वहाॅ प्रत्यक्ष चित्रण नही होने पर भी उर्मिला के प्रेम और कर्त्तव्य के बीच एक द्वन्द्व है, जिसमे कर्त्तव्य की जीत होती है। साकेत में कैकेयी को वचन देने मे दशरथ के द्वन्द्व का प्रत्यक्ष चित्रण हुआ है।

पात्रो के वास्तविक रूप को समझने के लिये केवल उसकी क्रिया नही देखनी चाहिए। उस क्रिया की प्रेरणा कहाॅ से मिली है, किन भावों और परिस्थितियों ने उसे ऐसा करने को प्रेरित किया है, उन्हे भी पहचानने की आवश्यकता है। यह जाने बिना कि कैकेयी किन परिस्थितियो मे कोप-भवन मे गयी, उसका सही मूल्यांकन कैसे किया किया जा सकता है? भरत ने हनूमान को वाण मारा—केवल इतना जानकर इस निष्कर्ष पर तो नही पहुँचा जा सकता कि भरत-राम-द्रोही थे। यह तो समझना होगा कि ऊपर आकाश में भीम वेग से उड़ते हुए हनूमान को शत्रु समझकर ही भरत ने वाण चलाया था। प्रत्येक कार्य के कारणों को समझे बिना वास्तविक चरित्र-चित्रण नहीं हो सकता।

नायकों के वर्ग-विभाजन-सम्बन्धी अन्य दृष्टियाँ

अबतक महाकाव्य के नायको के वर्ग-विभाजन के सम्बन्ध में व्यापक विचार नही किया गया है। उनके गुणो का वर्णन अवश्य किया गया है। संस्कृत-लक्षणकारों ने धीरोदात्त नायक को श्रेष्ठ माना है। वस्तुतः संस्कृत के नाटकों के लिए नायकों की जो कोटियाॅ स्थिर की गई है, प्रायः वे ही महाकाव्यों के नायकों के सम्बन्ध में भी लागू हो गई है। इस तरह स्वभाव की दृष्टि से महाकाव्य के नायक तीन प्रकार के माने जा सकते हैं– धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोदात्त। इनमें धीरोद्धत नायक महाकाव्य के खलनायक भले ही हों, नायक के पद के लिये उपयुक्त नही समझे जाते। अतः साहित्य-सार के अनुसार धीरोदात्त, धीर-प्रशान्त और धीरललित ये तीन प्रकार ही अधिक उपयुक्त हैं।

धीरोदात्त नायक—धीरोदात्त नायक मनोभावनाओं के तूफान में नहीं बहता। क्षमाशीलता, गंभीरता, दृढ़ता आदि उसके गुण होते हैं। उसके गर्व

में जीवन का तेज होता है, विनयशीलता होती है, पर उद्धतता नहीं होती। अन्य सभी नायकों की अपेक्षा इसमें विशेष गुण-गरिमा होती है। इसमें सदुद्देश्य-पूर्त्ति की अपूर्व लगन होती है। जैसे-मानस, साकेत और रामराज्य के राम; सिद्धार्थ के बुद्ध, बर्द्धमान के महावीर आदि।

धीर प्रशान्त नायक धीर प्रशान्त धीरोदात्त की अपेक्षा सामान्य कोटि का नायक होता है। इसमें सात्त्विक गुणों की प्रधानता होती है। धीर ललित नायक के गुण रहने पर भी विप्रादि धीर-प्रशान्त ही माने गये हैं। 'देवार्चन' के तुलसीदास, 'युग-स्रष्टा प्रेमचन्द' के प्रेमचन्द आदि इस कोटि में परिगणित किये जा सकते है।

धीर ललित नायक—धीर ललित नायकों में कला के प्रति आसक्ति, निश्चिन्तता, मृदुलता आदि गुण होते हैं। वह प्राय आरामपसन्द राजा होता है। नूरजहाँ का सलीम इसका अच्छा उदाहरण है।

धीरता की आवश्यकता क्यों? धीरता सभी प्रकार के नायकों के लिये आवश्यक समझी गयी, क्योंकि अधीर नायक किसी कार्य को तत्परतापूर्वक नही कर सकता। इसलिए महाकाव्य या नाटक के महान कार्यों के करने के लिए स्थिर विचारोवाला सुधीर व्यक्ति प्रत्येक स्थिति में अनिवार्य माना गया।

विनयशीलता, मधुरता, त्याग, दक्षता, प्रियवादिता, शुचिता, वाङ्मीता, स्थिरता, युवावस्था, बुद्धिमत्ता, प्रजा-लोक-प्रियता, स्मृति-सम्पन्नता, उत्साह, कलाकारिता, शास्त्र ज्ञान, आत्मसम्मान, शूरता, दृढता, तेजस्विता, धार्मिकता आदि गुण धनंजय ने रूपक के नायको के लिये आवश्यक माने हैं। ये सारे गुण महाकाव्य के नायकों में भी पाये जाते है।

प्रथम परिच्छेद में महाकाव्य की परिभाषाओं के विवेचन करते समय विभिन्न आचार्यों के लक्षणो में निर्दिष्ट नायक की विशेषताओं का भी संकेत किया गया है। जैसे, महाकाव्यों के नायकों के लिये भामह ने महान् चरित्र होना; दण्डी ने चतुरोदात्त होना; रुद्रट ने महावीर, विजिगीषु, शक्तिशाली, नीतिज्ञ, सुयोग्य सम्राट, सर्वगुण सम्पन्न होना; विश्वनाथ ने सुर, सद्वंशीय क्षत्रिय और धीरोदात्त होना; रवीन्द्र ने महच्चरित्र होना; शम्भूनाथ ने महत्त्व-पूर्ण होना; डा० गोविन्दराम ने महान् होना तथा पाश्चात्य विद्वानों ने महान्, उदात्त, पराक्रमी तथा नायकत्व के अन्य गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है।

इन प्राचीन लक्षणों में सर्वसम्मति से एक ही तत्त्व नायक के लिये विशेष महत्त्व का है—महानता। यह महानता शब्द बहुत अधिक व्यापक है, और यह अपने में वीरता, धीरता, शालीनता आदि अनेक गुणों की अन्तर्भुक्त किये हैं। दण्डी का नायक विश्वनाथ की भांति धीरोदात्त नही, चतुरोदात्त है। यह चतुर शब्द नायक की राजनैतिक निपुणता और व्यावहारिकता का द्योतक मालूम पड़ता है।

आधुनिक युग के विचारकों ने नायक के लक्षणों के ऊपरी तत्त्वों को भुलाकर उनकी महच्चरित्रता की अनिवार्यता बतलायी है। इस तरह आधुनिक काल में जातिगत, वंशगत सीमाओ को मिटा दिया गया। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के नायकों के वर्गीकरण का आधार परम्पारागत से अधिक युगगत है। इसका दृष्टिकोण अधिक उन्नत और अधिक उदार है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के नायकों की छह कोटियाँ

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के नायकों का श्रेणी-विभाजन एक टेढ़ी खीर है, क्योंकि वे किसी पूर्वनिर्धारित लक्षणो को मानकर नहीं प्रतिष्ठित किये गये हैं। ये समय की बदली हुई माँग का प्रतिनिधित्व करने वाले नायक है। फिर इन सभी नायकों की विशेषताओं को देखते हुए हम इन्हें छह रूपों में बाँट सकते हैं:—

अवतारी नायक—जो किसी धर्म के अन्तर्गत ईश्वर के साक्षात् अवतार समझे गये हैं; जैसे प्रियप्रवास, कृष्णायन और श्रीकृष्णचरित मानस के नायक कृष्ण तथा साकेत, रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, रामराज्य और वैदेही बनवास के नायक राम। इन चरित्रों को ही दिव्य चरित्र कहा गया है।

धर्मवीर नायक या महच्चरित—इसके अन्तरर्गत वे असाधरण व्यक्तित्व वाले नायक आते हैं, जिन्होंने व्यापकता से मानव-धर्म के किसी-न-किसी रूप को नयी आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। इन्हें हम दिव्यादिव्य चरित्र भी कह सकते हैं—जैसे, तारक-वध के शृंगीऋषि, साकेत संत के भरत, देवार्चन के तुलसीदास। इनके साथ ही बौद्ध धर्म के आदि प्रवर्त्तक 'सिद्धार्थ' के बुद्ध एवं जैनधर्म के आदि प्रवर्त्तक 'वर्द्धमान' महावीर भी आते हैं। बौद्धों और जैनों की श्रद्धा-भावनाओं को ध्यान में रखकर इन्हें अवतारी नायकों की कोटि में भी परिणित किया जा सकता है।

कर्मवीर नायक या ऐतिहासिक वीर चरित्र—इसके अन्तर्गत वे इतिहास-सम्मत व्यक्ति आते हैं, जिसकी वीर-गाथाओं से प्रभावित होकर महाकाव्य लिखे गये हैं। प्रचीन भेद के अनुसार ये अदिव्य चरित्र के नाम से भी पुकारे जाते हैं। ऐसे नायकों में ही राष्ट्रीय गौरव के रक्षक और प्राणों की बाजी लगाने वाले पुरुष होते हैं। ऐसे नायकों में धीरता-वीरता, तेज आदि गुण होते हैं। 'हल्दी घाटी' का प्रताप, 'अर्यावर्त' का नायक 'विक्रमादित्य' का विक्रमादित्य आदि इसी कोटि में परिगणित हो सकते हैं।

यथार्थवादी नायक—इसके अन्तर्गत वे लोग माने जा सकते हैं, जो होते तो पौराणिक या ऐतिहासिक चरित हैं, पर जिनमें मानवीय सहज दुर्बलताओं को भी दिखलाया जाता है। इनमें आदर्श-स्थापना के स्थान पर जीवन के उतार चढ़ाव का सहज वर्णन रहता है। कामायनी का मनु इस कोटि का श्रेष्ठ नायक है। नूरजहाँ का नायक भी सलीम है, जिसे इस कोटि में रखा जा सकता है, पर नूरजहाँ के व्यक्तित्व के सामने उसके चरित्र का पूर्णतः प्रस्फुटन नहीं हो पाता है।

नवप्रतिष्ठित नायक- आधुनिक काल की मनोवृत्ति को देखते हुए इस नाम को आवश्यकता पड़ी। परम्परा ने जिन्हें नायक के योग्य कभी नहीं समझा, उन्हीं अनादृत और उपेक्षित चरित्रों को बीसवीं सदी के कवियों ने महाकाव्य के सफल नायक के पद पर सादर प्रतिष्ठित किया। ये व्यक्ति जाति-वंश से हीन होकर भी चारित्रिक उत्कर्ष के कारण नायक माने गये। 'अंगराज' 'सेनापति कर्ण' और 'रश्मिरथी' का कर्ण; 'एकलव्य' का एकलव्य, 'उर्मिला' की उर्मिला, 'रावण' के रावण तथा 'दैत्यवंश' के नायक इसी कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं। जिस रावण को आचार्यों ने धीरोद्धत नायक माना उसे हरदयालुसिंह ने एक महान चरित्र के रूप से चित्रित किया है।

नारी नायक या नायिका-प्रधान महाकाव्य—नारी अब तक नायिका-पद की ही अधिकारिणी समझी जाती रही है, पर नारी-स्वतन्त्रता के इस युग में ये अबलाएँ सबलाएँ मानी गयीं। भारतीय आचार्यों ने नायक की प्रिया या पत्नी को नायिका माना है। पाश्चात्य दृष्टि इससे कुछ अधिक विस्तृत है। वह कथा की सर्वाधिक प्रधान पात्री को नायिका मानती है। आधुनिक काल में नारी को विशुद्ध रूप से महाकाव्य के नायक पद पर प्रतिष्ठित किया गया; नायक पद, अर्थात् महाकाव्य का सर्वाधिक प्रधान चरित्र (पुरुषों की अपेक्षा भी)।

आधुनिक विश्व में जब किसी देश के प्रधान मंत्री और प्रान्त के मुख्य मंत्री पद तक को नारी सुशोभित कर रही है, जब कई स्थानों पर मण्डल, पुलिस, सैनिक शिक्षा आदि का संचालन स्त्रियाँ कर रही है, तब कई महाकाव्यो मे पुरुषों की अपेक्षा नारियो का प्राधान्य कुछ आश्चर्य की बात नही है ! इन वीरात्माओं को जिन महाकाव्यो में प्रधानता दी गई है, उन्हे ही मैंने इस कोटि मे परिगणित किया है । नारी नायक शब्द व्याकरण की दृष्टि से नही, इन महाकाव्यो की क्रान्तिकारिणी नवीनता की दृष्टि से विचारणीय है । ऐसे यह भी महाकाव्यों मे पात्रों की नवीन प्रतिष्ठा की ही बात है । ये भी उपेक्षित और अनादृत चरित्र ही है—'कैकेयी' की कैकेयी, 'झाँसी की रानी' की लक्ष्मीबाई, 'उर्मिला' की उर्मिला, 'जोहर' की पद्मिनी 'मीरा' की मीरा, 'पार्वती' की पार्वती आदि इसी कोटि मे आती है । सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर साकेत मे भी उर्मिला का ही प्राधान्य है और उसे इस कोटि मे परिगणित किया जा सकता है ।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में नायक सम्बन्धी निष्कर्ष – नायकों की दृष्टि से आधुनिक काल की निम्नलिखित विशेषताएं द्रष्टव्य है :—

१—जाति-वंश की सीमाएँ तोड़ दी गयी ।

२—साहित्यकारों को भी नायक-पद पर अधिष्ठित किया गया ।

३—यथार्थवादी दृष्टिकोण का विस्तार हुआ ।

४—पौराणिक चरित्रों को आधुनिक गुण के अनुकूल स्वाभाविक और वैज्ञानिक बनाया गया ।

५—उपेक्षित चरित्रों का उद्धार किया गया ।

६—नारी को महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी मान नायक-पद पर प्रतिष्ठित किया गया ।

७—कुछ ऐसी भी रचनाएं सामने आयीं, जिनमें नायक के प्राचीन-नवीन सभी नियमों को भुलाकर, एकनायकत्व की सीमा का उल्लंघन कर नायक-निर्णय की दिशा मे एक प्रयोग किया गया । दैत्यवंश मे तो यह माना जा सकता है कि हरदयालु सिह ने रघुवंश के अनुसार एक ही वंश के कई राजाओं का वर्णन किया है, पर कुरुक्षेत्र और जयभारत के विषय मे क्या सोचा जाये ! कुरुक्षेत्र का नायक कौन है ? युधिष्ठिर या भीष्म ? युधिष्ठिर के चित्रण से काव्य का प्रारम्भ होता हैं और बाद में उसकी चिन्ता, द्वन्द्व, ग्लानि, पाश्चाताप

आदि का विस्तार भी किया गया है। पर भीष्म भी कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं, क्योंकि एक विचार-पक्ष के वे भी प्रतिनिधि है और कवि के विचारों के सम्वाहक भी ! इस दृष्टि से भीष्म का व्यक्तित्व सम्पूर्ण काव्य पर छाया हुआ दीखता है। इस तरह इस पुस्तक में कवि का उद्देश्य युद्ध और अहिंसा-सम्बन्धी दो परस्पर-विरोधी विचारों के प्रतिनिधि के रूप में इन दो पात्रों का निर्माण करना है।

इसी तरह जयभारत मे मैथिलीशरण ने महाभारतकालीन कथाओं को अलग-अलग खण्डों में वर्णित किया है और वहाँ प्रत्येक का नायक अलग-अलग है। सैतालीस सर्गो मे विभाजित इस काव्य में नहुष से लेकर पाण्डवों की स्वर्ग-यात्रा तक का इतिवृत्त वर्णित है ! मुख्यत: कौरव-पाण्डवों की कथा को ही विस्तार दिया गया है। कवि ने युधिष्ठिर के चरित्र-चित्रण में विशेष ध्यान दिया है और ऐसा लगता है कि वह इस ग्रन्थ का नायक है; पर कथा की धारा अवरुद्ध-सी है और नहुष, द्रोण, एकलव्य आदि अनेक चरित्र के साथ युधिष्ठिर का चरित्र कुछ उलझ-सा गया है। फिर भी किरातार्जुनीय, शिशुपाल-बध और नैषधीयचरित जैसे संस्कृत महाकाव्यों को देखते हुए जयभारत को हम हिन्दी मे एक प्रयोग मान सकते है। नायक-चित्रण की दिशा मे भी यह एक नया प्रयास माना जा सकता है।

आधुनिक महाकाव्यों के नायक जीवन के भिन्न-भिन्न आदर्शो के प्रतिमान हैं। प्राचीन आदर्शो की सुरक्षा के साथ ही ये नवयुग के अनुकूल आदर्शो की स्थापना करने वाले है, अत: स्वभावत प्राचीन दृष्टिकोण में अन्तर आ गया है। नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त महाकाव्य के लघु पात्रों के चित्रण में भी इस काल के कवियों ने अपनी शिल्प-विधि के उत्कृष्ट प्रमाण दिये हैं। ये लघु-पात्र ही नायक नायिकाओं के चरित्र को महत्व देनेवाले हैं।

आधुनिक महाकाव्यों के नायक

पहले हम महाकाव्य के नायकों पर विचार करेंगे। उनकी विशेषताओं और यथार्थ-आदर्शवादी दृष्टिकोण का मूल्यांकन करेंगे और फिर नायिकाओं तथा लघु चरित्रों की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

कृष्ण—हम प्रियप्रवास के नायक कृष्ण पर विचार करे ! कृष्ण आधुनिक युग के दो और महाकाव्यों के नायक हैं:—कृष्णायन और कृष्णचरित मानस के। एक होते हुए भी इन तीनों महाकाव्यों के कृष्ण में भिन्नता है।

प्रियप्रवास के नायक कृष्ण में न तो भक्तिकालीन आध्यात्मिकता है, न रीतिकालीन वासनात्मकता। उसमें एक ऐसी नवीनता है, जो प्राचीन श्रद्धा-भावना को विकसित और कामुकता को खण्डित करती है। हरिऔध के कृष्ण एकदेशीय नहीं है, वे मानवता के चरमोत्कर्ष है, क्योंकि मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।[1] यहाँ कृष्ण लोक-नायक है, परम्पराभुक्त अवतारी परब्रह्म नहीं। हरिऔध ने मानव में ईश्वरत्व का विकास दिखलाया है, ईश्वर में मानवत्व का आरोप नहीं किया है। यह विशेषता कृष्ण को नये स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है, जो मनुष्य के भीतर के पशुत्व का नाश करने वाली और देवत्व को बढ़ाने वाली है—

> अपूर्व आदर्श दिखा नरत्व का।
> प्रदान की है पशु को मनुष्यता।
> सिखा उन्होंने चित्त की समुच्चता।
> बना दिया सभ्य समग्र-गोप को॥[2]

इसीलिये उन्हें न तो परब्रह्म माना गया है और न परकीया नायिकाओं का उपपति।[3] डा० शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास' में उन कारणों की सूक्ष्म मीमांसा की है, जिनके द्वारा कृष्ण-चरित में आधुनिकता लाने का प्रयास किया गया है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि (i) "प्रियप्रवास के हरिऔध कोई दार्शनिक नहीं है कि उनके मस्तिष्क में सर्वव्यापित्व और पूजापात्रत्व की असंगति दीख पड़े—पौरुषेय ईश्वर (Personal God) और अपौरुषेयब्रह्म (Impersonal God) के अन्तर का

---

१. ईश्वर एकदेशीय नहीं है, सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्त्तमान है, प्राणिमात्र में उसका विकास है ''मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है'''मानवता त्याग कर ईश्वर की चरितार्थता नहीं होती 'अवतारों का सम्बल मानवता का आदर्श ही था, क्योंकि बिना इस मन्त्र का साधन किये कोई 'सर्वभूत हिते रतः' नहीं हो सकता।

—हरिऔध, पं० गिरीश को लिखा एक पत्र, महाकवि हरिऔध, पृ०१७३-७४

२ त्रयोदश सर्ग, २४

३ हरिऔध के ये रूपान्तरित कृष्ण न तो परब्रह्म हैं और न परकीया के उत्पत्ति हैं प्रत्युत एक अनुकरणीय आदर्श मानव हैं।

—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डॉ० धर्मब्रह्मचारी शास्त्री, पृष्ठ ७१

समाधान करने की व्याकुलता पैदा हो। इतना अवश्य है कि उनका ब्रह्म अपढ़ निरे श्रद्धालु मन्दिरगामियो का धूमिल भगवान नहीं हैं, किन्तु साथ ही वह एक दार्शनिक का विश्वब्रह्म भी नही है"[1]

(ii) "प्रियप्रवास के कृष्ण का चित्रण हमें बरबस महात्मा गांधी की याद दिला देता है। ऐसा दीखता है मानो इस काव्य के लिखते समय कवि की मानस-रंगभूमि के नेपथ्य मे महात्मा गाँधी की मूर्त्ति झिलमिल-झिलमिल झाँकती रही हो, और वह महात्मा श्रीकृष्ण के वाङ्मय के रूप मे प्रतिमूर्त्त ही उठी हो। कवि ने लिखा भी है– होता सुसिद्ध यह है वह है महात्मा।"[2]

डा० शास्त्री के उपर्युक्त विचारो के कारण है—कृष्ण के प्राचीन रूप को नये रूप मे ढालने के प्रयास में कवि की सफलताएँ-दुर्बलताएँ तथा कृष्ण-सम्बन्धी गतानुगतिक और असभव घटनाओ को स्वाभाविक बनाने एवं उन्हें लोकनायक परोपकारी महात्मा के रूप मे चित्रित करने के प्रयास मे कवि की सफलताएँ-असफताएँ।

वस्तुत: अविश्वसनीय घटनाओ को विश्वसनीय बनाने के प्रयास में कवि को सर्वत्र सफलता नही मिल पायी है, जिससे चरित्र-चित्रण का रंग एक-सा नही जम पाया है; जैसे तृणावर्त्त, वक, सर्प आदि के प्रसंग मे कवि ने उन्हे असुर के रूप मे चित्रित नहीं कर दुष्ट जीवो या आँधी-तूफान के रूप में रखने की कुशाग्रता दिखलायी है, पर पुनः तृतीय सर्ग में 'तरु-मूल के समीप विकट दन्त भयकर प्रेत' या 'प्रेतनो भय-प्रदर्शन करती थी महा'[3], लिखकर वे अन्धविश्वास के शिकार हो गये है। उसी तरह वात्सल्य रस के कारण कृष्ण के महावीर रूप और उनके अतिशय कोमल रूप मे तारतम्य नहीं दीखता। एक ओर तो कृष्ण 'कुवलयासम मत्त गजेन्द्र' को पछाड़ते दीखते है, दूसरी ओर यशोदा यह कहती दीखती हैं कि 'नहि कुवर कही नहो भी आज लाहे सिधारे···कुछ पथ श्रम मेरे बालक को न होवे'।[4] एक ओर तो नन्द यह कहते कि "जैसे जैसे कुँवर वर ने किये है कार्य न्यारे, वैसे ऊधो, न कर सकते है महाविक्रमी भी"[5] और दूसरी ओर वे ही यह कहते दीखते है कि 'देखो प्यारे दिन चढ गया, धूप भी हो रही

---

१ वही, पृ० ७३

२ वही, पृ० ८८

३ द्वितीय

४ पचम सर्ग, ४८

५ दशम सर्ग पद ६३

है। जो रोकेंगे अधिक तब तो लाल को कष्ट होगा।[1] वात्सल्य और लोक-नायकत्व को समान रूप से चित्रित करते समय कवि ने चरित्र-चित्रण के सम्यक रूप पर पूर्णतः ध्यान नही दिया है।

कृष्ण के चरित्र के लौकिक रूपान्तर के सम्बन्ध मे कवि ने अपनी भूमिका मे यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका लक्ष्य न तो कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण है और न अस्वाभाविक कृत्यो का वर्णन[2]। इसी कारणवश कृष्ण के लोकनायक और कर्तव्यपरायण रूप का विकास दिखलाया गया है। वे कही कर्मण्यता और कहीं सेवा-परायणता का उल्लेख करते दीखते हैं। उनका व्रज छोड कर मथुरा जाना भी लोकहितार्थ ही था। व्यक्तिगत सुख-सुविधा को त्यागकर वे कंश के अत्याचारों से पीड़ित जनता को मुक्त करने गये थे—

है आत्मा का न सुख किसको विश्व के मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी मे बँधे है।
जो होता है वश इसके आत्म-उत्सर्ग द्वारा।
ऐ कांते, है सफल अवनी मध्य आना उसी का।[3]

कहीं वे स्वजाति के उद्धारक के रूप में[4], कहीं क्लान्तिहीन चिरयुवा की

---

१ पंचम सर्ग, ६९

२ आधुनिक विचारों के लोगो को यह प्रिय नहीं है कि आप पंक्ति-पंक्ति मे तो भगवान श्रीकृष्ण को ब्रह्म लिखने चले और चरित्र लिखने के समय 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः' के रंग में रंगकर ऐसे कार्यों का कर्त्ता उन्हें बनावें जिनको करने में एक साधारण विचार के मनुष्य को भी घृणा होवे।...कृष्ण चरित को इस प्रकार अंकित किया है, जिससे कि आधुनिक लोग भी सहमत हो।

—प्रियप्रवास, पृ० ३०-३१

३ षोड़श सर्ग, पद ४५

४ अतः करूँगा यह कार्य मै स्वयं।
स्वहस्त में प्राण स्वकीय को लिये।
स्वजाति और जन्म धरा निमित्त में।
न भीत हूँगा विष काल सर्प से।

—एकादश सर्ग, २५

भाँति[१], तो कहीं निर्भय मोह-हीन व्यक्ति की भाँति[२] दीखते हैं। कृष्ण जैसे उच्च परिवार के व्यक्ति नौकरों के रहते भी वन में क्यों जाते थे, इसके कारण की उद्‌भावना भी कवि ने की हैं। वे वन को हिंस्र जन्तुओं से हीन बनाने और प्रकृति शोभा देखने जाते थे।[3] यह कल्पना जहाँ एक ओर कृष्ण के लोकोपकारक रूप को सिद्ध करत है वहाँ उनके अनुरंजक के रूप को भी सिद्ध करती है। कृष्ण के वास्तविक स्वरूप का परिचय उद्धव भी देते हैं—

> वे जी से हैं जन जन के सर्वथा श्रेय कामी।
> प्राणों से हैं अधिक उसको विश्व का प्रेम प्यारा।
> स्वार्थों को औं विपुल सुख को तुच्छ देने बना हैं।
> जो आ जाता जगत हित है सामने लोचनों के।
> हैं योगी लौं दमन करते लोक-सेवा निमित।
> प्यारी प्यारी हृदय-तल की सैकड़ों लालसाएँ।

मनुष्य की सीमाओं में रहकर भी कृष्ण लोक-मंगल के विधायक और मनुष्य के लिए सुगम आदर्शों के निर्देशक हैं।[४] प्रियप्रवास के कृष्ण स्वर्ग से पृथ्वी पर

---

१ प्रकृति सात दिनों तक क्रुद्ध थी।
कुछ प्रभेद हुआ न प्रकोप में।
पर सह रहे वह पूर्व लौं।
तनिक क्लान्ति हुई न व्रजेन्द्र को।
—द्वादश सर्ग, ५४

२ बिना न त्यागे ममता स्वप्राण की।
बिना न जोखों ज्वलदग्नि में पड़े।
न हो सका विश्व महान कार्य है।
न सिद्ध होता भव जन्म हेतु है।

३ परन्तु आते वन में सभोद वे,
अनन्त ज्ञानार्जन के लिये स्वयं
तथा उन्हें वांछित थी नितान्त हो
वनान्त में हिंसक जन्तु हीनता
—त्रयोदश सर्ग, २६

४ जो अतीन्द्रीय जगत का न होकर इसी पृथ्वी का प्राणी हो और [illegible]
वाला होते हुए भी अपनी विशाल हृदयता और परोपकार-वृत्ति से [illegible]
विधायक हो और ऐसा सुगम मार्ग दिखला दे, जिस पर चलना [illegible]
सम्भव और सरल हो, कृष्ण का ऐसा ही मानवीय चरित्र [illegible]
—हरिऔध-अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० [illegible]

नहीं उतरते हैं, बल्कि पृथ्वी पर जन्मे ऐसे महापुरुष है, जो अपने सद्गुणो के कारण स्वर्ग तक के अधिकारियो से होड ले सकते है। हरिऔध ने जिस कृष्ण का रूप-निर्माण किया है, वह बुद्धिवाद की देन है, किसी दार्शनिक सिद्धान्त की नहीं।

प्रिय-प्रवास के कृष्ण गांधीवाद की अहिंसा से प्रभावित होकर भी दुष्टो और आततायिओ के संहार के कायल है—

> समाज उत्पीडक धर्म विप्लवी।
> स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
> मनुष्य-द्रोही फव प्राणि-पुंजिका।
> मनुष्य-द्रोही भव प्राणि-पुंजिका।
> न है क्षमा-योग्य वरंच वध्य है।[1]

इस प्रकार उस पर गीता का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। आगे चलकर कुरुक्षेत्र के कवि ने जिसे क्रूर-धर्म माना है[2], उसी का पूर्व रूप यहाँ मिलता है—

> मनुष्य क्या एक पिपीलिका कभी।
> न वध्य है जो न अश्रेय हेतु हो।
> न पाप है किन्तु अपार पुण्य है।
> पिशाच कर्मी नर का निपातना।

कृष्ण का प्रेम भी कर्त्तव्य की वेदी पर अर्पित है। वे व्रज-वासियो के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी सम्पूर्ण मानव-कल्याण की सेवा में निरत है।[3] यही कारण कि गोपियो का प्रेम उन्हे व्रज नहीं बुला पाया।

नायक के लिये जिस सौन्दर्य, शक्ति और शील की आवश्यकता होती है, वे पर्याप्त मात्रा में प्रियप्रवास के कृष्ण में वर्तमान है। कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन प्रथम सर्ग के पन्द्रहवे पद से पच्चीसवे पद तक सुन्दर बन पड़ा है। नम्रता,

---

१ त्रयोदश सर्ग, ७९-८०

२ कुरुक्षेत्र, पृ० ६५

३ वे जी से हैं अवनि-जन के प्राणियों के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा।

मृदुता, सहृदयता, धीरता आदि गुणों का इनमें समावेश है ।[1] शक्ति का वर्णन कृष्ण के स्मरण के रूप में व्रज-वासियों द्वारा गोबर्द्धन-धारण, कालिय-दमन, अघासुर-बध आदि प्रसंगों में आया है ।

ध्यान देने की बात है कि जयदेव, सूर आदि अनेक प्रसिद्ध कवियों ने कृष्ण के जिस रसिक रूप का वर्णन किया है, उसको प्रियप्रवास में सर्वथा त्याग दिया गया है। चीरहरण, रास आदि कोई भी ऐसे छोटे या बड़े प्रसंग इसमें वर्णित नहीं हैं। गोपीकाएं या राधा भी काम दु:खिता या वासना-प्रेरिता नहीं दीखतीं । वस्तुत: मध्यकालीन अलौकिकता और शृंगारिकता से विलग कृष्ण के स्वाभाविक और महान् रूप का अंकन प्रियप्रवास में किया गया है ।

कर्त्तव्यनिष्ठ कृष्ण परोपकार के लिये व्रज छोड़ मथुरा जाते तो हैं, पर वे निर्मम नहीं हैं । उद्धव को व्रज भेजते समय उनकी कोमल-करुण भावनाओं को देखा जा सकता है ।[2] फिर भी उनका प्रेम उनके कर्त्तव्य का बाधक नहीं । वे नाना कार्य-व्यापारों में ही निमग्न रहते हैं ।[3]

कृष्ण चरित्र का जो नवीन रूप प्रियप्रवास में रखा गया, उस पर बंकिम-चंद्र के कृष्ण-चरित्र का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

---

१ आज्ञा पाके निज जनक की, मान अक्रूर बातें ।
उठे भ्राता सहित जननी पास गोपाल आये ।
छू माता के पग-कमल को धीरता साथ बोले ।
जो आज्ञा हो जननि अब तो यान पै बैठ जाऊँ ।

पंचम सर्ग, ४३

२ शोभा अद्भुत-शालिनी-व्रजधरा-प्यारी पगी-गोपिका ।
माता-प्रीति-मयी सनेह-प्रतिमा, वात्सल्य-धात पिता ।
प्यारे गोपकुमार, प्रेम-पाणि के पयोधि-से गोप वे ।
भूले हैं न, सदैव याद उनकी देती व्यथा है महा ।

—नवम सर्ग, ४

३ जी में बार अनेक बात यह थी मेरे उठी मैं चलूँ ।
प्यारी-भाव-मयी सुभूमि व्रज में दो ही दिनों के लिये ।
बीते मास कई परन्तु अबलों इच्छा न पूरी हुई ।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गयी बाधिका ।

—नवम सर्ग, ५

हरिऔध ने तीन कोस की दूरी पर ही रहकर कृष्ण के ब्रज न आने के आरोप[४] के खण्डन का प्रयास[१] किया है, पर उसमे पूर्ण सफलता नही मिली है, क्योंकि कितना भी कार्यव्यस्त होने पर कभी कुछ क्षण के लिये भी ब्रज न आना, लौकिक दृष्टि से स्वाभाविक नही ।[२] उसी तरह प्रियप्रवास में उत्पात-शमन के लिये ब्रज छोड मथुरा जाने वाले वीर पुरुष कृष्ण के संबंध का यह कथन कि वे भय से द्वारका चले गये[३], प्रियप्रवास के कृष्ण के चरित्र-चित्रण के प्रसंग मे ठीक नही जॅचता ।

कृष्ण-चरित्र पर जैसे हरिऔध ने खड़ी बोली मे प्रबन्ध काव्य लिखा, वैसे ही प्रद्युमन टुंगा और द्वारका प्रसाद मिश्र ने अवधी मे क्रमश श्रीकृष्णचरित मानस और कृष्णायन लिखे । श्रीकृष्णचरितमानस के कृष्ण के चरित्र मे कोई उल्लेखनीय नवीनता नही । कवि ने भागवत, महाभारत, गीता और सूर-सागर के आधार पर कृण का इतिवृत्तात्मक चित्रण किया है । जिन प्रसंगों मे चरित्र ओर कथा की मार्मिकता दिखायी जा सकती थे, वे भी वर्णनात्मक हो गये हैं, रसात्मक नही ।

इस दिशा मे सफल चरित्र-चित्रण कृष्णायन मे मिलता है । नायक होने के कारण इनका विस्तृत चित्रण यहाँ मिलता है, किन्तु प्रियप्रवास की तरह ये लौकिक नहीं अलौकिक है, अवतारी पुरुष है—

---

१ होके भी यों ब्रज अवनि के चित्त से यो सनेही ।
क्यो आते हे न प्रतिजन का प्रश्न होता यही हे ।
कोई या है कथन करता तीन ही कोस आना ।
क्यो है मेरे कुंवर वर को कोटिशः कोस होता ।
—चतुर्दश सर्ग, १६

२ ऐ संतप्त विरह विधुरा गोपियो ! किन्तु कोई
थोडा सा भी मुरलिधर के मर्म को है न पाता ।
वे जी से है अवनिजन के सर्वथा श्रेयचाही
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा । —वही, २१

३ वर्तमान कालीन बुद्धिवाद कभी भी ऐसी परिस्थिति मे ऐसे आदर्श पराक्रमी नररत्न के तीन कोस आने की असमर्थता को स्वीकार नही कर सकता ।···ऊधो के समान गोपियो के प्रश्न का···उत्तर देना समस्या को सुलझाना नहीं है, बल्कि उन्हे भुलावा देना है ·
—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री पृ० ८४

४ उत्पातो से मगधपति के श्याम ने व्यग्र होके
त्यागा प्यारा नगर मथुरा जा बसे द्वारका मे । —सत्रहवा सर्ग, ७

भयेउ कला षोडशसहित, कृष्णचन्द्र अवतार।
पूर्ण ब्रह्म हरियश विमल, बरनहुँ मति अनुसार ॥[1]

मनुष्यता है ता, पर देवत्व के कारण वह उभर नही पायी है। फिर भी एक बहुत बडी बात यह है कि कृष्ण मे श्रृंगारिकता या कामुकता नहीं है। उच्च मर्यादा और सात्विकता है। उसमे विलासिता के स्थान पर लोक-भावना है। उदाहरण-स्वरूप चीरहरण के प्रसंग को देखा जा सकता है। यहाँ कृष्ण गोपियो केनग्न-स्नान के लिये धिक्कारते है—

कहेउ हरिहु—"जो लागतिलाजा,
वस्त्र उतारत नित केहि काजा?
नग्न नीर तुम कीन्ह प्रवेशू
हमहि सुनावत अब उपदेशू
बारि माहि निवसत वरुण, तिनकै लाज विहाय,
लोक लाग हू त्यागि तुम, धँसत नग्न जल जाय।
गौरी पूजन वृथा तुम्हारा।
खडित ध्यान नेम व्रत सारा ॥[2]

और उन्हे यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वे पुनः ऐसा कर्म न करेगी। इस तरह चीरहरण को सामाजिक दुष्कर्म की सजा के रूप में दिखलाया गया है।

कृष्ण के प्रेम और बहु-विवाह को स्वीकार करते हुए उनके कारणो का नवीन विश्लेषण किया गया है। कवि ने राधा के प्रेम को कई जन्मों का सम्बन्ध बलाया है और अनेक कन्याओ से विवाह का कारण राजनैतिक एकता बतलाया है, जिससे देश का कल्याण हुआ। कृष्णायन के कृष्ण प्रियप्रवास के कृष्ण की भाँति ही शील, सौन्दर्य और शक्ति की खान हैं। ईश्वरीय अवतार होने के कारण कृष्णायन के कृष्ण में कहीं कोई दुर्बलता नहीं है।

प्रियप्रवास की अपेक्षा कृष्ण के जीवन को अधिक व्यापक रूप से कृष्णायन मे प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण चरित के सर्वांगीण रूप का विकास पहली बार उस पुस्तक में हुआ है। वे एक साथ ही यशोदा-पुत्र, गोपी-वल्लभ,

---

१ अवतरण काण्ड, दोहा ३

२ अवतरण काण्ड, ७०

असुर-संहारक; राजनीति-विशारद, समाज-सुधारक और दिव्य-दृष्टि सम्पन्न है वे एक साथ भागवत और महाभारत के कृष्ण के गुणों को अपने में समाहित किये हुए हैं।

स्वाभाविकता की दृष्टि से राधा-कृष्ण के पारस्परिक प्रेम को देखना चाहिये। उनके प्रेम-चित्रण मे अवस्था का ध्यान रखा गया है, अलौकिकता के भावावेश मे वय की सरलता नही भुलाई गयी है।

निस्संदेह कृष्णायन के कृष्ण मे महाकाव्य के नायक के सभी गुणों का समावेश किया गया है वस्तुत: यह कृष्ण के चरित्र की व्यापकता ही है जो इसे बहुत दूर तक महाकाव्य बना सकने मे समर्थ है।[1]

राम—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में वैदेही-वनवास, रामचरित-चिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, साकेत और रामराज्य में राम को नायक के रूप मे चित्रित किया गया है। प्रथम तीन और अन्तिम ग्रन्थो मे तो निर्विवाद रूप से कवियो का उद्देश्य राम-चरित का गान है, पर साकेत मे समस्या कुछ और है। गुप्तजी उपेक्षिता उर्मिला को महत्त्व देने के लिये बैठे तो सही, पर उनकी वैष्णव-भावना ने राम की महत्ता को भूलने नही दिया। फलत: नायक के पद पर लक्ष्मण को प्रतिष्ठित कराने में बाधा हुई। इन सब का एक-एक कर विवेचन करने से राम का वास्तविक रूप स्पष्ट होगा।

वैदेही वनवास के राम हरिऔध के आदर्शवादी दृष्टि से प्रभावित है। वे लोकरंजनकारी, धार्मिक संकीर्णताओ से मुक्त एक लोकनायक है। ये प्रजा के लिये, आदर्श-रक्षा के लिये बड़ा से बड़ा त्याग करनेवाले हैं—

करूंगा बड़ा से बड़ा त्याग।
आत्म-निग्रह का कर उपयोग॥
हुआ आवश्यक जन-सुख देख।
सहूँगा प्रिया असह्य-वियोग॥[2]

एक विशेषता वैदेही वनवास के राम मे यह है कि उन्हे अपने चरित्र मे विश्वास है और इस बात के लिये भी वे विश्वस्त है कि उनके परिवार के सदस्य धर्म-पालन मे उनकी बातें उठा न रखेंगे—

---

१ कृष्णायन में महाभारतीय वीर युग के सम्पूर्ण वातावरण के बीच कृष्ण के चरित्र का विकास ग्रन्थ को महाकाव्य के अनुरूप सौष्ठव प्रदान करता है।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १५८

२ तृतीय सर्ग, ६६

मुझे यह है पूरा विश्वास ।
लोक-हित साधन में सब काल ।।
रहेंगे आप लोग अनुकूल ।
धर्म-तत्त्वो पर आँखे डाल ।।[१]

राम मे सारे आदर्श गुणो को दिखलाते हुए भी कवि ने उनकी स्वाभाविक दुर्बलता का परिचय दिया है । शम्बूक-वध के लिये पचवटी गए राम के मन मे पंचवटी के पूर्व-चित्र के माध्यम से सीता की याद घनीभूत हो उठती है । वे तड़प उठते है—

यदि वह मेरे द्वारा बहु व्यथिता बनी ।
विरह-उदधि उत्ताल तरंगों में बही ।
तो क्यो होगी नही मर्म पीडा मुझे ।
तो क्यो होगा मेरा उर शतधा नहीं ।[२]

किन्तु पुन: दुर्बलता पर कर्त्तव्य की विजय होती है और वे सँभल जाते है—

किन्तु अधिक होना अधीर वांछित नही ।
जबकि लोक-हित है लोचन के सामने ।।
प्रिया को बनाया है वर भव-दृष्टि में ।
लोक हित-परायण उनके गुण ग्राम ने ।।[३]

भवभूति और कालिदास से प्रभावित होने पर भी हरिऔध ने राम के चरित्र को अधिक सहृदय बनाया है । वे उनकी तरह सीता-परित्याग की घटना को छिपाकर नही रखते । बडी कुशलता से सीता को सारी परिस्थितियो का ज्ञान करा देते है । यह कवि की ऐसी मौलिकता है, जो राम के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देती है ।

राम लोकापवाद को अनसुना नही करते, क्योंकि वे लोक-नायक हैं[४] और इस बात के विश्वासी कि स्वार्थहित लोक-हित का बलिदान पशुता है—

---

१ वही, १००

२ सप्दश सर्ग, ३२

३ वही, ३५

४ पठनकर लोकाराधन-मन्त्र
करूँगा मैं इसका प्रतिकार
साधकर जग-हित-साधन-सूत्र
करूँगा घर-घर शान्ति प्रसार

—तृतीय सर्ग, ६७

कर पर का अपकार लोक-हित का कदन
निज-हित करना पशुता है, है अधमता।
भव-हित पर-हित देश-हितो का ध्यान रख
कर लेना निज-स्वार्थ-सिद्धि है मनुजता ॥[1]

राम की आदर्श-भावना मानव के सामान्य स्वाभाविक गुणो की अपेक्षा नही करती। वे वाल्मीकि और कालिदास के राम से भिन्न सीता की सुविधा और प्रसन्नता का ध्यान रखते है। लेकिन मेरी दृष्टि मे शम्बूक-वध दिखलाकर राम के चरित्र को कलंकित किया गया है। हरिऔध जैसे आधुनिक कवि को यह नही करना था।

रामचरित उपध्याय ने रामचरित चिन्तामणि के राम को राजनेता के रूप में उपस्थित कर मौलिकता दिखलाने का प्रयास तो किया, पर सफल नही हो सके। उनमे न प्राचीनता की श्रद्धा रही, न नवीनता का आकर्षण। राम के चरित्र का पतन ही दीखता है। अवतारी पुरुष राम के चरित्र मे उनके पुत्र, पति, भ्रातृ आदि रूपो का सम्यक निर्वाह नही हो सका है। वे पिता को उपदेश देते है [2] और राज्य खो आने पर पाश्चाताप भी करते है। वे राज्य से च्युत होना अपने दुर्भाग्य का कारण मानते हैं—

दुर्दैव ने ही राज्य देकर हाथ से फिर ले लिया,
मुझको अकिचन कर दिया, घर भी नहीं रहने दिया।
कैकेय-सुता को या नृपति को दोष देना भूल है,
सुख-मूल है जो भाग्य भैया ! बस वही दुख मूल है।[3]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम का वन-गमन के प्रति कितना निम्नकोटि का दृष्टि-कोण है—वे लक्ष्मण से कहते हैं—

---

१ नवम सर्ग, ५६

२ जो बात पक्की हो गयी कच्ची उसे मत कीजिए,
कुछ काल मुझको रोककर अपकीर्ति को मत लीजिए
अपकीर्त्ति से मरना भला है, मोह में पड़िए नहीं,
नरवर ! समय को चूकिए मत, दुःख से डरिए नहीं।

—सातवॉं सर्ग ५५

३ सातवॉं सर्ग, २०

सम्राट-सुत वा घर रहो, वन मे भटकने दो मुझे,
सीता सहित विधि-वृक्ष मे कुछ दिन लटकने दो मुझे ।[1]

राम का सुधारवादी दृष्टिकोण मर्यादा की सीमा का उल्लंघन कर गया है और वे पिता की आलोचना कर शील को भी भूल गये है—

सुन्दरि ! मेरे पूज्य पिता ने विविध विवाह किये थे,
सच कहता हूं वे विवेक मे वंचित इसीलिये थे,
एक स्त्री-व्रत वे यदि करते, क्यों वन मे मैं आता,
होकर के युवराज आज क्यों दुस्सह दुःख उठाता ?[2]

बहु-विवाह की प्रथा के उन्मूलन का उद्देश्य सामने रखकर कवि ने राम के मुख से पिता को अविवेकी, व्रत-हीन कहलवाया है । स्वयं वन जाकर राम ने इसका पाश्चाताप किया है ।

जिस राम के चरित्र-परिमार्जन के लिये हरिऔध की प्रशंसा की गई है, उस प्रसंग को रामचरित उपाध्याय ने कितना नीचे गिरा दिया है, जब राम लंका से लौटी सीता पर व्यंग्य-वाण छोड़ते हैं और उसे अपने व्यक्तित्व की हीनता के कारण फटकारते हैं—

संसार मे मुझको न कोई भीरु समझे इसलिए,
मैंने किया रण तुम बताओ स्मित-वदन हो किसलिए ?
होकर कलंकित मैं रहूँ क्यों ? राम मेरा नाम है,
चाहो जहाँ जाओ चली तुमसे न कुछ भी काम है ।[3]

सीता को प्यार से अपनाने, सन्तोष व्यक्त करने या धीरज बँधाने की जगह वे उसे अपयश के भय से, अरि-अंक में रहने का आरोप लगाकर अछूत समझते है—

अपयश न हो इस हेतु मैंने बात मानी तात की,
फिर क्यों तुम्हारे साथ रहकर मैं बनूंगा पातकी ?

१ सातवॉं सर्ग, ३४
२ दशवॉं सर्ग, ६५
३ बाइसवॉं सर्ग, ६३

अरि ने लगाया अङ्क मे, उनको स्व-गृह रक्खे रहा,
किस भाँति फिर रक्खूँ तुम्हे निर्लज्ज हो अपने यहाँ।[१]

इस तरह रामचरित-चिन्तामणि के राम ईश्वर तो क्या आदर्श मानव कहे जाने के भी अधिकारी नही है।

रामनाथ ज्योतिषी द्वारा लिखा गया श्रीराम चन्द्रोदय काव्य ब्रजभाषाभा मे रीतिकालीन परम्परा की एक कडी है, जिसमें राम के उदात्त चरित को साधारण कोटि के प्रेमी और विलासी व्यक्ति के रूप मे चित्रित किया गया है।

राम के चरित्र को उनकी गरिमा के साथ चित्रित करने का प्रयास, काल-क्रम से हरिऔध के बाद मैथिलीशरण गुप्त ने साकेत मे किया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या साकेत के राम उसके नायक है ? इस सम्बन्ध मे अनेक मत-मतान्तर है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने उर्मिला को नायिका और भरत को साकेत का नायक माना है।[२]

डा० प्रतिपाल सिह[3], त्रिलोचन पाण्डेय[४] और विश्वम्भर मानव[५] ने राम को नायक माना है। डा० कमलाकान्त पाठक लक्ष्मण को नायक मानते है।[६] मेरी विनम्र दृष्टि मे साकेत में उर्मिला की प्रधानता के कारण इसे एक नारी

---

१ बाइसवां सर्ग, ६४

२ महाकाव्य की पद्धति के विरुद्ध साधु भरत को नायक और वियुक्त उर्मिला को नायिका बनाया है।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ८८

३ यद्यपि गुप्त ने लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता देने का प्रयास किया है किन्तु अपने आराध्यदेव राम को भुला न सके और अनायास ही प्रमुख स्थान पर ला बिठाया।

—बीसवी शताब्दी के महाकाव्य, पृ० १३२

४ राम साकेत के नायक हैं।

—साकेत-दर्शन, पृ० ९५

५ मैथिलीशरणजी की अनिच्छा (हार्दिक नहीं, काव्यगत) होने पर भी राम ही साकेत के नायक हैं।

—खडी बोली के गौरव-ग्रंथ, पृ० १७०

६ मैं समझता हूं साकेत के नायक लक्ष्मण है। यद्यपि लक्ष्मण सदैव राम के पार्श्ववर्त्ती रहे, पर साकेत की कथा-वस्तु के केन्द्र वे भी हैं।

—मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्तित्व और काव्य, पृ० ४४५

चरित-प्रधान महाकाव्य और उर्मिला को नायक मानने में कोई हानि नहीं दीखती। फिर भी इतना तो मानना ही होता है कि नायक के गुणों का विस्तार वे न तो पूर्णत: उर्मिला में कर सके है, न लक्ष्मण में और न राम में; कई उद्देश्यों के जाल में नायकत्व उलझ कर रह गया है।

रामचरित के प्रसंग में साकेत के राम की समीक्षा असंगत न होगी, वे नायक चाहे न हों, पर एक अत्यत महत्त्वपूर्ण पात्र हैं ही !साकेत में राम एक आदर्श चरित्र हैं, वे सतोगुणी है और हैं मोह पर विजय पानेवाले वीर पुरुष।

गुप्तजी ने ईश्वरत्व की मानवता का नहीं, मानवत्व की ईश्वरता के दर्शन कराये हैं।[1] वे भूतल को स्वर्ग बनाने और मनुष्य में देवत्व के विकास के आकांक्षी हैं—

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहां मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।[2]

धीर-वीर, गंभीर राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनकी दृष्टि दया और प्यार से परिपूर्ण है। गार्हस्थ्य जीवन की पार्श्व-भूमि पर विकसित राम का चरित्र अत्यन्त हृदयग्राही है। वे हास्य-विनोद में भी रमते हैं।[3] लक्ष्मण के वाण लगने पर भाई का बदला लेने को कुम्भकरण का वध भी करते हैं।[4] वे आर्य सभ्यता के प्रचारक[5] और भारतीय संस्कृति के उद्धारक हैं। वे दीन-हीन और उपेक्षितों

---

१ इसमें ईश्वर की मानवता के स्थान पर मानव की ईश्वरता का निरूपण किया गया है, जो दार्शनिक दृष्टि से ठेठ आधुनिक युग की वस्तु है।
—आधुनिक साहित्य, आचार्य वाजपेयी, पृ० ९७

२ अष्टम सर्ग, पृ० १६५

३ हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
कर तल तक तो तुम हुई नवल दलमग्ना।
वह सीता फले जब फले तुम्हारा चाहा।
मेरा विनोद त सफल हँसी तुम आहा।

४ भाई का बदला भाई ही, गरज उठे वे घन-गंभीर,
गज पर पंचानन-सम उस पर टूट पड़े उसका दल चीर। —एकादश सर्ग, २९१

५ मैं आर्यों का आदर्श बताने आया। —अष्टम सर्ग, पृ० १६६

को गले लगाने वाले महादानी है।[1] मित्रों के ही नहीं, वे शत्रुओं के दुख में भी सहानुभूति रखने वाले हैं।

गुप्तजी ने अपने राम को असभ्य जातियों को सुसंस्कृत और नागर बनाने का उत्तरदायित्व भी दिया है—'जगल में मंगल मनाओ, आनाओ देव, शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम'। वे मातृभूमि के प्रति श्रद्धा-विनत हैं।[2]

ड० शास्त्री ने साकेत और प्रियप्रवास के नायकों की तुलना करते हुए इस बात का उल्लेख किया है कि मानवतावाद की दृष्टि से राम की अपेक्षा कृष्ण अधिक श्रेष्ठ हैं।[3] यह भी ठीक है कि लाख मानव धर्म के पालन करने पर भी गुप्तजी का भक्तरूप कवि-रूप पर हावी हो गया है। रह-रह कर कवि उनकी ईश्वरता का स्मरण दिलाता है।[4] पंचवटी के राम के देवत्व का साकेत के राम के ईश्वरत्व के रूप में विकास हुआ है।[5] राम के चमत्कार और अलौकिक कृत्यों के विस्तार के प्रति कवि उत्सुक नहीं दीखता। ईश्वरत्व और मानवत्व के संयोग ने साकेत के राम को श्रद्धा और प्यार दोनों के उपयुक्त बनाया है।

---

१ जन्मभूमि ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव गर्व तथा निज मान दे।' — पंचम सर्ग, ९३

२ मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल-हीन, दीन शापित हैं।

*　　*　　*

मैं यहाँ जोड़ने नहीं बाँटने आया। —वही, पृ० १६६-८७

३ हरिऔध और गुप्तजी में एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ प्रथम ने आराध्यदेव श्री कृष्ण को मानवता की कोटि में रक्खा है, उन्हें अधिक से अधिक नरत्व की उपाधि दी है, वहाँ द्वितीय ने अपनी परम्परागत भावना को अक्षुण्ण रक्खा है।
—गुप्तजी के काव्य की कारुण्यधारा, डा० शास्त्री पृ० ६१

४ हो गया निर्गुण सगुण-साकार है
ले लिया अखिलेश ने अवतार है। —सर्ग, पृ० ३२

*　　*　　*

पर हम क्यों प्राकृत-पुरुष आप को मानें?
निज पुरुषोत्तम की प्रकृति क्यों न पहचाने? — अष्टम सर्ग, पृ० १७१

५ पंचवटी में तो कवि ने मनुष्यता के लिये इतना ही कहा था कि 'मनुष्यता को सुरत्व की जननी मैं कह सकता हूँ, पर साकेत तक आते-आते वह यह मानने लगा कि वह ईश्वरत्व की भी जननी है।' —गुप्तजी की कला, डा० सत्येन्द्र, पृ० ५१

साकेत में गुप्तजी का व्यक्तिगत दृष्टिकोण राम से बहुत अधिक प्रभावित है। पुस्तक के समपूर्ण[१] और गांधीजी को लिखे पत्र में[२] उन्होने इस आशय की घोषणाएँ भी की हैं।

कामायनी का नायक

कामायनी यद्यपि नायिका-प्रधान काव्य है, तथापि परम्परागत दृष्टि से इसके नायक मनु माने जाते हैं। कामायनी के छह पात्रों में मनु कथा के संचालक हैं। रूपक-निर्वाह की दृष्टि से भी ये बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि ये मन के प्रतीक हैं। मनु के पाँच रूप हमारे सामने आते हैं :—

१—देव सृष्टि के बचे हुए स्वस्थ दृढ़ मांशपेशियो वाले तरुण तपस्वी के रूप में, जिनका वीर्य ऊर्जस्वित था।[३] वे चिन्ताव्यथित है।[४]

२—दूसरा रूप उनके चिन्तक का है, जो वर्त्तमान स्थिति पर विचारता है और अपने पूर्व पुरुषों के मूल का पता पाता है;[५] जो जीवन की मरु-मरीचिका

---

१ स्वयं तुम्हारा यह कथन भूला नही ललाम।
वहाँ कल्पना भी सफल जहाँ हमारे राम।
तुम दयालु थे दे गए कविता का वरदान।
उसके फल का पिंड यह लो निज प्रभु गुण-गान।

२ वस्तुतः रामचरित मानस के सीताराम साकेत में नायकों के भी नायक और मनों शिक्षक अथवा शासक के रूप में प्रतिष्ठित हे।

३ तरुण तपस्वी-सा वह बैठा।

*   *   *

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियां
उर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार। —चिन्ता, पृ० ३-४

४ चिन्ता कातर बदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत प्रोत। —वही, पृ० ४

५ वह उन्मत विलास हुआ क्या ?
स्वप्न रहा या छलना थी।
देव-सृष्टि की सुख विभावरी
ताराओं की छलना थी।
स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विश्रृंखल होती सृष्टि
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि। —वही, पृ० ८-९

(कायरता के अलस विषाद और अगतिमय मोहमुग्ध जर्जर अवसाद) पर विचार करता है।[1]

३—तीसरा रूप एक गृहस्त का है, जो श्रद्धा के साथ विवाह कर घर बसाने चला है। इस रूप में उसे असफलता मिलती है और वह गृहस्थी का दायित्व छोड़ भाग खड़ा होता है।

४—उनका चौथा रूप बुद्धिवादी, प्रजापति मनु का है, जिसमे इड़ा के साथ सम्बद्ध हो बौद्धिक और यांत्रिक उन्नति में बहुत दूर तक चल कर भी अन्त में असफल हो जाते हैं। संघर्षमय जीवन अन्त में निर्वेद में बदल जाता है।[2]

५—पाँचवाँ उनका आदर्श रूप है, जिसमें वे कवि के लक्ष्य की पूर्त्ति करते हैं। वे एक सामान्य-तत्त्वदर्शी के रूप में जीवन के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित होते हैं, जहाँ सर्वत्र समरसता है।[3]

मनु एक सामान्य यथार्थवादी नायक के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिनका चरित्र अनेक प्रयोगों से होता हुआ, असफलताओं को झेलता हुआ अन्त में अपनी मंजिल पर पहुँच जाता है—'किन्तु पहुँचना उस मंजिल पर जिसके आगे राह नहीं।' वे आत्मविकास के शिखर पर पहुँचने के पूर्व तक एक विलासी और कामुक व्यक्ति की भाँति दीख पड़ते हैं। श्रद्धा के प्रति सारा अनुराग

---

१ ओ जीवन की मरु-मरीचिका,
कायरता के अलस विषाद।
अरे पुरातन अमृत! अगतिमय
मोह मुग्ध जर्जर अवसाद।

—वही, पृ० १८

२ शून्य राज चिह्नों से मंदिर
बस समाधि-सा रहा खड़ा।
क्योंकि वही घायल शरीर वह
मनु का तो था रहा पड़ा।

—निर्वेद, पृ० २०७

३ समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखंड घना था।

—आनन्द, अन्तिम पद

वासना-प्रेरित है, स्वार्थपूर्ण है।[१] मानो, यौन-संबंध ही सब कुछ है। यही कारण है कि ये गर्भवती श्रद्धा से अपनी वासना-पूर्ति न होते देख उदासीन रहते हैं। उनकी कामुकता की पराकाष्ठा वहाँ है, अहा वे इड़ा के साथ बलात्कार का प्रयास करते हैं। उन्हें अपने मन पर नियंत्रण नहीं, अपनी इच्छा की पूर्त्ति करना उनका मूल उद्देश्य है, चाहे उसके लिये अकरणीय भी करना पड़े। उनमें दूरदर्शिता का अभाव है और वे सद्वृत्तियों से अधिक असद्वृत्तियों से प्रभावित होते हैं। उनपर श्रद्धा और इड़ा के सत् परामर्शों का प्रभाव नहीं पड़ता, पर वे किलात-आकुली के बहकावे में सुगमता से आ जाते हैं। मनु की भूल यह है कि वे वासना की पूर्त्ति भोग से करना चाहते हैं और यह नहीं जानते कि 'तृषा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।'

उच्चवंशीय और वीर होकर भी वे धीर नहीं। वे कार्य-कुशल होकर भी क्षुद्र वासानाओं के शिकार हैं, यही कारण है कि जो इड़ा कभी उनके गुणों पर रीझती है, बादको उनसे दूर भागती है।

मनु के इस रूप-निर्माण में प्रसाद ने प्राचीन साहित्य के यत्र तत्र बिखरे हुए तत्वों को एकत्र कर अपनी कल्पना का उपयोग किया है। जल-प्लावन के बाद मनु के बचे रहने और इड़ा के मिलने में,[२] 'श्रद्धादेव' बनने में,[३] यज्ञ करने में,[४] मानवता के पिता कहे जाने में,[५] प्रजापति बनने[६] आदि में प्रसाद ने प्राचीन साहित्य के अध्ययन का उपयोग किया है, किन्तु इन प्राचीन तथ्यों में इतना बल अपने आप नहीं था कि वे महाकाव्य के नायक के चरित्र-निर्माण में सहायक होते, अतः प्रसाद ने अपनी कल्पना के रंग से उन्हें उद्भासित किया है।

---

१ तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।

—कर्म, पृ० १३०

२ शतपथ ब्राह्मण, १।८।१

३ विष्णु पुराण, ३।१।३०; देवी भागवत १०।१०।१; श्रीमद्भागवत, ८।१।११; शिवपुराण। (उमासंहिता) २५।४; हरिवंश पुराण ९।८; ब्रह्मवैवर्त पुराण, (प्रकृति खंड) ५४।६३ ।

४ ऋग्वेद, १।४४।११

५ The Hymns of Rigveda, Vol. I, Page 61, Griffith.

६ शतपथ-ब्राह्मण, १।७।४।१; मनुस्मृति, ७।३

मनु समाज के कर्त्ता है और वैज्ञानिक दृष्टि से उस युग के प्रतिनिधि हैं, जब आर्यो का अस्थिर गोचर समाज व्यवस्थित और संयमशील कृषि समाज में परिणत हो चुका था। मनु देव कुल में भी जन्म लेकर मानव हैं। यदि प्रसाद उन्हे देवता के रूप में चित्रित करते, तो कामायनी के द्वारा जिस संदेश को उपस्थित करना चाहते है, उसमें बाधा होती। लौकिक और स्वाभाविक कार्य अलौकिकता के जादू से दब जाते और मानस के विकास की कहानी अपूर्ण रह जाती। मनु के चित्रण मे प्रसाद कितने तल्लीन हैं, इस बात का प्रमाण यह भी है कि कामायनी की महत्त्वपूर्ण पंक्तियॉ अधिकांश रूप से इनके द्वारा ही कही गयी हैं।

डा० फतहसिंह ने मनु के तीन रूपों की प्रधानता स्वीकार की है—प्रजापति, बौद्धिक कर्मकाण्डी और आनन्द-पथ-अन्वेषी।[1] एक दृष्टि से तो कामायनी के मनु के दो ही रूप हमारे सामने आते है—ऐतिहासिक और सांकेतिक[2], किन्तु विस्तृत विचार से उनके और भी रूप हैं, जिनका विवेचन पहले किया जा चुका है।

मनु की भोग-लिप्सा की अधिकता की प्रतिक्रिया अनिवार्य थी। वह हुई भी। उसका हृदय आत्मग्लानि से भर उठता है।[3] उनका ज्ञान, उनका

---

१ मनु का पहला प्रजापति रूप है···दूसरा बौद्धिक कर्मकाण्डी ऋषि रूप है···मनु का एक तीसरा रूप और भी है जो मनु-इडा के अन्त होने पर आनन्द-पथ को खोजते हुए मनु में देखा जा सकता है।

—कामायनी-सौन्दर्य, पृ० १४७

२ कामायनी महाकाव्य में मनु का व्यक्तित्व दो रूपों में रहता है, एक ऐतिहासिक और दूसरा, सांकेतिक।

—कामायनी-दर्शन, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १४७, सम्पादक, स्नातक और सहल।

३ शापित-सा मैं जीवन का यह
ले कंकाल भटकता हूं,
उसी खोखलेपन में जैसे
कुछ खोजता अटकता हूं।

—निर्वेद, पृ० २२७

जीवन-दर्शन पुस्तकीय नहीं, स्वयं जीवन को झेलकर पाया हुआ है, अतः अनमोल है।[1] कामायनी के अन्तिम चार सर्ग—निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द मनु की इस बदली हुई चारित्रिक स्थिति के परिचायक हैं।

प्रसाद चरित्र के सम्बन्ध में न बहुत अधिक आदर्शवादी हैं और न व्यक्ति-वैचित्र्यवादी।[2] वे समन्ववादी हैं, अतिवादी नही। कामायनी के सारे पात्र सघर्ष करते हुए आगे बढ़ते है। वे दुर्बलताओं से रहित नही। जीवन के वास्तविक चित्र केवल आदर्शपूर्ण हो ही नहीं सकते, उसमें मानवीय शक्ति-सीमाएँ और दुर्बलताएँ होंगी ही। इस सिद्धान्त को मानकर प्रसाद ने अपने नायक में दुर्बलताएँ दिखलायी हैं। कुछ आलोचक इस दुर्बलता के अपराध से मनु को महाकाव्योचित नायक-पद से वंचित करते है।[3] पर यह ठीक नहीं। प्रसाद का उद्देश्य प्रथम मानव के चरित्र का विकास दिखलाना है, और: मानव का पूर्वज सहज मानवीय दुर्बलताओं से आक्रान्त होगा ही। क्रिया जितनी तीव्र होगी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होगी। यही कारण है कि

---

१ सोच रहे थे—"जीवन सुख है,"
ना यह विकट पहेली है,
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है।
यह प्रभात की स्वर्ग-किरण-सी
झिल-मिल चंचल-सी छाया
श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे
यह मुख या कलुषित काया।

—निर्वेद, पृ० २२६

२ कुछ लोग प्राचीन रस-सिद्धान्त से अधिक महत्त्व देने लगे हैं चरित्र-चित्रण पर। उनसे भी अग्रसर हुआ है दूसरा दल जो मनुष्यों के विभिन्न आकारों के प्रति कुतूहलपूर्ण है अथच व्यक्तिगत चरित्र-वैचित्र्य पर विश्वास रखनेवाला है। ये लोग अपनी समझी हुई कुछ विचित्रता मात्र को स्वाभाविक चित्रण कहते हैं, क्योंकि पहला चरित्र-चित्रण तो आदर्शवाद से बहुत घनिष्ट हो गया है, चारित्र्य का समर्थक है, किन्तु व्यक्ति-वैचित्र्य-वाले अपने को यथार्थवादियों में ही रखना चाहते हैं।

—काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, पृ० ८४

३ कामायनी में चित्रित मनु-चरित्र को हम पूर्ण विकसित, महाकाव्य के अनुरूप चरित्र नहीं कह सकते। प्रसाद ने मनु को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह समर्थ एवं सफल नाटक की परिभाषा में पूरी तरह नहीं आता।

—कामायनी-दर्शन, विजयेन्द्र स्नातक, पृ० १५५

पतन की खाइयों से गुजरनेवाला मनु ही उन्नति के शिखर पर चढ़ पाते हैं। उनकी उपलब्धि ठोस है, क्योंकि उनके अनुभव निजी हैं। यदि उस उपलब्धि की जननी प्रतिक्रिया न होती, तो उसमें मनु का ऐसा आत्म-विश्वास संभव नहीं था !

रूपक को समझने पर यह भ्रान्ति भी दूर हो जाती है कि प्रसाद के मनु पलायनवादी हैं, क्योंकि वे इस लोक को त्यागकर ऐकान्तिक जीवन-यापन करते हैं।[1] मनु यदि पलायनवादी होते तो अपने पुत्र को मानव-सभ्यता के प्रचार-प्रसार के लिये छोड़ न जाते। वस्तुतः प्रसाद का उद्देश्य संघर्ष से जूझते हुए मानव को आनन्द के व्यापक धरातल पर ले जाना है। मनु तो चेतना-सम्पन्न ऐसे आदर्शवादी व्यक्ति के प्रतिनिधि हैं, जो जीवन की वास्तविकताओं को दुलराता-झटकारता आगे बढ़ता है। आज के मानव की परिस्थियों का बड़ा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है कामायनी में।[2]

कामायनी मनोवैज्ञानिक रूपात्मक महाकाव्य है, चरित्र-प्रधान महाकाव्य नहीं। इसके चरित्र दार्शनिक इकाई हैं।[3] अतः मनु के माध्यम से मन की सम-विषम गतियों के मनोवैज्ञानिक निरूपण की दृष्टि से इसका मूल्यांकन होना चाहिये।

---

१ रूपक में मनु मन के प्रतीक हैं। मन के आधार पर बुद्धि और हृदय से सम्बन्ध हुआ करता है। बुद्धि की अतिवादिता व्यक्ति को किस रूप में ढाल सकती है, हृदय की बन्धन-हीनता मानव को कितना विशृंखल बना सकती है, यह भी मनु के माध्यम से प्रसाद जी को उपस्थित करना था। ऐसी स्थिति में मनु का चित्रण ऐसी शक्ति के रूप में भी कामायनी में करना पडा जो रूपकत्व को भ्रष्ट न कर सके।

—प्रसाद की कविताएँ, सुधाकर पाण्डेय, पृ० २६२

२ मनु के द्वारा प्रसाद जी ने संभवतः आज के मानव को चित्रित किया है। अन्तिम सर्गों को छोड़कर आद्यन्त मनु जिस असहायावस्था तथा अशान्ति का अनुभव करते हैं, वह आज के मानव की है।

—कवि प्रसाद, डा० भोलानाथ तिवारी, पृ० १२७

३ कामायनी की चरित्र-सृष्टि के सम्बन्ध में यह आरंभ में ही जान लेना चाहिये कि कामायनी चरित्र-प्रधान रचना नहीं है। एक तो उसमें पात्रों की संख्या ही बहुत कम है जो चरित्र हैं भी उनमें स्वभावगत विशेषताओं का अधिक निरूपण नहीं हुआ है। वास्तव में कामायनी के चरित्र दार्शनिक इकाइयों के प्रतिनिधि हैं।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १२२

कुरुक्षेत्र के नायक का प्रश्न और चरित्र-चित्रण

कुरुक्षेत्र विचार-प्रधान महाकाव्य है, कथा-प्रधान नहीं; इसलिये इसमें चरित्रों के विकास की सम्भावना नहीं। इसमें सिर्फ दो पात्रों के संभाषण के द्वारा युद्ध और अहिसा के प्रश्नों पर विचार किया गया है, अतः नायक का प्रश्न गौण है। युधिष्ठिर के अन्तर्द्वन्द्व और पाश्चाताप में इस युग की आत्मा बोलती है और भीष्म की आत्मा में कवि की चेतना का विकास है। भीष्म के मुख में मानों कवि ने अपनी वाणी धर दी है। कवि का हृदय युधिष्ठिर के प्रति सहानुभूति रखता है, तो मस्तिष्क भीष्म की वाणी को ओज प्रदान करता है। दोनों ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

युधिष्ठिर युद्ध में विजय पाकर भी सिर धुनता पछताता और रक्त-पात के लिये ग्लानि से भरा है।[1] वह एक चिन्ताकुल विचारक है, जो युद्ध और हिसा के प्रतिफल को देखकर जीतकर भी हारा है, आँसू से भरा है—

किन्तु इस उल्लास जड़ समुदाय में,
एक ऐसा भी पुरुष है, जो विकल
बोलता कुछ भी नहीं, पर रो रहा,
मग्न चिन्तालीन अपने आप में।[2]

उसके चार भाइयों के लिये जीत उल्लास बनकर आयी है, पर वह तो जैसे पाश्चाताप की अग्नि में जल रहा है—

इस काल-गर्भ में किन्तु एक नर ज्ञानी,
है खड़ा वहीं पर भरे दृगों में पानी।
रक्ताक्त दर्प को पैरों तले दबाये,
मन में करुणा का स्निग्ध प्रदीप जलाये।[3]

---

१ नर का बहाया रक्त, हे भगवान। मैंने क्या किया?

प्रथम सर्ग, पृ० ३

२ प्रथम सर्ग, पृ० ५

३ पंचम सर्ग, पृ० ८६

रह-रह कर उसके मन में यह बात काँटे की तरह चुभ जाती है कि केवल पाँच व्यक्तियों के लिये सारे राष्ट्र की अपार क्षति हुई है[1] और दोष-भावना की मनोवैज्ञानिक स्थिति में पड़ा युधिष्ठिर अपने को घृणा का पात्र समझता है—

हाय पितामह नही देखता हूँ
मुँह दिखाने योग्य निज को भुवन में,
ऐसा लगता हैं लोग देखते घृणा से मुझे
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण कण-कण में,[2]

युधिष्ठिर जिस आदर्श के सपने देखता है, वह मानवतावाद की भित्ती पर टिका है। युद्ध और हिंसा को प्रतिक्रिया से भरा उसका मन[3] प्रेम और शान्ति के साम्राज्य की कल्पना करता है; एक ऐसी दुनिया की कल्पना, जहाँ शोषण नहीं, अभिशाप नहीं, गरल नहीं, द्विधा नहीं; है केवल आनन्दमय, प्रेममय वातावरण !—

नर जहाँ राग से होकर रहित विचरता,
मानव, मानव से से नहीं परस्पर डरता,
विश्वास-शान्ति का निर्भय राज्य जहाँ है,
भावना स्वार्थ की कलुषित त्याज्य जहाँ है।[4]

यही प्रतिक्रिया युधिष्ठिर के चरित्र को स्थिर न रख, गतिशील बना देती है।परिवर्त्तन की इसी पृष्ठ भूमि पर उसका जीवन चमक उठता है—

संहार सुते ! मदमत्त जयश्री बाले,
है खड़ी पास तू किसके वरमाला ले ?

---

१ पाँच ही असहिष्णु नर के द्वेष से
हो गया संहार पूरे देश का।

—प्रथम सर्ग, पृ० ८

२ द्वितीय सर्ग, पृ० १४

३ अयि विजय ! रुधिर से मलिन-वसन है तेरा,
यम-द्रष्ट्रा से क्या भिन्न वसन है तेरा ?
ओ कुरुक्षेत्र का सर्व-ग्रासिनी व्याली,
मुख पर से तो ले पोंछ रुधिर की लाली ॥

—पंचम सर्ग, पृ० ८८

४ पंचम सर्ग, पृ० ८७

हो चुका विदा तलवार उठाने वाला,
यह हैं कोई साम्राज्य लुटाने वाला ।[1]

युधिष्ठिर के मन मे युद्ध के प्रति जो विरक्ति का भाव चित्रित किया गया है, वह वस्तुतः आज की युद्ध-त्रस्त मानवता की ही प्रतिछवि है ।[2] आज विश्व में इसीलिए युद्धास्त्रो के निषेध का आन्दोलन चल रहा है ।

छठे सर्ग को स्वयं कवि ने कथा से टूटा हुआ एक स्वतंत्र महत्त्व रख सकने वाला अंश माना है ।[3] शिल्प की दृष्टि से यह छठा सर्ग कुरुक्षेत्र को नवयुग का प्रतिनिधि काव्य बनाने मे सहायक होता है । प्राचीन महाकाव्य के नियम से यह कथा-सूत्र में बाधा देनेवाला या एक क्षेपक भले ही हो, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण से यह महत्त्वपूर्ण अंश है, क्योंकि इसमें समसामयिकता होते हुए भी प्राचीनता का विरोध नहीं है । इसी छठे सर्ग में युधिष्ठिर ने प्रकृति और विज्ञान, हृदय और मस्तिष्क के पारस्परिक संबंधों पर विचार किया है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मानव बुद्धि पर हृदय के अधिकार के अभाव में[4], स्वार्थ की अतिशयता से विज्ञान का दुरुपयोग कर रहा है । विज्ञान निर्माण के लिये नहीं, संहार के लिये उपयुक्त हो रहा है । इसका कारण हैं, बुद्धिहीनता, फूल-कॉटों की पहचान का अभाव—

सावधान, मनुष्य ! यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह स्मृति के पार ।

---

१ पंचम सर्ग, पृ० ८९

२ युद्ध की अपरूप भीषणता का स्मरण कर वे हतचेत हो जाते हैं । वे विजय-श्री का स्वागत करने के बदले शासन और साम्राज्य से मुँह फेर लेते हैं और युद्ध के महा संहार के लिये अपने को धिक्कारते हैं। युधिष्ठिर की यह स्थिति आज के युद्ध-त्रस्त मानव की स्थिति का ही प्रतिरूप है ।

—आधुनिक साहित्य, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १४१

३ पूरा का पूरा छठा सर्ग ऐसा ही क्षेपक है जो इस काव्य से टूट कर अलग जा सकता है ।

—निवेदन, पृ० २

४ किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश,
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार ।

—षष्ठ सर्ग, पृ० ११०

हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान,
फूल काँटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।[1]

युधिष्ठिर के आत्म-विश्वास में कवि ने निराशावाद का खंडन किया हैं। युधिष्ठिर मनुष्य से नहीं, अपनी ही अन्तःप्रवृतियों से, दुर्बलताओं से युद्ध करना चाहता है—

मन के दृग की शुभ ज्योति हरी इस लोभ ने ही, यह मानता हूँ,
वह जीता रहा तो विजेता कहाँ मैं अभी रण दूसरा ठानता हूँ[2]

उसे अपनी जीत पर विश्वास भी है—

यह होगा महारण राग के साथ, युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा,
नर-संस्कृति की रण-छिन्न लता पर कान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा,
कुरुक्षेत्र की धूलि नही इति पंथ की, मानव ऊपर और चलेगा,
मनु का यह पुत्र निराश नहीं नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।[3]

कवि का आशावाद युधिष्ठिर की झुकी पलकों में नयी ज्योति प्रदान करता है, जिसके प्रकाश में नवयुग की भयक्लान्त आत्मा मुस्करा उठती है।

यदि युधिष्ठिर युद्ध का एक पक्ष प्रकट करता हैं तो भीष्म दूसरा। युधिष्ठिर युद्ध से डरा, जीत कर भी हारा और उसके भीषण परिणामों से भयाक्रान्त है, पर भीष्म युद्ध को अनिवार्य मानता है। उसे प्रकृति का विस्फोट और उतना ही स्वाभाविक मानता है, जितना ग्रीष्म की ज्वाला से तूफान का आना और वन के पत्रोंपुष्पों का छिन्न-भिन्न हो जाना—

पर, नहीं यह ज्ञात, उस जड़ वृक्ष को,
प्रकृति भी तो है अधीन विमर्ष के।
यह प्रभंजन शस्त्र है उसका नही,
किन्तु है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का
जो प्रकट होता प्रचंड निदाघ से,
फूटना उसका सहज अनिवार्य है।[4]

---

१ वही, पृ० ११७

२ पंचम सर्ग, पृ० १०६

३ वही, पृ० १०६-१०७

४ द्वितीय सर्ग, पृ० १७

भीष्म युद्ध को पाप या पुण्य के प्रश्न से परे मानता है—

> है मृषा तेरे हृदय की जल्पना
> युद्ध करना पुण्य या दुष्पाप है,
> क्योंकि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
> जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो[1]

वह तो इतना ही जानता है कि अंगार जैसी वीरता के अभाव में जीना असंभव है और वह युद्ध पाप नहीं है, जो प्रतिशोध की भावना में पूर्ण हो।[2] तात्पर्य यह है कि वे युद्ध को एक स्वाभाविक प्रकिया मानते हैं—

> युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
> जब तलक है उठ रही चिनगारियाँ
> भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की
> युद्ध तबतक विश्व में अनिवार्य है।[3]

युधिष्ठिर यदि आदर्शवादी है, तो भीष्म यथार्थवादी। यथार्थवादी भी ऐसा जो ज्वलन्त पौरुष और शूरता-वीरता का तेजपुंज है। आह को वह निर्बलों का साधन मानता हैं। सबलों को रो-गिड़गिड़ाकर अधिकार माँगना शोभा नहीं देता-

> बद्ध, बिदलित और साधनहीन को
> है उचित अवलम्ब अपनी आह का,
> गिड़गिड़ाकर किन्तु, माँगे भीख क्यों,
> वह पुरुष जिसकी भुजा में शक्ति हो![4]

भीष्म के वीर चरित्र होने का प्रमाण महाभारत में पूर्णतः मिलता है। कुरुक्षेत्र में घटना-चक्रों के द्वारा उसे प्रमाणित करने का अवकाश नहीं था, पर कवि ने उस तथ्य की ओर संकेत अवश्य कर दिया है—

---

१ वही, पृ० १९-२०

२ जानता हूं किन्तु, जीने के लिये
चाहिए अंगार जैसी वीरता
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होगा ज्वलित प्रतिशोध पर।

वही, २०-२१

३ वही, पृ० २१

४ वही, पृ० २१

यह जन कभी किसी का अनुचित
दर्प न सह सकता था,
कहीं देख अन्याय किसी का
मौन न रह सकता था।[1]

उसने युधिष्ठिर को जो संदेश दिया है, उसमें वीरोचित भावना का सहज प्रमाण मिलता है—

शूर धर्म है अभय दहकते
अंगारों पर चलना,
शूर धर्म है शाणित असि पर
धर कर चरण मचलना।
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को
शूर धर्म कहते हँसकर हालाहाल पी जाने को।[2]

भीष्म का यह कथन वस्तुतः कवि का ही दृष्टिकोण है।

भीष्म की दृष्टि में वह शान्ति त्याज्य है जो क्लीवता और निर्जीवता को जन्म देती है। क्षमा वीरों को शोभती है, कायरों को नहीं। आततायी के अत्याचार को रोकना ही मानव-धर्म है। ग्लानिमय जीवन से मरण को भीष्म ने—अतः कवि ने श्रेष्ठ माना है। त्याग, तप आदि व्यक्ति के गुण है, समुदाय के नहीं। वे योगियों के धर्म हैं—

त्याग, तप, भिक्षा ? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर,
त्याग, तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं,
या कि उसकी नीति जिसके हाथ में शायक नहीं
या मृषा पाषण्ड यह उसका पुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नही।[3]

पाशविकता के सामने, उसकी दृष्टि मे, आत्मबल काम नहीं करता—

कौन केवल आत्म-बल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है ?

---

१ चतुर्थ सर्ग, पृ० ६३

२ वही, पृ० ६४

३ द्वितीय सर्ग, पृ० २४

पाशविकता खड्ग जब लेती उठा
आत्मबल का एक वश चलता नहीं ।[1]

यहाँ गाँधी-दर्शन से अलग कवि अपना क्रान्तिकारी दृष्टिकोण उपस्थित करता है। भीष्म की दृष्टि में पातकी पाप को प्रश्रय देने वाला होता है, उसे ललकारने वाला नही ।[2]

भीष्म और युधिष्ठिर दोनों ही कवि के मन में युद्ध के पक्ष-विपक्ष में उठने वाली भावनाओं के प्रस्तुतकर्त्ता हैं। वे कवि के आभ्यन्तर स्वालाप के प्रतीक हैं।[3] नीतिज्ञ भीष्म के जीवन के एक पहलू का पहली बार दिनकरजी ने कुरुक्षेत्र में चित्रण किया है,[4] वह चित्रण है उसके प्रेम और स्नेह की शीतल-धार का। कुरुक्षेत्र में भीष्म की अमोल करुणा का एक क्षीण आभास भी मार्मिक हो उठा है।[5]

कर्मयोगी भीष्म का चित्र आँखों से ओझल नहीं होता—

शरों की नोक पर लेटे हुए गजराज-जैसे,
थके, टूटे गरुड़-से, स्रस्त पन्नगराज-जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सँभाले।[4]

---

१ वही,

२ चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है,
नरक उनके लिये जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।'

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ४८

३ कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर दिनकर के आभ्यन्तर स्वालाप के दोनों पक्षों के प्रतीक ही तो है।

—कुरुक्षेत्र : आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, पृ० १०६ (प्रो० कपिल द्वारा सम्पादित, दिनकर और उनकी काव्यकृतियाँ)

४ भीष्म के अन्तर्द्वन्द्व का एक और पहलू है जिस पर कवि ने बिल्कुल नये ढंग से अपनी सूक्ष्म दृष्टि डालकर उनके अन्तस्तल के गुप्त रहस्य का उद्घाटन किया है। भीष्म में यह द्वन्द्व था उनके प्रेम और नीतिज्ञता के कारण।

—वही, प्रो० जगन्नाथ प्र० मिश्र, पृ० ११२

५ धर्म, स्नेह दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,
अतः एक को देह दूसरे को दे दिया हृदय था,

एकलव्य का नायक

किरात-वंश में उत्पन्न एकलव्य को आर्य रूप में शीलवान बनाकर प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास डा० रामकुमार वर्मा ने किया है। यह एक नव प्रतिष्ठित धीर-वीर नायक है, जिसके त्याग और तपस्या के आगे नतमस्तक होना पड़ता है। कवि की करुणा ने इस उपेक्षित समाज-रत्न को, 'कंठ से उतारे हुए इस लुंजित हार,'[1] को प्रतिष्ठा दी है, क्योंकि कवि का विश्वास है कि शौर्य और विद्या किसी भी जाति वर्ण के साधक से दूर नहीं हो सकती—

> किन्तु द्रोण ने किया निषेध विद्या-दान का
> क्यों किया कि शूद्र वर्ण तुम हो ? निषाद हो ?
> और राज पुत्र सब श्रेष्ठ वर्ण मानव हैं ?
> उनको कहीं तुम्हारी विद्या से विषाद हो ?
> किन्तु कौन था, तुम्हारी साधना को रोकता ?
> साहस का मार्ग तीनों काल में प्रशस्त है।
> काल-गति से न कभी नष्ट होता शौर्य है।
> ऐसा यह सूर्य है कि जिसका न अस्त है।[2]

एकलव्य के जो रूप हमारे सामने आते है, वे हैं—

१—जिज्ञासु एकलव्य का, जो गुरु से विद्या सीखने को व्यग्र है, उत्सुक है; कोई भी मूल्य चुकाने को तैयार है, मन में भक्ति और श्रद्धा लिये गुरु की सेवा निमग्न होने को आतुर है—

किन्तु फटी जब घटा, ज्योति जीवन की पड़ी दिखाई
सहसा सैकत बीच स्नेह की धार उभर कर छाई
धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का,
मिली देह भी उसे दान था जिसको मिला हृदय का।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ७०-७१

१ थे निषाद-पुत्र, नीच, वर्ण-संस्कार-हीन ?
लांछित थे ? तुमको न कोई अधिकार था ?
जीवन तुम्हारा जैसे उत्सव के अन्त में,
कंठ से उतारा हुआ लुंजित सा हार था।

—'स्तव' पृ० ५

२ वही, पृ० ६-७

मैंने कहा उनसे कि तेजोमय रूप हो,
चाहता मै शिक्षा धनुर्वेद की हूँ तुमसे,
प्रभु मुझे दिव्य मंत्र दे दो, गुरु मेरे हो।[१]

२—एकान्त-साधक का, जो गहरी उपेक्षा की चट्टान से टकरा कर टूटा नही, बल्कि और ठोस बन गया और निर्जन वन में घनघोर तपस्या करने लग गया—

इसलिये मैं ले रहा हूँ तुमसे भी विदा,
जाऊँगा वहाँ कि जहाँ सिद्धि पड़ी सोती है,
केवल दिवस ही है, रात नहीं होती है।[२]

२—मातृ-भक्त का, जो साधना की कठोर शिला पर भी मातृ-स्नेह के स्मरण की हरी कोमल दूब उगा देखता है।[३] वह अपनेश्रेय का भागी माँ को मानता है—

यदि एकलव्य ने विजय कही प्राप्त की,
होगा श्रेय माता का! तुम्हारा माँ, तुम्हारा ही
बाँसुरी के छिद्रों में जो रागिनी होगी, माँ,
उसमें प्रदाह रहेगा तुम्हारी साँस का।[४]

४—कुशल धनुर्धर का, जो अपनी वाण-विद्या से स्वयं द्रोणचार्य को आश्चर्य में डाल सका,[५] कि जिसकी सफलता अर्जुन के लिये भी ईर्ष्या की

---

१ दर्शन, पृ० २४

२ धारणा, पृ० १७१

३ मेरी जननी भी तो,
कितनी दुखित होंगी मेरे बिना गृह में,
नित्य ही प्रतीक्षा में वे दिवस बिताती हों।
* * *
मातः तुम कितनी उदार हो, सहज हो,
पुत्र का कुशल ही, तुम्हारा योग-क्षेम है।

—संकल्प, पृ० १८२

४ वही, पृ० १८३

५ यह मूर्त्ति मेरी तुम्हें साधना के मार्ग में,
इतना बढाती रही, मै स्वयं चकित हू?

—दक्षिणा पृ० २८४

वस्तु बनी,[१] कि जिसके लाघव को देखकर पाषण-हृदय द्रोण को भी प्रशसा करने को वाध्य होना पड़ा—

> साधु एकलव्य ! तुम साधना के स्वामी हो।
> जानते नहीं हो, ज्ञान आ गया है कितना
> किन्तु जानता हूँ धनुर्वेद, कहता हूँ मैं—
> तुम-सा कुशल धन्वी दूसरा नहीं हुआ।[२]

५—और अन्तिम रूप है आदर्श त्यागी शिष्य का, जो अपनी दक्षिणा दे गुरु से भी महान हो गया[३], जिसके त्याग ने उसे नष्ट करके भी विश्व के अद्वितीय शिष्य होने की क्षमता प्रदान की[४] और जो अपनी वीर-भावना से सबकी आँखें गीली कर गया।

महाभारत में केवल साधक एकलव्य की अद्वितीय गुरु-दक्षिणा देनेवाले रूप का ही अंकन है, शेष रूपों की कल्पना और निर्माण कवि की देन है। एकलव्य के चरित्र का जैसा उदात्त रूप डॉ० वर्मा ने चित्रित किया है, वह उसके प्रति युग-युग की अटूट श्रद्धा सुरक्षित रखनेवाला है।

महाकाव्यों के अन्य नायक

धर्मवीर नायकों में 'तारकवध' के शृंगी ऋषि, 'साकेत सन्त' के भरत, 'देवार्चन' के तुलसीदास, 'सिद्धार्थ' के सिद्धार्थ और वर्द्धमान के महावीर प्रसिद्ध हैं।

---

१ —पार्थ बोले ईर्स्या से—
देखा लक्ष्य है तुम्हारा मैंने श्वान-मुख में,
जानता हूं, ऐसा लक्ष्य मैं न बेध पाऊँगा।
और तुम्हारे समक्ष हीन ही रहूंगा मैं।

२ वही, पृ० २८७

३ वही, पृ० २९६

४ गुरु-भक्ति ऐसी जो भविष्य के भाल पर,
तिलक बनेगी रवि-रश्मि को समेट के,
पार्थ ! रक्त देखो ! इस एकलव्य वीर का,
जो कि राजवंशों से भी धोया न जायेगा।

—वही, पृ० २९७

श्रृंगी ऋषि कार्तिकेय के अवतार [१] और विभाक मुनि के पुत्र हैं, जिनका उद्देश्य सृष्टि की सेवा है। वे दक्षिण में एक आश्रम बनाकर सम्पूर्ण विश्व के कल्याणार्थ तारकासुर के कष्टों से विश्व को मुक्ति देना चाहते हैं। वे एक श्रेष्ठ आदर्श मानव हैं, पर उनकी आदर्श-भावना मे मानव-सुलभ दुर्बलता भी है। वे अजेय साहस और दुर्दान्त व्यक्तित्ववाले होते हुए भी अपनी पत्नी शान्ता के वियोग में करुणार्द्र दीख पड़ते है—

ऊब गये शशि श्रृंगी ऋषि की देख वेदना भारी,
खो बैठे उदास तारागण भी अपनी धृति सारी।
अपनी असमर्थता समझकर वे सब भाँति लजाये
अन्य लोक को चले गए निज आनन आप गँवाये।[२]

साकेत सन्त मे डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने पहली बार भरत को नायक बनने का गौरव प्रदान किया है। यों मानस में भरत का जितना चित्रण किया गया है, वह आधुनिक कई नायकों के व्यक्तित्व से बडा है। फिर भी, उन्हें स्वतंत्र रूप से नायक बनाकर चित्रित करने का यह प्रयास स्तुत्य है। कथा का आधार मानस का भरत-चरित्र है। इस ग्रन्थ मे आद्यंत उसका व्यक्तित्व निखरा हुआ दीखता है। मानस के अन्य पात्र-पात्री, राम-लक्ष्मण, कौशल्या-कैकेयी, सीता आदि इस चरित्र के सहायक है।

साकेत की भाँति कवि ने भरत-माण्डवी के प्रेमालाप का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। मानस के भरत के सारे गुण—त्याग, भ्रातृ-प्रेम, सेवा, दया, क्षमा, साधना आदि तो हैं ही, पर भरत की ग्लानि का विशद वर्णन इसमें प्रस्तुत किया गया है—

मेरे कारण ही अवध राम ने छोड़ा,
मेरे कारण तनु-बन्ध पिता ने तोड़ा।
मेरे कारण यह दशा तुम्हारी माता
दानव हूँ दानव, विपुल व्यथा का दाता।[३]

---

१ कार्तिकेय का जन्म हो गया काल तुम्हारा आया।

—पंचदश सर्ग, पृ० ४३०

२ दशम् सर्ग, पृ० ३१७

३ तृतीय सर्ग, पृ० ५१

'साकेत - सन्त' शब्द भरत की त्यागमयी तपस्या से चरितार्थ हो गया है। साकेत सन्त में भरत का जीवन-चरित्र माण्डवी के प्रेम-संभाषण[1] से प्रारम्भ और उसीसे समाप्त हुआ है।[2] कवि ने नायक के महत्व को आँकते हुए नायिका को भुला नही दिया है।

करील के देवार्चन के तुलसीदास के चरित्र-निर्माण में किंवदन्तियों का मुख्य हाथ है। जो कल्पनायें की गयी है, वे चरित्र को विशेष महत्त्व नहीं दे पातीं। मानस के रचयिता के चरित्र को जैसी उदात्त और विकासात्मक पृष्ठभूमि मिलनी चाहिये थी, वह मिल नहीं सकी है।

सिद्धार्थ और महावीर क्रमशः बौद्ध और जैन धर्मो के इतिहास-प्रसिद्ध और विश्वप्रिय प्रवर्त्तक हैं। ये दो महापुरुष अपनी तपस्या और चारित्रिक विशेषताओं के कारण बौद्धों और जैनियों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों के भी श्रद्धा के पात्र हैं। पं० अनूप शर्मा के सिद्धार्थ का चरित्र जन्म से लेकर निर्वाण तक की परिधि में विकसित है। सिद्धार्थ जन्मजात प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति हैं। वे अच्छे धनुर्धर होते हुए भी दयावान हैं। उनमे एक महापुरुष के सारे गुण हैं। अनूप शर्मा के वर्द्धमान मे महावीर भी वैसे ही चरित्रवान नायक हैं, पर सिद्धार्थ से अधिक महावीर के चरित्र-चित्रण मे कल्पना की सहायता ली गयी है। कवि ने श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों की विभिन्न धारणाओं को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है।

ऐतिहासिक वीर चरित्र

ऐतिहासिक वीर नायकों में चन्द, विक्रमादित्य और महाराणा प्रताप के नाम उल्लेखनीय है। 'आर्यावर्त्त' किसी महाकवि को नायक बनानेवाला पहला हिन्दी महाकाव्य है, क्योंकि देवार्चन की रचना ५२ में और इसकी ४३ मे हुई है; पर चन्द के चरित्र में उसके महावीर और महा आर्य रूप को ही अंकित किया गया है, उसके कवि रूप को नहीं। पहले पराजित योद्धा[3], फिर

१ प्रथम सर्ग, पद ८-६०

२ उपसंसार, पद १-२

३ वीर की प्रिया है मृत्यु-स्वागत है उसका,
किन्तु पराजय तो है घूंट हलाहल की
पी के जिसे कायर प्रसन्न हो पचाते हैं
और मरता है स्वाभिमानी घुट-घुट के।

—प्रथम सर्ग, पृ० १२

महाकाव्य को पूर्ण करने को व्यग्र कवि और फिर महावीर सैनिक एवं आदर्श आर्य-मित्र के रूप में इसका चित्रण किया गया है।

गुरुभक्त सिंह के विक्रमादित्य का नायक वीर और पराक्रमी है। प्रसाद ने ध्रुवस्वामिनी नाटक में ध्रुवस्वामिनी के पुनर्विवाह के औचित्य को स्वीकार किया है, इसमें भी रामगुप्त की विलासिता से ऊबी ध्रुवस्वामिनी के साथ प्रेमी चन्द्र-गुप्त का विवाह दिखलाया गया है। वह सहनशील, गंभीर और कर्त्तव्यनिष्ठ के रूप में चित्रित किया गया है। निर्भीकता के साथ उसकी धर्मभीरुता अच्छी नहीं लगती जो उसे रामगुप्त के अन्यायों के प्रति खुलकर विद्रोही नहीं बना सकी।

हल्दीघाटी के नायक महाराणा अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं। श्याम-नारायण पाण्डेय ने महाराणा की वीरता में कहीं-कहीं विवेक से अधिक आवेश का चित्रण किया है। शक्ति सिंह के साथ आखेट के अवसर पर प्रताप का व्यवहार इसका प्रमाण है। वे टूटकर भी नहीं झुकनेवाले नायक हैं। प्रताप के वीरादर्श चरित्र में मानवोचित दुर्बलतायें बड़ी आकर्षक लगती हैं।[1] चेतक के मरने पर रोते या भूख से व्याकुल तुतलाती पुत्री के प्रति स्नेहाकुल राजा के चित्र मार्मिक हैं।[2] राष्ट्रीय स्वतंत्रता और बप्पारावल के वंश-गौरव की रक्षा करनेवाले राजा भारतीय इतिहास में त्याग, आत्म-गौरव और स्वातंत्र्य प्रेम के आदर्श उदाहरण हैं।[3] उनके जीवन के दुख-दर्द स्वाभिमान की साधना

---

१ हा ! चेतक, तू पलकें खोल।
कुछ तो उठकर मुझसे बोल।
मुझको तू न बना असहाय,
मत बन मुझसे निठुर अबोल।

—त्रयोदश सर्ग, पृ० १५१

२ कन्या की बातें सुनकर,
रो पड़ी अचानक रानी,
राणा की आँखों में भी
अविरल बहता था पानी।

—पंचदश सर्ग, पृ० १६१

३ तू भारत का गौरव है,
तू जननी सेवा रत है।
सच कोई मुझसे पूछे,
तो तू ही तू भारत है।

—वही

. में मुस्कान बन गये हैं। कवि हल्दीघाटी के वीर चरित्रों के अनुकूल राष्ट्रीय नवयुवकों को ढालना चाहता है। [1]

महाकाव्य में नारी



बीसवीं शताब्दी में नारी-सम्बन्धी दृष्टि-कोण में एक क्रान्ति आयी। गँवार और शूद्र तथा आठ अवगुणों की खान कही जानेवाली नारी श्रद्धा की अधिकारिणी बनी और रीतिकालीन कामुकता की वाहिनी अब मानवी बनकर सहज प्यार ही मूर्त्ति के रूप में चित्रित हुई। नारी के प्रति स्नेह और सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाया गया। यों प्रारम्भ से लेकर अब तक काव्य के लिये नारी की आवश्यकता सदैव अनुभव की जाती रही है।[2] इस परिवर्त्तित रूप के कारणों में—प्राचीन सस्कृति की ओर समाज का ध्यान,[3] पाश्चात्य विचार, नारी के पतित, घृणित और वासनागत जीवन-चित्रण के विरुद्ध प्रतिक्रिया,[4] नारी-स्वातंत्र्य की भावना का विकास, भारतीय सुधारवादी आन्दोलन, रामकृष्ण, दयानन्द सरस्वती, गांधी आदि के विचार, स्त्री-शिक्षा आदि हैं।

---

१ राजा सदृश तू शक्ति दे,
जननी-चरण अनुरक्ति दे।
या देश सेवा के लिये,
आत्मा सदृश ही भक्ति दे।

—सप्तदश सर्ग, पृ० १६५

2. Poetry can do without the husbandmen and the burgher, but take away woman you cut its very life away.
—Mayor, Sexual Life in Ancient India, Vol. 1—Page 6

३ जिन प्राचीन संस्कृतियों के बुझते हुए अंगारों से हमारे नवीन प्रकाश की लौ उठी है, उन्हें हमें सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। नहीं तो हम जीवन के अखंडनीय सत्य को नहीं समझ सकेंगे।

—पन्त, ज्योत्स्ना, पृ० ७१

४ योनिमात्र रह गयी मानवी
निज आत्मा कर अर्पण।

—पन्त, युगवाणी, पृ० ५८

महत्त्व की दृष्टि से महाकाव्य में नारी चार रूपों में आयी। एक तो प्राचीन व्यक्तित्व (जिसे नायक कहा जाता है और जिसके लिए 'नारी नायक' शब्द का प्रयोग किया गया है) के रूप मे और दूसरे नायिका के रूप मे। उसका तीसरा रूप खलनायिका का और चौथा सामान्य पात्री का है।

नारी को प्रधान पात्र मानकर लिखे जानेवाले महाकाव्यों में कैकेयी, जौहर, उर्मिला, नूरजहाँ, पार्वती, मीरा आदि उल्लेखनीय हैं। यों कामायनी और साकेत में भी नारी का प्राधान्य स्वीकार किया गया है पर मात्रा की दृष्टि से उनमें वैसी प्रधानता नहीं है जैसी उपर्युक्त पुस्तकों मे।

भारतीय महाकाव्यों मे कैकेयी का चरित्र सर्वाधिक लांछित और अनादृत रहा है। महारानी और माँ होकर भी उसे अपने परिवार, समाज और उत्तराधिकारियों की श्रद्धा नही मिली। और तो और, जिस रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य की उपेक्षिताओं में उर्मिला, प्रियम्बदा, अनुसूया और पत्रलेखा की गणना की है, उन्होंने भी अभागिन कैकेयी को छोड़ दिया। इस दिशा में समस्त भारतीय वाङ्मय को हिन्दी साहित्य का आभार मानना चाहिये, जिसमें पहली बार गुप्तजी ने साकेत में कैकेयी के उद्धार का प्रयास किया है। यद्यपि उर्मिला की भाँति वहाँ उसका चरित्र विशेष विस्तार नहीं पा सका है तथापि उसके चित्रण में पर्याप्त नवीनता और उद्धार का अत्यन्त सफल और स्वाभाविक प्रयास दिखायी पड़ता है।

साकेत की कैकेयी के मन में वर माँगने की प्रेरणा का उदय मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों में हुआ। 'भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उसे जो गेह' की भावना बार-बार उससे मन प्राणों को बेचैन बना देती है। कवि ने पुनरुक्ति के जिस शिल्प का प्रयोग इन दो पंक्तियों को लेकर किया है, वह अत्यन्त प्रभविष्णु सिद्ध हुआ है। इस आवृत्ति-प्रणाली (रेकरिंग पैटर्न) के द्वारा कैकेयी के मन की विकलता का प्रभावोत्पादक चित्रण किया गया है।

कैकेयी के पाश्चाताप की आवश्यकता न वाल्मीकि ने महसूस की और न तुलसी ने। हाँ; भरत के द्वारा उसकी भर्त्सना अवश्य करायी गयी,[1] पर

---

१ सात्वर्माग्नं प्रविशा वा स्वयं वा विश दण्डकान् ।
रज्जुं बद्ध्वाथवा कंठे नहिं तेऽन्यत्परायणम् ॥
—वाल्मीकि रामायण, अयो [illegible], ७४।३३

कैकेयी के पाश्चाताप और ग्लानि का अत्यन्त पावन चित्र पहली बार साकेत में प्रस्तुत किया गया है ।[१] साकेत की कैकेयी का चित्रण पढकर उसके प्रति परम्परा से जमी सारी घृणा पिघल कर बह जाती है, उसके प्रति मन का सारा मालिन्य धुल जाता है । चित्रकूट की सभा में उसके द्वारा दी गयी सफाई अत्यन्त हृदय-द्रावक है । वह अन्तस्तल से राम को लौटा ले जाना चाहती है—

बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंगा
वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गंगा
हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना
सब सुनलें तुमने स्वयं अभी यह माना
यह सच है तो घर लौट चलो अब भैया
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।[२]

'अपराधिन मैं हूँ तात तुम्हारी मैया'—यहाँ मैया शब्द के विशेषण अपराधिन में कैसी करुणा, क्षमा पाने का कितना आत्म-विश्वास है ! पाश्चाताप का स्वर इस सर्ग में पराकाष्ठा पर है—

थूके, मुझपर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यो चूके ?
* * *
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,
है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता ।
* * *
युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी ।[३]

एक क्षत्राणी का अभिमान आँसू में डूब गया है—

मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी,
इस कारण सीखी, नहीं दैन्य वह वाणी,

---

१ साकेत के कारुण्य कलित पात्रों में कैकेयी का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है ।······ कैकेयी के चरित्र का अभिनव सृजन मात्र इस काव्य को अमर बनाने को पर्याप्त है ।
—गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा—डा० धर्मेन्द्र शास्त्री, पृ० ७१

२ अष्टम सर्ग, पृ० १७८

३ वही, पृ० १७८-७६

पर महा दीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहे जो तुम्हीं भाव-घन मेरा।[1]

साकेत में कैकेयी का पाश्चाताप केवल आत्मिक नही, कर्म-प्रेरित भी है। वह केवल रोकर पाप-प्रक्षालन नही करती, बल्कि शरीर से भी राम के काम आना चाहती है। साकेत की सेना के साथ उर्मिला ही नहीं, कैकेयी भी जाने को प्रस्तुत है—

भरत जायगा और यह मैं जाऊँगी,
ऐसा अवसर भला दूसरा कब पाऊँगी।[2]

एक बार वह अरि-संगर में पति के काम आयी, आज वह पुत्र के काम आना चाहती है।

साकेत संत की कैकेयी में एक सहज भोलापन है। वह भरत का उग्ररूप देखकर सहम जाती है। मंत्रणागार में भरत के निर्णय की सरलता से उसे अपनी भूल का परिज्ञान होता है और वह संज्ञाहीन हो जाती है—

सहसा-वनिता मंडल में कुछ हलचल सी छाई उस काल
सब ने देखा कैकेयी थी हुई मूर्छिता-सी बेहाल।[3]

दशरथ के पुनर्जीवन के लिए प्रयत्नशील होने[4] और उनके साथ सती हो जाने की चेष्टा में कैकेयी की विकलता का प्रभाव पाठकों पर पड़ता है।

साकेत में कैकेयी फिर भी एक सहायिका पात्री है जो सामान्य होकर भी दृष्टि की नवीनता के कारण विशिष्ट बन गयी है, उसे मुख्यतम रूप नहीं मिला है! पं० केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने कैकेयी काव्य में इस चरित्र-चित्रण को व्यापक पृष्ठभूमि पर चित्रित किया है। वरदान माँगने के पूर्व कैकेयी एक धीर क्षत्राणी, आदर्श पत्नी और अनुकरणीय माता है। फिर अचानक उसके चरित्र का ऐसा पतन कैसे हुआ कवि ने इसी पर विचार किया है और उन मनोवैज्ञानिक कारणों की खोज की है जिनसे उसने इतने निर्मम कार्य किए।

---

१ वही, पृ० १८३
२ द्वादश सर्ग, पृ० ३०१
३ पंचम सर्ग, पृ० ७३
४ षष्ठ सर्ग, पद १२-१७

कैकेयी के चरित्र-विकास के लिए कवि ने अनार्यों के अत्याचार से भारत को मुक्ति दिलाने की राष्ट्रीय भावना का समावेश कराया है। वह अनार्यों के अत्याचार की चिन्ता से त्रस्त एक रात यह स्वप्न देखती है कि सम्पूर्ण साकेत उस अत्याचार की ज्वाला में जलता राम की पुकार कर रहा है और वह तड़प उठती है—

जलता युग-पूजित राजमहल
जलता युग संचितयश उज्ज्वल
जल रहा आर्य इतिहास धवल
जल रही आर्य सम्यता विकल

उस तुमुल लग्न में एक बार
साकेत वासियों की पुकार
हे युग के राम ! अवध जलता
हे हे बलधाम ! अवध जलता
गूँजी रानी की नींद खुली
वह उठी तरपकर आग-धुली

कैकेयी अपने मन की कोमलता को, राम के प्रति अशेष मोह को राष्ट्र हित के लिए दबा लेती है—

मैं नहीं राम को
बन्दी होने दूँगी
मन की आशा को
कभी न रोने दूँगी।

उसके मन में यह पावन द्वन्द्व उठता है कि वह व्यष्टि और समष्टि में किसको महत्त्व दे—

एक ओर राज्याभिषेक के
उत्सव का उल्लास महान
और दूसरी ओर सभ्यता
संस्कृति का अन्तिम आह्वान

एक ओर कामना कि राजा
बने लोक-प्रिय राजकुमार

ओर दूसरी ओर प्रश्न क्यों
बने नरक मानव-संसार।[3]

दशरथ के समक्ष राम को माँगने का आशय कैकेयी स्पष्ट शब्दों में घोषित करती है—

मैं न राम को माँग रही हूँ
माँग रही है जिसकी वाणी
वह है युग की सजग चेतना
महाशक्ति युग की कल्याणी।[1]

वह दशरथ के सामने अपने मर्म को पहचानने की फरियाद करती है—

मैं युग की संदेश-वाहिनी
मैं युग की चरणों की रेखा
मेरे इन आकुल नयनों में
क्या न आपने युग को देखा।[2]

प्रभात ने दशरथ के दृष्टिकोण में भी परिमार्जन किया है, जो कैकेयी को नये रूप में पाठको के समक्ष प्रस्तुत करता हे—

युग के राम रहे मिल युग के
आज तोड़ नाता दशरथ से
किन्तु न दशरथ विचलित होता
हे कर्त्तव्य ! तुम्हारे पथ से।[3]

कैकेयी, हे प्रिय, प्रियतमे।
साक्षी है युग धर्म-विधाता
सच, हे, तुम न राम की जननी
किन्तु तुम्ही माता, न विमाता।[3]

कैकेयी के राम भी युग-सेवा का सारा श्रेय माता कैकेयी को देते हैं—

माता कैकेयी के स्वर में
युग बन जो मुझे पुकार रहा,
पल दिन के जलते नयन खोल
कब से जो मुझे निहार रहा,
वह तो जीवन का ज्योति लग्न
वह तो भविष्य का मंगल है,

१ अष्टम सर्ग, पृ० १२१
२ वही, पृ० १२२
३ वही, पृ० १३३

बन रहा वही मेरा प्रदीप
मेरे प्राणों का सम्बल है।[1]

भरत की भर्त्सना का उत्तर कैकेयी जिस रूप मे देती है, उसमें उसके त्याग की झाँकियाँ मिलती है कि किस तरह उसने दुनिया को अमृत देने को स्वयं हालाहल पिया है—

नारी और सुहाग-वत्स ! तू
जगा न सोयी ज्वाला
अमृत पिये संसार, अमृत की
जय, मैंने पी हाला ।[2]

राम-वनवास का रहस्य भी वह द्वादश सर्ग में ही खोलती है—

राम वन गमन निर्वासन है
यह असत्य है भारी
पाप सोचना भरत! किंतु है
सिहासन अधिकारी !
वन की ओर राम का जाना
मानवता की जय है
आर्य सभ्यता की, चिरमानव
स्वतंत्रता की जय है ।[3]

भारत के लिये राम को वन भेजा गया—इस दोष का भी परिमार्जन कवि ने किया है।

साकेत सन्त की कैकेयी के दोष को मिटाने के लिये कवि ने भरत के मामा का सहारा लिया है। वहाँ एक चरित्र को उठाने के लिये दूसरे चरित्र को गिराना पड़ा है।

उर्मिला—कैकेमी के बाद रामायण के पात्रों में काव्य की उपेक्षिता उर्मिला का स्थान आता है। कैकेयी लांछिता थी, उर्मिला उपेक्षिता। काव्य की उपेक्षिताओं में सर्वाधिक आकर्षक उर्मिला ही है। माण्डवी और श्रुतिकीर्ति

---

१ नवम सर्ग, पृ० १४७
२ द्वादश सर्ग, १८३
३ वही, पृ० १८५

की उपेक्षा उतनी नहीं खलती जितनी उर्मिला की।[1] पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी उर्मिला की गहरी उपेक्षा की चर्चा अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' में की है।

इस दिशा में दो महाकाव्य लिखे गये—एक साकेत और दूसरा उर्मिला। साकेत में उर्मिला को महत्त्व दिया गया है, पर राम-लक्ष्मण के सामने उसे प्रमुख पात्रत्व या नायकत्व-जैसी भूमिका नहीं मिल पायी है। पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'उर्मिला' महाकाव्य में इस कमी की पूर्त्ति का प्रयास किया है। चरित्र-सौष्ठव और काव्यत्व की दृष्टि से फिर भी इस उर्मिला की अपेक्षा साकेत की उर्मिला ही अधिक प्रभावशालिनी है।

नवीन की कृति में उर्मिला की कथा का विस्तार है। कवि ने कुछ नवीन प्रसगोद्भावनाएँ भी की हैं। उर्मिला के बचपन, रिपुसूदन और शान्ता के साथ हासविनोद, लक्ष्मण के साथ वन-गवन-प्रसंग पर वार्त्तालाप एवं उर्मिला की सहमति से लक्ष्मण का वन-गमन, लंका से लौटकर लक्ष्मण-उर्मिला मिलन आदि प्रसंग नवीन चित्रों से पूर्ण है। यह उर्मिला कोमल-हृदय अबला ही नहीं है, ज्ञानी और वीर बाला भी है—

कह दो आज पिता दशरथ से
कि यह अधर्म नहीं होगा,
कह दो लक्ष्मण के रहते यह
घोर कुकर्म नहीं होगा,
राज नही कैकेयी का यह,
दशरथ का न स्वराज्य यहाँ,
जन-गण-मन रंजन कर्त्ता हो
होता है अधिराज यहाँ।[2]

---

१ संस्कृत साहित्य में काव्य-यज्ञशाला की प्रान्तभूमि में जो दो चार अनादृत होकर पड़ी हैं, उनमें उर्मिला का ही प्रधान स्थान है।

—प्राचीन साहित्य, रवीन्द्रनाथ, पृ० ९०

२ रामायण के कवि चिर दुःखिनी वैदेही की वेदना से द्रवीभूत होकर माण्डवी और श्रुतिकीर्ति को भूल गए, परन्तु यह भूल उतनी नहीं अखरती जितनी उर्मिला की उपेक्षा।

—कवि और काव्य, शान्ति प्रिय द्विवेदी, पृ० २२४-२५

३ सर्ग ३, १४१

उर्मिला की प्रशंसा राम-सीता के द्वारा भी होती है—

मैं लज्जा मे गड़ जाती हूँ
देख तुम्हारा यह बलिदान
कितना आत्मनिमज्जन गहरा
क्या ऊँचा बलिदान विधान ।[1]

साकेत की उर्मिला एक सुन्दरी, शीलसम्पन्न नायिका, चित्रकर्त्री, आदर्श पतोहू, पत्नी और वीर रमणी के रूप में चित्रित हुई है । साकेत के प्रारम्भिक सर्गों में लक्ष्मण-उर्मिला के हास और वाग्विलास का वर्णन [2] कवि ने इसलिये किया है कि उसकी पृष्ठभूमि में चित्रित नवम सर्ग का विषाद और भी घना मालूम पड़े ।[3]

पृष्ठभूमि-निर्माण का यह शिल्प भावों को घनीभूत करने के लिए अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ है ।

उर्मिला के विषाद में यद्यपि स्वार्थहीनता का उल्लेख है[4], तथापि वह है व्यक्तिगत विरह-भावना पर ही आधारित । उसकी वाणी मे ओज भी मे, प्रेम का गौरवपूर्ण तेज [5] भी । इस विरह-व्यथा में कर्त्तव्य की भावना भी मिली

---

१ वही, पृ० २१७

२ मुस्करा कर अमृत बरसाती हुई,
रसिकता में सुरस सरसाती हुई,
उर्मिला बोली-'अजी, तुम जग गए ?
स्वप्न-निधि से नयन कबसे लग गए ?'

'मोहनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ ।
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ ।'

—प्रथम सर्ग, पृ० २१

३ भूल अवधि सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—आओ
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौक बोलकर—जाओ।

—नवम सर्ग, पृ० १९५

४ मैं अपने लिये अधीर नहीं,
स्वार्थी यह लोचन नीर नहीं ।

—षष्ठ सर्ग, पृ० ११७

५ रूप दर्प कन्दर्प ! तुम्हें तो मेरे पति पर वारो ।
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो ॥

—नवम सर्ग, पृ० २२८

है।[1] उर्मिला की अभिलाषा कर्त्तव्य से पगी एक साथ ही कितना तुनुक और कितनी विराट् है—

आराध्य युग्म के सोने पर
निस्तब्ध निशा के होने पर
तुम याद करोगे मुझे कभी
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी।[2]

वस्तुत: लक्ष्मण ने वन में रहकर जितनी तपस्या की उतनी उर्मिला ने भवन में रहकर की। भवन में रहकर भी उसे भवन का सुख न मिला, विजन का एकाकीपन ही मिला।[3-4]

षष्ठ सर्ग मे उर्मिला के कथन की मार्मिकता इसलिये बढ़ जाती है कि वह वस्तुत: लक्ष्मण के सामने अपनी भावना नहीं प्रकट कर रही है, इस असमर्थता के लिये दुखी मात्र है। काश, वह अपने मौन की अर्गला पूर्णत: तोड़ पाती—

यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी
तो क्यों इतना भी कह न सकी—[1]

उर्मिला की व्यथा तीन-तीन सासो के वैधव्य-विलाप से और भीषण हो जाती हो। सारा परिवार उर्मिला के दुख से और भी दुखी है—

रोती हैं और दूनी निरख कर मुझे दीन-सी तीन सासें,
होते है देवर श्रीनत, हत बहने छोड़ती हैं उसासें।[2]

---

१ कहा उर्मिला ने—हे मन,
प्रिय के पथ का विघ्न न बन,
आज स्वार्थ है त्याग-भरा
है अनुराग विराग भरा

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ७०

२ षष्ठ सर्ग, पृ०—११७

३ साल रही सखि माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोली जब वे मुझसे 'मिला न वन ही न भवन ही तुझको।'

—नवम सर्ग, पृ० १९८

४ अतीत स्मृतियों की कसक, लुटा हुआ प्यार का संसार और उसकी वह दयनीय दशा जिसमें उसे न वन ही मिला न भवन ही मिला—सभी उसकी उन्मत्तता के लिये इंधन बन जाते है!

—गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृ० ८१

उर्मिला के मन में भी परिवार के लिये सदैव सहानुभूति है—

उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे, जा गिरी कैकेयी के आगे।

उसकी पूर्ण कामना है कि वह परिवार के दुख को शान्त कर सके, भले ही वह स्वयं दीना-हीना-अधीना है—

दीना, हीना, अधीना, ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ।

उसकी करुणा मनुष्य के लिये ही नहीं, पेड़-पौधों के लिये भी सुलभ है—

सींचे ही बस मालिनें, कलश ले, कोई न ले कर्त्तरी।

अन्य विरहिणियों की भाँति उर्मिला प्रकृति को कोसने की जगह फूलने-फलने की कामना करती है—

हँसो, हँसो, हे शशि, फूल-फूलो
हँसो, हिंडोरे पर बैठ झूलो।

वह अपने दुख से दूसरों को दुखी देखना नहीं चाहती—

कोक, शोक मत कर हे तात।

विरह की छाया में लक्ष्मण और उर्मिला के मिलन के दो मार्मिक स्थल साकेत में आए हैं—एक तो आठवें सर्ग में, दूसरे बारहवें सर्ग में। चित्रकूट में सीता बड़ी कुशलता से अपनी कुटी में अनजान लक्ष्मण को भेजती है उर्मिला से मिलने को। वहाँ का मिलन अत्यन्त संक्षिप्त, मार्मिक और अकथनीय है। उर्मिला की दशा देखकर लक्ष्मण पहचान भी नही पाते। इतनी कृशकाया, इतनी मलिनता—

यह काया है या शेष उसी की छाया—
क्षण पर उनकी कुछ नहीं समझ में आया

सम्भवतः लक्ष्मण अपनी भावना को रोक नहीं पाते यह दशा देखकर, कर्त्तव्य-पथ से विचलित होने के भय से वे ठिठके-से रह जाते है। शायद उन्हें यह भय है कि उर्मिला उनके कर्त्तव्य-पथ पर पाँवों की जंजीर न बन जाय। इसलिए उर्मिला को यह कहना पड़ता है कि—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी
मैं बाँध न लूँगा तुम्हें, तजो भय भारी।

और उर्मिला की इस उच्च त्याग-भावना से प्रभावित होकर लक्ष्मण दौड़कर उसके पद-तल में लोट जाते हैं—

गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में
वह भींग उठी प्रिय चरण धरे दृग जल मे।[1]

उर्मिला को महत्त्व देने के प्रसंग में लक्ष्मण का प्रिया पद-तल मे गिरना चाहे जितना उत्कर्ष-वर्द्धक हो, भारतीय मर्यादा और साकेत-परिवार केशील के प्रतिकूल है। लक्ष्मण की श्रद्धावनत और भावपूर्ण मुख-मुद्रा या करुणार्द्र हो उर्मिला को गले लगाने के द्वारा भी उर्मिला के प्रति उनका सद्भाव, कृतज्ञता, प्रेम, आवेश आदि भाव प्रकट किए जा सकते थे।

बारहवें सर्ग में उर्मिला को जब प्रिय का सम्वाद मिलता है, तब सखियों के कहने पर भी वह शृंगार को तैयार नही होती है। इसके कई कारण हैं- एक तो वह अपने को इस योग्य नही समझती[2], दूसरे, यौवन-उन्माद के अभाव में यह ऊपरी शृंगार उसे व्यर्थ लगता है[3], तीसरे, आज वह अपने को रूप-यौवन के द्वारा पति पर प्रेममय शासन की नहीं, सेवा की अधिकारिणी समझती है[4], चौथे, वह पति के हाथों अपनी लज्जा सौंपकर निश्चिन्त है[5] वह जिस रूप मे है, उसी रूप में मिलना चाहती है।[6]

उर्मिला को महत्त्व देने की कवि की आकांक्षा ने इसे अनावश्यक अवसरों पर प्रस्तुत किया है। षष्ठ सर्ग में कौसल्या और सुमित्रा से भी अधिक वह रोती है और द्वादस सर्ग में अचानक सेना के समक्ष आकर उपदेश देने लगती है--

---

१ द्वादश सर्ग, पृ० २९७

२ हाय सखी, शृंगार ? मुझे अब भी सोहेंगे।

—द्वादस सर्ग, पृ० ३३२

३ पर योवन-उन्माद कहां से लाऊँगी मैं ?

— वही,

४ अब तो केवल रहूँ सदा स्वामी की दासी,
मैं शासन की नहीं, आज सेवा की प्यासी।

—वही, पृ० ३३३

५ सखि, यथेष्ट है यही धुली धोती ही मुझको,
लज्जा उनके हाथ, व्यर्थ चिन्ता है मुझको।

—वही,

६ नहीं, नहीं, प्राणेश मुझी से छले न आवें,
जैसी हूँ मैं, नाथ मुझे वैसा ही पावें।

—वही, पृ० ३३२

गरज उठी वह नहीं, नहीं पापी का सोना
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
वीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।[१]

उर्मिला की तुलना यशोधरा और उमा से भी की जा सकती है। ये तीनों ही पति-वियुक्ता के रूप में चित्रित हैं पर तीनों की परिस्थितियों मे अन्तर है। यशोधरा की आँखों में पानी है, तो आँचल में दूध भी। उसे यदि कचोट है तो इसी बात का कि 'सखि वे मुझसे कहकर जाते'[२]। स्वामी गोद में राहुल-सा लाल देकर उसे मरने का भी अधिकार नहीं दे गए है[3]। उसके लिए राहुल वरदान भी है, अभिशाप भी। वह उसके सहारे जीवित है, पर खुलकर रो नहीं पाती। पर, उर्मिला की गोद भी सूनी है, आँगन भी सूना है। वह किसके सहारे जी बहलाये! कम से कम साकेत की उर्मिला से लक्ष्मण मिलकर तो गए है! चित्रकूट में भी भेंट हुई है! और सबसे बढ़कर उसके वियोग की एक सीमा है—चौदह वर्ष!

पर यशोधरा के मन में प्रियतम की इस उपेक्षा की पीड़ा है कि वे बिना पूछे चले गए और सामने अनन्त वियोग है। भले ही, अचानक भगवान तथागत एक दिन आ जाते हैं। पर, क्या वे यशोधरा के हो पाते हैं?—नहीं, लक्ष्मण-उर्मिला की गृहस्थी बसती है, पर भगवान तो विश्व के हो चुके थे। उमा शिव

---

१ पृ० ३१३

२ सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात।
सखि, वे मुझ से कह कर जाते,
कह तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?

—यशोधरा, पृ० २४

३ स्वामी मुझको मरने का भी दे न गए अधिकार,
छोड़ गए मुझ पर अपने उस राहुल का सब भार।

—वही, पृ० ४९

के वियोग में अखण्ड तपस्या कर सुहाग पाती है, पर उर्मिला सुहाग को ही तपस्या बना देती है।[1]

मीरा--परमेश्वर द्विरेफ ने मीरा महाकाव्य मे प्रसिद्ध कृष्ण भक्त कवयित्री मीरा के जीवन चरित्र को महाकाव्य के साँचे मे ढाला है। काव्य-कला की उच्चता की दृष्टि से चाहे यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण न हो, पर मीरा जैसी साहित्य-साधिका और कृष्ण-आराधिका के जीवन से सम्बद्ध यह एक मात्र प्रबन्ध काव्य है। इसमे मीरा की गम्भीर चिन्तनशील बाल्यावस्था[2], बाल्यावस्था से ही कृष्ण के प्रति आसक्ति[3], भोजराज से विवाह, विदा, भोजराज की मृत्यु, मीरा की विरहावस्था, परोपकार वृत्ति, विषपान आदि प्रसंगों को तेरह सर्गों में विभाजित किया गया है।

मीरा की कृष्ण-भक्ति का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। पति के प्रति उसके मन में अपार श्रद्धा दिखलाई गयी है और तभी तो वह बीमार पति की सेवा में दिन-रात लगी रहती है, उसी चिन्ता में डूबी रहती है।[4] कवि का ध्यान मीरा के चरित्र-चित्रण पर इतना अधिक केन्द्रित है कि अन्य चरित्र गौण हो गए है।

---

१ उर्मिला के साथ ही तपस्विनी उमा का भी स्मरण आ जाता है, किन्तु उर्मिला और उमा में समता ही कितनी! उमा ने अखण्ड तपस्या करके अचल सुहाग पाया था, उर्मिला ने अपने अचल सुहाग को ही अखण्ड तपस्या बना दिया था।

—कवि और काव्य, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० २२३

२ साधक का ज्यो आराधित मन
ज्यों कवि का लोकोत्तर चिन्तन
त्यो दीप शिखा सी नत, क्रीड़न-तल्लीना।

—प्रथम सर्ग, पृ० १

३ इसी छोटी सी ही दुलहन ने
अपना प्रिय पहचान लिया है,
जग जीवन क्या है, इसने तो,
इसी आयु में जान लिया है।

—वही, पृ० ३६

४ पीती जल भी न जरा हो जाती सन्ध्या,
पति सेवा में तल्लीन धन्य वह बन्ध्या।
निशदिन शय्या के पास मौन रहती थी,
भावों की सरिता में तृण सी बहती थी।

—नवम सर्ग, पृ० १५३

पद्मिनी—इक्कीस चनगारियों से रचे गए प्रबन्ध काव्य जौहर में पद्मिनी का चरित्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। चित्तौर के राजा रत्नसेन की पत्नी पद्मिनी पर अलाउद्दीन के आकर्षण के कारण हुए उत्पातों के द्वारा कथानक का विस्तार हुआ है। इसी कथा का ऐतिहासिक आधार कुछ बदले हुए रूप में जायसी के पद्मावत के उत्तरार्द्ध में भी है। बन्दी रत्नसेन को छुड़ाने में पद्मिनी की बुद्धि और शक्ति[1] तथा चिता मे जलने मे उसके बलिदान का प्रमाण मिलता है।[2] पद्मिनी के रूप का वर्णन लोलुप अलाउद्दीन के मुख से मिलता है—

> और रानियाँ हो सकतीं, उसके पैरों की धूल नहीं,
> सच कहता उसके समान हँसते उपवन के फूल नहीं।
> रोम-रोम लावन्य भरा है, रोम-रोम माधुर्य भरा।
> बोल-बोल मे सुधा लहरती, शब्द-शब्द चातुर्य भरा।[3]

नूरजहाँ—'नूरजहाँ' की प्रधान पात्री नूरजहाँ नायिका होकर भी नायक सलीम से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए पुस्तक का नाम उसके आधार पर है। नूरजहाँ के चरित्र का विकास अनिन्द्य सुन्दरी, भोली किशोरी प्रेमिका, धर्म-भीरू, सहृदया, पतिव्रता, माता आदि रूपों मे किया गया है। सलीम से इच्छा रहते भी उसका विवाह नहीं हो पाता है, पर शेरअफगान से विवाह हो जाने पर वह अपने पूर्व प्रेम को भुलाकर पूर्ण निष्ठा से रहना चाहती है। शेरअफगान को मारने पर वह सलीम के प्रति विरक्त रहती है। पर अन्त में सलीम के अनुकूल हो जाती है। नूरजहाँ काव्य में चरित्र-चित्रण और काव्य-वर्णन की गंभीरता का अभाव है। नूरजहाँ के चरित्र में आदर्श तो है ही नहीं, स्वाभाविक चरित्र-चित्रण में भी सर्वत्र हार्दिकता नहीं है।

पार्वती—श्री रामानन्द तिवारी ने कुमार संभव के आधार पर अपने महा-काव्य 'पार्वती' में पार्वती का चरित्र-विकास दिखलाया है। इस रचना में भी

---

१ बन गया वदन इंगुर सा, भौंहें कमान सी लरकी,
लोहित अधरों में कम्पन, रानी की आखे फरकी।
कस लिया वक्ष अंचल से, कटि में कटार रवर बाँधी,
करवाल करो में चमकी, दरबार चली बन आंधी।

—सातवी चिनगारी, पृ० ९८-१०६

२ सत्रहवी-अठारहवी चिनगारियों,

—पृ० ९८-१०६

३ तीसरी चिनगारी, पृ० १७

पार्वती की ही प्रमुखता हैं। यद्यपि शिव मे अलौकिक गुण हैं, तथापि पार्वती मानवी के रूप में चित्रित की गयी है, जिसके सौन्दर्य, शील और तप-त्याग, पातिव्रत्य आदि सद्गुणों को दिखलाया गया है। पार्वती के माता-पिता मैना और हिमाचल भी मानव के रूप मे चित्रित हैं। पार्वती का सौन्दर्य-वर्णन भी आकर्षक है—

अरुणिमा अधरों के स्पन्दन मे आदि उषा सी खिलती,
शारदीय ज्योत्सना की निर्मल आभा स्मिति मे मिलती,
आनन के अपरूप रूप में शंकित होकर मन में,
अन्तर की लज्जा से कलुषित हुआ मयंक गगन मे।[1]

लक्ष्मीबाई--इतिहास प्रसिद्ध झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के जीवन को मुख्याधार बनाकर ही श्यामनारायण प्रसाद ने झांसी की रानी की रचना की है। इसमें मन्नूबाई के रूप में उसके बचपन, अस्त्र-शस्त्र-अभ्यास, विवाह, सैन्य-संगठन; अंग्रेजों के साथ युद्ध और गंगादास के आश्रम में मृत्यु दिखलाकर पूर्ण-जीवन को चित्रित किया गया है। राष्ट्र--प्रेम, वीरता, निर्भीकता, आत्मशक्ति, धैर्य आदि गुणों के सुन्दर चित्रअंकित हुए हैं। बचपन में ही उसमें अदम्य उत्साह दीखता है--

घोड़े को रोक मनू बोली,
नाना साहब अब रुक जाओ।

लो रोक राव साहब ! भाला,
आगे न बढ़ो तुम रुक जाओ।

देखूँगी किसका बाजि आज,
विजयी होता है चालों में ?
पर्वत के उन्नत शिखरों पर,
बरछी भाले, करवालों में ?[2]

रण-क्षेत्र में तो उसकी वीरता का क्या कहना--

केवल इतना ही कह पाते थे
रानी आयी, रानी आयी।
तबतक सिर धड़ से अलग लोट
भू पर कहता रानी आयी॥

---

१ दूसरा सर्ग, पृ० ६०

२ दूसरी हुँकार, पृ० ५०

जबतक घोड़े की टापों की
ध्वनि ही अरिदल सुन पाता था,
तबतक रानी का खड्ग तुरत
बन मृत्यु शीश पर आता था ॥[1]

महाकाव्यों की कुछ नायिकाएँ

सीता—सीता का चित्रण अभी तक नायिका के रूप में ही होता रहा है। उसके चरित्र को स्वतंत्र रूप देकर सीता या वैदेही या ऐसे ही किसी नाम से कोई महाकाव्य नही लिखा गया। राम जैसे महान नायक के व्यक्तित्व के साथ सीता नायिका बनकर ही चित्रित होती रही है। वैदेही वनवास में भी राम ही नायक है। यों इसमे सीता की करुण कथा को प्रमुखता देने का प्रयास किया गया है। इसी तरह राम चरित चिन्तामणि, साकेत और रामचन्द्रोदय में भी यही नायिका है।

श्रीधर पाठक के रामचरित चिन्तामणि की सीता के चित्रण में रामायण की परम्परा से हटकर किसी भावपूर्ण नवीनता की ओर कवि का ध्यान नही गया है। एक विशुद्ध भारतीय महिमामयी नारी के रूप में उसका चित्रण किया गया है। श्रीधर पाठक का ध्यान सीता-स्वयंवर, सीता-परित्याग आदि प्रसंगों पर भी नहीं गया है।

रामनाथ ज्योतिषी के 'राम चन्द्रोदय' काव्य सीता सामान्य नायिका के रूप मे चित्रित हुई है, जिसमें शील की रक्षा नहीं हो सकी है। दरअसल, यह काव्य ही महाकाव्य में परिगणित होने की क्षमता नही रखता। रीतिकालीन नायिका की तरह सीता का सामान्य-चित्रण यत्र-तत्र दीखता है।[2]

'वैदेही वनवास' की सीता की क्रियाशीलता अन्य ग्रन्थों की सीता से अधिक बढ़ी-चढ़ी है। वे लोक-कल्याण के लिए सर्वस्व त्यागने वाली है और लोक-निन्दा से राम को बचाने के लिए स्वेच्छा से वनवासिनी बनने को तैयार हैं।

---

१ बाईसवीं हुँकार, पृ० २६४

२ संग सरवीन के लाजभरी, छल की वह प्रीति प्रतीति समूली,
नैन जके से थके रहिगे अंग अंगन ज्योति सी बाटिका फूली ॥
बात अजान की भाँति करे, तनकौ तनकौ न सम्भार अतूली।
राम सुजान की देख छवि, सुधि जानकी जान की, जानकी भूली ॥

—कला ५, पृ० ६७

वन के प्रति उनकी ममता और आकर्षण बहुत पहले से ही दिखलाया गया है। वनवास के पहले भी जब वे वन-भ्रमण को जाती हैं, तो दीन-दुखियों के लिए दान का सामान लेती जाती है।[१] परोपकार सीता का धर्म-सा बन गया है।

सीता के चित्रण में पर्याप्त नवीनता है, क्योंकि वे विवाह को भौतिक आधार पर नहीं आध्यात्मिक आधार पर स्थिर मानती हैं। वे लंका के विध्वंस के पीछे पापवृत्ति का हाथ मानती हैं।[२]

उनके जीवन की पवित्रता का प्रभाव उन वन्य नारियों पर भी पड़ता है, जो भौतिकता को ही सब कुछ माने बैठी हैं। वे अपने पुत्रों को धर्म, राजनीति, अस्त्र-शस्त्र सब कुछ की शिक्षा देती हैं। यही कारण है कि वशिष्ठ भी सीता के गुणों पर मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा कर उठते हैं।[३] वे एक सद्गृहिणी की भाँति अपने परिवार के अन्य लोगों के साथ भी सद्व्यवहार करती हैं! जिस समय लक्ष्मण आश्रम में सीता को छोड़ आते है, उस समय भी उनके कथन में गम्भीरता और महानता दिखाई पड़ती है, चीख, चिल्लाहट, हाहाकार या भर्त्सना नहीं।[४]

---

१ अधिक शिथिलता गर्भ भार जनिता रही,
फिर भी परहित सा सर्वदा वे मिलीं।
कर सेवा आश्रम तपस्विनी वृन्त की।
वे कब नहीं प्रभात कमलिनी सी खिलीं।

—त्रयोदश सर्ग, पद ३

२ जो पापिनी प्रवृत्ति न लंकापति की होती,
क्यों बढ़ता भू-भार मनुजता, कैसे रोती।।

—प्रथम सर्ग, पद ४८

३ सती सिरोमणि पति परायण पूत थीं।
वह देवी है दिव्य विभूतियों से भरी।।
है उदारतामयी सुचरिता सदव्रता।
जनक सुता है परम पुनीता सुरसरी।।

—सर्ग चार, पद ६०

४ उसी पूत पद पोत, सहारे। विरह उदधि को पार करूँगी।
विधु सुन्दर कर वदन ध्यान कर। सारा अन्तर तिमिर हरूँगी।।
सर्वोत्तम साधन हैं उरमें, भव हित पूत भाव का भरना।
स्वाभाविक सुख लिप्साओं में। विश्व प्रेम में परिणत करना।

—सप्तम् सर्ग, पद ७५-७५

वैदेही वनवास की सीता अत्यन्त भावुक है। प्रकृति के प्रतिनिधि उसमे भावुकता का संचार करते है। वियोग के अवसर पर चाँद उसे जलाता है, बादल संतप्त बनाता है और इस तरह उसके मन-प्राण विकल हो जाते है।

वस्तुत: हरिऔध के प्रिय प्रवास की लोक-भावना ने वैदेही चरित्र को भी आदर्श की अत्यन्त उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित किया है, जिससे नारी के सभी गुणों का सहज समावेश हो गया है।

साकेत की सीता एक नवीन पार्शव में चित्रित की गई है। उसके चरित्र में गांधीवादी युग की झलक है। वह चित्रलिखित कपि को देखकर डरनेवाली या कठोर अवनि पर पैर नहीं रखने वाली कोमलांगिनी नही, वरन् अपने ही पैरों पर आप खडी होने वाली श्रमशीला है।[1] वह सिर्फ प्रियतमा ही नहीं, एक कुशल अर्द्धाङ्गिनी की तरह परामर्शदात्री भी है। वह अपनी सास या अन्यान्य गुरुजनों के साथ हाथ बँटानेवाली कुशल गृहिणी भी है।[2] गार्हस्थ-चित्रण के श्रेष्ठ कवि मैथिलीशरण गुप्त ने सीता के हास-परिहास का भी वर्णन किया है। उसकी कुशलता का एक चित्र चित्रकूट में मिलता है, जहाँ वह सम्पूर्ण साकेत-समाज का यथोचित सत्कार करती है और लाघव से लक्ष्मण को उर्मिला से मिलाती है। लक्ष्मी के रूप में सीता का वर्णन और उसकी मुक्ति के लिए साकेत का

---

१ अंचल पट कटि में खोस कछोटा मारे,
सीता माता थी, आज नई धज धारे।
* * *
औरों के हाथों यहाँ नही पलती हूं,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूं।

—अष्टम सर्ग, पृ० १५७-५८

२ मां क्या लाऊं, कह कहकर, पूछ रही रही थी रह-रहकर
सास-चाहती थी जब जो, देती थी, उनको तब सो।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ४२

उद्यतशील होना तत्कालीन भारतमाता को परतंत्रता की बेड़ी से छुड़ाने का प्रतीक-विधान है।[1]

सीता के हरण से लेकर परित्याग तक की कथा को साकेत मे विशेष महत्व नहीं है। लंका-विजय तक की कथा तो हनूमान के मुख से चलते ढंग से कह दी गयी है, लेकिन परित्याग की तो चर्चा भी नही है। इसका कारण इस कथा मे सीता की मर्मव्यथा है। उर्मिला और उसके वियोग को प्रमुखता देने वाले कवि के लिए सीता के इस पक्ष का वर्णन कथा और चरित्र-चित्रण के शिल्प के अनुसार अनुचित होता। साकेत जैसी पुस्तक में सीता के चरित्र का जितना और जैसा वर्णन हुआ है; वह अत्यन्त संतुलित और समीचीन है। परम्परा-स्वीकृत होकर भी इसके चरित्र में नवीनता है, जो न तो हमारे संस्कार को अरुचिकर लगती है और न अस्वाभाविक ही।

राधा—यों तो दशवीं शताब्दी के आस-पास रचे गये ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में 'स्वयं राधा कृष्ण पत्नी कृष्ण वक्षस्थललिता' राधा पहली बार कृष्ण की पत्नी के रूप में चित्रित हुई है किन्तु इसके पूर्व श्रीमद्भागवत के दसवें स्कन्ध में वह बिना किसी नाम के एक प्रिय गोपी के रूप में चित्रित हुई है, जो रास के बाद अन्तर्ध्यान हुए कृष्ण के साथ गई वर्णित है—'अनायाऽऽराधितो नूनंभगवान् हरिरीश्वरः। यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनमद् रहः।' कोई-कोई यह अनुमान करते हैं कि इसी 'आराधित' शब्द से राधा शब्द का प्रचार हुआ होगा। हरिवंश पुराण का काल अनुमानतः ईसा से पूर्व है, जिसमें कृष्ण के साथ गोपियों का उल्लेख है पर कृष्ण-कथा के आदि स्रोत भागवत् के साथ ही हरिवंशपुराण, विष्णुपुराण आदि में राधा के नाम का उल्लेख नहीं है। यों तो ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, वायु पुराण, वराहपुराण, नारदीय पुराण आदि की तरह मत्स्य पुराण में भी राधा का नाम आया है, किन्तु पुराणों में आये राधा के जितने उल्लेख हैं वे प्रायः प्रक्षिप्त हैं।[2]

---

१ भारत लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

—द्वादश सर्ग, पृ० २९०

२ पुराणों-उपपुराणों में, श्रुतियों-स्मृतियों पंत्रादि में राधा का उल्लेख है, उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता बिलकुल उड़ा देने की हमें हिम्मत न होने पर भी इन तथ्यों-प्रमाणों के आधार पर किसी विशेष ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुंचने में भी हम असमर्थ है।

—श्री राधा का क्रमविकास—डा० शशिभूषण दास गुप्त, पृ० ११

प्राचीन साहित्य में राधा का पहला उल्लेख हाल के प्राकृत ग्रन्थों के संकलन गाहासतसई में मिलता है, जिसका रचना-काल कोई-कोई ईसा की पहली सती और कोई २०० से ४०० ई० के बीच मानते हैं।

चाहे जो भी हो, १२ वीं शती में जयदेव के समय तक परमाशक्ति के रूप में राधा की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बहुत पूर्व ही राधा लोक-मानस में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और वह भावजगत की आराधिका बन चुकी थी।[1]

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की राधा न तो भक्तिकालीन मंजुल आराधिका है और न रीतिकालीन कामिनी, वह न तो जयदेव की विलासिनी युवती है, न विद्यापति की वय:सन्धि प्राप्त भोरी सुन्दरी; और न वह चण्डीदास की कोमल-करुण परकीया ही है। उसमें सूर की राधा की भक्ति और श्रृंगार-भावना भी नहीं है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की राधिका तो शुद्ध मानवी है, जो लोक को भूल नहीं पायी है, जो प्रेम के साथ कर्त्तव्य के गहन भार को भी ढो सकने में समर्थ है। भक्ति और विलास के क्षेत्र से खींच कर राधा-भावना की आकाश-गंगा शुद्ध मिट्टी पर उतारी गयी है। प्रियप्रवास और कृष्णायन में चित्रित राधा का यही स्वरूप उसकी विशिष्टता है।

प्रियप्रवास की राधा के प्रेम का क्रमिक विकास दिखलाया गया है। सूर की भाँति ही हरिऔध के राधा-कृष्ण का प्रेम भी बाल्यावस्था में ही अंकुरित हुआ है।[2]

---

१ ब्रजभाषा काव्य के प्रारंभ काल में राधा और कृष्ण इतिहास या तत्त्व की चीज नहीं रह गये थे। वे सम्पूर्णतः भावजगत की चीज ही गये थे। भक्ति, प्रेम और माधुर्य की नाना सम्पदाओं से विचित्र यह युगल मूर्ति, ईश्वर का रूप तो थी पर उस ईश्वर में वैदिक देवताओं का संभ्रम नहीं था, ग्रीक अपोलों की भीति नहीं थी, इस्लामी खुदा की तटस्थता नहीं थी। दार्शनिक ईश्वर की अद्भुदता तों एकदम नहीं थी; था एक सहज सरल घरेलू सम्बन्ध।

—सूर-साहित्य, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० २१

२ जब नितान्त अबोध मुकुन्द थे,
विलसते जब केवल अंक में

× × ×

छविवति दुहिता बृषभानु की,
निपट थी जिस काल पयोमुखी

× × ×

रूपमती राधिका और श्याम सलोने कृष्ण की परस्पर अनुरक्ति दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है—

यह विचित्र-सुता वृषभानु की
बृज विभूषण में अनुरक्त थी
*　　*　　*
युगल वय साथ स्नेह भी,
निपट-नीरवता संग था बढ़ा ।
फिर यही बर-बाल स्नेह ही
प्रणय में परिवर्त्तित था हुआ ।।[1]

राधा अनिन्द्य सुन्दरी है । हरिऔध ने उसके अंगो की माधुरी का सूक्ष्म चित्र अंकित किया है —

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बनना ।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली ।
शोभा वारिधि की अमूल्य मणिसी लावण्य-लीला-मयी ।
श्रीराधा मृदु भाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्त्ति थीं ।
*　　*　　*
हर्षोत्फुल्ल मुखारविन्द गरिमा सौन्दर्य आधार थी,
राधे की कमनीय कान्त छवि थी कामांगना मोहिनी ।[2]

उसका सौन्दर्य आन्तरिक भी है—वह दया की प्रतिमूर्त्ति और परोपकार के लिये प्रस्तुत प्रीति की देवी है—

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता-सर्वत्र सम्मानिता,
रोगी वृद्ध जनोपकारनिरता सच्छास्त्र चिन्तापरा ।

यह अलौकिक बाल बालिका ।
जब हुए कल-क्रीड़न योग्य थे,
परम तन्मय हो बहु प्रेम से
तब परस्पर थे वह खेलते ।

चतुर्थ सर्ग, पद, ११-१३

१ चतुर्थ सर्ग, पद १६

२ चतुर्थ सर्ग, ४-७

सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-संपोषिका ।
राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति रत्नोपमा ।[१]

राधा का जीवन आदर्श होकर भी अस्वाभाविक नही है, क्योकि मानवीय सहज दुर्बलताओं का बलिदान नही किया गया है । राधा का जीवन लोक-हिताय समर्पित होकर भी कृष्ण की स्मृति से भीगा-भीगा रहता है, उसमें कर्त्तव्यपरायण नारी की निर्लिप्तता और दृढ़ता ही नही, एक वियुक्ता की कोमलता भी है—

निर्लिप्तता और यद्यपि अति ही संयता नित्य मैं हूँ,
तो भी होती व्यथित अति हूँ श्याम की याद आते ।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती,
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ।[२]

वह भी भ्रमर से उलाहना देना नहीं भूलती है—

जब हम व्यथिता हैं इदृशी तो मुझे क्या
कुछ सदय न होना चाहिये श्याम बन्धो ।
प्रिय निठुर हुए हैं दूर होके दृगों से,
मत निठुर बन तू सामने लोचनों का ।[३]

स्मृति की तीव्र आँच में जलकर उसका जीवन कुन्दन भले ही बन गया है, पर आह की लौ की ज्वाला वह कैसे भूल सकती है—

जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था,
तब स्मृति रचने में कौन सी चातुरी थी ।
यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया,
वपन पटु कुपीड़ा बीज प्राणी उरों में ।

नारी की कुछ दुर्बलताएँ ऐसी होती हैं जो उसे रमणीय और कमनीय बनाती हैं । राधा अपने प्यार-वंचित हृदय की अश्रु-लिखित कथा को उद्धव से बड़ी करुणा के साथ सुनाती है—

---

१ वही, ८
२ षोड़श सर्ग, पद ५६
३ वही, ६८

मै नारी हूँ तरल उर हूँ प्यार से बंधिता हूँ?
जो होती हूँ विकल विमना, व्यस्त वैचित्र्य क्या है ?[१]

वह कभी हवा से संदेश देती है, कभी बादल से अपनी अकथ कहानी कहती है।

राधा के वियोग का उदात्तीकरण प्रियप्रवास की विशेषता है। दुखी मन ने विश्व के कोने-कोने में उस श्याम के रूप को प्रसारित देख लिया। साढ़े तीन हाथों के देहधारी श्याम सम्पूर्ण विश्व की व्याप्त विभूति बन गए—

हों जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला,
मैंने न्यारे परम-गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी मे अनुपम महा-विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम-प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।[२]

व्यष्टि का प्रेम समष्टि से एकाकार हो गया।[3]

शारीरिक मिलन की भाबना के तिरोहित होने पर प्रेम का विस्तार हो जाता है। उन वस्तुओ से भी शान्ति मिलने लगतीहै, जो कभी दुःखदायिनी प्रतीत होती थी। राधा भी अपने मन में ऐसी ही उच्च भावना पा रही है—

कंजों का या उदित शशि का देख सौन्दर्य आँखों
कानों द्वारा श्रवण करके गान मीठा खगो का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूं शान्ति सानन्द पाती
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली-नाद, जैसा उन्हें पा।[४]

श्रृंगार-भावना से शान्त भावना तक आते-आते राधा की साधना उच्च-भूमि पर प्रतिष्ठित हो गयी है। उसकी सात्त्विक वृत्ति सम्पूर्ण भावों को लोकरत बना देती है—

---

१ षोडश सर्ग, पद, ५०

२ षोड्ष सर्ग, पद, १०४

३ राधा ने सोचा—मै प्रेम करती हूँ—व्यक्तित्व से। तभी तो मुझे वियोग की वेदना है। फिर मैं क्यों न प्रेम करूँ समष्टि से जिसका मेरा व्यक्तित्व प्रेमपात्र केवल आंशिक प्रतिनिधि है। अतः मैं श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व से प्रेम न कर उनके समष्टिगत रूप परमात्मा से ही प्रेम करूँगी।

—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृ० ८७

४ षोड़श सर्ग, पद १०२

यों ही जो है अवनि नभ में दिव्य, प्यारा उन्हें में।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती, सूंघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उनमें भावतः श्याम को पा
न्यारी शोभा, सुगुन गरिमा साम्यता-अंग जाता ॥[१]

नवधा भक्ति की सर्वथा नयी व्याख्या राधा के माध्यम से हरिऔध ने की है। पाषाणी प्रतिमा की सेवा की अपेक्षा हाड़-चाम के जीवों की भक्ति ही श्रेयस्कर है। कवि ने श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वंदन, सख्य, दास्य और आत्म-निवेदन—इन सभी नवधा भक्ति की लौकिक और व्यावहारिक व्याख्या की है—

बना किसी की यक मूर्त्ति कल्पिता
करे उसी की पद-सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से
स्वयं उसी की पद-अर्च्चनादि के।[२]

इस तरह प्रियप्रवास को राधा विश्व की वियुक्त तथा व्यथित आत्माओं के लिए लोक-सेवा के एक नवीन व्रत का आदर्श प्रस्तुत करती है।

कृष्णायन की राधा का चरित्र-विकास नही हो सका है। वह कृष्ण की बाल-संगिनी के रूप में चित्रित की गयी है। यहाँ सूर के बाल-चित्रण और राधा-मिलन की झाँकी की नकल है—बस शब्दो का हेर-फेर किया गया है—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी
* * *
बूझत श्याम कौन तू गोरी
कहाँ रहित, काकी है बेटी,
देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी [३]
* * *
एक दिवस खेलत ब्रज खोरी।
देखो श्याम राधिका गोरी।

---

१ षोडश सर्ग, पद १०३

२ षोड़श सर्ग, पद ११६

३ सूरसागर, दशम स्कन्ध, १२६०-६१, सम्पादक, नन्ददुलारे बाजपेयी, नागरी प्र० सभा

पूछत श्याम-कहाँ तुम नामा ?
कौन पिता ? कवन तुव ग्रामा ?
पहिले कब हूँ न परी लखाई
आज कहाँ ब्रज खेलन आई ?[२]

सूरसागर और कृष्णायन में कितना साम्य है !

सूर के राधा-कृष्ण की भाँति ही कृष्णायन में भी दोनों बहाने कर-कर के मिलते[३] हैं और परस्पर प्रेम का व्यवहार करते हैं। राधा के प्रेम का विकास और कृष्ण-राधा का आध्यात्मिक स्वरूप दोनों ही सूर-सागर पर आधारित हैं। रास के बाद कृष्ण-राधा के स्वरूप की एकता का आभास मिलता है।[१]

---

२ कृष्णायन, अवतरण काव्य, पृ० ५४

३ सैननि नागरी समुझाइ।
खरकि आवहु दोहनी लौ यहै मिस छल लाइ।
× × ×
नन्द गये खरकहिं हरि लीन्हे
देखी तहाँ राधिका ठाढ़ी बोल लिये तिहिं चीन्हें।
सुनु बेटी वृषभानु महर की कीन्हहि लेई खिलाई।
सूर श्याम को देखे रहि हौ, मारे जनि कोउ गाई।
भली भई तुम्हें सौंपि गये मोहि, जान देहौं तुमको।
बांह तुम्हारी नेक न छाड़ों महर खीझि हैं हमको।
—सूर सागर, पद, १२८४, ८७, ८८।
× × ×
हर्षित हरि भाषेउ मुनि सैनन
'आयउ सांझ खरिक संग खेलन'
आईहौं-कहेउ प्रकट हंसि बाला
× × ×
तुम वृष भानु कुमारिका, खेलहु संग कन्हाय,
रहेउ विलोकत बाल मम, मारहि जनिकोउ गाय।
× × ×
अब छांड़हू नहिं तजहु कन्हाई
सौंपेउ तुमहिं मोहिं नन्द राई।
अवतरण काण्ड, पृ० ५५

१ हम दोउ एक, नांहि कछु भेदा,

राधा का नवीन या विस्तृत रूप कृष्णायन मे नहीं मिलता। कृष्ण चरित की नवीनता की दृष्टि से प्रियप्रवास अधिक महत्त्वपूर्ण है।

श्रद्धा

यद्यपि कामायनी का नायक मनु है, तथापि उसकी नायिका श्रद्धा का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली और कलात्मक है। कवि ने इस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए पुस्तक का नामकरण किया है। श्रद्धा को कामायनी कहा जाता है, क्योंकि वह कामगोत्र की बालिका मानी जाती है।[१] प्रसाद के इस विचार का आधार सायण का श्रद्धा-सूक्त का परिचय है—'कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्पिका'। श्रद्धा ऋग्वेद में सूर्य की पुत्री और मनु की पत्नी [२] मानी गयी है। विष्णु, वायु, मार्कण्डेय आदि पुराणों मे काम की उत्पत्ति श्रद्धा से मानी गयी है। कूर्मपुराण और तैत्तरीय ब्राह्मण[३] में भी इसका उल्लेख है। वेद की 'ऋषिका', उपनिषद् की 'आस्तिक बुद्धि' और शैव-दर्शन की 'मातृत्व रूपा' श्रद्धा प्रसाद की कवि-प्रतिभा से मिलकर नये रूप में प्रतिष्ठित हुई है। कवि ने ऐतिहासिक रूप की अपेक्षा उसके भावात्मक रूप को अधिक महत्त्व दिया है। उसे एक सुन्दर, कमनीय मादक और सहृदया नारी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। वह एक शक्ति, एक प्रेरणा बन कर आयी है। उसमें दया, ममता, मधुरता, विश्वास और त्याग की भावनाएँ हैं।[४]

कवि ने जहाँ एक ओर श्रद्धा के बाह्य रूप का चित्रण किया है[५], वहाँ दूसरी ओर उसके आन्तरिक रूप का भी उद्घाटन किया है। वह एक पूर्ण

कहत शकल निगमागम वेदा।
निवसति यथा चीर धवलाई
यथा हुताशन दाहकताई
बसत प्रिये। तस तुम मोहि मांही
तुमहि हिय मोरि गति नाही॥ —पृ० ९८

१ श्रद्धा कामगोत्र की बालिका है, इसीलिए श्रद्धा नाम के साथ उसे कामायनी भी कहा जाता है। —कामायनी का आमुख, प्रसाद, पृ० ३

२ ६-११३-३

३ १०-११-१५१

४ २-८८-८

५ नयन का इन्द्रजाल अभिराम
कुसुम वैभव में लता समान

नारी है। उसके अभाव में मनु का जीवन चिन्ता, अवसाद, ग्लानि और विध्वंस से भरा है। उसके संयोग से ही उनका आहत मन आनन्द के उच्च शिखर पर प्रतिष्ठित है। मनु का जीवन श्रद्धा के बिना अपूर्ण है, पथ-भ्रष्ट है।

श्रद्धा और मनु के पारिस्परिक सम्बन्ध की अविच्छिन्नता के महत्त्व को कवि भली भाँति समझता है। एक यदि गृहपति है तो दूसरा 'अतिथिविगत विकार', फिर एक यदि 'प्रश्न है तो दूसरा उत्तर'। और इस तरह एक दूसरे से पूर्णतः सम्बद्ध हैं—

एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार,
प्रश्न था यदि तक तो उत्तर द्वितीय उदार।
एक जीवन सिन्धु था, तो वह लहर लघुलोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।
एक था आकाश वर्षा का सजल उद्दाम,
दूसरा रञ्जित किरण से श्री कलित घनश्याम।[2]

काम की उपयोगिता और सृष्टि-निर्माण का महत्त्व भी श्रद्धा ही मनु को समझाती है—

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छाका है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

—श्रद्धा सर्ग, ४६, ४७

चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
*   *   *
नील परिधान बीच सुकुमार
खिल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रंग
*   *   *
उषा की पहिली लेखाकान्त
माधुरी से भीगी भर मोद,
मदभरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक-द्युति की गोद।

२ वासना सर्ग, पृ० ८१

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल ।[1]

श्रद्धा मनु के जीवन के अभाव और भार को चिरसंगिनी बनकर दूर करना चाहती है, यद्यपि वह जानती है कि यह आत्म-समर्पण चिर बन्धन का ही दूसरा नाम है। नारी की दुर्बलता का रहस्य उसकी अतीव कोमलता और सुन्दरता है—कवि ने इस तथ्य का भी उद्‌घाटन किया है—

यह आज समझ तो पायी हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ,
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ ।[2]

पुरुष प्रेम की पवित्रता को ठुकरा कर जब वासना से प्रेरित होकर भटकता फिरता है, तब श्रद्धामयी नारी ही सद्‌वृत्ति का बोध करने की चेष्टा करती है। मनु सारे सुख को अपने में केन्द्रित कर आनन्द-लाभ करना चाहता है। वासना और कर्म सर्गों में मनु की इस सीमित स्वार्थ-भावना का परिचय मिलता है। अहंकार और वासना में फूले हुए मनु को भी जीवन का आदर्श मार्ग अपनाने की सलाह देने से श्रद्धा नहीं चूकती—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सबको सुखी बनाओ ।[3]

---

१ श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३
२ लज्जा सर्ग, पृ० १०४
३ कर्म सर्ग, पृ० २३२

नारी के तीन रूप—पत्नी, माता और विश्व-कल्याण के लिए सतत प्रयत्न-शील मानवी—श्रद्धा के जीवन में सहज ही मिल जाते हैं। पत्नी के रूप में वह श्रद्धामयी, सुदक्षिणा और प्रेम-स्वरूपा है। माता के रूप में उसके वात्सल्य की अभिलाषा गृहस्थी बसाते ही प्रकट हो जाती है—

ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण बन रहे घूम।
देखो नीड़ों मे विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम।

*　　*　　*

मनु चुप थे पर श्रद्धा बोली
देखो यह तो बन गया नीड़।
पर इसमें कलरव करने को
आकलन हो रही अभी भीड़।[1]

श्रद्धा के मातृत्व से उभरे हुए सौन्दर्य का जैसा सुन्दर चित्र प्रसाद ने खींचा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह,
आँखों में आलस-भरा स्नेह,
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका सी लिए देह।
मातृत्व बोझ से झुके हुए
बँध रहे पयोधर पीन आज।
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।[2]

इसी मातृत्व का विकास अखिल करुणामय रूप में हुआ है, जब वह सम्पूर्ण जीव-जगत के प्रति स्नेह-तरल है। मनु की हिंसा के प्रति घोर विरोध और अशेष ममता लिए वह विकल है—

ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अबला जगती के,

---

१ ईर्ष्या सर्ग, पृ० १४४ और १५०
२ वही, पृ० १४२

उनके कुछ अधिकार नहीं,
क्या वे सब ही हैं फीके।
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ लेना हो
हंत ! बची क्या शवता।[1]

जीवन-रण में हारे और प्रणय-लोक के, पलायनवादी मनु को श्रद्धा के प्यार के सामने झुकना पड़ा। उसे उसकी स्नेह-भावना कों उच्चता की स्वीकार करना पड़ा—

तुम अजस्र वर्षा सुहाग की
और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्ति जीवन यदि था तो
तुम उसमें संतोष बनी।
कितना है उपकार तुम्हारा
आश्रित मेरा प्रणय हुआ,
कितना आभारी हूँ, इतना
संवेदनमय हृदय हुआ।[2]

दर्शन सर्ग में आकर तो श्रद्धा के सर्व मांगलिक मातृ-मूर्त्ति की महत्ता को मनु ने खुले शब्दों में स्वीकार किया है—

तुम देवि ! आह कितनी उदार,
यह मातृ मूर्त्ति है निर्विकार।
हे सर्वमंगले ! तुम महती,
सबका दुख अपने पर सहती,
कल्याणमयी वाणी कहती,
तुम क्षमा निलय में ही रहती
मैं भूला हूं तुमको निहार
नारी-सा ही वह लघु विचार।[3]

---

१. कर्म सर्ग, पृ० १२९-३०
२. निर्वेद सर्ग, पृ० २२६
३. वही पृ० २४९

श्रद्धा के जीवन की उच्चता का एक और परीक्षा-स्थल है। जिस इड़ा के कारण मनु श्रद्धा से छिन गया और जिसके प्रति ईर्ष्या, जलन या दुर्भाव की स्थिति श्रद्धा के मन मे स्वाभावत: समझी जा सकती थी, उसे भी श्रद्धा ने प्यार, क्षमा और उदारता में बदल दिया। इडा के प्रति भी श्रद्धा ने प्यार दिखलाया एवं उसके साथ अपने एकमात्र पुत्र मानव को सौप कर अपने महान त्याग का परिचय दिया और इड़ा-मानव के सौहार्द्र से विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाया—

हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार,
हर लेगा तेरा व्याथा-भार
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय,
हर ले, हो मानव भाग्य उदय,
सब की समरसता कर प्रचार
मेरे सुत ! सुन माँ की पुकार।[1]

इस तरह प्रसाद ने श्रद्धा के जीवन मे नारीत्व के आदर्श की सम्पूर्ण उदात्त कल्पनाओं को एकाकार कर दिया है, जो लौकिक भी है, आध्यात्मिक भी और जो सत्यं, शिवं और सुन्दरं की पावन त्रिवेणी है। नारी के श्रद्धामय रूप का ऐसा उदात्त वर्णन विश्व-साहित्य में दुर्लभ है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल मे,
पीयूष-स्रोत सी बहा करा
जीवन के सुन्दर समतल मे।[2]

मनु और श्रद्धा के माध्यम से विश्व-सृष्टि के निर्माण की यह कथा अपने में चिरपुरान है, चिरनवीन।[3]

---

१. दर्शन सर्ग पृ० २४४
२. लज्जा सर्ग, पृ० १०६

निरख के गति काल-कराल की
विषम आज उठी यह कल्पना

यशोधरा

यशोधरा अनूप रचित 'सिद्धार्थ' की नायिका है। इसका वर्णन पाँचवें सर्ग से प्रारम्भ होता है—उसके रूप-चित्रण से[1]। कुमार यशोधरा पर आसक्त होते हैं। फिर शास्त्र-स्पर्द्धा में विजयी होने पर सिद्धार्थ को यशोधरा जय-माल अर्पण करती है—

चली खिलाती कलकंज कामिनी,
विशुद्ध वासन्तिकता - शिरीरिणी,
विनम्र होके जय-माल-भार से
पुन: पुन: थी लचती कलाइयाँ।[2]

छठे सर्ग में इसके साथ ही विवाह और दाम्पत्य-विहार का वर्णन किया गया है—

यशोधरा - पाणि कुमार - हस्त में
विलोक आता मन में विचार था,
यथा कहीं कैरव-पुँडरीक ले
निशेष-गौरेश दिनान्त में मिलें।[3]

आमोद-प्रमोद के बाद नवें सर्ग में यशोधरा के सामने सिद्धार्थ के विरागी मन की एक झाँकी प्रस्तुत होती है—

---

१. छविमयी अति धन्य यशोधरा
विशिख से जिसने स्व-कटाक्ष के
श्रवण लौं का धनु तान के
शत किया मृग-राज-कुमार को।
विधि-विधान कहाँ जडता-भरा
वह महा चतुरा युवती कहाँ
विदित भेद हुआ, शिव-भीति से
मदन ने रति-रूप बना लिया। —सर्ग, पृ० ७३

२. सर्ग ६, पृ० ८५

३. वही, पृ० ८६

किस प्रकार बचे इससे, प्रिये
सतत यौवन का सुखा पा सकें।[१]

बारहवें सर्ग में यशोधरा के स्वप्न का वर्णन है। तेरहवे सर्ग में यशोधरा के विलाप का तथा सोलहवे सर्ग मे आदि से अन्त तक विरह-दशा का वर्णन है। सत्रहवें सर्ग मे यशोधरा से भगवान बुद्ध का मिलन होता है। इस तरह यशोधरा के सौन्दर्य-शृंगार, आनन्द-अभिसार और वियोग-वर्णन में उसका चित्रण समाप्त हो जाता है। इन तमाम वर्णणों में परम्पराभुक्त चित्रणों की भरमार है। यशोधरा के मातृत्व और राहुल के अस्तित्व के कारण उसके विरह की गभीरता नही मिलती।

यशोधरा के जिस विस्तृत और उदात्त रूप का चित्रण मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा में किया है, उसका सिद्धार्थ में अभाव है। यद्यपि यशोधरा महाकाव्य नहीं है, तथापि वहाँ यशोधरा के चरित्र-विकास पर गुप्तजी का विशेष ध्यान है। इसका एक कारण दृष्टिकोण का अन्तर है। गुप्तजी ने यशोधरा के जीवन-गान को ही लक्ष्य बनाया है; पर सिद्धार्थ में वह एक नायिका है, मुख्य चरित्र सिद्धार्थ का हे। दूसरा कारण दोनों कवियो की प्रतिभा का अन्तर है। कवि गुप्त और कवि अनूप की भावुकता और कल्पना-शक्ति का अन्तर उन स्थलों पर स्पष्ट हो जाता है, जहाँ एक-से प्रसंग वर्णित हैं। सिद्धार्थ के नवें सर्ग मे विश्व की नश्वरता का—वृद्ध और मृत व्यक्तियों को देखकर राजकुमार मे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का वर्णन है—

जरठ हो रस-रूप-विहीन हो,
नमित हो, अति शीर्ण शरीर हो,
दिवस एक सभी, तुम और मैं
निधन-प्राप्त, प्रिये, बन जायेंगे।[२]

यही वर्णन यशोधरा के सिद्धार्थ सर्ग में भी आया है—

देखी, मैंने आज जरा।
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा ?

---

१. सर्ग ९ पृ० १३१
२ पृ० १३१

रिक्त मात्र है क्या सब भीतर, बाहर भरा-भरा ?
कुछ न हुआ—यह सूना भव भी यदि मैंने न तरा ।[1]

जैसी काव्यात्मकता, संक्षिप्तता और कलात्मकता यशोधरा मे है, वैसी सिद्धार्थ में कहाँ ! शिल्प की दृष्टि से जहाँ अनूप कवि ने एक ही छंद में उपदेशात्मक शैली मे वर्णन किया है, वहाँ गुप्तजी ने भिन्न-भिन्न भावों को विभिन्न छंदों में गीतों द्वारा व्यक्त किया है ।

'सिद्धार्थ' में यशोधरा के कामिनी-रूप को जितना प्रश्रय दिया गया है, उतना अन्य रूपों को नहीं । वह सिद्धार्थ के जीवन को राग-रंग से भरने में ही व्यस्त रहती है । उसमें गुप्तजी की यशोधरा के मानिनी और अनुरागिनी रूपों की उदात्तता नहीं है । कहीं-कहीं तो शृंगार-वर्णन के कारण हल्कापन दीखता है । रात में सिद्धार्थ के अचानक उठ जाने पर यशोधरा अनेक रीतियों से उसे मुग्ध करने का प्रयास करती है—

सिद्धार्थ जाग पड़ते यदि यामिनी में,
तो राग-रंग रच के वह यो रिझाती,
उन्मत्त स्वीय ख पै बन कोकिला-सी
वीणा-मृदंग पर मंजुल गान गाती
झंकार रंग-गृह में कर घुँघरु की
जंघा-नितंब-कुच-बाहु हिला-हिला के
वे हाव-भाव-युत नेत्र नचा-नचा के ।
हैं नाचती सुभग साज मिला-मिला के ।[2]

यहाँ उसका रूप एक सामान्य अप्सरा से अधिक ऊँचा नहीं है । सोलहवें सर्ग में वियोग की धारा परम्परायुक्त है । यह पता ही नहीं चलता कि वह माँ भी है, उसके साथ राहुल भी है और उसके सदेश भेजने, बोलते, रोते या गाते समय आस-पास पुत्र की छाया भी रही होगी । पर राहुल का ध्यान गुप्त की 'यशोधरा' की वेदना को गंभीर बना देती है ।[3] तात्पर्य यह कि सिद्धार्थ की यशोधरा एक सामान्य कोटि की नायिका है, भगवान बुद्ध की पत्नी की उच्चता या राहुल-जननी की उदात्तता का उसमें सर्वथा अभाव है ।

---

१ यशोधरा, पृ० १३
२ सर्ग, ७ पृ७ १०२
३ चेरी भी वह आज कहाँ, कल थी जो रानी,
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यो मन यह मानी ?

अन्य लघु पात्र-पात्रियाँ

तारें न हों तो चाँद को 'तारापति' कौन कहे ! बड़ों की महत्त्वपूर्ण-गाथा के निर्माण में छोटों के भी हाथ रहते हैं। 'रहिमन देख बड़ेन को लघु न दीजिए डारि, जहाँ काम आवे सुई, काह करे तरवारि'—जैसे कथन में भी लघु के इसी महत्त्व को आँका गया है। महाकाव्य में नायक या महच्चरित्र, नायिका या प्रधान पात्री के अतिरिक्त ऐसी छोटी-छोटी पात्र-पात्रियाँ भी होती हैं, जिनके बिना उसका प्रणयन संभव नहीं हो सकता। इन पात्र-पात्रियों के द्वारा कवि शिल्प-विधि के क्षेत्र में निम्नलिखित कार्य करते हैं—

१—ये पात्र-पात्रियाँ घटना-चक्र को आगे बढ़ाती है। जैसे—कामायनी की इड़ा। यह बुद्धिमती और अहं तथा स्वाधिकार के प्रति सदैव तत्पर एक नारी है। यह अनुशासन करना चाहती है, अनुशासित होना नहीं। मनु के आकर्षण का केन्द्र बनकर यह कथा को आगे बढ़ाती है। साकेत का हनूमान भी कथा को आगे ले चलता है। उसके कारण ही रामायण की लंका में घटित घटनाओं को साकेत में वर्णित होने का अवसर मिलता है। ऐसे ही लघु किन्तु मर्मी पात्रों और पात्रियों में प्रियप्रवास की यशोदा, साकेत सन्त की कैकेयी, रश्मिरथी की कुन्ती आदि हैं।

२—ये लघु चरित्र मानव की भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियों और रूपों (टाइप) का प्रतिनिधित्व करते हैं; जैसे कमायनी का प्रत्येक चरित्र एक-एक प्रतीक है। लघु पात्रों में किलात-आकुली आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। नूरजहाँ की सर्व सुन्दरी पातिव्रत्य की उच्चता की तथा जमीला वासना की प्रतिमूर्त्ति हैं।

३—ये चरित्र नायक-नायिकाओं के गुणों को विकसित होने के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करते हैं। साकेत में कैकेयी-मंथरा न होती, तो राम को सुपुत्र बन राज्य त्यागने, लक्ष्मण से उर्मिला को वियुक्त होने आदि का अवकाश कहाँ होता ! एकलव्य में द्रोण उपेक्षा न करता और अर्जुन ईर्ष्या न करता तो एकलव्य की साधनाओं में निखार कहाँ से आता ! रश्मिरथी में कुन्ती, अर्जुन और इन्द्र न होते, तो कर्ण के महादानोंके अवसर कहाँ आते !

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।
मेरा शिशु-संसार वह, दूध पिये, परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम, प्रभो रुष्ट या तुष्ट हो।

—पृ० ४७

४—ये चरित्र भिन्न-भिन्न भावो को विकसित होने और कवि के दृष्टि-विस्तार में सहायक होते है। जैसे एकलव्य मे नागदन्त के बहाने एकलव्य की आन्तरिक भावनाओं का प्रकाशन होता है। प्रियप्रवास मे राधा के माध्यम से वात्सल्य-रस की अभिव्यक्ति होती है। साकेत के पंचम सर्ग मे निषाद के माध्यम से दास्य भक्ति और लक्ष्मण द्वारा उसके उपदेश दिए जाने के माध्यम से दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है।

५—छोटे-छोटे मार्मिक चित्रों और मनोभावों की विभिन्न तरंगों को व्यजित करने में ये चरित्र निमित्त बनते है। उदाहरणार्थ साकेत के दो चित्र देखे जा सकते हैं:—मूक-मुद्रा-चित्रण के लिए राज-प्रासाद के भृत्य[1] और तन्मयता की स्थिति में सब कुछ खोकर चौकने की क्रिया की व्यंजना के लिये निषाद राज।[2]

शिल्प-विधि की दृष्टि से आकर्षण-केन्द्र का निर्माण

प्रत्येक महत्त्वपूर्ण चरित्र के जीवन में आकर्षण एक ऐसा स्थल होता है, जहाँ उसकी चारित्रिक विशेषताएँ एक कठिन निकष पर चढ़ जाती हैं। इस स्थल को चारित्रिक केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।[3] ऐसे स्थलों पर पहुँचकर पाठकों के मन भाव-विमुग्ध हो जाते हैं। कामायनी में जब आहत मनु के पास पहुँच कर श्रद्धा उलाहना, घृणा, उपेक्षा आदि के स्थान पर प्रेम-विभोर हो 'तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन' गाने लगती है—तब मन में

१ झुकाकर सिर प्रथम फिर टक लगाकर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

—तृतीय सर्ग, पृ० ६६

२ सिर गुहने हँस उन्हें हँसाकर नत किया,
प्रभु ने तत्क्षण उसे अंक में भर लिया।
चौंका वह इस बार, देखकर राम को—
शैवलपरिवृत्त यथा सरोरुह श्याम को।
ऐं! ये बल्कल! दृष्टि कहाँ मेरी रही?
कौतुक! अब तक देख न पायी वह यही।

—पंचम सर्ग, पृ० ६८

३ प्रत्येक सफल और कलापूर्ण पात्र या चरित्र में कोई न कोई आकर्षण एवं प्रकाश का एक विन्दु अवश्य रहता है—उसी प्रकार जैसे किसी भी उत्तम कथानक में कोई न कोई एक मुख्य प्रभाव का स्थल होता है।

—कहानी का रचना-विधान, डा० जगन्नाथ प्र० शर्मा, पृ० ९२

एक पूत भाव का संचार होने लगता है और श्रद्धा के प्रति पाठकों की श्रद्धा भावना और बढ़ जाती है। ऐसे स्थलों के निर्माण और निर्वाह के लिये कवियों के शिल्प की परीक्षा भी हो जाती है कि कौन किस भाँति अपने चरित्र के इस भावपूर्ण स्थल का चित्रण करता है। इनमें विशेष कौशल की आवश्यकता पड़ने का एक कारण यह भी है कि ऐसे समय में आदर्श-निर्माण के हाथों यथार्थ को गला घोटे जाने का भय होता है। सभव है कि ऐसे समय मे कवि की भावुकता उसे अनावश्यक रूप से बहा ले जाये। उस काल में वाणी के नियंत्रण ओर नाटकीय कौशल की विशेष आवश्यकता होती है। रश्मिरथी मे इन्द्र द्वारा कवच और कुंडल माँगे जाने के समय कर्ण की स्थिति का दिनकर ने एक आदर्श प्रसंग होते हुए भी कितना सहज वर्णन किया है! मानव के गौरवपूर्ण आख्यान को कवि ने कितना ऊँचा उठाया है! पर इसके लिते जिस शिल्प को कवि ने अपनाया है, उसमें नाटकीयता और व्यंग्य पूर्ण शैली का बहुत बडा हाथ है!—

कवच और कुंडल! विद्युत छू गयी कर्ण के तन को।
पर कुछ सोच रहस्य, कहा उसने गँभीर कर मन को।
समझा, तो यह और न कोई, आप स्वयं सुरपति हैं,
देने को आये प्रसन्न हो तप में नयी प्रगति है।
धन्य हमारा सुयश आपको खीच मही पर लाया।

केवल गंध जिन्हें प्रिय, उनको स्थूल मनुज क्या देगा?
और व्योमवासी मिट्टी से दान भला क्या लेगा?
फिर भी देवराज भिक्षुक बनकर यदि हाथ पसारे
जो भी हो, पर, इस सुयोग को हम क्यों अशुभ विचारें?[1]

इसी प्रसंग को अंगराज में आनन्दकुमार ने उपयुक्त शिल्प के अभाव में प्रभावशाली नहीं बनाया है। नवें सर्ग में भगवान सूर्य स्वप्न में आकर पहले ही सारी बातें समझ-बुझा जाते हैं—

दिन नायक हो गए विदा तब अन्तिम ज्ञान उसे यह देकर।
निद्रा भग्न हुई भूपति की सुप्रभाव हो गया मनोहर।

---

[1] चतुर्थ सर्ग, पृ० ६२

करता स्वप्न विचार निरंतर सत्य मान उसको मन ही मन।
गंगा-तट की ओर चला वह करने आत्मदेव का वन्दन।[1]

अत: न पाठकों को कोई उत्सुकता रह जाती है, न घटना मे नाटकीयता आ पाती है और न व्यंग्य या वाग्विदग्धता की गुंजाइश रह पाती है। स्वप्न-योजना का यह शिल्प आराज मे निरर्थक सिद्ध होता है।

नाटकीय शिल्प का निर्वाह

नाटकीय शिल्प का अपूर्व निर्वाह चारित्रिक केन्द्र-विन्दु के प्रसंग मे डा० रामकुमार ने एकलव्य की दक्षिणा के प्रसंग में किया है। सर्वाधिक त्याग और चारित्रिक उत्कर्ष का केन्द्र-विन्दु एकलव्य की दक्षिणा में अंगुष्ठ-दान ही है। सामान्य व्यक्ति के लिये अंगूठे का दान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नही है, लेकिन एकलव्य जैसे तीरन्दाज के लिये अंगूठे का दान एक अद्वितीय त्याग है। उस परिस्थिति का नाटकीय विधान अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन गया है—

आपने अभी कहा है किस आर्त्त वाणी मे—
तुम नही वत्स! यह समय ही शूद्र है।
जिसका कि दक्षिणांगुष्ठ शक्तिशाली बन
निन्दा के नाराच छोडता है उग्रवेग से
जिससे कि खंड-खंड गुरु का हृदय है।
गुरु का हृदय खड-खंड हो, असभव
दक्षिणांगुष्ठ ही हो खंड-खंड मेरा जो कि
पार्थ को बनावे अद्वितीय धन्वी विश्व मे
गुरु-प्रण-पूर्त्ति करें सब काल के लिए,
जय गुरुदेव! यह रही मेरी दक्षिणा।[2]

कदाचित इसी कारण एक आलोचक ने डा० रामकुमार के नाटककार और कवि दोनों रूपों का उत्कर्ष माना है।[3]

---

१ पृ० १०६

२ दक्षिणा सर्ग, पृ० २९५-९६

३ इस कोमल नाटकीय चरम स्थिति पर·········कवि ने एक अत्यन्त मर्मभेदी दृश्य भी उपस्थित किया है। यह दृश्य करुणा का शीर्ष विन्दु है।······ इस प्रकार एकलव्य में कवि रामकुमार के साथ, नाटककार रामकुमार ने भी पूर्ण अभिव्यक्ति पायी है।
—धर्मयुग, ४ दिसम्बर, ६०, डा० मोहन

गतिशील और स्थिर चरित्र

आधुनिक महाकाव्यों में भी गतिशील और स्थिर दोनों प्रकार के चरित्र आये हैं। गतिशील, परिवर्त्तनशील या उच्च चरित्र जीवन में प्रतिक्रिया-स्वरूप बदलते हैं। वे प्रारंभ में यदि बुरे हैं, तो बाद को भले बनते हैं, या इसी तरह भले से बुरे बन सकते है। उदाहरणार्थ कामायनी के मनु और तारक-वध के तारकासुर को देख सकते हैं, जिनमें प्रथम हिंसा, वासना आदि की क्षुद्रताओं से छूटकर आदर्शमय आनन्द-लोक में जा पहुँचा है और दूसरा का हृदय-परिवर्त्तन हो जाता है।

दूसरे प्रकार के चरित्र को स्थिर अपरिवर्त्तनशील या समगति चरित्र कहते हैं जो आदि से अन्त तक एकरस रहते हैं। अंगराज और रश्मिरथी का कर्ण, साकेत के राम-सीता और लक्ष्मण आदि ऐसे ही नायक हैं।

वेश-भूषा—पात्रों की वेश-भूषा का जैसा संकेत नाटकों में होता है, वैसा अन्यत्र नही। लेकिन कभी-कभी व्यक्तित्व के प्रभावोत्पादक वर्णन के लिये वेश-भूषा का वर्णन महाकाव्यों में भी किया जाता है। ये वर्णन कई कारणों से आते हैं:—(१) चित्रमयता के लिये[1], (२) सौन्दर्य-वृद्धि या नवीन उद्भावना[2] या प्रभावोत्पादकता के लिये (३) आलंकारिकता के लिये[3] (४) तत्कालीन वेश-भूषा के परिचय के लिये।[4]

---

१ अरुण पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?

—साकेत, प्रथम सर्ग १५

२ अंचल पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थी आज नयी धज धारे। —वही, अष्टम सर्ग, पृ० १५६

३ विराजता था कमनीय शीश पै
बना हुआ मंजु किरीट स्वर्ण का,
मनोज्ञता मंडित-मौर मध्य में
जडे हुए हीरक पद्मराग थे।
मृगांक के मंजुल मौलि पै यथा
विभाग हो आतप युक्त व्योम का,
विमुग्ध हो कौतुक से जहाँ लसे
प्रकाशते तारक सर्व रोदसी। —सिद्धार्थ, सर्ग ६, पृ० ८६-८७

४ छँटे केश पर कसे पुष्प पट देह दक्षिणी यवनी दल,
दृष्टि डालताहुआ चतुर्दिक आगे-आगे गया विकल। —विक्रमादित्य, पृ० १५

पात्र-प्रवेश—पात्र-प्रवेश की कला भी महाकाव्यों के चरित्र चित्रण में महत्त्व रखती है। कौन पात्र, किस तरह, कब कथा के बीच उपस्थित किया जाय इसके लिये भी शिल्प-विधि के प्रयोग किये जाते हैं। ये शिल्प-विधियाँ कई प्रकार की होती हैं—(१) नाटकीय, (२) वर्णनात्मक, (३) अप्रत्यक्ष विधि।

पहली प्रणाली में हठात एक चित्र के साथ पात्र का व्यक्तित्व हमारे सामने आता है। कुरुक्षेत्र के प्रारम्भ में युधिष्ठिर का प्रवेश[1] और एकलव्य के प्रारम्भ में एकलव्य का प्रवेश[2] नाटकीय-शिल्प के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हैं। वर्णनात्मक शिल्प का आश्रय लेने वाले कवि वातावरण, पृष्ठभूमि प्रकृति या व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए पात्र को उपस्थित करते हैं, जैसे कामायनी के प्रारम्भ में मनु का प्रवेश[3]। तीसरी प्रणाली की यह शिल्पात्मक विशेषता है कि दो पात्रों के वार्तालाप, स्वप्न-योजना या अन्य किसी रीति से किसी तीसरे पात्र को, जो वहाँ प्रत्यक्षतः उपस्थित नहीं होता है, चरित्र-चित्रण द्वारा उपस्थित किया जाता है। 'अंगराज' में आनन्द-कुमार ने इन्द्र को पहलीबार स्वतः उपस्थित न कर कर्ण के स्वप्न में सूर्य के कथन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से उसे उपस्थित किया है।[4]

---

१ वह कौन रोता है वहाँ—
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है। —प्रथम सर्ग, प्रथम पृ०

२ अनुपम गति से······कैसे ?
अभिमंत्रित हो,
सीक ने विशिख रूप प्राप्त कर क्षण में
कूप में प्रवेश किया। —एकलव्य, प्रथम सर्ग, प्रथम पृ०।

३ हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छाँह,
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह। —प्रथम सर्ग, प्रथम, पृ०

4 इसे जानकर ही पांडव गण हैं हताश अतिशय भय कातर,
वे उनके हरणार्थ व्यग्र हैं सुरपति की सहायता लेकर।
तुम्हें सजग रहना विशेष है इस अनिष्ट कारी अवसर पर,
देना इन्हें न दान-रूप में यदि द्विजगत् मांगे देवेश्वर।
—नवां सर्ग, पद, ९-१० पृ० १०४।

लघु चरित्रों की सम्बद्धता

प्रत्येक महाकाव्य के चरित्र एक दूसरे से सम्बद्ध होते है। नायक-नायिका का ही सापेक्ष्य महत्त्व नहीं होता, छोटे-छोटे पात्र भी एक दूसरे से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध होते हैं। जीवन के आदर्श और यथार्थ, मन की दुर्बलता और सबलता, राग और विराग, असत् और सत् सभी वृत्तियों और जगत के नाना कार्य-व्यापारों के सम्वाहक ये विविध पात्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं। कोई चरित्र तो ऐसा होता है, जो पतित से महान् बनता है, कोई महान् से पतित बनता है और कुछ ऐसे भी होते हैं जो लोकस्तर पर पहले तो व्यापक और ठोस दीखते हैं पर आदर्श के शिखर पर पहुँचते-पहुँचते दुर्बल हो जाते हैं।[१] आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के सारे चरित्र मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर चित्रित होकर नये युग के विविध दृष्टिकोणों को उपस्थित करते हैं।

---

१ Some men are like pyramids which are very broad where they touch the ground, but grow narrow as they reach the sky.

—Life Thoughts, Henry Ward Beecher, Page 132.



षष्ठ प्रकरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के संवाद

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के संवाद

संवादों का महत्त्व— संवाद, कथनोपकथन, सम्भाषण या वार्त्तालाप नाटकों का अनिवार्य तत्त्व है, किन्तु विशेष प्रसंगवश, कलात्मक उत्कर्ष के लिए इसका उपयोग उपन्यास, कहानी और महाकाव्य में भी किया जाता है। इस तत्त्व के कारण चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है।[1] साथ ही रचना के कुछ सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान भी इसके द्वारा होता है। पात्र-पात्रियों के भावों, विचारों, मनोवृत्तियों के विकास और विरोध का आभास इसके द्वारा प्राप्त होता है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार पर चित्रित पात्रों के विकास का बहुत बड़ा सहारा कथनोपकथन ही होता है।

कथनोपकथन, एक कला—कथनोपकथन अपने आप में एक कला है। लिखने की अपेक्षा वार्तालाप में कुछ कम कौशल की आवश्यकता नहीं होती। 'एडीसन' ने इसके लिए मन्तव्य की स्पष्टता आवश्यक मानी है।[2] तर्कपूर्ण अभि-भाषण की अपेक्षा सम्भाषण कठिन है, क्योंकि इसमें लाघव और मनोवैज्ञानिक सूझ की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसके सौंदर्य और कलात्मक स्वरूप को समझने के लिए स्वयं इसकी व्यावहारिक रचना ही सहायक होती है।[3] संभाषण का स्वरूप इतना प्रांजल होता है कि हम सुगमता से यह जान लेते हैं कि वार्तालाप करने वाले व्यक्ति किस देश, वर्ग, मनोवृति, संस्कृति या देश-काल के हैं।

---

१. कथोपकथन भी चरित्र-चित्रण का एक साधन सिद्ध होता है।

—साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दर दास, पृ० ११९

२. Method is not less requiste in ordinary conversation than in writing, provided a man would talk to make himself understood. —The Spectator, No. 476, Addison.

३. संवाद अपने प्रकृततत्त्व, औचित्य और व्यावहारिक रचना से ही अपने सौंदर्य और आकर्षण को समझा देते हैं, उसमें तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन की उतनी आवश्यकता नही होती।

— कहानी का रचना- विधान. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, पृ० १२१

सम्भाषण-योजना से लाभ—संक्षिप्ततः महाकाव्यों में संभाषण-योजना के मुख्य लाभ निम्नलिखित हैं—

(१) सम्भाषण कथा-वस्तु को आगे बढ़ाते हैं।

(२) ये चरित्र-प्रकाशक होते हैं।

(३) ये स्वयं वार्त्तालाप करने वालों की मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं।

(४) ये वर्णनात्मक प्रसङ्गों के बीच उपयुक्त विराम-स्थल का सृजन कर चमत्कार-बोध कराते हैं।

(५) ये देश-काल आदि का आभास देते हैं।

(६) ये रचनाकार की वाग्विदग्धता और सूझ का अवसर देते हैं।

(७) ये रचनाकार के उद्देश्य को स्पष्ट करते हैं।

(८) ये पूर्वाभास द्वारा आनेवाली घटनाओं को पहले से आभासित कर देते हैं।

(९) इनसे दो पात्रों के परस्पर मन की थाह लेने के कौशल की व्यंजना भी होती है। कथा-वस्तु को आगे बढ़ाने के सिलसिले में रचनाकार घटनाओं और दृश्यों में सजीवता लाता है और उनके संगठन द्वारा कथा का विस्तार करता है। 'अन्तर की करनी सबै निकसै मुख की बाट' के अनुसार पात्रों द्वारा व्यंजित विचारों के माध्यम से हमारी निकटता उनसे बढ़ती है। यही एक माध्यम है, जिसके द्वारा पात्रों की जटिल परिस्थितियों और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण हो पाता है। इस तरह यह तत्व चरित्र-विस्तारक और चरित्र-प्रकाशक दोनों ही हैं। हम इसके द्वारा न केवल वर्तालाप में आलोचित किसी पात्र का परिचय पाते हैं, वरन् स्वयं बोलनेवालों के मनोभावों का भी स्पष्ट आभास हमें मिल जाता है।

वर्णनात्मक प्रसङ्गों के बीच कथोपकथन के आ जाने से मन को नयापन महसूस होता है, सुखद परिवर्त्तन का बोध होता है और आँखों के सामने एक चित्र-सा खड़ा हो जाता है। इससे पात्रों के देश-काल का परिचय इसलिए मिल जाता है कि वे पात्र जिस परिस्थिति और जिस वातावरण में होते हैं, उसका आभास दे देते हैं। साथ ही, दो पात्रों के विचारों के परस्पर

आदान-प्रदान के समय वाग्विदग्धता, व्यंग्य और लाघव की आवश्यकता पड़ती है, जिनके कारण रचनाकार को अपनी सूझ प्रदर्शित करने का अवकाश मिलता है। इसमें लेखक के उद्देश्य को स्पष्ट करने का अवकाश इसलिए रहता है कि वह पात्रों के मुख में अपनी जीभ डाल देता है और अपने अनुकूल वातावरण का निर्माण और कथन का उपयोग करा लेता है। इसके द्वारा बहुत सी घटनाओं की पूर्व सूचना और दो पात्रों के मन की थाह लेने के चारित्रिक कौशल के कारण रचनाओं में इसकी उपयोगिता बढ़ जाती है।

इस कला की प्राचीनता—महाकाव्यों के आदि स्वरूप के निर्माण में संवाद-सूक्तों का भी हाथ रहा है। सामूहिक लोक-गीतों में भी कथोपकथन के विभिन्न रूप मिलते हैं। सभी भाषाओं की वीरगाथा काल की रचनाओं में पर्याप्त नाटकीयता है। उनमें पात्रों के संभाषण जुड़े मिलते हैं।[१] आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में संभाषण-कला के उपयोग पर विशेष ध्यान दिया गया है, क्योंकि आज इस तत्त्व की उपयोगिता सर्वमान्य है।

संवाद-कला के शिल्प-विधायक तत्त्व

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में संवाद-कला के निम्नलिखित शिल्प-विधायक तत्त्व हैं:—

(१) उपयुक्त अवसर—किस अवसर पर संभाषण की आवश्यकता है, किस अवसर पर नहीं, इसका ज्ञान रखना आवश्यक है। उपयुक्त संभाषण चमत्कारवर्द्धक और अनुपयुक्त संभाषण हानिकारक होते हैं। वातावरण, घटना और अवसर के आधार पर ही उसकी विशेषता परिलक्षित होती है।

---

१ This dramatic objectivity can be seen in the large part given to speeches delivered by the different characters. Where ever Heroic poetry exists, speeehes are to be found and are among its peculiar glories.

× × × ×

The fascination of dramatic speeches is so great that some times they constitute almost complete poems, in which one or more of the characters tell in their own Lersons what happens. Heroic Poetry : C. M. Bowra, Page 31-32.

(२) **कथानक से प्रत्यक्ष रूप से सम्बद्ध होना**— ऐसा नही होने से कथानक के साथ उसकी पारस्परिक क्रमिकता निभ नही पायेगी और घटनाओं की सामंजस्यहीनता एवं असगति के कारण अनेक दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

(३) **पात्रानुकूलता**—घटनाओ के विकास और पात्रो के चरित्र से सम्बद्ध होने के कारण यह आवश्यक है कि सम्वाद पात्रों के चरित्र विचार, संस्कार, स्थिति और बौद्धिकता के अनुकूल हों। पण्डितो से मूर्खो जैसी बात और मूर्खो से ज्ञान की उक्तियाँ स्वाभाविक नहीं हो सकती।

(४) **स्वाभाविकता**—अस्वाभाविक वार्त्तालाप न तो पाठकों में रुचि उत्पन्न कर सकते हैं और न उनसे कवि के उद्देश्य सिद्ध हो सकते हैं। यह स्वाभाविकता बोलने की शैली, तथ्य अवसर आदि सबसे सम्बद्ध है।

(५) **क्षिप्रता, संक्षिप्तता और संयमितता**- क्षिप्रता, संयमितता और संक्षिप्तता कथनोपकथन के लिए इसलिए आवश्यक हैं कि लम्बे सम्भाषण या ऊल-जलूल प्रलाप रुचिकर नही हो सकते। कवि यदि अपने उपदेश या संदेश को पात्रों से कहलाते समय इसका ध्यान न दें, तो पाठकों को नीरसता और ऊब के बोध होते हैं।

(६) **प्रासंगिकता**— संभाषणों की योजना में प्रसंगों के पूर्वापर सम्बन्ध का ध्यान रखना भी आवश्यक है। इससे उनकी गम्भीरता और उपादेयता बढ़ जाती है।

(७) **सोद्देश्यता**—कथोपकथन सोद्देश्य हों, अर्थात् या तो वे घटना विस्तारक हों, या चरित्र-परिचायक, या कवि के संदेशवाहक, या किन्हीं मनोवृत्तियों के उद्घाटक या पूर्वाभास देनेवाले हों।

(८) **केवल सिद्धान्त प्रतिपादक न हों**—कवि के संदेशों और विचारों के वहन करनेवाले संभाषणों में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि वे कोरे सिद्धान्तों के प्रतिपादक न हों। मात्रा और औचित्य पर ध्यान न देने से इनमें अरोचकता आ जाती है।

(९) **नाटकीयता**— संभाषणों का सटीक, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उनमें नाटकीयता लाना आवश्यक है।

(१०) **व्यवधान**—पात्रों को बोलते-बोलते रुक जाना या एक की बात काट कर दूसरे का बोल उठना स्वाभाविक रोचकता को बढ़ाते हैं।

(११) सजीवता—संक्षिप्तता, भावपूर्णता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, कल्पनाशीलता आदि के द्वारा संभाषण में पर्याप्त सजीवता लायी जा सकती है ।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों से शिल्प-विधायक उदाहरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो के शिल्प-विधान मे प्राय: उपर्युक्त सभी उपकरणों का उपयोग किया गया है । हम नीचे कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

(१) **अवसर की उपयुक्तता**—सीता वन में जा रही हैं, उसके साथ दो पुरुष हैं । ग्रामवासियों को स्वाभाविक उत्सुकता होती है कि उनके साथ उसका क्या सम्बन्ध है । अत: इस अवसर पर साकेत में कवि को एक छोटा-सा संभाषण संयोजित करना आवश्यक लगता है ।[1] ऐसे ही धनुष-यज्ञ-प्रसङ्ग मे परशुराम के उपस्थित हो जाने पर राम और लक्ष्मण के साथ उनके संभाषण की आवश्यकता आ पड़ी है और रामचरित चिन्तामणि में इसकी अवतारणा की गई है ।[2]

(२) **कथानक के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध**—इस दृष्टि से कामायनी, साकेत, कृष्णायन, एकलव्य, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी आदि सभी रचनाएँ सफल हैं । श्रदा सर्ग में श्रद्धा और मनु का वार्तालाप दोनों के पारस्परिक परिचय के द्वारा कथा को आगे बढ़ाता है ।[3] कुरुक्षेत्र मे अनिवार्य रूप से भीष्म और युधिष्ठिर के वार्तालाप के द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक का ही प्रणयन संभव हो सका है ।

---

१. शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?
गोरे देवर, श्याम उन्हींके ज्येष्ठ है ।

—पंचम सर्ग, पृ० १०६

२. राजाओं के लिए काल । मैं महाराज हूँ,
विप्र-शत्रु के लिए भयङ्कर धर्मराज हूँ ।
शंकर का वरदान तुम्हे मैं दिखलाऊँगा,
शस्त्रास्त्रों की कला तुम्हे मैं सिखलाऊँगा ।
रघुवंशी से कभी नहीं यदुवंशी कम हैं,
जब तक मैं हूँ शान्त तभी तक तुममें दम है ।

—चौथा सर्ग, पृ० ४५-४६

३. कामायनी, पृ० ४५-५६

(३) पात्रानुकूलता—कामायनी के मनु की उक्ति में निराशा, सांसारिकता, वासनात्मकता;[1] श्रद्धा की उक्ति में करुणा, कोमलता और आत्म-विश्वास;[2] किलात-आकुलि के कथन में हिंसात्मकता और लोलुपता[3] और इड़ा के कथन में अधिकार-प्रमत्तता और व्यावहारिकता है।[4] इसी तरह साकेत के

---

१. कहा मनु ने नभधरणी बीच, बना जीवन रहस्य निरुपाय।
एक उल्का सा जलता भ्रान्त, शून्य में फिरता हूँ असहाय।

—श्रद्धा सर्ग, पृ० ४८

आकर्षण से भरा विश्व यह, केवल भोग्य हमारा।
जीवन के दोनों कूलों में, बहे वासना-धारा।

—कर्म पृ० १०८

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी, श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का तो, वही चरम सब कुछ है।"

—वही, पृ० १३०

२. कहा आगन्तुक ने सस्नेह—अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठे जीवन का दाँव, जीतते मर कर जिसको वीर।

—श्रद्धा, पृ० ५५

सुख अपने सन्तोष के लिए, संग्रह मूल नहीं है,
उसमें एक प्रदर्शन जिसको, देखें अन्य, वही है।

—कर्म, पृ० १३३

चिर विषाद विलीन मन की, इस व्यथा के तिमिर वन की।
मैं उषा सी ज्योति रेखा कुसुम विकसित प्रात रे मन।

—निर्वेद, पृ० २१७

३. क्यों किलात ! खाते-खाते तृण, और कहाँ तक जीऊँ।
कब तक मैं देखूँ जीवित पशु, घूँट लहू का पीऊँ?

—कर्म, पृ० १११

४. वह बोली "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल,
स्वागत ! पर देख रहे हो तुम यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश।
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा,
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।

—इड़ा, पृ० १६६

राम के कथन में गम्भीरता;[1] सीता की उक्तियों में पवित्रता;[2] उर्मिला के कथन में करुणा और मधुरता;[3] सुमन्त के कथन में ज्ञान-गरिमा;[4] लक्ष्मण के कथन में उग्रता[5] और कैकेयी के कथन में कठोरता तथा पश्चाताप है।[6] प्रारम्भिक सर्ग

१, बोले श्रीमद्रामचन्द्र सविषाद यो–
"उठो प्रजा-जन, उठो तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम ?
—पंचम सर्ग, पृ० ६०

२. देवर, न रुलाओ आह, मुझे रोकर यों,
कातर होते हो तात, पुरुष होकर यों ?
स्वयमेव राज्य का मूल्य जानते हो तुम ?
क्यो उसी धूल में मुझे सानते हो तुम ?
मेरा मंडल सिन्दूर-विन्दु यह देखो,
सौ-सौ रत्नों से इसे अधिक तुम लेखो।
—अष्टम् सर्ग, पृ० १६०

३. साल रहा सखि, माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोली जब वे मुझसे—मिला न वन ही न भवन ही मुझको।
—नवम् सर्ग, पृ० १६०

४. सचिव फिर बोले उठाकर हाथ—
"सब रहस्य जहाँ छिपे हैं रम्य।
योगियों का भी वहाँ क्या गम्य,
मार्ग है शत्रुघ्न, दुर्गम सत्य,
तुम रहो उनके यथार्थ अपत्य।
—सप्तम् सर्ग, पृ० १३३

५. भाभी, भय का उपचार चाप यह मेरा।
दुगुना गुणमय आकृष्ट आप यह मेरा।
× × ×
विनयी होकर भी करें न आज अनथ वे
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वमातृ तनय वे ?
× × ×
आये होंगे यदि भरत कुमति वश मन में,
तो मैंने यह संकल्प किया है मन में—
उनको इस शर का लक्ष्य चुनूंगा क्षण में।
—अष्टम् सर्ग, पृ० १६६-७०

६. नाथ मुझ को दो यह वर एक—
भरत का करो राज्य अभिषेक,

लक्ष्मण और उर्मिला के कथन में पर्याप्त हास-विलास और वाक्-चातुरी है।[1] कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर की वाणी में कायरता[2] एवं भीष्म की वाणी में ओज[3] है। एकलव्य के अर्जुन की वाणी में ईर्ष्या है,[4] 'एकलव्य' की वाणी में श्रद्धा-

दूसरा, सुन लो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष राम -बन - वास।
—द्वितीय सर्ग, पृ० ४६

× × ×

कहते आते थे यही सभी नर देही,
माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,
है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।
—अष्टम् सर्ग, पृ० १०६

१. ऊर्मिला बोली, "अजी, तुम जग गये?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये?
'मोहिनी ने मन्त्र पढ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ,।" —प्रथम सर्ग, पृ० २१

२. बाल हीना माता की पुकार कभी आती और,
आता कभी आर्त्तनाद पितृहीन बाल का।
आँख पड़ती है जहाँ हाय, वही देखता हूँ,
सेन्दुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का।
बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी,
तो भी सुनता हूँ अट्टहास कर काल का।
और सोते-जागते मैं चौंक उठता हूँ, मानों,
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।
—द्वितीय सर्ग, पृ० १४

३. और जब तू ने उलझकर व्यक्ति के सद्धर्म में,
क्लीव सा देखा किया लज्जा-हरण निज नारिका।
द्रोपदी के साथ ही लज्जा हरी यों जा रही,
उस बड़े समुदाय की जो पाण्डवों के साथ था।
और तू ने कुछ नहीं उपचार था उस दिन किया,
सो बता क्या पुण्य था? या पुण्यमय था क्रोध वह।
गल उठा था आग-सा जो लोचनों में भीम के! —वही, पृ० २३

४. क्षमा करें, आप तो महाम् ब्रह्मवेत्ता हैं,
आपके समक्ष दो महान् प्रतिज्ञाएँ हैं—
आर्य-वंश-रक्षा और पार्थ - अद्वितीयता,
इनकी ही पूर्त्ति की करूँगा प्रार्थना सदा।
—दक्षिणा सर्ग, पृ० २८१

भक्ति।[१] रश्मिरथी के कर्ण के कथन में उदात्तता और उदारता है,[२] इन्द्र के कथन में छल-प्रपंच।[३]

(४) स्वाभाविक की जगह अस्वाभाविक वार्त्तालाप मन को नही रुचते। साकेत में उर्मिला-शत्रुघ्न के वार्त्तालाप मे इसका उदाहरण देखा जा सकता है, जहाँ उर्मिला अनावश्यक रूप से उत्तेजित हो जाती है।[४]

(५) क्षिप्रता, संयमितता और संक्षिप्तता की दृष्टि से आधुनिक महाकाव्यों में अनेक उपयुक्त उदाहरण मिल सकते हैं।[५]

---

१. सावधान, पार्थ। गुरु निन्दा के कु-शब्द ये,
कैसे यो निकलते हैं, एक क्षण सोचिए,
गुरु है समर्थ, यह शिष्य की है हीनता,
शिक्षा-प्राप्त करने में वह अकुशल है।

—दक्षिणा सर्ग, पृ० २८६

२. कुरु राज्य चाहता मै कब हूँ?
साम्राज्य चाहता मै कबहूँ?
क्या नही आपने भी जाना?
मुझको न आजतक पहचाना?
जीवन का मूल समझता हूँ,
धन को मै धूल सकझता हूँ।

—तृतीय सर्ग, पृ० ४७

३. नहीं फिराते, एक बार जो कुछ मुख से कहते हैं,
प्रण-पालन के लिए आप बहु भांति कष्ट सहते है।
आश्वासन से ही अभीत हो सुख विपन्न पाता है,
कर्ण वचन सर्वत्र कार्यवाचक माना जाता है।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ५६

४. गरज उठी वह—"नही, नहीं पापी का सोना'
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वही डुबोना।
धीरो, धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही हम सब जाओ।

—द्वादश सर्ग, पृ० ३११

५. एक कबूतर देख हाथ में पूछा 'कहाँ अपर है'?
उसने कहा, 'अपर कैसा? वह उड़ है गया स-पर' है।
उत्तेजित हो पूछा उसने, उड़ा अरे! वह कैसे?
'फड़ से उड़ा', दूसरा, बोली, उड़ा! अरे वह ऐसे॥

—नूरजहाँ, छठा सर्ग, पृ० ३०

(६) प्रसंग-निर्वाह का ध्यान भी प्रायः सभी महाकाव्यों में रखा गया है।[१]

'वचन क्यो कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?
"और वे औरस भरत कुमार ?
कुदासी बोली कर फटकार।
कहा रानी ने है पाकर खेद—
'भला दोनों में क्या भेद ?''
'भेद' ? दासी ने कहा सतर्क—
'सबेरे दिखला देगा अर्क।'

—साकेत, द्वितीय सर्ग, पृ० ३३

× × ×

तो सुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,
प्रभु गए सुर-धाम, बन को राम।
मांग मैने ही लिय कुल-केतु
राज सिंहासन तुम्हारे हेतु।

—वही सप्तम् सर्ग, पृ० १३६

१ वंश समस्त तजी नय नीती,
तुमहि एक प्रतिपालत प्रीती।
मोरेहु हृदय प्रतीति पुरानी,
लेत बोलाय हितू निज जानी।

—कृष्णायन, अवतरण काण्ड, पृ० १६

× × ×

जयचन्द बोला—कवि गौरव हो स्वदेश के
बोलो, तुम क्षम्य हो त्रिकाल में सदैव ही।
धन्य महाराज— कहा चारण ने झुक के,
सारी सभा उत्सुक हो बैठी सांस रोक के।
जय हो महाराज की—दहाड़ बोला बृद्ध यो—
पृथ्वीनाथ ! रात एक स्वप्न देखा दास ने।
देखा, एक निर्जन उजाड़ खुला प्रान्त था,
तृण हीन—मानों भाग्य भूमि हतभाग की।

—आर्यावर्त तृतीय सर्ग, पृ० ३४२

× × ×

जैसे-जैसे कुंबर-वर ने हैं किए कार्य्य न्यारे,
वैसे ऊधो न कर सकते हैं महाविक्रमी भी।

(७) सोद्देश्यता के भी पर्याप्त उदाहरण महाकाव्यों में सहज ही मिल सकते हैं।[1]

(८) पात्रता और औचित्य पर ध्यान न दे कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण को ढोने वाले सम्भाषण भी कहीं-कहीं आये हैं। इस दृष्टि से साकेत में निषाद और लक्ष्मण का वार्त्तालाप पठनीय है। निषाद का बोलना तो गौण है, अनावश्यक रूप से लक्ष्मण ने कवि के दृष्टि-बिन्दु को विस्तारित किया है।[2]

(९) नाटकीयता के भी पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।[3]

जैसी मैंने गहन उनमें बुद्धिमता बिलोकी,
वैसी वृद्धों प्रथित-विबुधों मंत्रदों में न देखी॥

—प्रियप्रवास, दशम् सर्ग, पृ० १२७

१. कुछ क्षण रह कर मौन कहा गुरुदेव ने।
नृपवर यह संसार स्वार्थ-सर्वस्व है॥
आत्म-परायणता ही भव में है भरी।
प्राणी को प्रिय प्राण समान निजस्व है।

वैदेही-वनवास, चतुर्थ सर्ग, पद-३३

× × ×

निरख चिन्तित राजकुमार को, हृदय की गति को प्रतिघात दे,
सुदृढ साहस से कर कल्पना, कथन छंदक ने फिर यों किया—
पर, जरा बहु आदरदायिनी, सचिव, भूप, यति, गुरु, वैद्य को,
दुखद केवल है वह दारुणा, कथक, वार-वधू, हरि, मल्ल को।

—सिद्धार्थ, सर्ग, ६ पृ० १२८

२. 'बोले तब सौमित्र—बन्धु तुम शान्त हो'।
···से लेकर 'सखे समन्वय करो भक्ति को मुक्ति से'।

—पंचम सर्ग, पृ० १००-१०२

३. कपीश को रावण ने विलोक के—
कहा सभा में निज कोप रोक के,
प्रहस्त! पूछो इस दुष्ट को जरा,
स्वमृत्यु से क्यों मग में नहीं डरा?

—रामचरित चिन्तामणि, सत्रहवां सर्ग, पृ० २३७

× × ×

(१०) व्यवधान का उदाहरण एकलव्य में कई स्थानों पर मिलता है।[1]

(११) सजीवता के उदाहरण तो आधुनिक काल के प्रत्येक महाकाव्य में कुछ न कुछ मिल ही जाते हैं।[2]

भीष्म ने देखा गगन की ओर,
मापते, मानो युधिष्ठर के हृदय की ओर,
और बोले, …………

—कुरुक्षेत्र, द्वितीय सर्ग, पृ० १५

१. 'मैने धनुर्वेद पाके पूज्य गुरुदेव को,
गुरु दक्षिणा नहीं दी, कैसा हतभाग हूँ।'
'चिन्तित हुए हो कुछ' ?
—द्रोण बोलते गए।
मैं दुखी हूँ आज देख अपनी अयोग्यता……।

२. ध्रुव देवी—तो समझूँ मैं, पा लिया तुम्हें, तुम लौट चलोगे अपने घर,
सहयोग मुझे दे, देशकाल की मांग पूर्ति का व्रत लेकर।
चन्द्रगुप्त—मन में है द्वन्द्व मचा मेरे ! है इधर झिझक, है उधर बहक,
अब भोग चली है रात, सो रहे, निद्रा से झुक रही पलक।
क्यों आंखों से आँसू छलके, मत हो निराश सोचूंगा फिर,
प्रातः इसका उत्तर दूंगा इस समय नहीं मेरा मन थिर।

—विक्रमादित्य, सर्ग १२ पृ० ७४

× × ×

सहर्ष बोली त्रिशला सुवाक्य यों—
मुने ! मुझे हो तुम इन्द्र-चाप सो,
दिनान्त - आभा - अनुराग - रक्त जो।
निशान्त, शोभा-भव-भाग्य सक्त जो।

—वर्द्धमान, चौथा सर्ग, पृ० १३४

'पंचानन के गुहा द्वार पर रक्षा किसकी ?
मैं तो हूँ विख्यात दशानन सुधि कर इसकी।
………तभी द्विगुण पशुता तुझमें।
'तू ने ही आखेट रंग उपजाया मुझमें।'

—साकेत, द्वादश सर्ग, पृ० ३१०

इस तरह संवादों के क्षेत्र में अनेक प्रकार के शिल्पों के प्रयोग आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में किये गये हैं।

आधुनिक महाकाव्यों में संवादों के प्रकार

संवादों के निम्नलिखित विभाजन किये जा सकते हैं—(१) चरित्र-विस्तारक, (२) भावानुरूप संवाद, (३) भावात्मक संवाद, (४) अलंकृत संवाद, (५) व्यावहारिक संवाद। चरित्र-विस्तारक संवाद चरित्रों के सूक्ष्म गुणों का प्रकाशन करते हैं। भावानुरूप संवादों में भावों के अनुकूल भाषा-शैली रखी जाती है। वीररस,[1] शृङ्गार रस,[2] करुण रस[3]—सब के लिए अलग-अलग किस्म के संवादों की आवश्यकता होती है।

---

१. हो छिपा जहाँ भी पार्थ सुने,
अब हाथ समेटे लेता हूँ।
सबके समक्ष है रथ रण की,
मैं उसे चुनौती देता हूँ।
हिम्मत हो तो वह बड़े व्यूह से,
निकल जरा सम्मुख आये,
दे मुझे जन्म का लाभ और,
साहस हो तो खुद भी पाये।

—रश्मिरथी, षष्ठ सर्ग, पृ० १३१

१. ऐसा ऊधो प्रतिदिन कई बार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रान्ता-सी मैं अब तक गई द्वार पै बार लाखों।
हा! आँखों से न वह बिछुड़ी-श्यामली-मूर्त्ति देखी।

—प्रिय-प्रवास, दशम सर्ग, पद ४०

३. बोलो, बोलो, माँग रही हो,
निष्ठुर! कैसे ज्योति नयन से,
हिय की धड़कन माँग रही हो,
श्वस माँगती हो जीवन से,
माँग रही हो स्नेह दीप से,
प्राण माँगती हो ममता से,
बोलो, कैसे माँग रही हो,
सुरभि फूल से, तुनुक लता से।

—कैकेयी, अष्ठम सर्ग, पृ० १२६

भावात्मक संवाद के अन्तर्गत भावुकता और रसात्मकता होती है। इसमें पर्याप्त लाक्षणिकता और मार्मिकता होती है।[1] ऐसे संवाद काव्यात्मक अधिक होते हैं।

अलंकृत संवादों में चरित्र-चित्रण या कथा-विस्तार की जगह वर्णनात्मकता और अलंकृत शैली का प्राधान्य होता है। आजकल ऐसी शैली यत्र-तत्र दिखलाई पडती है।[2] इनकी ओर आधुनिक कवियों का विशेष ध्यान नहीं दीखता। व्यावहारिक सम्वाद के अन्तर्गत पात्रों की व्यावहारिकता, सहजता, देश-काल का आभास आदि गुण होते हैं। इसका उपयोग इतिवृत्तात्मक स्थलों पर किया जाता है और इसमें मुहावरों के प्रयोग, वाक्-चातुर्य आदि होते हैं।[3]

---

१. जिससे मिलता नहीं सिद्ध फल मुझे किसी भी व्रत का,
उलटा हो जाता प्रभाव मुझ पर आ धर्म सुगत का,
गंगा में ले जन्म, बारि गंगा का पी न सका मैं।
किए सदा सत् कर्म छोड़ चिन्ता पर जी न सका मैं॥

× × ×

मैं उनका आदर्श कही जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई नहीं न अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ६५-६६

२. 'समय पाकर के नृप नीति को,
गुरु वशिष्ठ लगे कहने यहाँ।
मुदित हो सुनते रघुनाथ थे,
तृषित चातक ज्यों घन शब्द को॥
नृप निज मति से......खेलकर लौं पाकर निज राज्य हँसे रघुपति भ' मन में।'

—रामचरित चिन्तामणि, तेइसवाँ सर्ग, पद २८ से लेकर ३५ तक।

३. देवी! आत्म-सुख ही प्रधान हैं विश्व में।
किसे आत्म-गौरव अतिशय प्यारा नहीं॥
स्वार्थ सर्व जन-जीवन का सर्वस्व है॥
है हित-ज्योति रहित अन्तर तारा नहीं॥

× × ×

निष्कर्ष

इस तरह हम स्पष्ट रूप से देखते है कि संवादों की उपयोगिता महाकाव्यों के शिल्प-विधान के लिये कुछ कम नही है और आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में विभिन्न रूपो मे इनका उपयोग किया गया है। इनके कारण महाकाव्यो में प्रचुर रोचकता, सजीवता और लाघव आ गए है तथा चरित्र-चित्रण तथा घटना-विस्तार में पर्याप्त सहायता मिली है।

है विवाह बन्धन ऐसा बन्धन नहीं।
स्वाभाविकता जिसे तोड़ पाती नही॥
विविध परिस्थितियां है ऐसी बलवती।
जिससे मुँह चितवृत्ति मोड़ पाती नही।······
—वैदेही वनवास, चतुर्दश सर्ग, पद ४४ से लेकर १६० तक



सप्तम प्रकरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में रस

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में रस

रस की महत्ता—आत्मा का जो महत्त्व शरीर के लिए है, रस का वही महत्त्व काव्य के लिए है, कहिए, सम्पूर्ण साहित्य के लिए है। रस एक ऐसी प्रवृत्ति है, जो समस्त प्राणियो में प्रवाहित है। यह पुरुष और प्रकृति के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध जोड़ता है। वेदों में कहा गया है कि ईश्वर रस-स्वरूप है, 'रसौ वैस:'। वह ब्रह्म की भाँति सूक्ष्म, नित्य, व्यापक और अगोचर है। जैसे ईश्वर हृदय में निवास करता है,[१] रसोद्रेक के लिए भी हृदय ही उपयुक्त स्थान माना गया है। अत्यधिक सुख का नाम ही आनन्द है। यह बुद्धि और मस्तिष्क से अधिक उच्च अवस्था है और अतीन्द्रिय जगत से सम्बद्ध है। रस और आनन्द एक दूसरे से पूर्णत: सम्बद्ध हैं। रस सौंदर्य-भावना से भी सम्बद्ध होता है,[२] उसकी सहायता से कवि अपनी उक्तियों को रसपूर्ण बनाता है। ब्रह्मानन्द सहोदर यह रस अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की सृष्टि करते हुए काव्य का सर्वाधिक आवश्यक तत्त्व बन जाता है।

रस और कवि—अनुभूतियाँ दो प्रकार की मानी गयी हैं—प्रत्यक्षानुभूति और रसानुभूति। मूलत: दोनों एक हैं, पर प्रथम की अपेक्षा द्वितीय अधिक परिस्कृत होती है। रस आस्वादनीय है (रस्यते अस्वाद्यते इति रस:) वर्णनीय नहीं। इसलिए चरम-आनन्द, परम आस्वादन की स्थिति में वाणी मौन हो जाती है।[3] मौन का महात्म्य इसीलिए मुखरता से बढ़कर है। पर

---

१ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

—गीता, अध्याय १८, श्लोक ६१।

२ सौंदर्य-प्रियता की ही सहायता से मनुष्य अपने उद्‌गारों में रस भर लेता है, जिससे एक प्रकार के अलौकिक और अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है।

—समीक्षा-शास्त्र, डा० दशरथ ओझा, पृ० ४६।

३ मन मस्त हुआ तब क्यो बोले।

—कबीर का रहस्यवाद, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १४४।

कवि जो ईश्वर से भी श्रेष्ठ है, अपनी वाणी द्वारा रसमय उक्तियों का सृजन करता है। कवि इसलिए ईश्वर से भी श्रेष्ठ माना गया है कि जो सृष्टि मे है, वह तो उसकी वाणी में आता ही है, जो नहीं है, वह भी उसके द्वारा वर्णित होता है;[१] जैसे, आकाश-पुष्प, आकाश-गंगा, या शश-शृंङ्गा ये सृष्टि में नहीं है, पर काव्य में हैं।

रस-सम्बन्धी मतवाद—रस के सम्बन्ध में बहुत सारे मतवाद हमारे सामने हैं। विचारकों की एक सुदीर्घ परम्परा इस दिशा में चिन्तन करती आ रही है, ये मतभेद चाहे जिसने हों, इतना सबने माना है कि रस ही भारतीय शिल्प, कला और साहित्य-कोष का सर्वस्व है। बहस अनुभूति के प्रकार को लेकर हुई है, उसकी सच्चाई निर्विवाद सिद्ध है।[२] भामह ने काव्य-शरीर का महत्त्व देते हुये अर्थालंकार और शब्दालंकार के महत्व प्रतिपादित किए। दण्डी ने रीति की प्रधानता स्वीकार की। 'विशिष्ट-पद-रचना रीतिः' मानकर वे उस विशिष्टता में सौदर्य ढूँड़ते रहे। रस को भी अलंकार के अन्तर्गत ही परिगणित किया गया! 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' कह कर शब्दों को प्रधानता दी गई। धीरे-धीरे रस के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को समझा जाने लगा। अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका में रस का महत्त्व स्पष्ट किया।[३] फिर रस क्या है, इसकी सीमा कहाँ

तन्त्री नाद, कवित्त-रस, सरस राग रति-रङ्ग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जो बूड़े सब अङ्ग॥
—बिहारी, बिहारी-सतसई, सं० दीन।

१ ·········ब्रह्माण्ड में जो है, उसे ईश्वर की शक्ति माना जाता है। ब्रह्माण्ड में जो है, वह सब साहित्यिको की वाणी में आता है। परन्तु जो ब्रह्माण्ड में नही है, वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है।
—साहित्यिकों से, आचार्य विनोबा भावे, पृ० ३७-३८

२ यह रस ही भारतीय शिल्प और कला का प्राण है—उसकी अनुभूति के प्रकार को लेकर बहुत बहस हुई है, पर उसकी अनुभूति की सचाई पर कभी संदेह नही किया गया है।
—हमारी साहित्यिक समस्याएँ, डा० हजारी प्र० द्विवेदी, पृ० १७२-७३

३ काव्येऽपि लोकनाट्यधर्मि स्थानीय स्वभावोक्तिवक्रोक्ति प्रकारद्वयेनालौकिक प्रसन्न मधुरौजस्विशब्दसमर्प्य-माण विभावादियोगादियमेव रस वार्ता। अस्तु वा नाट्यादि चित्र रूपा रस प्रतीतिः।

तक है, वह व्यंग्य है या वाच्य, रस की उत्पत्ति होती है या निष्पत्ति, रस का भोक्ता कौन है—आदि अनेक प्रश्न भरतमुनि से लेकर अब तक के विचारकों को चिन्तनशील बनाये रहे।

भरत मुनि के विचार—रस के सम्बन्ध में काव्य शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में एक सूत्र कहा है—'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रस निष्पतिः' अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग में रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी आधार पर यह लिखा है कि सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित, वासना-रूप रति आदि स्थायी भाव ही विभाव अनुभाव और संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।[1] मन उस वीणा की तरह होता है, जिसमें झंकार तो होती है, पर बिना किसी आघात से वह झंकृत नहीं होती। विभाव, अनुभाव आदि को जाग्रत करने के लिए कोई न कोई तथ्य चाहिये ही। ये सारे तत्त्व एक साथ मिलकर रस की निष्पत्ति 'दध्यादिन्याय' से करते हैं; जैसे दूध और मट्ठा दो अलग तत्त्व हैं, पर उनके मिलने से तीसरा तत्त्व दही बन जाता है, उसी प्रकार आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव संचारी भाव आदि स्थायीभाव से मिलकर रस की सृष्टि करते हैं। प्रतीति के बाद ही रस की स्थिति होती है। इसीलिये अभिनव गुप्त ने रस को प्रतीति माना है—'रसाः प्रतीयन्ते इति तु ओदनं पचतीतिवद्व्यवहारः'। यह ठीक वैसे ही है, जैसे चावल, पकने के बाद ही भात की संज्ञा प्राप्त करने हैं। भरत ने रस की अनिवार्यता सभी काव्यों के लिए मानी है—'न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते'। पर भरत के कथन से यह स्पष्ट न हो सका कि संयोग और निष्पत्ति से उसका क्या तात्पर्य है। इसी की व्याख्या के रूप में कई आचार्यों ने रस-सम्बन्धी मत स्थिर किए। हम नीचे संक्षेप मे उनके मतो के स्वरूप और उनकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

भट्टलोल्लट का मत—भट्टलोल्लट के अनुसार रस पहले आलम्बन और और उद्दीपन विभावों से उत्पन्न होता है, वह अनुभावों से प्रतीत योग्य बनता है और अन्त में व्यभिचारी एवं सहकारी भावों से पुष्ट होता है। इस तरह

---

१ विभावेनानुभावेन व्यक्त संचारिणा तथा।
रसनामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेत साम्॥

—साहित्य-दर्पण, ३।१

तीन सोपान होते हैं, जिनमें प्रथम का उत्पादक—उत्पाद्य, द्वितीय का गमक-गम्य और तृतीय का पोषक-पोष्य सम्बन्ध होता है। लोल्लट के अनुसार रस नायक में उत्पन्न होता है, पर वह नट-नटी में उत्पन्न नहीं होता। नट की निपुणता से वह नर्तक में प्रतीयमान भर होता है। अतः रस का मूल भोक्ता नायक-नायिका ही होते है। सामाजिकों मे नट-नटी के माध्यम से रस की प्रतीति होती है।

त्रुटियाँ—इस मत में त्रुटियॉ हैं। प्रश्न है कि नायक-नायिका, जो रस के भोक्ता हैं, वे कौन नायक-नायिका हैं—ऐतिहासिक या काव्यगत? फिर दूसरे की रस की प्रतीति से सामाजिकों मे रस कैसे उत्पन्न होता है, यह नहीं बतलाया गया। सूक्ष्म दृष्टि से देखने से यह ज्ञात होता है कि लोल्लट का तात्पर्य ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं से है, पर वे काव्यगत नायक-नायिकाओं को भी उनसे अभिन्न ही मानते हैं। उस समय तक काव्यगत पात्र-पात्रियों में कवि की आत्मा को स्वीकार करने की क्षमता जाग्रत नहीं हुई थी।

एक आपत्ति यह भी उठायी जा सकती है कि रति को देखकर रति का ही भाव दर्शकों में जगे, यह कैसे अनिवार्य है। लज्जा, ईर्ष्या या क्रोध भी तो जग सकते है। आज के मनोविज्ञान-युग में इस बात का उत्तर यह कह कर दिया जा सकता है कि मानव-सुलभ सहानुभूति के द्वारा हम दूसरों की रस-दशा से स्वयं भी रसमग्न हो सकते हैं और यदि उसके प्रतिकूल या भिन्न रस भी हममें उत्पन्न हो, तो वे भी उसी रस के अश होगे। लोल्लट ऐतिहासिक व्यक्ति और कवियों द्वारा चित्रित व्यक्ति के अन्तर को स्पष्ट नही देख सका। काव्य मे ऐतिहासिक नायक की सत्ता गौण है। जैसे दर्शक और नट अभिनय के समय रस का अनुभव करते हैं, वैसे ही कवि भी रचना के समय रस का अनुभव करता है। यदि हम ऐतिहासिकता और पौराणिकता को ही सत्य मानें, तो कल्पित घटना वाले काव्य के रसास्वादन का समाधान नहीं मिल सकता है। एक बात और, लोल्लट ने सामाजिकों की रसानुभूति को सर्वथा गौण स्थान दिया है।

शक्तियाँ—लोल्लट की शक्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। उसने अप्रत्यक्ष रूप से सहानुभूति तत्त्व की ओर संकेत किया है, जो रसास्वादन और सहृदयता का मूल तत्त्व है। उसने ऐतिहासिक व्यक्तियों में रस की स्थिति बताकर काव्यानन्द को विषयगत माना है। इस प्रकार उसने काव्य के विषय की महत्ता की ओर

इंगित किया है। आचार्य शुक्ल और मैथ्यूआर्नल्ड जो विषय या काव्य-द्रव्य के समर्थक है, उन पर लोल्लट के इस दृष्टि-विन्दु का प्रभाव स्पष्ट है। हीगेल ने ज्ञान से पदार्थ की उत्पत्ति मानी है, पर आज का पदार्थवादी दृष्टिकोण पदार्थ से ही ज्ञान की उत्पत्ति मानता है। आज के इस प्रगतिशील सिद्धान्त का लोल्लट के वस्तुपरक सिद्धान्त से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यह दृष्टिकोण हमारे मीमांसको से मेल खाता है। लोल्लट की एक विशेषता यह भी है कि उसने नट में भी सहानुभूति का तत्त्व स्वीकार किया है।

शंकुक का मत—इसके बाद दूसरे आचार्य आए—शकुक। इसने रस को अनुभव का विषय माना है। उसके सोचने की प्रणालि नैयायिकों-जैसी है। वह रस का उत्पन्न होना स्वीकार नही करता। जैसे धुँआ को देखकर आग का अनुमान होता है, वैसे ही विभावानुभावादि से रस का अनुमान होता है। रस वस्तुत: उत्पन्न नहीं होता अनुमित होता है। वह भी रस की मूल स्थिति ऐतिहासिक नायक-नायिकाओ मे मानता है। प्रेक्षक उसको आरोप के द्वारा देखकर प्राप्त नही करता, वरन् अनुमान से प्राप्त करता है।

लोल्लट के विचार का खंडन करते हुए शंकुक कहता है कि दूसरे को रसमग्न देखकर हमे रस की प्रतीति नही होती, इसलिए हमे अनुमान से काम लेना पडता है। वस्तुत: शकुक का यह तर्क सहानुभूति तत्त्व का निषेध करता है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है।

मत की आलोचना—प्रश्न यह है कि जिस नायक-नायिका को हमने नही देखा, उसके रसास्वादन की अनुभूति हम कैसे कर सकते हैं। आज के समीक्षक कल्पना के द्वारा इसकी सम्भावना मान सकते हैं। कवि की सहानुभूति और कल्पना के द्वारा ही अपने को नायक नायिका से तद्रूप करता है। फिर उसकी सहानुभूति से प्रेक्षक भी इन्हीं दो गुणों के द्वारा उसका साक्षात्कार कर लेता है। शकुक इस तर्क तक नही पहुँच सके, क्योकि उस समय तक की विचार-धारा ने यह स्वीकार नहीं किया था कि रसास्वादन में कवि के व्यक्तित्व का भी प्रधान स्थान रहता है।

शंकुक के सिद्धान्त का निचोड़ यह है कि मूल भाव का अनुभव—नायक करते हैं और नट-नटी के अभिनय-सौंदर्य के अनुमान द्वारा प्रेक्षक अनुकृत भावों को ग्रहण करते है। शंकुक ने इस विचार से एक ही महत्त्वपूर्ण बात कही कि नट-नटी के अभिनय-कौशल का रसास्वादन में महत्त्वपूर्ण योग होता है।

प्रश्न यह उठता है कि यदि रस दूसरे के भाव के साक्षात्कार अथवा ज्ञान से उत्पन्न होता है, तो शोक से शोक की उत्पत्ति होनी चाहिए, न कि आनन्द या रस की। इसके अतिरिक्त नायक का व्यक्तिगत भाव प्रेक्षक के ठीक वैसे ही भाव की उत्पत्ति कैसे कर सकता है। तीसरे, समुद्र-उल्लंघन जैसे असाधारण भावों की अभिव्यक्ति पाठकों या दर्शकों में कैसे हो सकती है ?

आज के विचारक यह कह सकते हैं कि प्रेक्षक या पाठक को शोक का प्रत्यक्ष ज्ञान या साक्षात्कार नहीं होता और मानसिक रूप धारण करने पर कटु अनुभव भी क्रमशः अपनी कटुता खो देता है। कटु अनुभूतियों की स्मृति में भी दुख का नाश और अपनापन की उद्भूति हो जाती है। दुखद अनुभव भी आनन्द से याद किए जाते हैं। यह रस की अलौकिकता है, जो शूल को भी फूल की तरह ग्राह्य बना देता है। जिन काँटों को हम आँगन से उखाड फेंकते हैं, उन्हीं के चित्र या मूर्ति को कमरे में सजाकर रखते हैं। कवि का अनुभव दूसरों के शोक का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, यह उस शोक के सफल भावन का अनुभव है, जो स्वभावतः आनन्दमय है। यही कारण है कि हम बार-बार किसी दुखान्त नाटक को देखते या पढ़ते हैं।

वस्तुतः संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने कवि के व्यक्तित्व के इस मनोवैज्ञानिक स्वरूप की उपेक्षा की थी। काव्यगत भाव सामान्यतः असाधारण नहीं हो सकते, क्योंकि कोई भी अनुभव भाव-संज्ञा को तभी प्राप्त होता है, जब कवि को स्वयं उसकी सहज अनुभूति होती है। कवि जो कुछ अनुभव करता है, उसे पाठक के लिये भी संभव होना चाहिए, क्योंकि हृदय के स्तर पर सभी समान हैं। काव्यगत कोई भाव विशिष्ट नहीं होता, वह साधारणीकृत होता है और हृदय में उसकी स्थिति सर्वथा स्वाभाविक होती है। साधारणीकरण की शक्ति के द्वारा नाटककार और दर्शक के बीच की दूरी मिटती है और समस्त कार्य-व्यापार का सामान्य रस-भावन होता है।[1]

भट्टनायक का मत—भट्टनायक ने अपने भुक्तिवाद के द्वारा इन्हीं प्रश्नों का सामधान दूसरे रूप में किया है। उसके अनुसार रस की स्थिति न तो नायक-

---

१ साधारणीकरण का अर्थ रचयिता और उपभोक्ता, कवि और दर्शक के बीच भावना का तादात्म्य ही है। साधारणीकरण वास्तव में कवि-कल्पित समस्त व्यापार का होता है, केवल किसी पात्र-विशेष का नहीं।

—नया साहित्य, नये प्रश्न, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० १२२

नायिका में, न नट-नटी में, बल्कि सहृदय में होती है। उसने काव्य की तीन निसर्ग-सिद्ध शक्तियाँ मानी है-अभिधा जो अर्थ देती है, भावकत्व और भजोकत्व, जो क्रमशः अर्थ का भावन और उपभोग कराती हैं। भावन होने पर भाव की वैयक्तिकता का नाश हो जाता है और वह साधारण बन जाता है। रजोगुण और तमोगुण का लोप होकर सतोगुण का आविर्भाव होता है, तब भोजकत्व काम करता है। रस की अनुमिति नही होती, भुक्ति होती है। रस विषयगत नही होकर, विषयीगत होता है। भट्टनायक की सबसे बड़ी देन साधारणीकरण है। उसने पहली बार प्रेक्षक के हृदय में रस की अवस्थिति मानी है।

मत की आलोचना—भट्टनायक की काव्य की तीन शक्तियों का कोई आधार-रूप प्रमाण नही मिला। फिर भी इसने भावकत्व और भोजकत्व काव्य की दो नयी क्रियाएं मानी, जो इसकी विषेषता कही जायेंगी। इस क्षेत्र में दूसरा आचार्य अभिनव गुप्त आया, जिसने अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त स्थिर कर भावकत्व और भोजकत्व का काम व्यंजना और ध्वनि से लिया। इसने न तो इसको उत्पत्ति मानी, न अनुमिति और न भुक्ति। इसने उसकी अभिव्यक्ति मानी। अभिनव गुप्त की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसने स्थाई भावों को पहले से हो सहृदय के चित्त में स्थित माना, जब कि अन्य विचारकों ने इन्हे सहृदयों से विलग माने थे। इसके अनुसार सामाजिकों में वासना पहले से रहती हैं, काव्य-श्रवण या नाट्य दर्शन से वह अव्यक्त व्यक्त हो जाती है। यह उसी तरह होता है, जिस तरह मिट्टी के पके पात्र में सोंधी गन्ध अव्यक्त रूप से स्थित रहती है, और जल के संयोग से प्रकट हो जाती है।

पंडितराज जगन्नाथ—पंडितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधार में संयोग का अर्थ भावानुरूप दोष और निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना है। उसके अनुसार नट द्वारा विभादिको प्रकाशित कर देने पर व्यजनावृत्ति के द्वारा सामाजिक को रति आदि का ज्ञान होता है। इसके मूल में उसने एक प्रकार का भावना-दोष या माया का आच्छादन माना है।

रस के उपादान

विभाव—रसके चार उपादान माने गए हैं:—विभाव, अनुभाव, स्थायी-भाव और संचारी भाव। कारणों को विभाव कहते हैं, जिनके द्वारा भाव जागरित हाते हैं। ये दो है आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। जिसके हृदय में रस उत्पन्न हो वह आश्रय और जिसके प्रति वह भाव उत्पन्न हो उसे

आलम्बन कहा गया है । जिन परिस्थितियों और वातावरण आदि के कारण रस उद्दीप्त होते है, उन्हे उद्दीपन विभाव कहा गया है ।

अनुभाव—किसी कारणवश जब कोई भाव जागरित होता है, तब मनुष्य अनेक चेष्टाएँ करता है, जिनके फलस्वरूप उनका प्रभाव वाह्य आकृति आदि पर पडता है । भाव के पीछे चलने के कारण अर्थात उत्पन्न होने के कारण इसे अनुभाव कहा गया है ।

संचारी भाव—कुछ भाव स्थायी नही होते, उदित होते और नष्ट होते रहते है और स्थायीभाव की सहायता करते है । रसों की पुष्टि के लिए संचारित और व्यभिचारित होने वाले ये भाव ही संचारी भाव कहे जाते है ।

स्थायी भाव—स्थायी भाव सनातन रूप से मानव के हृदय में वर्तमान रहते हैं, वे सजातीय या विजातीय किसी प्रकार के भावो से विच्छिन्न नहीं किये जा सकते हैं । ये भाव रसास्वादन होने तक मन में रहकर उस रस मे मन को निमग्न कर देते हैं । स्थायी भाव कभी-कभी दूसरे स्थायी भावों के सहायक बन कर भी आते है । इसी तरह संचारी भाव जब स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर लेते हैं, तव भाव कहे जाते हैं ।

नौ रस और कुछ अन्य रस—आचर्यो ने नौ स्थायी भाव माने है—रति, हास, विस्मय, उत्साह, क्रोध, जुगुप्सा, भय, शोक और निर्वेद । पहले आठ नाटकों में और अन्तिम निर्वेद श्रव्यकाव्य में स्वीकार किये गये हैं । इन्ही स्थायी भावो के परिपाक से नौ रस माने गये हैं- श्रृङ्गार, हास्य, अद्भुत, वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक, करुण और शान्त । आगे चलकर वात्सल्य के कारण दसवां रस वत्सल माना गया है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस दस के अतिरिक्त भक्ति, सख्य और आनन्द तीन और रस माने है । आचार्य मम्मट ने देव विषयक, पुत्र-विषयक और मित्र-विषयक रति को केवल भाव के रूप में स्वीकार किया है । स्वर्गीय रामदास गौड़ और आचार्य विश्वनाथ प्र० मिश्र ने दास्यरस को भी एक रस स्वीकार किया है ।[१] आचार्य मिश्र ने सख्य को भी रस स्वीकार किया है ।[२] भानुभट्ट ने मायारस माना है । मायारस सांसारिक प्रवृत्ति

१ हिन्दी की देशभक्ति विषयक रचना में यदि रस-दृष्टि से विचार किया जाय, तो यही स्वीकार करना होगा कि उसमें दास्यरस है ।

—वाङ्मय-विमर्ष, पृ० १०

२ नरोत्तमदास के सुदामा चरित में रस क्या माना जाय? सख्य रस ही तो मानना पड़ेगा । —वही

का परिपाक है।[१] आज के लोक-सेवक नायकों के कार्य कलापों में मायारस की प्रधानता मानी जायेगी। प्रकृति रस का उल्लेख रामन्द्र शुक्ल ने किया है।[२]

संचारी भावों की संख्या—संचारी भावों की संख्या तैंतीस है-निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति मरण, मद, स्वप्न निद्रा, विवोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता। देव कवि ने छल को चौतीसवां संचारी माना है। इसके अतिरिक्त उद्वेग, दभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा उत्कंठा, धृष्टता आदि को भी संचारियों से अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है।

अनुभावों की संख्या—अनुभावों की संख्या तीन मानी गयी हैं—कायिक, मानसिक और सात्त्विक। स्थायी भाव से उत्पन्न मनोविकारों को मानसिक अनुभाव और आन्तरिक अनुभावों के व्यंजक शारीरिक लक्षणों को कायिक अनुभाव कहते हैं। सात्त्विक अनुभाव की गणना कुछ लोग भावों के अन्तर्गत भी करते है। सत्त्व से उत्पन्न विभिन्न चेष्टाओं को सात्त्विक भाव कहते हैं—ये आठ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमांस, स्वर-भंग, वेपथु (कम्प) वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय।

श्रृंगार का रस राजत्त्व—दस रसों में (वात्सल्य को लेकर) श्रृंगार को रस राज माना गया है। रीतिकालीन आचार्यों ने भी ऐसा स्वीकार किया है।[३] भरतमुनी ने विशुद्धता, पवित्रतता आदि के शीर्ष विन्दु पर श्रृंगार रस

---

१ चित्तवृतिद्वैधां प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तो मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पतिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्।

—देखिए रस तिरंगिणी तथा मातवाला, मई, ४८ में प्रकाशित आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का निबन्ध।

२ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो प्रकृति के प्रति होने वालेप्रेमभाव से सामाजिक के लिये प्रकृति रस मानते हैं।

—वाङ्मय विमर्ष, पृ० १११

३ सबको केशव दास कहि नायक है सिङ्गार—रसिक प्रिया, १। १७

—रसिक प्रिया, १।१७

भूलि कहत नवरस सुकवि सकल मूल सिंगार

—भवानी विलास, १०, देव।

नवरस को पति सरस अति रससिंगार पहिचानि,

—रसपीयूषनिधि, ८।१, सोमनाथ।

को प्रतिष्ठित किया है[१] और रुद्रट ने इसकी सुन्दरता को अमोघ माना है।[२] आनन्दवर्द्धन को भी यही रस सर्वाधिक आह्लादक और मधुर लगा है।[३] भोज तो शृंगार के अतिरिक्त किसी रस को रस मानता ही नही है 'आम्नासिषु दशरसान् सुधियो, वयंतु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम:[४]' इसका नाम शृंगार इसलिए पड़ा है कि यह पाठकों को 'शृंग' अर्थात् सुख की चोटी या पराकाष्ठा पर ले जाता है--'येन शृंग रीयते (गम्यते) स शृंगार :'।

यही एक रस है, जिसमें प्राय: सभी संचारी भावों, स्थायी भावों, बहुत सारे अनुभावों ओर सात्विक भावों के साथ ही विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत पूर्वराग, मान, प्रवास, करुण, शाप हेतुक पाँचों भेद, काम की दस अवस्थाएं, विस्तृत नायक-नायिका, सखी-दूती आदि भेद, भाव-हाव हेला आदि सत्वज अलंकार आते हैं। यही एक रस है जिसमें आश्रय और आलम्बन एक दूसरे को उद्दीप्त करते हैं और मिश्र भाव से घनिष्ठ हैं।

इसीलिए डा० राजेश्वर चतुर्वेदी ने रस की परिभाषा यों की है, 'नित-नित नूतन होने वाले सौंदर्य के सुखद एवं मन्द-मन्द परिवर्त्तनों में चित्त को लगाये रखना वियोग मे उसकी स्मृति एवं तज्जन्य शोक के नये-नये रूपों मे मन को लीन रखना, चित्त मे प्रिय वस्तु सम्मिलन से उसकी प्राप्ति का सुख धीरे-धीरे आस्वादन करना ही शृङ्गार रस है।[५] डा० नगेन्द्र ने शृङ्गार रस की उच्चता स्वीकार करते हुए इसे शारीरिक वासना से पृथक् माना है।[६] शृंगार का

नवरस में शृङ्गार रस लसत शिरोमणि रूप—शृंगार शिरोमणि, यशवन्त सिंह।
नवरस में शृङ्गार रस सिरे कहत सब कोय—जगद्विनोद, पद्माकर।

१ यत्किंचिल्लोके शुचि मेध्यं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गरेणाङ्गनुयते।
—नाट्य शास्त्र, वृत्ति, ६।४५

२ सर्वरसेभ्य: शृङ्गारस्य प्रधान्यं प्राविष्टयिषुराह—
—अनुसरति रसानाम् रस्यतामस्य नान्य:, काव्यालंकार १४।३८

३ शृङ्गार एवं मधुर: पर: प्रह्लादनोरस:, ध्वन्यालोक, २।७

४ शृङ्गार प्रकाश, राघवन संस्करण, पृ० ४७०।

५ रीतिकालिन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन, —पृ० ३६

६ शृंगार का अर्थ है कामोद्रेक। उसके आगमन अर्थात् उत्पत्ति का कारण ही शृंगार कहलाता है। उत्तम प्रकृति का ही कामोद्रेक, जिसमें शारीरकता का ही प्राधान्य हो, शृंगार के अन्तर्गत नहीं आ सकता।
—विचार और विवेचन. पृ०, ३९।

अत्यन्त व्यापक और पवित्र अर्थ आचार्य विश्वनाथ प्र० मिश्र ने ग्रहण किया है।[1] श्रृङ्गार रस की महानता इसलिए भी स्वीकार की गयी है कि इसका सम्बन्ध दो महान् जीवन-तत्त्वों से है, जिन्हें सौंदर्य और प्रेम कहा जाता है।[2] प्रसाद ने भी इसकी सत्ता ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, अलङ्कार आदि के ऊपर मानी है और रस को रहस्यवाद से अनुप्रमाणित माना है।[3]

रस के अन्य अङ्ग—शृंगार (संयोग और विप्रलम्भ) के बाद वीर, शान्त और करुण रस की प्रधानता दी गई है। कुछ लोगों ने करुण रस को ही एक रस माना है। उत्साह वीर रस का स्थायी भाव है, जो स्फूर्तिदायक है। इसका रंग स्वर्ण के समान और देवता महेन्द्र माना गया है। इसमें जीतने योग्य शत्रु आलम्बन विभाव, उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव तथा धैर्य, गर्व, तर्क, रोमांच, आदि संचारी भाव हैं। इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस की उत्पत्ति होती है। इसका रंग कपोत के समान और देवता यमराज माना गया है। चिन्तनीय शोचनीय व्यक्ति आलम्बन, उसका प्रेत-कर्म आदि उद्दीपन तथा रोना, विवर्ण होना, उच्छ्वसित होना, प्रलाप करना आदि अनुभाव हैं। मोह, व्याधि, ग्लानि, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। शान्त रस का स्थायीभाव निर्वेद (शम) है। इसका वर्ण प्रोज्ज्वल कुन्द पुष्प या चन्द्रमा के समान तथा देवता लक्ष्मीनारायण माने गए हैं। शान्त, श्रेष्ठ प्राणी इसके आश्रय, असारता का ज्ञान या परमात्मा का स्वयं ज्ञान इसका आलम्बन

---

१ अन्य किसी रस का विस्तार इतना अधिक नहीं है। स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ शृङ्गार से तात्पर्य उस सीमाबद्ध भावना से नहीं है जिसके लिए प्रायः इस शब्द का प्रयोग अब रुढ़ग्रस्त हो रहा है। इस शृंगार के दायरे में प्रेम, वात्सल्य, स्नेह, श्रद्धा, भक्ति, सख्य सभी कुछ आ जाता है।

—पद्माकर पंचामृत, आमुख, पृ० ६१

२ शृंगार रस का सम्बन्ध सृष्टि के दो मूल महान जीवन—तत्वों से है। एक है सौन्दर्य और दूसरा है प्रेम।

सत्येन्द्र, साहित्य समीक्षांजलि में संग्रहीत, पृ० ८०

३ ………सिद्धान्त रूप से ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति और अलंकार आदि सब मतों पर रस की सत्ता स्थापित हो गई। वास्तव में भारतीय-दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ था और यह साहित्यिक रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्रमाणित है।

—काव्य कला और अन्य निबन्ध, पृ० ८०

है ! तीर्थ-स्थान, आश्रम, सत्संग आदि उद्दीपन है। प्रेमातिरेक से विह्वल हो रोना, नाचना आदि अनुभाव है और हर्ष, स्मरण, निर्वेद, आदि संचारी।[1]

इसी तरह अद्‌भुत रस का स्थायी भाव विस्मय, वर्ण पीत एवं देवता ब्रह्मा या गन्धर्व माने गए हैं। अलौकिक और आश्चर्यजनक वस्तुएँ आलम्बन एवं भ्रान्ति, हर्ष, आवेग, वितर्क आदि व्यभिचारी भाव हैं। वीभत्स रस का स्थायी भाव जुगुप्सा, देवता महाकाल एवं वर्ण नील माना गया है। सड़े गले मांस, लहू, चर्बी, हड्डी आदि आलम्बन; उनका विशेष रूप से गल-पचकर कीड़े आदि पड़ना उद्दीपन; थूकना, मिचलाना आदि अनुभाव और मोह, आवेग, व्याधि करण आदि संचारी भाव हैं। रौद्ररस का स्थायी भाव क्रोध है। क्रोध का पात्र आलम्वन एवं क्रोध के भड़काने वाले कारण—मुँह चिढ़ाना, ताव दिखलाना, अपमानित होना आदि उद्दीपन हैं। मार-पीट, नोंच-खसोट आदि उद्दीपन हैं। भौंहें टेढ़ी होना, ओठ चबाना, ताल ठोकना आदि अनुभाव हैं तथा आक्षेप, मोह अमर्ष आदि संचारी भाव हैं। भयानक रस का देवता काल, वर्ण कृष्ण और स्थायी भाव भय है। दुर्वल प्राणी इसके आश्रय, निर्जन, हिंस्र, पशु, श्मशान, अन्धकार आदि आलम्वन, भयानक शब्द आदि उद्दीपन, कँपकपी, रोमांच आदि अनुभाव एवं चिन्ता, मूर्च्छा आदि संचारी भाव हैं। हास्य रस का स्थायी भाव हास, वर्ण शुक्ल और देवता प्रमत्त है। जिसके कारण हँसी आये, वह आलम्बन, उसकी आकृति- विकृति, वेष, वाणी आदि उद्दीपन; नयनों का मुकुलित होना, बत्तीसी दिखाना आदि अनुभाव हैं और निद्रा आलस्य आदि इसके संचारी हैं। इसके छह भेद माने गए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित।

रस-विवेचन की प्रासंगिकता—ऊपर संक्षेप में रसों का इतना विवेचन इसलिए आवश्यक समझा गया है कि आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सभी रस किसी न किसी रूप में आये हैं और उनके मूल्यांकन के लिए इतनी पृष्ठभूमि आवश्यक है। आगे चलकर हमें यह देखना होगा कि महाकाव्यों में रस की स्थिति किस रूप में कहाँ तक आवश्यक है और शिल्प के उत्कर्ष या अपकर्ष में यह कहाँतक सहायक है ।

---

१ एकोरसः करुण एवं निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान,
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारा नम्भो यथा सलिलमेवतु तत्समग्रम् ।।

—भवभूति।

महाकाव्यों में रस

रस की आवश्यकता—जब समस्त भारतीय मनीषा ही काव्य में रस की अनिवार्यता मानती है, जब साहित्य की आत्मा ही रसानन्द मे वास करती है, तब भला यह कैसे सम्भव हो सकता है कि जीवन की समग्रता और महच्चरित्र की गाथा से सम्बन्ध रखने वाले महाकाव्य में रसों की स्थिति नही मानी जाय ! महाकाव्यों में तो उत्पाद्य, आधिकारिक और प्रासंगिक विशाल कथाओं और विभिन्न रुचियों एवं स्वभावों वाले पात्र-पात्रियों के कारण एक ही नहीं अनेक रसों के समावेश का अवकाश रहता है। महाकाव्य के महान् उद्देश्य की पूर्ति और व्यापकता के लिये केवल रस-निर्वाह की आवश्यकता नही। कवि के लिये उसका गम्भीर और गहरा प्रभाव उत्पन्न करना भी आवश्यक है। यहाँ तक कि महाकाव्य के इतिवृत्तात्मक प्रसंगों का भी रस-निष्पत्ति में सहायक होना उचित है। परिभाषाओं का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि दण्डी, रुद्रट आदि ने महाकाव्य मे सभी रसो की सम्भावना मानी है। विश्वनाथ ने शृंगार, वीर और शान्त रसों की ही प्रधानता मानी है। यह ठीक है कि महाकाव्यों में प्रधानता इन्ही तीन रसो की है, पर अन्य रसों में भी महाकाव्य लिखे गए हैं। इसीलिए इस सीमा-निर्धारण की आवश्यकता नही थी।

प्राचीन दृष्टि की न्यूनता—रस की स्थिति की अनिवार्यता तो सभी आचार्यों ने मानी है, पर उन मनोवैज्ञानिक कारणों की मीमांसा इन्होने नहीं की है, जो रस-निष्पत्ति में सहायक होते हैं। रस-निष्पत्ति के लिए जिन परिस्थितियों के घात-प्रतिघात और जिन विशेष मानसिक स्थितियों की आवश्यकता होती है, उनके विचार-विनिमय पर इन्होंने ध्यान नही दिया। अलंकार-शास्त्रों में रस-विवेचन के प्रसंग विस्तार से आये हैं। पर इनमें भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन की वैज्ञानिकता नहीं है।

पाश्चात्य दृष्टि में रस—पाश्चात्य साहित्य में हमारे रस के लिए कोई उपयुक्त शब्द नहीं है—'सेन्टीमेण्ट' या 'इमोशनलिज़्म' उसी अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। पाश्चात्य साहित्य में जिस तत्त्व को बहुत महत्त्व दिया गया है, वह है प्रभाव की अन्विति (यूनिटी आफ इफेक्ट)। यही प्रभावान्विति साधारणीकरण और पात्रों के साथ तादात्मय स्थापित कर रसमय होने में सहायक है। आदर्शवादी साहित्य में अपने आदर्श के अनुकूल काव्य को ढालने की प्रवृत्ति होती है, इसलिए उसमे रस-व्यंजना की प्रधानता

होती है, पर यथार्थवादी काव्य में सोद्देश्यता के इस तत्त्व के आवश्यक नहीं होने के कारण प्रभावान्विति की प्रधानता होती है। इस मनोवैज्ञानिक भिन्नता के स्पष्ट प्रभाव को प्राचीन भारतीय महाकाव्यों और पाश्चात्य प्रणाली पर लिखे आधुनिक स्वच्छन्दतावादी महाकाव्यों के तुलनात्मक अध्ययन में देखा जा सकता है।

रस और मनोविज्ञान—रस और उसके उपादानों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस युग में अधिक महत्त्व पाता जा रहा है। फ्रायड के मनोविश्लेषण (साइको एनालाइसिस) के सिद्धान्त ने बहुत अंशों में आधुनिक आलोचनात्मक पद्धति को प्रभावित किया है और अब आलोचना के प्रकारों में मनोवैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली का मान बढ़ता जा रहा है। फ्रायड ने साहित्य को भी अतृप्त वासनाओं की तृप्ति का एक साधन माना, क्योंकि उसने जीवन की सम्पूर्ण गति-विधियों में इसकी प्रधानता मानी है। सहजात प्रवृत्ति से प्रभावित स्त्री-पुरुष एक दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं। उसकी दृष्टि में सुख-संभोग की प्रवृत्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है किन्तु मानव जाति पर समाज की नीति और मर्यादा का अंकुश होता है। वह इसी अर्थ में पशुओं की अपेक्षा अधिक परवश है। कामप्रवृत्तियाँ पशु और मानव में प्राय: एक-सी हैं, पर सामाजिक प्रतिबन्ध के कारण ये वासनाएं दब-सी जाती हैं, मरती नहीं। ये दबी इच्छाएं ही किसी न किसी रूप में प्रकट होने को व्याकुल रहती हैं।

मन की तीन अवस्थाएं—मन की तीन स्थितियाँ स्वीकार की गयी हैं-चेतन, अचेतन और अर्द्धचेतन। ये तीनों परस्पर सम्बद्ध होते हैं और तीनों में बोधात्मा (ईड), अहँभाव (ईगो) और श्रेष्ठ अंहभाव (सूपर ईगो) में द्वन्द्व चलता रहता है।[1] चेतन मस्तिष्क को बाह्य-जगत का आन्तरिक प्रतिबन्ध माना गया है। इसमें वर्त्तमान का ज्ञान पूर्ण रूप से रहता है। स्मरण-शक्ति के सहारे आवश्यकतानुसार जिसे वर्त्तमान चेतन में लाया जाता है, वही अर्द्ध-चेतन है। चेतन और और अर्द्धचेतन के बीच निरन्तर भावों और विचारों

1 All behaviour is the resultant of the dynamical conflicts between the forces of the id, the superego and the ego. These conflicts and their resolution take place either in the concious or unconcious—The Psycho dynamics of Abnormal Behaviour,

--J. F. Brown, Page 166,

का आदान-प्रदान चलता रहता है। अचेतन मन अर्द्धचेतन की अपेक्षा अधिक दूर रहता है और चेतन में उसे लाने के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता है। पूर्ण रूप से उसे चेतन में लाना भी प्राय: असम्भव है।

अचेतन मस्तिष्क के अस्तित्व के सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचार-धाराएँ प्रमुख हैं—चिकित्सकों की धारणा (मेडिकल कॉन्सेप्ट), दार्शनिकों की धारणा (फिलॉसिफकल कॉन्सेप्ट) और वैज्ञानिकों की धारणा (साइण्टिफिक कॉन्सेप्ट) पहले तो चिकित्सकों ने अचेतन को अमानसिक (नॉनमेन्टल) क्रिया माना, किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मुक्त साहचर्य फ्री एशोसियेशन) और सम्मोहन क्रिया (हिप्नोटिज्म) के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि चेतन की अपेक्षा अचेतन मन ही अधिक प्रभावशाली होता है।

दार्शनिक धारणा हार्टमैन (Hartman) 'मेयर' (Myere) आदि मनोवैज्ञानिकों ने प्रचारित की, जिनके अनुसार अचेतन, मन का वह दुर्बोध अंश है, जिसमें लज्जाजनक और तिरस्कृत विचार, घटनाएँ और मनोभाव निष्क्रय रूप में पड़े रहते हैं। पर वैज्ञानिक युग मे अचेतन मन को व्यर्थ की भावनाओं का कोश नहीं माना जा सकता।

इसी विचार-धारा का सर्वाधिक वैज्ञानिक निरूपण फ्रायड ने किया है, जिसके अनुसार चेतन मन में अहंभाव की प्रधानता है, अचेतन मस्तिष्क में बोधात्मा (ईड) की। अर्द्धचेतन में दोनों का बहुत बड़ा भाग रहता है। बोधात्मा के कारण असामाजिक, लज्जाजनक, दु:खद और अनैतिक अनुभवों के तूफान को चेतना का निवासी अहंभाव दबाकर अचेतन के कारागृह में डाल देता है। ये अनुभव सदैव बाहर निकलने को सक्रिय रहते हैं। पानी में तैरते हुए बर्फ के टुकड़े की भाँति मन का ९।१० भाग पानी में, अर्थात अचेतन में रहता है और सिर्फ १।१० भाग ऊपर चेतन में। चूँकि अचेतन के द्वारा ही चेतन का व्यवहार प्रभावित होता है इसीलिए व्यक्तित्वनिर्माण के लिए उसकी बहुत अधिक आवश्यकता होती है। चेतन के लिए जो व्यवहार आसामन्य होते हैं, अचेतन के लिए वे सामान्य होते हैं।

फ्रायड के बाद युंग ने मन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने फ्रायड की भाँति केवल स्वार्थरत मन के ही अस्तित्व को नहीं माना, बल्कि उसने व्यष्टि मन और समष्टि मन के रूप में मन के दो भाग माने। व्यष्टि मन स्वार्थी होता है, समष्टि मन लोकोपकारी। इसे ही हम साहित्य के आसुरी और दैवी भाव कह सकते हैं।

मन की स्थितियों के विवेचन की आवश्यकता—मन का इतना विवेचन इसलिये किया गया है कि रसोद्रेक के लिए मन की स्थिति की आवश्यकता है। आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि रस हमारे भीतर पहले से रहता है और वह किसी घटना या दृश्य के सहारे उद्‌बुद्ध होकर जाग्रत होता है। श्रद्धा को देखकर मनु के मन में जिस शृंगार की भावना का जागरण हुआ, वह कहीं से आयी नहीं थी, स्वयं उसके मन में थीं, जो श्रद्धा को देखकर जागरित हुई थी। अब प्रश्न यह उठता है कि मन के ये भाव और रस कहाँ रहते हैं ? चेतन में ? नही, वे अर्द्धचेतन मे और कभी-कभी अचेतन में दबे रहते हैं। जैसे, विश्वामित्र के अचेतन में ही कामवासना दबी थी, जो बड़ी कठिनाई से मेनका के कारण उद्‌बुद्ध हुई। अचेतन की दमित इच्छाओं के विस्फोट की ऐसी अनेक कथा भारतीय साहित्य में है। भगवतीचरण वर्मा के चित्रलेखा उपन्यास के कुमारगिरि और राधाकृष्ण के उपन्यास रूपान्तर के सौभरि ऋषि भी इसी तथ्य के प्रमाण हैं। सामान्य व्यक्तियों में ये दमित इच्छाएँ अचेतन की अपेक्षा अर्द्धचेतन मे ही अधिक रहती है।

महाकाव्य में मनकी स्थितियों के उदाहरण—इसी तरह महाकाव्यों में मन की आसुरी और दैवी भावों का जो संघर्ष दिखलाया जाता है, वह युग के अचेतन के व्यष्टि मन (पर्सनल अनकॉन्सस) और समष्टि मन (कलेक्टिव अनकॉन्सस) का ही प्रतीक है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की कैकेयी के मन में वात्सल्य के क्षेत्र में ऐसे ही द्वन्द्व की अवतारणा की गयी है—व्यष्टि मन यह कहता है कि 'राम को राज्य भोगने दो, वह मेरा बेटा ही है, आह, सुख कौन छीने अपने पुत्र का, पति का, सारे परिवार का !' और सामूहिक या समष्टि अचेतन मन यह कहता है कि 'नही-नही स्वार्थ के लिए राष्ट्र को बदनाम मत करो, आर्य सभ्यता-संस्कृति और आर्यावर्त्त की सुरक्षा के लिए राम को वन भेजने का षड्यंत्र करो—

व्यष्टि अचेतन मन—स्पर्श कर गयी कैकेयी के प्राणों को कोमलता एक,
ममता जिसका नाम, स्नेह से होता है जिसका अभिषेक ॥

× × ×

अब होगा सम्राट पहनकर राजमुकुट सुन्दर छविमान।
किस माता का आज विश्व में मेरे जैसा भाग्य महान् ॥

× × ×

तुम्ही सजाओ सिंह द्वार को हर्ष मुग्ध हो स्वर्ग निहार।
रानी, तुम्ही बनो दीपावली शोभा बनो तुम्हीं शृङ्गार॥

× × ×

सुत का मङ्गल, सुख सुत का हे राम तुम्हारी जय हो।
सम्राट बनो तुम जय हो। अभिराम! तुम्हारी जय हो॥[1]

समष्टि अचेतन मन—एक ओर राज्याभिषेक के उत्सव का उल्लास महान।
और दूसरी ओर सभ्यता संस्कृति का अन्तिम आह्वान॥
एक ओर कामना कि राजा बने लोक प्रिय राजकुमार।
और दूसरी ओर प्रश्न क्यों बने नरक मानव-संसार॥[2]

और विजय होती है सामूहिक अचेतन मन की। कैकेयी संकल्प करती है:—

मैं नही राम को बन्दी होने दूँगी।
भव की आशा को कभी न रोने दूँगी॥
हे राम, उठो कर्त्तव्य सम्भालो अपना।
पूरा करदो जग की आँखों का सपना॥[3]

दमित इच्छाएं और महाकाव्य—ये दमित इच्छाएं उदात्त (सब्लिमेटिड) होकर साहित्य-सर्जन मे सहायक होती हैं। महाकाव्यों के नायको के चरित्र-निर्माण और रस-निरूपण में इन दमित इच्छाओ और वासनाओ का उदात्त रूप दीख पड़ता है। इस शक्ति के द्वारा कलाकार अपनी कुंठित इच्छाओं की संतुष्टि करता है। साहित्कारों और कलाकारों के जीवन-चरित्र के अध्ययन से इस के प्रमाण मिल सकते है। किस महाकाव्य में किस रस की प्रधानता है और किस रस के निरूपण में कवि को अधिक सफलता मिली है, उसके कारणों के भीतर भी कवि के व्यक्तिगत जीवन की दमित इच्छाओ का हाथ होता है।

स्थायीभाव और मनोविज्ञान—मनोविज्ञान ने मनोविकार या भाव के तीन रूप माने हैं—मौलिक मनोविकार (प्राइमरी इमोशन), व्युत्पन्न मनोविकार (डिराइव्ड इमोशन) एवं मनोवृत्ति (सेन्टीमेन्ट)। डा० नगेन्द्र ने भय को प्रथम के अन्तर्गत, आशंका को द्वितीय के अन्तर्गत और क्लैव्य को तृतीय के अन्तर्गत माना

१ चतुर्थ सर्ग, पृ० ४२, ४६, ५०
२ चतुर्थ सर्ग, पृ० ५६
३ पंचम सर्ग, पृ० ७७

है।[1] स्थायीभाव और मनोवृत्ति मे अन्तर है, हालाँकि दोनों संचारियों की अपेक्षा अधिक स्थायी हैं। दोनों ही ऐसी मानसिक स्थितियाँ है, जिनमे अन्य भाव संचरित होते है। मनोवृत्ति के समग्र रूप का अनुभव नहीं होता पर उसके संचारियों का अनुभव होता है। पर स्थायीभाव संचारियो के साथ स्वयं भी आस्वादनीय हैं। मनोवृत्तियों की भाँति स्थायी भाव मनोविकारों की आवृत्ति से नही बनते। स्थायीभाव मे प्रवृत्तियों की प्रधानता है, पर मनोवृत्तियों में विचारों की।

हमारे प्राचीन आचार्यो द्वारा स्थायी भाव के जो रूप अंकित किये गए हैं, उनका विवेचन किया जा चुका है। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि बयालीस भावों में से सिर्फ रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा विस्मय और निर्वेद को इसलिए स्थायी माना गया कि ये औरों की अपेक्षा अधिक स्थायी और पुष्ट हैं। अतः ये रस-दशा को प्राप्त होने मे सक्षम है।

अन्य भाव इन नवो के अन्तर्गत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से समाहित कर लिये गए है।

राग और द्वेष के अन्तर्गत भी इन नवों को अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया गया है। रति, हास, उत्साह, विस्मय राग के अन्तर्ग एवं शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा द्वेष के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। निर्वेद को दोनों का सामंजस्य-विन्दु माना जा सकता है। मनोविज्ञान इन्हें ही क्रमशः प्रेम एवं नाश की प्रवृत्तियाँ (लिविडो एण्ड थैन्टस)मानता है। फ्रायड के काम[2] और एडलर के हीनभाव[3] के सिद्धान्त भी इन्हीं के रूपान्तर हैं।

---

१ रीति काव्य की भूमिका, पृ० ६७

2 Freud found, however, nothing in the infant which could be charcterised as a specific sex impulse; on the contrary, sexual manifestations were so extraordinarily 'polymorphous' that it seemed wiser to use the term 'sexuality' to mean the whole bundle of dispositions which are connected with the love of life, whether associated with the organs of sex or not.

—*C*ontemporary Psychological System, Gardner Murphy, P. 317

3 The child is actually weak and inferior, but he combats this feeling by asserting himself as far as posible and by

रस की अलौकिकता और मनोविज्ञान—मनोविज्ञान हमारे आचार्यों की भाँति रस को अलौकिक या ब्रह्मानन्द सहोदर नही मानता। उसने अभिरुचि की प्रधानता मानते हुए उसी के अनुसार व्यक्तियों द्वारा रसों के प्रति आकर्षण का भेद और स्तर स्वीकार किया है। भरतमुनि के प्रतिपादन के सम्बन्ध में भी मनोविज्ञान ने यह बतलाया है कि उन्होंने रस को अलौकिक नहीं माना। उसका विवेचन तो नाट्य-शास्त्र के अन्तर्गत किया गया है जिसका उद्देश्य मनोरंजन है।[1]

करुण रस से आनन्द की प्राप्ति—करुणा रस से पाठकों या दर्शकों को आनन्द की प्राप्ति क्यों होती है, इस सम्बन्ध में हमारे साहित्याचार्य यह मानते हैं कि दुख लौकिक और रस अलौकिक स्तर पर पहुँच जाने पर रसमय होकर सुख का कारण बन जाता है।[2] आज के मनोवैज्ञानिक रस की अलौकिकता के कारण दुख में सुख की अनुभूति नहीं मानते। उनका विचार है कि मनुष्य की यह विशेषता है कि वह सामाजिक होने और मानवीय गुणों से सम्बद्ध होने के कारण स्वभावत: दुखियों के प्रति सहानुभूति रखने और कष्ट-निवारण में हाथ बँटाने में सुख का अनुभव करते हैं। यदि यह बात नहीं

---

aspiring to grow up and be superior. Every one, Adler said, has a fundamental will for power, an urge toward dominance and superiority. If an individual feels himself inferior in some respect, he is driven by the feeling of inferiority toward a goal of superiority. —Contemporary Schools of Psychology, Robert S. Woods- worth, Page 193.

1 It is definitely not in search of any perennial Bliss that thousands of the enthusiastic cinemagoers assemble at the picture house every day and in each city....Even according to Bharat, the theatre is for the sake of enter tainment.

—Psychological Stuides in Rasa, Dr. Rakesh Gupta, Page 4

२ ......जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुखात्मकता छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं।

—साहित्यालोचन, डा० दास, पृ० २११

होती तो अनाथालय, विधवाश्रम आदि संस्थाएँ खोलने तथा दुखी-दरिद्रों की सेवा करने मे मनुष्य स्वेच्छा से आगे नहीं बढता। यही कारण है कि शृंगार-रस के काव्य से भी मन उचटने या थकने पर आनन्द नहीं पाता। रुचि और आनन्द प्रायः रस की दिशा में घनिष्ट रूप से पर्यायवाची हैं।

रस के विभिन्न स्तर—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से एक बात और विचारणीय है कि साहित्याचार्यो ने माने तो नौ ही रस, लेकिन प्रत्येक रस के भीतर अवस्था-भेद से अन्तर आ जाता है। हम करुण रस को ही ले! एक सन्त के हृदय मे किसी पापी को देखकर जो करुणा उत्पन्न होती है, वह उन्ही के द्वारा दुखियो को देखकर उत्पन्न करुणा से भिन्न है। रसानन्द के मात्रा-भेद का एक कारण व्यक्ति द्वारा अपने आपको भूल जाने की क्षमता भी है। जहाँ अपने आप को भूलकर व्यष्टि समष्टि में लीन हो जाता है वहाँ आनन्द की वर्षा होती है। हर व्यक्ति की उदारता के अनुसार उसकी समष्टि बड़ी या छोटी होती है।

रुचि और संस्कार का मनोविश्लेषण—काव्य के रसास्वादन के लिये व्यक्तिगत रुचि के साथ मनुष्य के स्वभाव और संस्कार का भी मनोविश्लेषण आवश्यक है। यही कारण है कि भक्ति रस के काव्य में भी शृंगारियों को शृंगार रस का तथा शृंगार रस के काव्य में सन्तो को भक्ति का आनन्द मिलता है। यह तो रसिक की विशेषता होती है कि वह अपने मनोनुकूल रस को ढूँढ़ लेता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि नीरस रचनाओं में भी सरसता ढूँढी जा सकती है। मर्रे तथा रोर्सा (Murray and Rorsehash) ने व्यक्तित्व की जाँच के लिये मनोविज्ञान में जिन आरोपणात्मक विधियों (Projective methods) का निर्माण किया है, उनमें तो यहाँ तक प्रमाणित किया गया है कि मनुष्य अस्पस्ट और निरर्थक रेखाओ और विन्दुओं के भीतर अपने मनोनुकूल चित्रों को पा लेता है; फिर यदि व्यक्ति रसों के भीतर अपने मनोनूकूल सुखोपलब्धि कर सके तो इसमें आश्चर्य क्या!

काव्यानन्दः मस्तिष्क की प्रतिक्रिया—मनोविज्ञान के अनुसार काव्य का आनन्द भी मस्तिष्क की ही एक प्रक्रिया है जो काव्य की अनुभूति की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया के कारण सहृदय के मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले विविध बोधों के द्वारा सम्पन्न होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विभाव-अनुभाव—मनोविज्ञान में संवेग के जो तीन कारण माने गए है—उत्तेजक कारण, मानसिक प्रभाव तथा शारीरिक चेष्टाओ में परिवर्त्तन । इनमे विभाव को उत्तेजक तत्त्व और अनुभाव को शारीरिक चेष्टाओ और प्रभावों से सम्बद्ध माना जा सकता है । रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं और शास्त्रीय भाषा मे हम जिसे अनुभाव कहते हैं, वे शारीरिक लक्षण ही है । अनुभावो का एक प्रकार कायिक भी है, पर मानसिक और सात्त्विक अनुभावो के साथ भी मनोवैज्ञानिक संवेग के शारीरिक परिवर्त्तनो की समता देखी जा सकती है । 'जेम्स लांजे' के सिद्धान्त के अनुसार जब अचानक कोई संवेगात्मक परिस्थिति किसी के सामने आ जाती है तब उसमे आवेग उत्पन्न होता है और वह बृहन्मस्तिष्कीय बल्क (सेरिब्रल कॉर्टेक्स) मे जाता है और वहाँ से पेट एवं अंतड़ियों की मांस पेशियो मे पहुँचता है । इस तरह वहाँ जो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ होती है उनके फलस्वरूप पुनः आवेश उत्पन्न होते है और उनके बृहन्मस्तिष्कीय बल्क में जाने पर संवेग की अनुभूति होती है ।[1] उनके अनुसार ऐसी बात नही है कि उस क्रोध या भय की अनुभूति होने से मनुष्य रोता, आक्रमण करता या काँपता है, बल्कि स्थिति इनके विपरीत है ! जेम्स के इस कथन से स्पष्ट है कि पहले शारीरिक परिवर्त्तन होते हैं तब कहीं संवेगों का अनुभव होता है । जेम्स के इस सिद्धान्त से रस-निष्पत्ति के समय प्रकट हुए अनुभावों के सम्बन्ध मे हम पूर्णतः स्वीकार नही कर सकते । काव्य या नाटक में रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया में अनुभव एक सहायक तत्त्व है । इसलिए शारीरिक परिवर्त्तन उस रूप में पहले नहीं होते, जिस रूप में जेम्स मानता है ।

डा० राकेश ने सभी स्थायी भावों और चौदह संचारी भावों को मानसिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला माना है । उन्होने चार संचारियों को आवेग रहित, पॉच संचारियों को केवल शारीरिक संवेदन उत्पन्न करनेवाला तथा शेष संचारियों को मानसिक तथा शारीरिक किसी भी प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करने में सर्वथा अक्षम माना है । डा० राकेश ने इन तथ्यों के लिए पूर्ण वैज्ञानिक

---

1 We feel sorry because we cry, angry, because we strike afraid because we tremble; and not that we cry, strike or tremble because we are sorry, angry or fearful as the case may be. —Psychology : Briefer Course, W. James Page 373.

प्रमाण तो नही दिए है,[१] पर इतना ठीक है कि सभी संचारियों के प्रभाव एक-से शक्तिशाली नही होते।

नाट्यशास्त्र के आधार पर डा० राजेश्वर प्र० चतुर्वेदी ने सात्त्विक अनुभावों को अन्य अनुभावों से श्रेष्ठ इसलिए माना है कि वे न तो अनुकरणीय हैं और न उन पर नियंत्रण ही किया जा सकता है।[२] यह ठीक है कि स्वाभाविक रूप से ये सात्विक अनुभाव (स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय) उत्पन्न नही किये जा सकते, किन्तु आजकल अभ्यास, अभिनय-कला-चातुरी एवं अन्य यांत्रिक अथवा वैज्ञानिक रीतियों से रंगमंचो और चलचित्रो में ये अनुभाव बहुत दूर तक उत्पन्न किए जाते हैं। मैंने अनेक बार अभिनेता पृथ्वीराज में अभिनय करते या अभिनय-कला के सम्बन्ध में भाषण करते हुए (अभिनय-कला के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए) ये अनुभाव उदित होते देखे हैं। यह किसी वैज्ञानिक प्रक्रिया का नही, मनोवैज्ञानिक स्थिति में अपने को कल्पित कर लेने की साधना का प्रमाण है।

लौकिक और अलौकिक रति—श्रृंगार का स्थायी भाव रति है और आज के पौरस्त्य विचारक इस तथ्य को स्वीकार करते है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से लौकिक रति के बिना अलौकिक रति संभव नही है। अन्तर केवल आलम्बन का होता है। सामान्य और अलौकिक रति के लिए एक ही स्थान है मानव-हृदय।[3] पाश्चात्य विचारक भी इसे ही प्रकारान्तर से स्वीकार करते है।[४]

---

1 Psychological Analysis of Rase, Page 144

२ अनुभावों के सम्बन्ध में एक बात और समझ लेनी चाहिए। सात्त्विक अनुभव अन्य प्रकार के अनुभवो से भिन्न होते है, अन्य अनुभावों की भांति इन पर किसी प्रकार का नियंत्रण नही लगाया जा सकता है। इनका इच्छापूर्वक अनुकरण नहीं किया जा सकता। सात्विक भाव मन में उत्पन्न होते है, परन्तु वे मन की दशा नही हैं।

—रीतिकालीन कविता एवं श्रृंगार रस का विवेचन, पृ० ६१

३ लौकिक रति के बिना अलौकिक रति की भावना हो नहीं सकती ....यह रति भी हृदय के उसी कोने मे अपनी झलक दिखाती है, जिसमें लौकिक या अति सामान्य रति।

—साहित्य संदीपणी, चन्द्रावली पाण्डेय, पृ० ६

४ Infact, emotions have just as much or as little to do with the religious experience as they have with the experience of love between man and women.

—The Psychology of Sex, Oswald Schwarz, Page.94-95.

देवताओं या पूज्य व्यक्तियों के प्रति रति-भाव उसी रूप में होते हैं, जिस रूप में कवि या नाटककार मे हुए हैं—भिन्नता का प्रश्न ही नही उठता।[1]

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने भी भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार किया है कि वैवाहिक सम्वन्ध को स्थायी बनाने के लिए सिर्फ रति-भावना की पूर्त्ति नहीं, एक पूत, स्वर्गीय और अलौकिक सम्बन्ध की भी आवश्यकता है। इसी स्तर पर आकर श्रृंगार रस को अलौकिकता का ध्यान हो आता है। हरिऔध ने अपने महाकाव्य वैदेही वनवास मे सीता के मुख से विवाह के पवित्र रूप को हमारे सामने रखा है—

किन्तु देखती हूँ मैं यह बहु-घरों में,
सदाचरण से अन्ययाचरण है अधिक।
कभी-कभी सुख लिप्सादिक से बलित चित्त,
सत् प्रवृत्ति हरिणी का बनता है बधिक॥
यदि यथेच्छा आहार-विहार उपेत हो,
नरनारी जीवन, तो होगी अधिकता—
पशु-प्रवृत्ति की ओ उच्छृङ्खलता बढ़े।
होवेगी दुर्दशा - मर्दिता - मनुजता॥
इसीलिए है विधि - विवाह का पूततम,
निगमागम द्वारा है वह प्रतिपादता।
है द्विविधा हरती कर सुविधा का सृजन,
वह दे, वसुधा को दिव जैसी दिव्यता।
जिससे होते एक हैं मिल दो हृदय,
सरस-सुधा-धाराएँ सदनों में बही।
भूति-मान बनते हैं जिससे भुवन जन,
वह विधान अभिनन्दित होगा क्यों नही।

हरिऔध का यह विचार 'नाइट डनलप' के इस विचार का ही सिद्धान्त-रूप है

---

१ कवि द्वार वर्णित देवताओं का रति-भाव दर्शकों को उसी प्रकार प्रभावित करेगा, उसी भावना की सृष्टि करेगा जिस भाव की अनुभूति कवि या नाटककार ने स्वयं की है। उससे भिन्न भाव की सृष्टि हो ही नहीं सकती। क्योंकि कवि की रचना में उससे भिन्न भाव की स्थिति ही नही है।

—नया साहित्य, नये प्रश्न, आचार्य वाजपेयी, पृ० १२१

Many cases of marriage failures come to the psycologist fer adjustment. Cases in which in spite of the real attachment of husband and wife, and the desire of both to realise a spiritual union, the union is not attained and the family has begun to disintegrated.

× × ×

The approach to the physical is by way of spiritual, when the woman has been wooed and won into spiritual harmony, she will give herself to passionate expression of love with free and full abondons. And only so can the men also experience fulfilment of love[1]

काम के तीन रूप—काम के तीन प्रकार है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सात्त्विक काम दिव्य जीवन का प्रेरक होता है, राजसिक काम सांसारिकता की ओर प्रेरित कर सुख-दुख की अनुभूति कराता है और तामसिक काम जीवन को पशुता और दानवता की ओर ले जाता है। प्रसाद ने अपनी कामायनी मे काम के इसी सात्त्विक रूप को सर्वश्रेष्ठ मानकर सराहा है—

दु.ख के डर से तुम अज्ञात,
जटिलताओ का कर अनुमान
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बन कर अनजान।
कर रही लीलामय आनन्द,
महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम,
इसी मे सब होते अनुरक्त
काम-मङ्गल से मण्डित, श्रेय,
सर्ग इच्छा का है परिणाम।
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल भवधाम।[2]

शृंगार रस और सौन्दर्य-भावना—शृंगार रस के साथ सौन्दर्य-भावना सम्बद्ध होती है। सौन्दर्य का आधार भी मनोबैज्ञानिको ने यौन-

1 Quoted from 'The Sexual Side of Marriage, M. J. Exner. Page—49-50 and 71.

२ श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३

भावना को माना है, जिसमे प्रेम की प्रगाढ़ता, कामवेग, शारीरिक बल, प्राप्ति-आकांक्षा की गहनता, तृप्ति-अतृप्ति आदि तथ्य काम करते हैं।[1] इसके अतिरिक्त आयु, व्यक्ति-साहचर्य, विरलता, अप्राप्यता, शिक्षा-संस्कृति आदि भी सौन्दर्य-भावना को प्रभावित करनेवाले तत्त्व है।

कल्पना, प्रतिभा और आत्मीकरण—मनोविज्ञान मानता है कि कवि और कलाकार अपनी अपूर्ण इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए प्रतिभा, कल्पना और आत्मीकरण (आइडेण्टीफिकेशन) के द्वारा अपनी रचनाओं मे विभिन्न रूप धारण कर आत्म-तुष्टि पाते हैं।[2] रसोद्रेक के लिए यह आवश्यक भी है कि कवि और कलाकार अपनी भावनाओ के विस्तृत क्षेत्रो से अपना तादात्म्य स्थापित करे।

शृंगार रस के चित्रण में साहित्य में ऐसे अनेक चित्र मिलते हैं, जिनमें नायक-नायिका अपने सौन्दर्य और शृंगार पर आप रीझते नजर आते हैं। बार-बार दर्पण में रूप निहार कर उल्लास का अनुभव करते है। मनोविज्ञान 'नार्सिसिज्म' के सिद्धान्त से इसकी व्याख्या करता है।[3] यह रस-प्रक्रिया के उद्दीपन के रूप में ही परिगणित किया जा सकता है।

---

1 The psychology of Beauty, Dr. B. L. Ateya, B. H. U., Journal Golden Jublee Number, 1942.

2 Art brings about a reconciliation of the two principles in pleasure principle and phantacy in peculiar way. The artist ie originally a man who turns from reality because he can not come to terms whith the demand for the renunciation of instinctual satisfactiou as it is first made, and who then in phantacy life allows full play to his erotic and ambitious wishes. But he finds a way of return from this world of phantacy back to reality, with his special gifts he moulds his phantacies into a new kind of reality, and men concede them a justification as valuable reflection of actual life.

—A genral Selection from the work of Sigmund Freud, Edited by John Rickman, Page 65.

3 The word narcissism.........was chosen.. ... . to denote the attitude of a person who treats his own body in the same way as otherwise the body of a sexual object is treated

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में भाव और रस

प्रियप्रवास



रस और उसके प्रयोग के शिल्प—प्रियप्रवास मे शृंगार, करुण एवं वात्सल्य रसों की व्यंजना का प्रयास है। संयोग से अधिक वियोग के चित्र हैं। यशोदा के माध्यम से वात्सल्य का तथा राधा के माध्यम से एक प्रेमिका की विरह-भावना का चित्रण किया गया है।

विप्रलम्भ शृंगार और वात्सल्य रस की व्यंजना के लिए विस्तृत और स्वतन्त्र पृष्ठभूमि चित्रित नहीं हो सकी है। फिर भी दोनों के मार्मिक चित्रण सहज मिल जाते हैं। प्रियप्रवास के वियोग वर्णन के दो रूप हैं—जिनमें एक का सम्बन्ध प्रणय से और दूसरे का पुत्र-वियोग से है। राधा और गोपियों ने जो प्रलाप किए हैं, वे प्रवास-विप्रलम्भ और करुण रस के अन्तर्गत आयेंगे; क्योंकि विलम्भ के जो चार प्रकार माने गए हैं, उनमें पूर्व राग और मान के साथ प्रवास और करुण भी है। प्रियप्रवास के अन्त में करुण रस की प्रधानता हो गई है, क्योंकि विप्रलम्भ के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिणति सम्भोग में हो किन्तु करुण मे आद्यन्त शोक रहता है।[1] प्रियप्रवास की करुणा ही उदात्त होकर शान्त रस की ओर उन्मुख हो गयी है।

प्रियप्रवास के वियोग वर्णन का क्षीण आधार राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण के संयोग का स्मरण है। प्रथम सर्ग में कृष्ण के संयोग-पक्ष की सरसता और उल्लास का वर्णन है—

उछलते शिशु थे अति हर्ष से,
युवक थे रस की निधि लूटते।

---

that is to say, he experiences sexual pleasure in gazing at, Caressing and fondling, his body, till complete gratification ensues upon these activities, Ibid Page 138.

१ ···विप्रलम्भ और करुण में मुख्य अन्तर यही है कि विप्रलम्भ का स्थायी भाव रति है और करुण का स्थायी भाव शोक है। विप्रलम्भ में सम्भोग की परिणति होना आवश्यक है किन्तु करुणा में आरम्भ से अन्त तक शोक ही रहता है। इसमें मिलन की आशा नितान्त उन्मूलित हो जाती है। प्रिय-प्रवास में भी पीछे चलकर आशा एकदम निरस्त हो गई है और राधा एक ऐसे पथ की पथिक हो जाती है जो उसे शान्त रस की ओर प्रवृत्त कर देता है।

—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृ० १२१

जरठ को फल लोचन का मिला,
निरख के सुषमा सुख मूल की।
बहुविनोदित थी व्रज-बालिका,
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़ती।
बलि गयीं बहुबार वयोवती,
लख अनुपमता व्रज चन्द की।[1]

संयोग के इस प्रभाव को बढ़ाने के लिए कृष्ण का सौन्दर्य उद्दीपन का काम करता है—

मुदित गोकुल की जन मण्डली,
जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी।
निरखने मुख की छवि यों लगी,
तृषित चातक ज्यों घन की घटा।[2]

इन थोड़े से चित्रों के आधार पर विरह की विशद व्यंजना की गई है—संयोगावस्था की वे ही सुखद बातें वियोगावस्था मे दुखद बन जाती हैं—

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएँ,
थोड़ी सी भी न सुखद हुई हों गयी वैरिणी-सी।
भीनी-भीनी महक मनकी शान्ति को उन्मूलती थी,
पीड़ा देती व्यथित चित्त को वायु की स्निग्धता थी।
× × × × ×
न्यारी-छटा निरखना दृग चाहते हैं,
है कान को सुयश भी प्रिय श्याम ही की।
गा के सदा सु-गुण है रसना अघाती,
सर्वत्र रोम तक में हरि ही रमा है।,[3]

कोकिल, पवन और भ्रमर को सम्बोधित कर कवि ने राधा के वियोग-वर्णन को और मार्मिक बना दिया है—

मदीय-प्यारी-अयि कुंज-कोकिला।
मुझे बता तू ढिग कूक क्यों उठी॥

---

१ प्रथम, सर्ग, पृ० २८-२९

२ पृष्ठ पाँच—पद, २६

३ षष्ठ सर्ग, पद २९ और द्वादश सर्ग, पद ७६

बिलोक मेरी चित्त-भ्रान्ति क्या बनी।
विषादिता संकुचिता निपीड़िता ॥
× × ×
विषादिता तू यदि कोकिल बनी।
बिलोक मेरी गति तो कहीं न जा
समीप बैठी सुन गूढ़-वेदना।
कुसगजा, मानसजा, मदंगजा ॥
कब टल सकता था श्याम के टालने से।
मुख पर मँडलाता था स्वयं मत्त होके ॥
यक दिन वह था औ एक है आज का भी।
जब भ्रमर न मेरी ओर तू ताकता है ॥[1]

आधुनिक आलोचकों ने जिसे सख्य रस माना है, वह भी प्रियप्रवास में है, जो करुणा-विगलित है। कृष्ण की गोपियाँ ही नहीं, सखा भी उनके विरह में शोकाकुल है—

जो ग्वाले थे मुदित अति ही मग्न आमोद में हो,
ही आहों से मथित अब मैं क्यों उसे देखता हूँ।
भर-भर निज आँखों में कई बार आँसू।
फिर कह मृदु - बातें श्याम - संदेश पूछा।[2]

प्रियप्रवास में करुण की व्यापकता विप्रलम्भ शृंगार से अधिक दिखलाई गई है। केवल गोप-गोपिकाएँ, राधा, पुरवासी ही नहीं, समस्त चराचर शोक-रत हैं। चिन्ता का एक उदाहरस देखें—

पत्ते-पत्ते सकल तरु से औ लता बेलियों से।
कोने-कोने बृज सद्न से पंथ की रेणुओं से ॥
होती-सी-थी यह ध्वनि सदा कुंज से काननों से।
लोने-लोने कुँवर अब लौं क्यों नही सद्म आये।[3]

यहाँ व्रजभूमि, तरु-लता, पशु-पक्षी शोकोद्दीपन बन जाते हैं। क्योंकि इन्हे देख कर ही मनोविज्ञान की साहचर्य-भावना के कारण अतीत की सुखद स्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं—

---

१ पंचदश सर्ग पद, ८८, ९०, ७६

२ अष्टम सर्ग, पद २०, और एकादश सर्ग, पद, २।

३ षष्ठ सर्ग, पद १०

सलिल प्लावन से जिस भूमि का।
सदय होकर रक्षण था किया॥
अहह आज वही ब्रज की धरा।
नयन - नीर - प्रबाह निमग्न है।[1]

सारे ब्रजवासी अपना सर्वस्व देकर कम से कम एक पल को भी कृष्ण-दर्शन की आकांक्षा रखते हैं। विप्रलम्भ की एक दशा, 'अभिलाषा' का चित्र कितना मार्मिक है—

न वित्त होता धन रत्न डूबता।
स भूमि गोवंश असंख्य छूटता॥
समस्त जाता तब भी न शोक था।
सरोज सा आनन जो विलोकता॥

अतीव उत्कंठित सर्वकाल हूँ!
विलोकने को एक बार और भी॥
मनोज - वृन्दावन-व्योम अङ्क में।
उगे हुए आनन कृष्णचन्द को॥[2]

प्राचीन और नवीन स्थितियों के तुलनात्मक वैषम्य के कारण करुणा को और प्रभावशाली बनाया गया है। रसोद्बुद्धि का यह शिल्प दर्शनीय है—

मेरी आशा ललित-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले-पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे॥
हीरे के थे कुसुम, फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंठियाँ थी॥

ऐसी आशा-ललित-लतिका हो गयी शुष्क-प्राया।
सारी शोभा रतन जनिता नित्य है नष्ट होती॥
जो आवेगा न अब ब्रज में श्याम सतकान्तिशाली।
होगी हो के विरस वह तो सर्वथा छिन्न-मूला॥[3]

करुणा को उभारने के लिए हरिऔध ने चरित्र-परिवर्त्तन के शिल्प को अपनाया है। केवल व्रजवासियों को ही शोकाकुल नहीं दिखलाकर स्वयं कृष्ण

१ द्वादश सर्ग, पद ७१
२ एकादश सर्ग, पद ९८-९९
३ दशम सर्ग, पद ७९-८०

को भी व्यथित दिखलाया है । इस तरह करुणा द्विगुणित और सहानुभूति-सम्मत हो जाती है ।—

शोभा-अद्भुत शालिनी व्रज-धरा प्यारी पगी गोपिका ।
माता प्रीतिमयी, सनेह-प्रतिमा, बात्सल्य-धाता पिता ।।
प्यारे गोप-कुमार, प्रेम-मणि के पाथोधि से गोप वे ।
भूले हैं न-सदैव, याद उनकी देती व्यथा है हमे ।।[१]

उद्धव भी कृष्ण की इस वियोग दशा का करुण वर्णन गोपिकाओं के समक्ष प्रस्तुत करते हैं—

सांय - प्रात: प्रति पल घटी है इन्हें याद आती ।
सोते में भी ब्रज अबनिका स्वप्न वे देखती हैं ।।
कुंजो में ही मन मधुप सा सर्वदा घूमता है ।
देखा जाता तन भर भर वहाँ मोहिनी मूर्त्ति का है ।।[२]

स्थायी भाव शोक की पराकाष्ठा एक तुनुक अभिलाषा की कैसी हृदय-द्रावक और कमनीय कल्पना में व्यंजित हुई है—

विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं ।
मम तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना ।।
उस पर अनकूला हो उडी मंजुता से ।
कल कुमुम अनूठी श्यामता के उगाना ।[३]

यहाँ हिन्दी साहित्य में अद्वितीय माने जाने वाले नागमती के विरह-वर्णन से भी अधिक मार्मिकता है, क्योंकि उसमें मरने के बाद प्रियतम के चरणों में राख बनकर लिपटने की कामना है;[४] पर राधा के कथन में तो शारीरिक स्पर्श की गन्ध भी नहीं है । केवल प्रिय के वर्ण श्यामता के प्रति आकर्षण दिखलाया गया है, जो त्याग से महिमा-मण्डित है ।

---

१ नवम सर्ग, पद ४

२ चौदहवां सर्ग, पद १८

३ पन्द्रहवां सर्ग, पद ११५

४ यह तन जारौं छार के कहौं कि पवन उड़ाव
मकु तेहि मारग उड़ि चलै कंत धरै जहं पांव ।

—जायसी ग्रन्थावली, पृ० १५५ ।

पिछले पृष्ठों में मनोवैज्ञानिक 'युंग' के समष्टि मन या आचार्य विश्वनाथ प्र० मिश्र द्वारा निर्देशित जिस माया रस के वर्णन किये गये हैं, उनके प्रतिपादन का स्वरूप प्रियप्रवास के अन्तिम सर्गो में देखा जा सकता है, जब राधा का शोक उदात्त या परिशोधित (सब्लिमेटेड) होकर लोक-सेवा के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है। वह अपनी सम्पूर्ण करुण कथा को भूलकर अपना जीवन दुखीजनों की सेवाराधना में लगा देती हैं और प्रियतम के स्वरूप को विश्व के कण-कण में देखने लग जाती हैं—

पाई जाती विविध जितनी वस्तु है जो सबों में।
मैं प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ॥
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों में मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा॥
संत्रस्तों को शरण मधुरा-शान्ति संतापितों को।
निर्बोधों को सुमति विविधा औषधी पीड़ितों को॥
पानी देना तृषित जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना-संज्ञका है॥[1]

आत्मा की यही उदात्त अवस्था, करुणा का यही महान रूपान्तर आगे चलकर निर्वेद में परिणत हो जाता है।[2]

जो थीं कौमार व्रत निरता बालिकाएँ अनेकों,
वे भी पा के समय ब्रज में शान्ति विस्तारती थीं।
श्रीराधा के हृदय-बल से दिव्य-शिक्षा गुणो से,
वेभी छाया-सदृश उनकी वस्तुत: हो गयी थीं।[3]

वात्सल्य—प्रमुखत: यशोदा और यत्र-तत्र नंद के माध्यम से वात्सल्य रस का सुस्पष्ट और सफल चित्रण प्रियप्रवास में किया गया है। वात्सल्य का संयोग पक्ष श्रृंगार के संयोग पक्ष की भाँति ही क्षीण और वियोग-पक्ष उसी

---

१ षोडश सर्ग, पद १०५, १२४

२ काव्य के अन्त में वह करुणा, जो पहले वेगवती वर्षाकालीन निम्नजा के समान मोह-कर्दम-कलुषित, उद्दाम गति से प्रवाहित होती है, कुछ मन्द पड जाती है, और उसमें निर्वेद और आत्म-त्याग की शरत्कालीन शान्ति तथा प्रणय की प्रसन्नता छा जाती है।
—महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, डा० शास्त्री, पृ० १३०।

३ सप्तदश सर्ग, पद ५१

तरह पुष्ट है। यहाँ तक कि कृष्ण-यशोदा के संयोग काल में भी वेदनामय वातावरण का सृजन किया गया है, क्योंकि कृष्ण के ब्रज से मथुरा जाने की बेला आ गई है—

निकट तल्प सुकोमल श्याम के,
कलपती जननी उपविष्ट थी।
अति-असंयत अश्रु-प्रवाह से,
बदन-मंडल प्लावित था हुआ।[1]

साथ ही, मातृ-हृदय कंस की दुष्टता से भयाक्रान्त और प्रिय के क्षेम के लिए चिन्ता-ग्रस्त है—

वह कभी बनती अतिभत्त थी,
सुअन प्रात प्रयाण प्रसंग से
व्यथित था उनको करता कभी,
परम-त्रास महीपति कंस का।[2]

जब कबि अपने वर्णन को संक्षिप्त, प्रभावशाली और सांकेतिक बनाना चाहता है, तब वह प्रतीक या चित्र के निर्माण के शिल्प का आश्रय लेता है। यहाँ भी मातृ-हृदय की परवशता, कातरता और उद्विग्नता को व्यंजित करने के लिए कवि ने दीपक का सहारा लिया है, जो सांकेतिक और चित्रात्मक है—

महरि का यह कष्ट विलोक के।
धुन रहा शिर गेह-प्रदीप था।
सदन में परिपूरित दीप्ति थी।
सतत थी महि-लुंठित हो रही।
पर बिना इस दीपक-दीप्ति के।
इस घड़ी इस नीरव-कक्ष में।
महरि का न प्रबोधक और था।
इसलिए अति पीड़ित वे रहीं।
वरन् कम्पित शीश प्रदीप भी।
कर रहा उनको बहु-व्यग्र था।

---

१ तृतीय सर्ग, २८
२ वही, ३०

अति समुज्ज्वल-सुन्दर-दीप्ति भी ।
मलिन थी अति ही लगती उन्हे ।[१]

माता यशोदा के वात्सल्य-चित्रण के प्रसंग मे कृष्ण की लौकिकता नष्ट नही हुई है, इसलिए वात्सल्य-रस की निष्पत्ति में बाधा नहीं खड़ी होती। माँ एक सामान्य पुत्र के सामने विपदाओं का पहाड देखकर जैसे दुखी हो सकती है, वैसे ही यशोदा भी दुखी हुई है, कृष्ण का ब्रह्मत्व रस-व्याघात नहीं कर सका है—

विकट-दर्शन कज्जल-मेरु-सा ।
गज-सुरेन्द्र समान पराक्रमी ।
द्विरद क्या जननी उपयुक्त है ।
यक पयो-मुख बालक के लिए ।।

व्यथित हो कर क्यो बिलखूँ नहीं ।
अहह धीरज क्यों कर मैं धरूँ ।
मृदु-सारंग-शावक से कभी ।
पतन हो न सका हिम शैल का ।।[२]

वत्सल से भरा यशोदा का मन इतना विह्वल हो जाता है कि वह अपने पति बुद्धिमान नंद को भी कृष्ण की छोटी-छोटी सुविधाओं का स्मरण दिलाती है। यशोदा के इस कथन मे पुत्र-प्रेम की अतिशयता और आर्त्त मन की स्नेहार्द्रता ही है—

सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही ।
नही कुंवर कही भी आज लौ हैं सिधारे ।।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना ।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे ।।

खर पवन सतावे लाड़िलों को न मेरे ।
दिनकर किरणों की ताप से भी बचाना ।।
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना ।
मुख सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे ।।[३]

---

१ वही, ३४-३६
२ तृतीय सर्ग, ६१-६२
३ पंचम सर्ग, ४९-५०

कभी-कभी अन्ध-विश्वासों के चित्रण-शिल्प के द्वारा भी मनोभावों की सुन्दर व्यंजना होती है। माता यशोदा कृष्ण के आने के लिए देवी-देवता मनाती है, शकुन कराती है, ज्योतिषियों को बुलवाती है—

प्रतिदिन कितने ही देवता थीं मनाती।
बहु यजन कराती विप्र के वृन्द से थीं।
नित घर पर नाना ज्योतिषी थीं बुलाती।
निज प्रिय सुत का आना पूछने को यशोदा॥[1]

पर नन्द को खिन्न मन अकेला आते देख यशोदा अत्यन्त दारुण-विलाप करती है। सप्तम सर्ग के इस विलाप के सहारे केवल यशोदा की विरह-कथा का चित्रण ही नहीं हुआ है, कृष्ण के रूप-गुण का वर्णन भी हुआ है—

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी।
अनुपम जिसका हूँ शील सौजन्य पाती।
परदुख लख के है जो समुद्विग्न होता।
वह कृति सरसी का स्वच्छ सोता कहाँ है॥[2]

यशोदा अपनी दशा का स्वयं संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करती है—

निज प्रिय मन मणि को जो सर्प खोता कभी है,
शिर पटक धरा पै प्राण है त्याग देता।
मम सदृश मही में कौन पापीयसी है।
हृदय-मणि गँवा के नाथ जो जीविता हूँ॥

लघुतर सफरी भी भाग्य वाली बड़ी है।
अलग सलिल से हो प्राण जो त्यागती है।
अहह! अवनि में मैं भाग्यहीना महा हूँ।
प्रिय-सुत बिछुड़े जो आज लौं जी सकी हूँ॥[3]

इस तरह सप्तम सर्ग ११ से ६३ पद तक विलाप की मार्मिक उक्तियों से भरा है। एक सौ से अधिक पंक्तियों के इस प्रसंग से सरसता के कारण मन ऊबता नही। दुख के प्रवाह में पाठक का मन बहता चला जाता है, रुकता नहीं।

---

१ षष्ठ सर्ग, पद २०
२ सप्तम सर्ग, पद १८
३ वही पद, ४८-४६

यशोदा वियोग मे शास्त्रीय दृष्टि से मरण-दशा को प्राप्त होकर केवल मृतप्राय ही नही दीखती, साक्षात् मृत्यु की कामना करती है। वह अपने प्राणों के बन्धन से मुक्त होकर पुत्र-वियोग की दारुण ज्वाला से छूट जाना चाहती है—

विधिवश इनमें हा ! शक्ति बाकी नहीं है।
तन तज सकने की क्षीणताधिक्यता से।
वह इस अवनी में भाग्यवाली बड़ी है।
अवसर पर सोवे मृत्यु के अङ्क में जो ॥[1]

आठवें सर्ग के गुण स्मरण के बहाने कृष्ण के बाल्य-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गयी है—उनके दूध के दाँत उगने, चलने, हँसने, बोलने आदि सरस रूपों का स्मरण कर ब्रजवासी विकल हो उठते हैं। आठवें सर्ग में स्मरण की दृष्टि से निम्नलिखित तथ्य द्रष्टव्य हैं—

१—जब रहे ब्रजनन्द छः मास के। दसन दो मुख में जब थे लसे।
२—वह उछाल रहे पद कंज थे।
३—उमंगना हँसना उस काल का।
४—ललकते विवि लोचन के लिये।
५—सरस धार सुधा-सम थी हँसी।
६—निकलते मुख-अस्फुट शब्द थे।
७—अजिर मे घुटनों चलते रहे।
८—जब कभी कुछ लेकर पाणि में। वदन में ब्रजनन्दन डालते।
९—चरण भू पर भी पड़ने लगे।
१०—ठुमकते गिरते पड़ते हुए ! जननि के कर की उँगली गहे।
११—जब लगे ब्रज में हरि घूमने।
१२—ग्रहण थीं करती अति-चाव से। तब उन्हें सब सद्म-निवासिनी।
१३—सकल को करते अति मुग्ध थे।
१४—स-बलराम स-बालक मंडली। विहरते बहु मन्दिर में रहे।
१५—विचरते हरि थे अकेले कभी। विविध वस्त्र विभूषण से सजे।

क्षण-क्षण संचरण करने वाले उपर्युक्त स्मरण भाव ब्रजवासियों के वात्सल्य-वियोग को पुष्ट करते हैं और उनके कारण यशोदा की भाँति ही

१ सप्तम सर्ग, पद ५१

वे विकल होकर रो उठते हैं। हरिऔध की यह विशेषता है कि उन्होंने विप्रलम्भ या करुण रस की भाँति ही वात्सल्य को भी सारे ब्रज में विस्तृत कर दिया है, केवल यशोदा तक सीमित नहीं रखा है—

ऐसी बाते विविध कहती प्यार से थीं यशोदा।
होता जाता हृदय उनका उत्स आनन्द का था।
हा! ऐसे ही हृदय-तल मे शोक है आज छाया।
रोऊँ मैं या वह सब कहूँ या मरूँ क्या करूँ मैं॥

यों ही बातें विविध कहके कष्ट के साथ रो के।
आवेगों से व्यथित बन के दुःख से दग्ध होके।
सारे प्राणी ब्रज-अवनि के दर्शनाशा सहारे।
प्यारे से हो पृथक अपने बार को थे बिताते॥[1]

मन्दाक्रान्ता छन्द सिसकती हुई व्यथा से भरी हुई भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है। कालिदास के इस प्रिय छन्द को हरिऔध ने बड़े कौशल से दशम् सर्ग मे यशोदा की विरहावस्था के चित्रणार्थ प्रयुक्त किया है। इस सर्ग की डेढ सौ से अधिक पंक्तियाँ (१५६) मन्दाक्रान्ता छन्द में इस वियोग-वर्णन से भरे विलाप के लिए लिखी गई हैं। इस विलाप मे भी कृष्ण के गुण-स्मरण के अनेक चित्र पिरोये गए हैं।

विशिष्ट घटना या अनुभव को जब कवि सामान्य सिद्धान्त का रूप देता है, तब सामान्यीकरण के इस शिल्प के कारण कथन का महत्त्व बढ़ जाता है, उसमें मार्मिकता और गम्भीरता बढ़ जाती है। हरिऔध ने इस शिल्प का सफल प्रयोग किया है यशोदा के विरह-वर्णन में—

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का।
ऊधो कोई न कल छल से लाल ले ले किसी का।
पूँजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे।
सोने का भी सदन न बिना दीप के हो किसी का।[2]

---

१ अष्टम सर्ग, ६९-७०

२ दशम सर्ग, ६१

इस तरह साहित्य-दर्पणकार ने वात्सल्य रस के जो भी लक्षण लिखे हैं,[1] वे प्रियप्रवास में पूर्णतः उपलब्ध हैं। स्थायी भाव वात्सल्य प्रेम का चित्रण है; यशोदा, नन्द, ब्रज के अनेक वासी आश्रय हैं, कृष्ण आलम्बन हैं, अनिष्ट की शंका, गर्व आदि संचारो हैं। अन्तर इतना है कि संयोग-वात्सल्य न हो, विप्रलम्भ-वात्सल्य होने के कारण आलिगन, अंग-स्पर्श, सिर चूमना. देखना, पुलकना आदि अनुभावों के स्थान पर उनके स्मरण हैं—उनकी अभिलाषा है और आनन्द के अश्रु के स्थान पर वियोग के अश्रु हैं। अतः यहाँ विप्रलम्भ वत्सल माना जाना चाहिए। चूँकि कृष्ण पुनः नही लौटे, इसलिए वात्सल्य मे शोक के कारण इसे करुण वत्सल भी माना जा सकता है।

अन्य रस—कहीं-कही ब्रजवासियों के द्वारा स्मृति रूप में कृष्ण की वीरता का चित्रण भी किया गया है, जिसमें वीर रस का पूर्ण परिपाक तो नहीं होता, वर्णन मिल जाता है—

स्वसाथियों की यह देख दुर्दशा।
प्रचंड-दावानल में प्रवीर से।
स्वयं धँसे श्याम दुरन्त-वेग से।
चमत्कृता-सी वन-भूमि को बना॥[2]

यहाँ दावानल-शमन के लिए कृष्ण का उत्साह स्थायी भाव, प्रचंड दावानल अलम्बन, ब्रजवासियों की दुर्दशा उद्दीपन, शीघ्रता से अग्नि-प्रवेश, अनुभाव एवं धैर्य, गर्व, अमर्ष आदि संचारी माने जा सकते हैं। ऐसे ही गोबर्द्धन-धारण आदि प्रसंगों में वीर रस का चित्रण हुआ है।

ऐसे ही कुछ उदाहरण अद्भुत रस के भी देख जा सकते हैं—

फिर अचानक धूलिमयी महा।
दिवस एक प्रचंड हवा चली।

---

१ स्फुटं चमत्कारिता वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्रद्यालम्बनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्ट विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंङ्गनांग-संस्पर्श-शिरस्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्त्तिताः।
संचारीणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः॥

—साहित्य दर्पण,, ३। २५१-२५३

२ एकादश सर्ग, पद ६४

श्रवण से जिसकी गुरु गर्जना ।
कँप उठी सहसा सब दिग्बधू ॥[१]

× × ×

प्रगटती बहु भीषण मूर्त्ति थीं ।
कर रहा भय नृत्य कराल था ।
विकट दंत भयंकर प्रेत भी ।
विचरते तरु मूल सपीप थे ॥[२]

× × ×

उन्हें वही से दिखला पड़ा वही ।
भयावना सर्प दुरन्त-काल था ।
बड़ी बुरी निष्ठुरता समेत जो ।
विनाशता वन्य प्रभूत जन्तु था ।
पला रहे थे उसको विलोक के ।
असंख्य प्राणी बन के इतस्तत: ।
गिरे हुए थे महि में अचेत हो ।
समीप के गोप सधेनु-मंडली ॥[३]

इनमें भय स्थायी भाव है; धूलिमयी हवा, प्रेत और सर्प आलम्बन हैं; प्रचंडता, भीषणता और भयावहता उद्दीपन हैं; कँपना, इधर-उधर भागना आदि अनुभाव हैं तथा त्रास, आवेग आदि संचारी भाव हैं ।

कालिय-दमन के प्रसंग में रौद्र रस का भी उदाहरण देखा जा सकता है—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा ।
विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की ॥
विचार के प्राणि-समूह कष्ट की ।
हुए समुत्तेजित वीर-केसरी ॥
हितैषणा से निज जन्म-भूमि की ।
अपार-आवेश हुआ ब्रजेस को ॥

---

१ द्वितीय सर्ग, पद ३६
२ तृतीय सर्ग, पद १४
३ त्रयोदश सर्ग, ५०-५१

बनी महा वंक गँठी हुई भवें।
नितान्त विस्फारित नेत्र हो गए ॥[1]

यहाँ स्थायी भाव क्रोध है; आलम्बन कालिय नाग है; दुर्दशा, विगर्हणा, परकष्ट, जन्मभूमि-हितैषणा आदि उद्दीपन हैं, जो आवेश उत्पन्न करते हैं और नेत्रो का विस्फारित होना, गँठो भवों का बंक होना आदि अनुभाव हैं।

अन्य रसों के प्रयोग होने पर भी हरिऔध अपनी करुण भावना के लिए प्रसिद्ध हैं। उन रसों और भावों के चित्रण मे पूर्णतल्लीनता और पूर्ण आत्मीयता हैं।[2] डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री के शब्दों में बार बार यही कहने की इच्छा होती है—

कर दिया, प्रस्रवित करके करुण रस,
नीरसों के भी कलेजे को सरस।
जब पिघल कर होय लोहा मोम यों,
मान लें हरिऔध का लोहा न क्यों ?[3]

साकेत



साकेत में श्रृंगार और करुण रस की प्रधानता है। यों वीर, वात्सल्य, अद्भुत आदि रसों का भी यत्र-तत्र समावेश हो गया है। यदि राम को प्रमुखता मिलती तो वीर रस की, और भरत को मिलती तो शान्त रस की संभावना थी। उर्मिला की प्रधानता होने के कारण श्रृंगार का प्राधान्य हो गया है।

संयोग-श्रृंगार—प्रारम्भ में उर्मिला और लक्ष्मण के प्रेमालाप और मिलन द्वारा संयोग-श्रृंगार के चित्र उरेहे गये हैं। दोनों के प्रणय के माध्यम से

---

१ एकादश सर्ग पद, २२-२३

२ करुणा के चित्रण में उपाध्याय जी सिद्धहस्त है ही।······प्रिय प्रवास में प्रेम के विरोध पक्ष का करुण निर्देशन है। उनमें प्रेम की, आदर, सख्य, स्नेह, वात्सल्य, भक्ति और प्रणय सभी वृत्तियों का चित्रण पूर्ण तल्लीनता से हुआ है···

—खड़ी बोली के गौरव-ग्रंथ, विश्वंभर मानव, पृ० १६२-६३

३ महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास, पृ० १३१

संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत आने वाले अनेक भावों, विभावों, आवेगपूर्ण प्रेमालाप, संचारी आदि का वर्णन आ गया है ।

संयोग श्रृंगार को उद्‌भास करता हास-परिहास शिष्ट, कलात्मक और मधुर है—

कर बढ़ाकर, जो कमल-सा था खिला,
मुस्कराई और बोली उर्मिला...
मत्त गज बन कर विवेक न छोड़ना ।
कर कमल कह कर न मेरा तोड़ना ।
बचन सुन सौमित्रि लज्जित हो गए,
प्रेम-सागर मे निमनज्जित हो गए,
पकड़ कर सहसा प्रिया का कर वही,
चूम कर फिर-फिर उसे बोले यही...[1]

यहाँ वचन की सरसता उद्दीपन, लज्जित और निमज्जित होना संचारी एव फिर चूमना स्थायी भाव रति का द्योतक है, जिसकी पूर्णता आगे चलकर होती है—

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये,
और बोले एक परिरम्भण प्रिये ।'
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया ।
किन्तु घाते मे उसे प्रिय ने किया,
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया ।[2]

यहाँ लक्ष्मण और उर्मिला परस्पर एक दूसरे के आलम्बन हैं, इसके पूर्व की उद्‌धृत पंक्तियों के उद्दीपनों के अतिरिक्त (प्रसंग को देखते हुए) राज्याभिषेक की तैयारी के कारण राजमहल का उल्लासपूर्ण वातावरण भी उद्दीपन है, तीक्ष्ण अपांग आदि अनुभाव है । (यद्यपि इसे यहाँ उद्दीपन मानना ही अधिक श्रेयस्कर है जिसके कारण नायक-नायिका को घाते में कर परिरम्भण ले लेता है ।) इसके पूर्व की उद्‌धृत पंक्तियों की संचारियों के अतिरिक्त उत्सुकता, हर्ष आदि

---

१ प्रथम सर्ग, पृ० २८
२ प्रथम सर्ग, पृ० ३०

संचारी भाव हैं और प्राप्य ले लेने के साथ स्थायी भाव रति की व्यंजना होती है। इस तरह शृंगार रस की पूर्ण परिणति हो जाती है।

संयोग शृंगार का दूसरा चित्र अष्टम सर्ग में मिलता है, जहाँ सीता कुटिया में राजभवन का आनन्द ले रही है। लेकिन गुप्तजी की भावना ने राम-सीता के पारस्परिक प्रेम का ही सरस चित्रण किया है, यहाँ शृंगार रस का पूर्ण निर्वाह नहीं हो पाया है। हाँ! दाम्पत्य जीवन के शृंगारमय हास-विलास की व्यंजना अत्यन्त कलात्मक हुई है—

ऐसा न हो कि मैं फिरूं खोजता तुमको,
है मधुप ढूंढ़ता यथा मनोज कुसुम को।
वह सीता फल जब फले तुम्हारा चाहा,
मेरा विनोद तो सफल…हँसी तुम आहा।
तुम हँसो, नाथ निज इन्द्र जाल के फल पर,
पर ये फल होंगे प्रकट सत्य के बल पर।
× × ×
हो सचमुच क्या आनन्द, छिपूं मैं बन में
तुम मुझे खोजते फिरो गँभीर गहन में।
आमोदिनि, तुमको कौन छिपा सकता है?
अन्तर को अन्तर अनायास तकता है।
बैठी है सीता सदा राम के भीतर,
जैसे विद्युद्द्युति घनश्याम के भीतर।[1]

इस चित्र की आनन्दमयता वस्तुत: आगे आने वाली दुखद घटना की भूमिका है। यहाँ कवि ने जिस नाटकीय बिडम्बना (ड्रैमेटिक ऐरोनी) की योजना की है, वह शिल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। सीता और राम को सचमुच एक दूसरे को खोजना ही पडता है!

साकेत के संयोग शृंगार की एक विशेषता यह है कि वह चुम्बन और परिरम्भण से प्रारम्भ होकर वासनाहीन शान्त मिलन में परिणत हो जाता है। उसमें वर्षा की बाढ़ भी है और शरद की शुचिता-गम्भीरता भी—

वह वर्षा की बाढ़ गयी, उसको जाने दो,
शुचि गँभीरता प्रिये, शरद की यह आने दो।[2]

---

१ पृ० १६२-६३

२ द्वादश सर्ग, पृ० ३३५

शृंगार की इस शुचिता की भूमिका आठवें सर्ग से ही आरम्भ हो जाती है-

मेरे उपवन के हरिण, आज वन-चारी,
मैं बाँध न लूंगी तुम्हें, तजो भय भारी।
× × ×
गिर पड़े दौड़ सौमित्र प्रिया-पद-तल में
वह भींग उठा प्रिय-चरण धरे दृग-जल में।

वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य।
भाभी की भगिनि, तुम मेरे
अर्थ नहीं केवल उपभोग्य।[1]

कवि शब्द-प्रयोग के शिल्प के द्वारा (बड़े सार्थक विशेषणों और संज्ञाओं के उपयोग-द्वारा) थोड़े में बहुत कुछ कह देता है। यहाँ 'भाभी की भगिनि' सम्बोधन द्रष्टव्य है। विचारणीय है कि कवि ने उर्मिला, प्रिये, सुन्दरी आदि अन्यान्य सम्बोधनों को छोड़कर इसी शब्द का प्रयोग क्यों किया है ?— इसीलिए कि यहाँ सीता की पवित्रता, तपस्या और वन के भोग-हीन जीवन को लक्ष्य कर उसी तरह उर्मिला के जीवन बिताने का संकेत है। तात्पर्य यह कि बड़ी बहन के अनुकूल ही तो छोटी बहन को होना है !

अन्तिम सर्ग में उर्मिला को लक्ष्मण से मिलन की आकांक्षा में जो हिचक है, उसमें रति और शृंगार के खण्डित होने का भाव रूप-यौवन के ढल जाने के कारण है। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में इसकी समीक्षा की जा चुकी है। यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि 'यौवन की चढ़ती वेला' के लिये पाश्चाताप करती उर्मिला को लक्ष्मण की वर्षा की बाढ़ के स्थान पर शुचित गम्भीरता अपनाने की सलाह मर्यादानुकूल है।[2]

विप्रलम्भ शृंगार—साकेत की काव्यात्मकता और रसात्मकता वियोग की मार्मिकता में छिपी है। संयोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार की अधिकता और श्रेष्ठता स्वयं-सिद्ध है। 'साकेत' में एक तो कथा-योजना ही इस तरह की है कि विप्रलम्भ की अधिकता हो गयी है, दूसरे उर्मिला और लक्ष्मण को

---

१ अष्टम् सर्ग, १९३
२ द्वादश सर्ग पृ० ३३५

प्रमुखता देने के कारण स्वतः चौदह वर्षो की अवधि इसके लिये उपयुक्त पृष्ठ भूमि बन गयी है ।

वियोग का प्रारम्भ चतुर्थ सर्ग से ही जाता है, जब वन-गमन के अवसर पर उर्मिला सीता की तरह वन जाने का भी सौभाग्य नही पाती है—

> इधर उर्मिला मुग्ध निरी…कहकर 'हाय' धराम गिरी ।
> लक्ष्मण ने दृग मूँद लिए, सबने दो-दो बूँद दिए ॥
> बहन-बहन ! कहकर सीता, करने लगी व्यजन सीता ।
> आज भाग्य जो है मेरा, वह भी हुआ न हो, तेरा ॥[1]

विप्रलम्भ और वियोग-वर्णन की दृष्टि से साकेत का नवम सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्व है । विप्रलम्भ के जो चार भेद—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण माने गये हैं, उनमें सबसे अधिक तीव्रता प्रवासजन्य विरह में होती है; क्योंकि पूर्वराग मिलन के पूर्व की स्थिति होने के कारण एक लालसा या अभिलाषा है । इसमें कल्पनाजन्य अनुभूति की प्रधानता होती है । मान तो मिलन की ही एक भूमिका है, उसमें वियोग की दारुणता नहीं होती ! फिर करुणा मे तो भयानक दारुणता है, क्योंकि एक की मृत्यु से उत्पन्न परिथिति मे मिलन की उत्सुकता का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः वियोग की बदली में मिलन की कादम्बिनी सजाने वाला प्रवासजन्य विप्रलम्भ ही होता है । नवम् सर्ग में इसी का वर्णन किया गयाहै । कवि के वर्णन-शिल्प की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि उसने इसमें शास्त्रीय प्राचीन पद्धति और नवीन उद्भावनाओ का मिश्रण किया है, जो अत्यन्त प्रभावोत्पादक बन पडा है ।

विप्रलम्भ शृंगार की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—उर्मिला-विरह एक तपस्या है, उस तप के माध्यम से वह प्रिय की पूजा करती है—

> मानस-मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
> जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप ॥[2]

२—विरह-वर्णण के द्वारा सीता और उर्मिला की तुलनात्मक जीवन-गाथा का चित्रण उपस्थित किया गया है—

---

१ पृ० १९५

२ पृ० १९४

स्वामि-सहित सीता ने नन्दन माना सघन-गहन कानन भी।
उर्मिला वधू ने वन किया उन्ही के हितार्थ निज उपवन भी ।।[१]

३—विरह की अधिकता से हृमय कोमल हो गया है। वह रीतिकालीन नायिकाओं की भाँति विरह-अवस्था में प्रकृति और जगत को कोसती नहीं, सम-दुखिनी समझकर उन्हें प्यार करती हैं, मान देती हैं—

सींचे ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फले यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी
क्रीड़ा-कानन-शैल यंत्र - जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे ।।

× × × ×

प्रोषित पतिकाऐं हों जितनी भी सखि, उन्हें निमन्त्रण दे आ,
समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटे जा, प्रणय पुरस्सर ले आ।
सुख दे सकते हैं तो दुःखी जन ही मुझे, उन्हे यदि भेटूं,
कोई नहीं यहाँ क्या जिसका कोई अभाव मैं भी मेंटूं ।।[२]

४—वियोग की उदात्तावस्था का परिचय मिलता है। वह अपनी वेदना को चित्रकारी, अध्ययन ओर सेवा के द्वारा भुलाना चाहती है—

क्या-क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ ?
है ही क्या, हा ! आज जो मैं बताऊँ ?
तो भी कली, पुस्तिका और बीना,
चौथा मैं हूं, पाँचवी तू प्रवीना ।।[३]

× × ×

मैं निज ललित कलाएं न भूल जाऊँ वियोग-वेदन में
सखि, पुरबाला-शाला खुलवा दे क्यों न उपवन में ?[४]

५—चित्र-कला के माध्यम से कल्पना मे प्रिय का मनोवैज्ञानिक और कलात्मक चित्र उपस्थित किया गया है—

---

१ पृ० १९९ और २००

२ पृ० १२६, २००

३ पृ० १९३

४ पृ० २०१

कौन-सा दिखाऊँ दृश्य वन का बता मैं आज ?
हो रही है आलि, मुझे चित्र -रचना की चाह,
नाला पड़ा पथ में, किनारे जेठ-जीजी खड़े,
अम्बु-अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह ?
किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह,
तलवे से कण्टक निकालते हों ये कराह ?
अथवा झुकाये खड़े हों ये लता और जीजी
फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हों, वाह वाह ?[१]

मनोवैज्ञानिक जिसे दिवा-स्वप्न (डे ड्रीमिंग) कहते हैं, वही इस एक चित्र में कितना निखर उठा है ! यह वियोग में प्रिय-स्मरण का एक विधान है ।

६—वाग्विदग्धता के द्वारा प्रिय के प्रति उलाहना का अत्यन्त संक्षिप्त, किन्तु मार्मिक चित्रण—

कह विहग, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?
विकच वदन वाले वे कृतीकान्त मेरे ?
सचमुच मृगया में ? तो अहेरी नये वे,
यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों गये वे ?[२]

अन्तिम दो पंक्तियों में दुःख की अभिव्यक्ति अत्यन्त कलात्मक है ।

७—प्रतीक विधान—यत्र-तत्र उर्मिला ने प्रतीकों के माध्यम से अपनी व्यथा और आकांक्षा को प्रकट किया है—

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ?
लाते तुम्हीं हा ! प्रिय पत्र-पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे ![३]

मनोविज्ञान में जिसे एकरूपता (आइडेण्टीफिकेशन) कहते हैं, यहाँ उर्मिला का कपोत के साथ वही तादात्म्यता है, जो आरोपित है ।

८—वेदना का स्वागत—वेदना को प्रिय और अभिनन्दनीय मानने का प्रयास हिन्दी के छायावादी और अँग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो में बहुत अधिक है । यहाँ भी उर्मिला को वेदना प्रिय और मधुर लगती है—

---

१ पृ० २००
२ पृ० २०२
३ वही ।

वेदने, तू भी भली बनी ?
पाई मैंने आज तुझी में अपनी चाह घनी ।।
× × ×
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी ।
तेरी ही छाती है सचमुच, उपमोचितस्तनी ।।[१]

अँग्रेजी के रूमानी कवि कीट्स की ऐसी ही भावना है—

Come then, Sorrow Sweetest sorrow.
Like an own babe, I nurse thee on my breast
I Thought to leave thee, and deceive thee,
But now of all the world I love thee best.[2]

९—दुख के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण—उर्मिला अपनी वेदना को इसलिए अनिवार्य मानती है कि सुख के बाद दुःख का, दिन के बाद रात का आना स्वाभाविक है। यह समझौता दार्शनिक तटस्थता के कारण ही सम्भव है—

गृहवापी कहती है—भरी रही, रिक्त क्यों न अब हूँगी ?
पंकज तुम्हें दिये हैं, और किसे पंक आज दूँगी ?
सुख भोगे हैं मैंने, दुःख भला क्यो न भोगूंगी ?[३]

१०—ऋतु-वर्णन का परम्परागत रूप- विरह-वर्णन मे ऋतु-वर्णन की एक परम्परा आती रही है। नागमती का बारहमासा भी इसी का एक प्रकार है। उर्मिला भी अपनी विरह-भावना से रंजित षड्ऋतुओं का चित्रण उपस्थित करती है—

- देखो ग्रीष्म भीष्म तनु धारे। पृ० २०६।
- मेरी ही पृथ्वी का पानी,
  ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी, पृ० २११।
- स्वागत, स्वागत शरद भाग्य से मैंने दर्शन पाये;
  नभ ने मोती बारे, लो ये अश्रु अर्घ्य भर लाये। पृ० २१०।
- आया यह हेमन्त दया कर, देख हमे संतप्त-सभीत, पृ० २२०।
- शिशिर, न फिर गिरि-बन में,
  जितना मांगे, पतझड़ दूंगीं, में इस निज नन्दन में। पृ० २२४।

---

१ पृ० २८०
2 Endymion, BK. IV, 1-279,
३ पृ० २८७

११–प्रकृति के रूपों के साथ नायिका का आन्तरिक सम्बन्ध—षड्ऋतुओं के अतिरिक्त प्रकृति के साथ उर्मिला के मनोभावों का रागात्मक सम्बन्ध दिखाया गया है—

वैषम्य के द्वारा सम्बन्ध—अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अङ्ग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह कांटो की सेज। पृ० २०५।

साम्य के द्वारा सम्बन्ध—त्रिविध पवन ही था, आ रहा जो उन्हीं-सा,
यह घन-रव ही था, छा रहा जो उन्ही-सा,
प्रिय-सदृश हँसा जो, नीप ही था, कहाँ वे ?
प्रकृति-सुकृत ले, भा रहा जो उन्हो-सा ॥ पृ० २१३

(१२) मानसिक पक्ष की प्रबलता—विरह-वर्णन में शारीरिक वासना के एक-दो चित्र मिलते है, शेष मानसिक विरह-ताप के चित्रों से पूर्ण हैं। निम्नलिखित शारीरिक पक्ष को छोड़कर प्राय: सर्वत्र मानसिक वेदना का ही वर्णन है—

मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल। पृ० २३७।

विरह-वर्णन के लिए नवीन शिल्प

कवि ने विरह-वर्णन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नलिखित प्रयोग किए हैं :—

उसने स्मृति आदि संचारी भावों को अधिक व्यंजक बनाने के लिए अत्यन्त चित्रमय, कलात्मक कवित्तो का उपयोग किया है। यथा—

१—नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से,
रोक सकता हूँ उरुओं के बल से ही उसे,
टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से,
किन्तु क्या करूँगा यहाँ ? उत्तर मे मैंने हँस,
और भी बढ़ाये पैंग दोनों ओर ऊले-से,
'हैं-हैं' कह लिपट गये थे वहीं प्राणेश्वर,
बाहर से संकुचित, भीतर से फूल से।[1]

---

१ पृ० २१४

यहाँ शृङ्गार-प्रधान. चित्र को वियोगावस्था के स्मृति-पटल पर लाकर विरह को तीव्रता प्रदान की गई है ।

२—मैं निज अलिन्द मे खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थीं,
गमक रही थी केतकी की गंध चारो ओर,
झिल्ली-झनकार यही मेरे मन भाई थी ।
करने लगी मैं अनुकरण स्व नूपुरो से,
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चौक देखा मैंने, चुप कोने मे खड़े थे प्रिय,
माई ! मुझ-लज्जा उसी छाती मे छिपाई थी ।[1]

यह शृङ्गारिक स्मृति का दूसरा उदाहरण है, जो प्रथम चित्र की भाँति ही विरहोद्दीपक है । यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार के सभी तत्त्व हैं—उर्मिला आश्रय हैं; लक्ष्मण आलम्बन है; उद्दीपन है—एकान्त स्थान, बूंदों का पड़ना, झिल्ली-झंकार और केतकी-गंध; मुख का लाल होना (लज्जा से) और छाती मे मुख छिपाना अनुभाव हैं; और हर्ष, स्मृति, बिबोध आदि संचारी हैं । रति तो स्थायीभाव है ही । 'यहाँ पूर्वानुभूति सुखोपभोग की स्मृति का वर्णन रहने पर भी इसकी प्रधानता सिद्ध न होने से भाव-ध्वनि नहीं है ।'[2]

३—लाई सखि, मालिने थी डाली उस बार जब,
जम्बूफल जीजी ने लिए थे, तुझे याद है ?
मैंने थे रसाल लिए । देवर खड़े थे वही,
हँस कर बोल उठे—'निज निज स्वाद है,
मैंने कहा—'रसिक,तुम्हारी रुचि काहे पर ?'
बोले देवि, 'दोनों ओर मेरा रस-वाद है,
दोनों का प्रसाद-भागी हूँ मैं' हाय आली ! आज
विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है ।[3]

यह चित्र पारिवारिक हास-विनोद का स्मरण दिलाने वाला है । अन्तिम पंक्ति सूक्ति-वाक्य की भाँति काल और प्रसङ्ग की स्थानीय सीमा से ऊपर उठी हुई है ।

---

१ पृ० २१४

२ काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र,

३ पृ० २२८

४—आई हूँ सशोक मैं अशोक, आज तेरे तले,
आती है तुझे क्या हाय! सुध उस बात की।
प्रिय ने कहा था—'प्रिये, पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की,'
देवी उन कान्ता सती शान्ता को सुलक्षकर,
वक्ष भर मैंने भी हँसी यों अकस्मात की—
'भूलते हो नाथ, फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देती प्रीति पद-जल जात की।[1]

इसमें भी विनोद का स्मरण है, जो लक्ष्मण को उपवन की एक मिलन-घटना को जाग्रत करता है।

५—आये एक बार प्रिय बोले—'एक बात कहूँ,
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में।'
मैंने कहा--'कौन यहाँ ?' बोले, 'प्रिय, चित्र तो हैं,
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।'
लाल किए कर्ण मूल होठों से उन्होंने कहा—
'क्या कहूँ सगद्‌गद् हूँ, मैं भी छद-दान में
कहते नहीं है, करते हैं कृती।' सजनी मैं
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में।[2]

कितनी शृङ्गारिक चेष्टाएँ हैं, इनके स्मरण मात्र से उर्मिला के कान लाल हो गए होंगे! कितनी सजीवता है इनमें! और तब प्रिय का अभाव कितना खला होगा।

६—आये सखि, द्वार-पटी हाथ से हटा के प्रिय,
वंचक भी वंचित-से कम्पित विनोद में,
'ओढ़ें देखो तनिक तुम्हीं तो परिधान यह'
बोले डाल रोम पट मेरी इस गोद में।
क्या हुआ, उठी मैं झट प्रावरण छोड़कर,
परिणत हो रहा था पवन प्रतोद में

१ पृ० २१४

२ पृ० २३६

हर्षित थे तो भी रोम-रोम हम दम्पति के,
कर्षित थे दोनों बाहु-बन्धन के मोद में ।[1]

यहाँ शीतकाल में प्रिय के विनोद और सम्पर्क का चित्र है, जो वियोग का उद्दीपक है ।

(ii) एक स्थान पर कविता के माध्यम से प्रतीक के रूप में उर्मिला की वेदना का चित्रण किया गया है—

पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से,
कैसे हुई उपज कपास, ईख, धान की ?
बोले-इस बार देवि, देखने में भूमि पर,
दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की ।
पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कर्षकों ने,
अन्न, गुड़, गोरस की वृद्धि ही बखान की,
किन्तु स्वाद कैसा हैं, न जानें, इस वर्ष हाय,
यह कह रोई एक अबला किसान की ।[2]

इस चित्र-शिल्प का उद्देश्य अन्य कवित्तों की भाँति पूर्व-स्मृति का नहीं, वर्त्तमान के चित्रण का है । इससे कई लाभ सिद्ध हुए हैं, एक तो प्रजा की सुख समृद्धि के प्रति राम-परिवार की उत्सुकता तथा कृषि की उन्नति आदि का वर्णन है, जो आधुनिक युग की देन है; दूसरे राम लक्ष्मण और सीता के अभाव में उन खाद्य पदार्थों की व्यर्थता प्रमाणित की गई है; तीसरे, अबला किसान को उर्मिला का प्रतीक बनाया गया है, जो स्वयं भी इस वर्ष लक्ष्मण के वियोग में किसी वस्तु का स्वाद नही जान सकी ।

(iii) विप्रलम्भ-चित्रण को प्रभावशाली बनाने के लिए तीसरे प्रकार की शिल्पात्मक नवीनता नवम सर्ग में गीतो की योजना है । प्राचीन दृष्टिकोण से ऐसा माना जा सकता है कि ये गीत प्रबन्धात्मकता की अटूट शृङ्खला में बाधा उपस्थित करते हैं; पर मेरी दृष्टि में यदि सहृदयता से विचारा जाये, तो विरह के खंड-खंड हृदय और खंड-खंड जीवन को प्रगीतों में जुड़े खंड चित्र जितना व्यंजक बना सकते हैं, उतना कथा-वर्णन नहीं ! यही कारण है कि आधुनिक

१ पृ० २२३
२ पृ० २२२

महाकाव्यों में गीतों की योजना मिलती है। यह शिल्प कवि ने यशोधरा के विरह-वर्णन मे भी अपनाया है। साकेत के नवम सर्ग मे तो अनेक गीत हैं ही—

१—वेदने, तू भी भली बनी।
२—विरह संग अभिसार भी।
३—दोनों ओर प्रेम पलता है।
४—आ जा मेरी निंदिया गूँगी।
५—स्नेह जलाता है, यह बत्ती।
६—मन को यों मत जीतो।
७—मेरी ही पृथ्वी का पानी।
८—दरसो, परसो घन बरसो।
९—सफल है उन्ही घनों का घोष।
१०—निरख, सखी, ये खञ्जन आये।
११—सखि, निरख नदी की धारा।
१२—हम राज्य लिए मरते हैं।
१३—शिशिर, न फिर गिरि-वन में।
१४—भूल पड़ी तू किरण कहाँ।
१५—काली काली कोयल बोली।
१६—मुझे फूल मत मारो।
१७—देखूँ मैं तुमको सविलास।
१८—अरी गूँजती मधुमक्खी।
१९—मान छोड़ दे, मान अरी।
२०—सखि, बिखर गयी हैं कलियाँ।
२१—उठती है उरमें हाय हूक।
२२—न जा अधीर धूल मे, दृगम्बु का दुकूल में।
२३—सखे, जाओ तुम हँस कर भूल।
२४—स्वजनि, रोता है मेरा गान।
२५—यही आता है इस मन में।
२६—अब जो प्रियतम को पाऊँ।
२७—उठ अवार न पार जाकर भी गयी।
२८—मेरे चपल यौवन बाल।
२९—लाना, लाना सखि तूली।

इस प्रकार कवि ने एक सर्ग में उन्तीस गीतों के माध्यम से **वियोग-व्यथित** मन की विभिन्न रागात्मक स्थितियों का संगीतमय चित्र उपस्थित किया है। इतनी विविधताओं के इनसे सुन्दर रागात्मक स्वरूप और क्या हो सकते थे! मनुष्य अपनी व्यथा को रोकर या गाकर हल्का करता हैं—यहाँ दोनों ही पद्धतियों के शिल्प-विधान कवि ने प्रस्तुत किये है।

विरह की अन्तर्दशाओं का शास्त्रीय वर्णन—वियोग की बारह अन्तर्दशाएँ मानी गयीं है—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण।[1] साकेत मे प्राय: सभी अन्तर्दशाओं का प्रसंगवश चित्रण किया गया है, कुछ के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अभिलाषा—सखि, विचार कभी उठता यही--
अवधि पूर्ण हुई, प्रिय आ गए।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही,
वह वही, पर आज नये-नये। पृ० २४१।

× × × ×

कैसी हिलती डुलती अभिलाषा है कली, तेरे खिलने की,
जैसी मिलती-जुलती उच्चाशा है भली मुझे मिलने की॥ पृ० २३१।

× × × ×

अब जो प्रियतम को पाऊँ? पृ० २३५।

चिन्ता—आगे जीवन की सन्ध्या है, देखें क्या हो आली,
तू कहती है--चन्द्रोदय ही काली में उजियाली?
सिर-आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली?
किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली?
फिर प्रभात होगा क्या सचमुच? हों कृतार्थ यह चेरी॥ पृ०२०१

स्मृति--मिली मैं स्वामी से, पर कह सकी क्या संभल के?
बहे आंसू होके सखि सब उपालम्भ गल के।
उन्हे हो आई जो निरख मुझको नीरव दया,
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हा! रह गया॥ पृ० १९८।

× × ×

---

१ अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसम्प्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः॥

—साहित्य दर्पण-३। १९०

इसी भाँति आलाप-संलाप में,
न ऐसे महाशाप में, ताप में।
हमारा यहाँ काल था बीतता,
न सन्तोष का कोष था रीतता ॥ पृ० २३९।

इसके अतिरिक्त ऊपर उद्‌धृत बहुत सारे कवित्त भी इसके उदाहरण हैं।

गुणकथन—कह विगह, कहाँ हैं आज आचार्य तेरे ?
विकच वदन वाले वे कृतीकान्त मेरे ?

उद्वेग—पिऊँगा, खाऊँगा, सखि पहनूँगा, सब करूँ,
जिऊँ मै जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो मानूं सो, किस विधि बता धीरज धरूँ।
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ ॥ पृ० १९७।

प्रलाप—लाई है और क्यों तू ? हठमत कर यों, मैं पिऊँगीं न आली,
मैं हूँ क्या हाय ! कोई शिशु सफल हठो, रंक भी राज्यशाली ?
माना तू ने मुझे है तरुण विरहणी वीर के साथ व्याहा।
आँखों का नीर ही क्या कम, फिर मुझको ? चाहिए और क्या हा।
पृ० १९७।

उन्माद—भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ'।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौक बोलकर—'जाओ'।
पृ० १९४।

व्याधि—यह काया है या शेष उसी की छाया,। पृ० १९३।

× × ×

तुझको समी सहज है, मुझको कपूर वर्ति, बस घुलना। पृ० २०१

× × ×

गया श्वास फिर भी यदि आया,
तो सजीव है कृश भी काया।
हमने उसको रोक न पाया।
तो निज-दर्शन योग गमाया। ।पृ० २१५।

× × × ×

मेरी दुर्बलता क्या दिखा रही तू अरी, मुझे दर्पण में,

देख निरख मुख मेरा वह तो धुंधला हुआ स्वयं ही क्षण में।
।पृ० २२१।

जड़ता—आँखों मे प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग।
आठ पहर चौंसठ घडी स्वामी का ही ध्यान।
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्म-ज्ञान। ।पृ० १९३।

मरण—इधर अनल है और उधर जल हाय! किधर मैं जाऊँ?
प्रवल वाष्प, फट जाय ने यह घट, कह तो हा हा खाऊँ? ।पृ०२३६।

कुछ संचारियों के अन्य उदाहरण, जिनके सफल प्रयोग कवि ने साकेत में किये हैं—

स्मृति—साल रही सखि, माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोली जब वे मुझसे—मिला नवनही न भवन ही मुझको ।।पृ० १९८

औत्सुक्य—बिचारती हूँ सखि, कभी-कभी।
अरण्य से हैं प्रिय लौटे आते।
छिपे-छिपे आकर देखते सभी।
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते।। पृ० २४१।

धृति—कोक शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हूँ मैं भी तो, सुन तू मेरी बात। ।पृ० २१८।

शंका—उनका हृदय सशंक हुआ, उदित अंशु आतंक हुआ।
सच है तब क्या वे बातें। दैव! दैव! ऐसी घातें! पृ० ७४।

ग्लानि—थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके कहे क्यों चूके? ।पृ० १७९।

श्रम—मुख-धर्म-विन्दु-मय ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा?। पृ० ५५७।

हर्ष—यों वचन कहकर सहास्य विनोद से,
मुग्ध हो सौमित्र मन के मोद से।
पद्मिनी के पास मत्त मराल-से,
हो गये आकर खड़े स्थिर चाल से। ।पृ० २१।

व्रीड़ा—हँस सीता कुछ सकुचाई, आँखें तिरछी हो आयीं।
लज्जा ने घूँघट काढ़ा—मुख का रंग किया गाढ़ा। पृ० ७३।

(पर यहाँ मधुर संकोच के कारण पर विचार करने से यह स्पष्ट झलकता है कि कवि ने मर्यादा के कारण रति से ऊपर उठे भाव की व्यंजना की है। शास्त्रीयता यहाँ सीमित हो गई है !)

सौजन्य—इस नये संचारी का उल्लेख काव्य-शास्त्र ने नहीं किया है, लेकिन आचार्य शुक्ल ने इसकी सम्भावना को व्यक्त किया है।[1] साकेत में इसकी बड़ी अच्छी व्यंजना की गई है--

अथवा मृगयाशील कभी फिर भी यहाँ—
पड़ सकते हैं चारु चरण ये, पर कहाँ,
आ सकती है, बार-बार माँ जानकी ?
कुल देवी-सी मिली मुझे हाँ, जानकी।
भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे,
मिथिलापुर के राजभोग हैं याद वे। पृ० ६७।

अन्य भाव और रस



करुण—करुण रस का वर्णन दशरथ मरण के अवसर पर मिलता है—

बस यहीं दीप-निर्वाण हुआ, सुत-विरह-वायु का बाण हुआ।
अति भीषण हाहाकार हुआ, सूना-सा सब संसार हुआ॥
अर्धाङ्ग रानियां शोक कृता, मूर्छिता हुई या अर्द्धमृता ?
हाथों से नेत्र बन्द करके, सहसा यह दृश्य देख डरके,
'हा स्वामी'! कह ऊँचे स्वर से, दहके सुमंत्र मानो दव-से।
अनुचर अनाथ-से रोते थे, जो थे अधीर सब होते थे॥
थे भूप सभी के हितकारी, सच्चे परिवार-भार धारी।[2]

यहाँ रानियाँ, सुमंत्र, अनुचर आदि आश्रय हैं; दशरथ आलम्बन हैं; मृतक शरीर का दृश्य उद्दीपन है; हाहाकार, मूर्छा, आखे मूँद चिल्लाना आदि अनुभाव हैं; ग्लानि, उन्माद, जड़ता, आदि संचारी भाव है और स्थायीभाव शोक है।

करुण रस के और भी कई मार्मिक प्रसङ्ग दशरथ-मरण से सम्बद्ध हैं—

---

१ रस-मीमांसा, पृ० २२०

२ षष्ट सर्ग, पृ० १२३

हा पिता। सहसा चिहुँक, चीत्कार,
गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार।

× × ×

रह गये शत्रुघ्न मानो मूक,
कण्ठ रोधक थी हृदय की हूक।
देर में निकली गिरा-हा अम्ब,
आज हम सबको कहां अवलम्ब ?
देखने को ज्ञात-शून्य निकेत,
क्या बुलाये हम गये साकेत ?।[१]

इस तरह लक्ष्मण के मेघनाथ के वाण से मृत प्राय हो जाने पर राम भी शोक से विह्वल होकर विलाप करते हैं। लेकिन संस्कारवश यह जानते हुए कि लक्ष्मण जीवित हो जाने वाले हैं, शोक का वैसा प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा दशरथ-मरण के अवसर पर। फिर भी राम का विलाप हृदय-द्रवक है—

भाई-भाई! उठो, सबेरा होने आया।
मारूँ रावण-सहित इन्द्रजित को मैं, जाओ॥
आये थे तुम साथ हमें सुख ही देने को।
लाये हम भी तुम्हे न थे अपयश लेने को॥
तुम न जगे तो सुनो, राम भी सो जावेगा।
सीता का उद्धार असम्भव हो जावेगा॥[२]

वीर रस—तीन प्रसङ्गों पर वीर रस के कई उदाहरण मिलते हैं—लक्ष्मण मेघनाथ-युद्ध, हनुमान से लक्ष्मण के आहत होने की सूचना पाकर साकेत-वासियों के उत्साह और राम-रावण-युद्ध में।

१—लक्ष्मण-मेघनाथ युद्ध का वर्णन हनुमान करते हैं। हनुमान तो स्वयं युद्ध कर रहे थे, फिर उन्होंने युद्ध का पूर्ण विवरण कैसे दिया ?—आधुनिक युग के कवि ने पाठकों की इस शंका का निवारण स्वयं कर दिया है—'लड़ना छोड़-छोड़कर बहुधा देखा मैंने उनका युद्ध[३]' ऐसा लिखकर जहाँ कवि ने शंका

१ सप्तम सर्ग, पृ० १३३-१३४
२ द्वादश सर्ग, पृ० ३१७
३ एकादश सर्ग, पृ० २८१

का समाधान किया है, वहाँ यह भी सिद्ध कर दिया है कि युद्ध की भयानकता इतनी थी कि हनुमान जैसे वीर को भी आश्चर्यचकित होकर एक-एककर वे दृश्य देखने पड़ते थे।

शैल-शूल, असि - परसु, गदा-घन तोमर-भिन्दिपाल, शर-चक्र,
शोणित बहा रही हैं रण में विविध सार-धाराएँ वक्र।
'आरे, आ, जारे, जा।' कह कह भिड़ते है जन-जन के साथ,
घनघन, झनझन, सनसन निस्वन होता है हनहन के साथ।

× × × × ×

भेद नहीं पाते हैं रवि कर दिया शून्य को रज ने पाट,
पर अमोध प्रभु के शर खर तर जाते हैं अरिकुल को काट।[1]

वीर रस का समुचित निर्वाह शत्रुघ्न के प्रति साकेत के प्रतिनिधि भरत के वचन में मिलता है—

कलुषित कैसे शुद्ध सलिल को आज करूँ मैं,
अनुज, मुझे रिपु - रक्त चाहिए, डूब मरूँ मैं।
मेटूँ अपने जड़ीभूत जीवन की लज्जा,
उठो इसी इसी क्षण शूर करो सेना की सज्जा।
पीछे आता रहे राज-मंडल दल-बल से,
पथ मे जो जो पड़े चलें वे जल से-थल से।
सजे सभी साकेत, बजे हाँ, जय का डंका,
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका।[2]

यहाँ भरत आश्रय; रावण आलम्बन; सीता-लक्ष्मण की दारुण अवस्था उद्दीपन; सैन्य दल के लिए उभारना, युद्ध के लिए प्रस्थान आदि अनुभाव; गर्व, आवेग, औत्सुक्य आदि संचारी भाव और भरत के मन का उत्साह स्थायी भाव है।

रौद्र रस(i) —दल-बादल घिर गये, घरा धंस चली धमक से।
भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से चमक दमक से,
रण-भेरी की गमक, सुभट-नट से फिरते थे,
ताल-ताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते-गिरते थे।[3]

---

१ एकादश सर्ग, पृ० २८९-९०

२ द्वादश सर्ग, पृ० २९७

३ वही, पृ० ३२०

तथा(ii)—जटा-जाल से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
माथे का सिन्दूर सजग अङ्गार सदृश था।
प्रथमातप-सापुण्य पात्र यद्यपि वह कृश था।[1]

हनुमान के चित्रण में अद्‌भुत रस का अच्छा चित्रण हुआ है--

अद्‌भुत रस—खींच कर श्वास आस-पास से प्रयास बिना,
सीधा उठ शूर हुआ तिरछा गगन में,
अग्नि-शिखा ऊँची भी नहीं है निराधार कहीं,
वैसा सार-वेग कब पाया सान्ध्य घन में ?
भूपर से ऊपर गया था वानरेन्द्र मानो,
एक नया भद्र भौम जाता था लगन में,
प्रकट सजीव चित्र-सा था शून्य पट पर,
दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन में।[2]

यहाँ भरत, माण्डवी आदि आश्रय; हनुमान का अद्‌भुत आकाश-आरोहण आलम्बन; सहज रूप से ऊपर चलते-चले जाना उद्दीपन; रोमांच, नेत्र-विष्फारण आदि अनुभाव; हर्ष, चपलता, औत्सुक्य आदि संचारी एवं विस्मय स्थायी भाव है। इसी तरह अन्य रसों का भी निर्वाह हुआ है--

वीभत्स रस--छिन्न-भिन्न थे वक्ष, कण्ठ; मस्तक, कर, कन्धे,
हुए क्रोध से उभय पक्ष थे मानों अन्धे।
मिला रक्त से रक्त, बैर सम्बन्ध फलायों,
बीरवरों के पैर वहाँ धुलते न भला क्यों।'[3]

भयानक रस--नीचे स्यार पुकार रहे हैं, ऊपर मंडराते हैं गिद्ध,
सोने की लंका मिट्टी में मिलती है लोहे से विद्ध।[4]

ऐसे ही--भक्ति रस का उदाहरण देखा जा सकता है।
राम, तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या ?

---

१ द्वादश सर्ग, पृ० ३१३
२ एकादश सर्ग, पृ० २६३
३ द्वादश सर्ग, पृ० ३२०
४ एकादश सर्ग, पृ० २८६

तब मै निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करें,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।[1]

निष्कर्ष—इस तरह साकेत मे सामान्य रूप से शृंगार रस और विशेष रूप से विप्रलम्भ शृङ्गार का प्राधान्य है। गौण रूप से अन्य रस आये हैं। जो लोग करुण रस का प्राधान्य मानते हैं,[2] वे भूलते है कि करुण का स्थायी भाव शोक है, जो इष्ट नाश से सम्भव है, तथा विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन हैं। लक्ष्मण के वियोग में उर्मिला प्रेम के वशीभूत होकर तड़पती है—यहाँ स्थायी भाव रति है। लक्ष्मण पुनः लौट आते हैं, सीता भी राम को मिल जाती है—सर्वत्र वियोग सयोग में परिणत हो जाता है। करुणा है तो सिर्फ दशरथ-मरण के प्रसंग में।

कामायनी



कामायनी एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है, अतः इसकी प्रस्तुतकथा में शृंगार और अप्रस्तुत कथा में शान्त रस की प्रधानता है। निर्वेद सर्ग तक पाश्चात्य रीति की कार्यावस्थाओं के कारण दुःखान्त प्रबन्धों-सी विरोध और संघर्ष की अभिव्यक्ति है। तत्पश्चात् अन्तिम सर्गों में भारतीय दृष्टि-बिन्दु से दुख पर सुख की तथा संघर्ष पर शान्ति की विजय दिखलाई गई है। वस्तुतः कामायनी का अन्त न दुखान्त है, न सुखान्त, बल्कि आनंदान्त है। आनन्द दुख और सुख से ऊपर उठी अनुभूति है। इसमें पाश्चात्य प्रभावान्विति और पौरस्त्य रसानुभूति का समन्वय हुआ है। इसीलिए इसमें दोनो का आनन्द मिलता है—प्रभावान्विति का, रसात्मकता का।

संयोग शृङ्गार—श्रद्धा का रूप-सौंदर्य मनु के मन मे रतिभाव को उद्दीप्त करता है—

घिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंस-अवलम्बित मुख के पास।
नील घन-शावक से सुकुमार,
सुधा भरने को विधु के पास।

---

१ पृ० ९

२ भारत, में प्रकाशित श्री सावित्रीनन्दन का 'गुप्तजी का साकेत' निबन्ध, ७ मई, १९३३।

और उस मुख पर वह मुसक्यान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान,
अधिक अलसाई हो अभिराम।
× × ×
उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी-से भींगी भर मोद,
मदभरी जैसे उठे सलज्ज,
भोर की तारक-द्युति की गोद।[1]

इन्हीं उद्दीप्त परिस्थितियों में दोनों के मिलन में रति की पूर्णता होती है—

"मैं तुम्हारा हो रहा हूँ यही सुदृढ़ विचार,
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।
मधु बरसती विधु किरन हैं काँपती सुकुमार,
पवन में है पुलक, मंथर चल रहा मधु-भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?
× × ×
धमनियों में वेदना-सा रक्त का संचार,
हृदय में है काँपती धड़कन, लिये लघु भार।
× × ×
आह ! वैसा ही हृदय का बन रहा परिणाम,
पा रहा हूँ आज देकर तुम्हीं से निज काम।
आज ले लो चेतना का यह समर्पण-दान,
विश्व रानी ! सुन्दरी नारी ! जगत की मान।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों में श्रद्धा आलम्बन है; मनु आश्रय है; 'मधु बरसती बिधु किरन', 'पुलक मंथर मधु भार पवन' आदि उद्दीपन हैं; धमनियों मे रक्त-संचार, हृदय में काँपती धड़कन आदि अनुभाव हैं; उत्सुकता, चिन्ता, हर्ष आदि संचारी और मनु के मन में रति स्थायी भाव है।

---

१ श्रद्धा सर्ग, पृ० ४७-४८

२ वासना सर्ग, ८९, ९३

वासना सर्ग में उद्दीपन विभावों एवं अनुभावों की कुछ और भी सुन्दर छवियाँ वर्त्तमान हैं—

अनुभाव—मधुर क्रीड़ा-मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास।
गिर रहीं पलकें झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता थी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल।[1]

अनुभावो की उपर्युक्त सघन योजना में लज्जा, रोमांच, स्वर-भंग, उत्साह, आकांक्षा आदि मनोभावों का चित्रण दर्शनीय है।

उद्दीपन विभाव—श्याम नभ में मधु-किरन-सा फिर वही मृदु हास,
सिन्धु की हिलकोर दक्षिण का समीर-विलास।
कुंज मे गुंजरित कोई मुकुल-सा अव्यक्त,
× × × ×
मनु निरखने लगो ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनन्त प्रगाढ़ छाया फैलती अपरूप।

बरसता था मदिर कण-सा स्वच्छ सतत अनन्त,
मिलन का संगीत होने लगा था श्रीमन्त।[2]

विप्रलम्भ शृङ्गार—इसके अन्तर्गत विप्रलम्भ के चार रूपों में तीन रूपों मान, करुण और प्रवास—की व्यंजना हुई है—

मान का उदाहरण निम्नलिखित उद्धरण में मिलता है—

मधुर विरक्ति भरी आकुलता,
घिरती हृदय - गगन में।
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी,
होता था उस मन में।
वे असहाय नयन थे खुलते .....
मुँदते भीषणता में।

---

१ वासना सर्ग, पृ० ९७

२ वही, पृ० ९०-९१

आज स्नेह का पात्र खड़ा था,
स्पष्ट कुटिल कटुता मे।[१]

करुण—करुण विप्रलम्भ का उदाहरण स्वप्न सर्ग मे मिलता है—
एक मौन वेदना विजन की झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा, एक कसक साकार रही।
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नही।[२]

विप्रलम्भ का सबसे अधिक चित्रण प्रवास के अन्तर्गत आया है। श्रद्धा की सच्ची सीख मनु को बुरी लगती है और वे उसके गर्भाधान के कारण अपनी वासना की पूर्ति न होते देख उसे छोड़कर चले जाते हैं। यहीं से इस वियोग का प्रारम्भ हो जाता है। ऐसे समय में श्रद्धा को जीवन में सर्वत्र एक उदासी, एक परिवर्तन दीखता हैं। इस परिस्थिति और वियोगजनित विउसकी कृशता का कितना काव्यमय चित्र कवि ने उतारा है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा,
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमें है रङ्ग कहाँ।
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहाँ, चाँदनी रही,
वह सन्ध्या थी, रवि शशि तारा से सब कोई नहीं जहाँ।[३]

वियोगावस्था में कुछ संचारियों की मार्मिक व्यंजना हुई है—

स्मृति—अरे मधुर है कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ,
जब नि·सम्बल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियां।
वही एक तो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कही, तब कैसे सुलझे उलझीं सुख-दुख की लड़ियां।[४]

शंका—श्रद्धा कांप उठी सपने में, सहसा उसकी आंख खुली,
यह क्या देखा मैंने ? कैसे वह इतना हो गया, छली ?
स्वजन स्नेह में भय की कितनी आशंकाएँ उठ आतीं,
अब क्या होगा, इसी सोच में व्याकुल रजनी बीत चली।[५]

---

१ कर्म सर्ग, पृ० ११६
२ वही, पृ० १७५
३ वही
४ वही, पृ० १७७
५ वही, पृ० १८६

कामायनी दिन-रात परिश्रम करती हुई मनु की खोज कर रही है, उसके इस श्रम की कैसी हृदय-द्रावक व्यंजना है—

अरे बता दो मुझे दया कर,
कहाँ प्रवासी है मेरा।
उसी बावले से मिलने को,
डाल रही हूँ मैं फेरा।[1]

इसी अवसर पर उसकी मधुर भूलों की स्मृति में कितनी सात्त्विकता, कितना प्यार है—

रूठ गया था अपने पन से,
अपना सकी न उसको मैं।
वह तो मेरा अपना ही था,
भला मनाती किसको मैं।[2]

प्रसाद ने वियोग के वर्णन में परम्परा-पालन की अपेक्षा मनोभावों के सूक्ष्म चित्रण पर अधिक जोर दिया है; उद्दीपन की अपेक्षा संचारियों से ही अधिक काम लिया है।

कामायनी की श्रद्धा और कुमार संभव की पार्वती के मन के भाव प्रायः एक-से हैं—

विनिमय प्राणों का वह कितना भय-संकुल व्यापार अरे,
देना हो जितना दे-दे तू, लेना! कोई यह न करे।
परिवर्त्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी कभी न हो सकती,[3]
संध्या रवि देकर पाती हैं इधर-उधर उडुगन बिखरे।

× × × ×

क्व नु मां त्वदधीनजीवितां विनिकीर्य क्षणभिन्न सौहृदः
नलिनी क्षण सेतुबन्धनो जलसंघात इवासि विद्रुतः।[4]

---

१ निर्वेद सर्ग,, पृ० २११

२ वही, पृ० २१२

३ स्वप्न सर्ग, पृ० १७८

४ कुमार सम्भव, चतुर्थ सर्ग

अन्य रस



शान्त—शान्त का स्थायी भाव निर्वेद है। कवि ने पूरा एक सर्ग ही इसके लिये लिखा है। निर्वेद का एक सुन्दर उदाहरण मनु के इस कथन में द्रष्टव्य है—

> विश्व, कि जिसमे दुख की आँधी,
> पीड़ा की लहरी उठती।
> जिसमें जीवन मरण बना था,
> बुद - बुद की माया नचती।
> वही शान्त, उज्ज्वल, मगल-सा।
> दिखता था विश्वास भरा।
> वर्षा के कदम्ब - कानन - सा,
> सृष्टि विभव हो उठा हरा।[१]

करुण रस--करुण रस का चित्र कायायनी के चिन्ता सर्ग में मिलता है, जब मनु प्रलय के कारण उजड़े हुए संसार पर कातर हो विलाप कर रहे हैं–

> अरे अमरता के चमकीले पुतलो! तेरे वे जयनाद,
> कांप रहे हैं आज प्रतिध्वनि बनकर मानो दीन विषाद।
> वे सब डूबे, डूबा उनका विभव, बन गया पारावार,
> उमड़ रहा है देव-सुखों पर दु:ख-जलधि का नाद अपार।
> × × × ×
> गया, सभी कुछ, गया, मधुरतम सुर-बालाओं का शृङ्गार,
> उषा ज्योत्स्ना सा यौवन-स्मिति मधुप सदृश निश्चिन्त बिहार।[२]

वीभत्स रस—कर्म सर्ग में यज्ञ के वर्णन के प्रसंग में वीभत्स रस का चित्र मिलता है।

> यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी धधक रही है ज्वाला।
> दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे! अस्थि खंड की माला,।
> वेदी की निर्मम प्रसन्नता, पशु की कातर वाणी।
> मिलकर वातावरण बना था, कोई कुत्सित प्राणी॥[३]

---

१ निर्वेद सर्ग, पृ० २२३
२ चिन्ता सर्ग. पृ० ७-९
३ कर्म सर्ग, पृ० ११६

यहाँ वलिवेदी आलम्बन; रुधिर के छींटे, अस्थि-खंड और कातर वाणी उद्दीपन है। अनुभाव मुँह फेरना, चेहरा घृणा से विकृत होना आदि वर्णित नहीं, ध्वनित हैं। ऐसे हर्ष, आवेग, मूर्च्छा आदि संचारी भी ध्वनित हैं।

वीर रस—संघर्ष सर्ग मे मनु और किलात-आकुलि के बीच हुए युद्ध मे वीर रस का अच्छा उदाहरण मिलता है--

यों कह मनु ने अपना भीषण अस्त्र सम्हाला।
देव 'आग' ने उगली त्यों ही अपनी ज्वाला॥
छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले।
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले-पीले॥
× × × ×
'कायर !' तुम दोनों ने ही उत्पात मचाया।
अरे, समझ कर जिनको अपना था अपनाया॥
तो फिर आओ देखो कैसे होती है वलि।
रण यह, यज्ञ पुरोहित ! ओ किलात औ, आकुलि॥
और धराशायी थे असुर पुरोहित उस क्षण।
इड़ा अभी कहती जाती थी, बस रोको रण॥[1]

वात्सल्य रस—श्रद्धा और मानव के सम्बन्धों में कहीं-कहीं वात्सल्य की व्यंजना हुई है--

"माँ"···फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी।।

लुटरी खुली अलक, रजधूसर बाहें आकर लिपट गयी,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।[2]

यहाँ स्पष्टतः श्रद्धा आश्रय; मानव आलम्बन; किलकना, लटें, धूसर बाहें उद्दीपन; श्रद्धा का आलिंगन अनुभाव; हर्ष, उत्सुकता आदि संचारी तथा वत्सल स्थायी भाव हैं।

---

१ संघर्ष सर्ग, पृ० २००-२०१

२ स्वप्न सर्ग, पृ० १७६

इसी तरह रुद्र के नर्तन मे रौद्र रस तथा इच्छा कर्म और ज्ञान के लोक में अद्भुत रस का आभास मिलता है ।

निष्कर्ष—कामायनी की विशेषता शास्त्रीय प्रणाली पर विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा रस-सृष्टि नही है । रसो का निरूपण चरित्र-चित्रण, भाव-वर्णन और जीवन के उत्थान-पतन के अन्तर्गत स्वाभाविक रूप से होता गया है । कामायनी की महत्ता सूक्ष्म भावों का मनोवैज्ञानिक और अत्यन्त कलात्मक चित्रण है ।

कामायनी में सर्गो के विभाजन का आधार ही मनोवैज्ञानिक है । सारे सर्ग एक-एक विशिष्ट मनोवृत्तियों, भावो या रागात्मक स्थिथियों के नाम हैं—चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा (बुद्धि), स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य और आनन्द । इन सब के चित्रण मे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अतिरिक्त जो रूप-चित्रण और गुण-वर्णन किये गये हैं, वे विश्व साहित्य में एक स्थान पर दुर्लभ है ।

'चिन्ता' की मायाविनी छवि, उसके कारण ललाट पर खिंची रेखाएँ उसके संहारक रूप, अभाव से उसका जन्म आदि कितने चित्र स्पष्ट रूप से वर्णित है-

ओ चिन्ता की पहली रेखा ।
अरी विश्व-वन की व्याली ।।
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण ।
प्रथम कम्प-सी मतवाली ।।
हे अभाव की चपल बालिके ।
री ललाट की खल लेखा !
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ !
जल-माया की चल-रेखा ।।[1]

आशा के संचार से एक जागरण का उदय होता है, व्याकुलता और निराशा के अन्धकार में प्रकाश की मुस्कान निखर उठती है, जीवन के अभिशाप का अन्त और वरदान का प्रारम्भ हो जाता है । इन भावों की कैसी सबल व्यंजना हुई है-

---

१ चिन्ता सर्ग, पृ० ५

यह क्या मधुर - स्वप्न-सी झिलमिल ।
सदय हृदय में अधिक अधीर ॥
व्याकुलता - सी व्यक्त हो रही ।
आशा बनकर प्राण - समीर ॥
यह कितनी स्पृहणीय बन गयी ।
मधुर जागरण - सी छविमान ॥
स्मिति की लहरों सी उठती है ।
नाच रही ज्यो मधुमय तान ॥
जीवन ! जीवन ! की पुकार है ।
खेल रहा है शीतल दाह ॥
किसके चरणों मे नत होता ।
नव प्रभात का शुभ उत्साह ॥
मैं हूँ यह वरदान सदृश्य क्यों ।
लगा गूँजने कानो में ?[१]

श्रद्धा के स्वरूप का परिचय निर्वेद मे मिलता में, जहाँ वह आत्म-परिचय देती है । श्रद्धा के मनोभाव के करुणामय, स्नेह-तरल और वरदानमय रूप का परिचय 'तुमुल कोलाहल कलह मे मैं हृदय की बात रे मन'[२]—गीत की २२ पंक्तियों मे मिलता है ।

इसी तरह काम का परिचय देते हुए कवि ने उसके अतृत रूप, विनोदमय स्वभाव आदि का परिचय दिया हैं—

प्यासा हूँ मैं अब भी प्यासा ।
संतुष्ट ओघ से मैं न हुआ ॥
आया फिर भी वह चला गया ।
तृष्णा को तनिक न चैन हुआ ॥
× × ×
मैं काम, रहा सहचर उनका ।
उनके विनोद का साधन था ॥

---

१ आशा सर्ग, पृ० २७

२ निर्वेद सर्ग, पृ० २१६-१७

हँसता था और हँसाता था।
उनका मैं कृतिमय जीवन था।[1]

इसी तरह अन्य वृत्तियों का भी परिचय दिया गया है। कामायनी के गर्भाधान से भरे सौंदर्य का अत्यन्त उदात्त चित्रण मिलता है। यहाँ प्रसाद कालिदास से भी अधिक सूक्ष्म हो गए हैं--

केतकी गर्भ-सा पीला मुँह आँखों मे आलस-भरा स्नेह॥
कुछ कुशता नयी सजीली थी, कम्पित लतिका-सी लिए देह॥
मातृत्व बोझ से झुके हुए बँध रहे पयोधर पीन आज।[2]

× × ×

शरीर सादादसमग्र भूषणा मुखेन सा लक्ष्यत लोध्र पांडुवा।
तनु प्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी।
तदाननं मृत्सुरभि क्षितोश्वरो रहस्युपाध्राय न तृप्तिमाययो।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचाशुचिव्यपाये वनराजि पल्लवम्।[3]

लज्जा का सबसे अधिक विस्तृत और अद्वितीय रूप-गुण-चित्रण लज्जा सर्ग में किया गया है। एक छोटे से संचारी भाव का इतना छविमय और उदात्त चित्रण विश्व-साहित्य की एक निधि है। लज्जा के आने पर अनुभावों की योजना भी कितनी सहज है--

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं।
कलरव परिहास भरी गूँजें अधरों तक सहसा रुकती हैं॥
संकेत कर रही रोमाली, चुपचाप बरजती खड़ी रही।
भाषा बन भौंहों की काली रेखा सी भ्रम मे पड़ी रही।[4]

लज्जा के कारण नारी में जो झिझक होती है, उसका रूप भी दर्शनीय है--

मैं एक पकड़ हूँ जो कहती, ठहरो, कुछ सोच विचार करो।

× × ×

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ, मैं शालीनता सिखाती हूँ।

× × ×

चंचल किशोर सुन्दरता की मै करती रहती रखवाली।[5]

---

१ काम सर्ग, पृ० ७१
२ ईर्ष्या सर्ग, पृ० १४२
३ रघुवंशम्, कालिदास, तृतीय सर्ग
४ लज्जा सर्ग, पृ० ९९
५ कामायनी पृ० १००-१०३

इस तरह कामायनी के रूप-चित्रण में एक अप्रतिम कलात्मकता, कल्पना-शीलता; चित्रात्मकता, क्षण-क्षण परिवर्तित स्थितियों की व्यंजकता, बाह्य-त्रित्रण की अपेक्षा एक आन्तरिकता और मनोवैज्ञानिकता है, जो उसके रस-निरूपण से भी अधिक प्रभावोत्पादक और अनुपम है।

रस और भाव की दृष्टि से अन्य महाकाव्य—कृष्णायन में सर्वाधिक प्रधान रस वीर है तथा शृङ्गार, वात्सल्य, शांत, रौद्र, वीभत्स आदि रसों की भी व्यजना हुई है। कृष्ण के शौर्य-वीर्य और असुर-संहार आदि कार्यों में वीर रस का प्रवाह दीखता है—

प्रत्यासन्न सुभट संघाता,
भीषण दोउ दिशि आयुध-पाता।
रोधी पाण्डव ध्वजिनी जयद्रथ,
सकेउ न पै अवरोधि कुँवर-रथ।
बरसी विषम बिशिख-परिपाटी,
मृत गज वाजि पत्ति महि पाटी।
बाणाहत बहु रथि निष्प्राणा,
दीन्हेउ बहु पथ-सँग अँगदाना।
प्रमुख भटहु तजि समर पराने,
जीर्ण पर्ण जनु अनिल उड़ाने।
शोभित अरि-अति मथत वीर वर,
अम्बुधि-भंवर मनहुँ गिरि-मन्दर।

दुखगाह मद-सिन्धु रहु, सिन्धुनाथचतुरंग,
अछन द्रौण सौभद्रशर, सैकत-गृह समभंग।[1]

इसी तरह दयावीर आदि का वर्णन हुआ है। सुभद्रा, सत्यभामा, राधा आदि के प्रणय और विवाह के प्रसंग में शृङ्गार रस का तथा कृष्ण के मथुरा जाने पर विप्रलम्भ का वर्णन हुआ है। अभिमन्यु के वध के बाद करुण रस का, कुवलयागज के मारने पर रौद्र रस का, कृष्ण-गोपिका-विनोद-प्रसङ्ग में हास्य-रस का और गोवर्द्धन धारण-प्रसङ्ग मे भयानक-रस का वर्णन हुआ है। शांत रस का एक सुन्दर उदाहरण आरोहण काण्ड में देखने को मिलता है—

---

१ जयकाण्ड, पृ० ६८८

सुख सुर-दुर्लभ संचित आये,
नयन विरक्त जात जनु भागे।
राज्य रोज-जनु, श्री जनु झापा,
भोग भुजेग, हार जनु भारा,
मलयन अनल, गरल आहारा।
विकल-विभग बिच नृप निज धामा,
जनु अलि कमल-निलीन त्रियामा।
मौनी चेष्टा विरहित, दुर्मन,
जनु विक्रीत, नीच कुल अभिजन।
सोचत को मैं ? का धन-धामा ?
अन्तकाहु विषधन परिणामा ?[1]

वैदेही वनवास में करुण-रस और विप्रलम्भ-शृङ्गार की प्रधानता है। सीता की विदाई में करुण-रस इसलिए माना जा सकता है कि सीता पुनः लौटकर नहीं आती। विदाई का एक चित्र रस-प्रसङ्ग में देखा जा सकता है—

है मृदु तुम लोगों का उर। है उसमें प्यार छलकता।
मुझसे लालित-पालित हो। है मेरी ओर ललकता॥
तुमको लोगों का पावनतम। अनुराग-राग अवलोके।
है हृदय हमारा गलता। आँसू रुक पाया रोके॥
क्यों तुम लोगों को बहनो। मैं रो-रो अधिक रुलाऊँ।
क्यों आहें भर-भर करके। पत्थर को भी पिघलाऊँ॥[2]

सीता के वियोग में पशु-पक्षी, वन-उपवन—सभी को रुलाया गया है। वाल्मीकि के आश्रम में सीता के मन में उठी भावनाओं के द्वारा विप्रलम्भ का वर्णन किया गया है। चौदहवें सर्ग में लव-कुश के प्रसंग में वात्सल्य-रस का और आठवें सर्ग में अशोक-बाटिका प्रसंग में भयानक-रस का अच्छा परिचय मिलता है।

'साकेत-संत' भरत के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण शांत रस प्रधान है। यों मांडवी-भरत के प्रणय में संयोग-शृङ्गार का, दशरथ की मृत्यु पर करुण

---

१ पृ० ७९२-९४

२ षष्ठ सर्ग-पद ७४, ७६, ७८

रस का और चित्रकूट-प्रस्थान के समय वीर रस का भी अच्छा परिचय दिया गया है।

रामचरित चिन्तामणि मे विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रधानता है। कहीं-कहीं वीर रस के भी अच्छे उदाहरण मिल जाते है। यो उसमे वर्णनों की नीरसता ही अधिक है। इसी तरह नूरजहाँ शृङ्गार रस प्रधान काव्य है। मेहर और सलीम एव सलीम और अनारकली के प्रसंग मे शृङ्गार का वर्णन आया है—

होकर विनीत यौवन के नव कुसुम भार से भोली।
है क्षीण लंक लचकाती, कर चितवन से चितचोरी॥
वन बीचि विलास-सरित की, वह रस ही रस बरसाती।
आँखों को नचा नचाकर झखकेतु ध्वजा लहराती॥

मेहर द्वारा छोटे बच्चों के पकड़ने तथा सर्व सुन्दरी की लोरी में वात्सल्य रस का और अनारकली द्वारा अकबर की डाँट फटकार मे रौद्र रस का वर्णन मिलता है।

'दैत्य-वंश' में शृङ्गार और वीर रस की प्रधानता है। सिन्धुजा के स्वयंवर में संयोग-शृङ्गार का, ऊषा के स्वप्न मे वियोग शृङ्गार का, बलि के पाताल प्रवेश के अवसर पर करुण रस का और उसी तरह अन्यान्य रसों का अच्छा परिचय मिलता है। विक्रमादित्य में शृंगार, करुण और वीर रस का प्राधान्य है। ध्रुवदेवी-चन्द्रगुप्त के प्रणय मे संयोग के दोनों पक्षों की, वीणा के क्रन्दन में करुण का तथा चन्द्रगुप्त के उत्साह में वीर रस का चित्रण हुआ है। सिद्धार्थ भी शृगार रस प्रधान महाकाव्य है। अन्त शान्त रस से हुआ है। सखियों द्वारा उषा-वर्णन में एक ही स्थान पर शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, अद्‌भुत, हास्य, वीभत्स, भयानक एवं वात्सल्य रसों का चित्रण हुआ है।

जयभारत में शृङ्गार, वीर, करुण और शांत रस की प्रधानता है। साथ ही अन्यान्य रस भी आये हैं। उसी तरह पार्वती मे भी शृङ्गार और वीर रस का प्राधान्य है। वीर रस की दृष्टि से सातवें सर्ग का कर्णार्जुन-युद्ध बहुत सुन्दर बन पड़ा है। विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से मीरा तथा वीर रस की दृष्टि से आर्यावर्त्त भी पठनीय काव्य है।

'एकलव्य' गुरु-विषयक भक्ति रस का काव्य है, क्योंकि उसका अन्त दक्षिणा सर्ग से होता है, जिसमें गुरु-भक्ति के आधिक्य से एक शिष्य अपना अंगूठा

काटकर दान कर देता है। ऊपरी दृष्टि से यह दानवीर का उदाहरण भी माना जा सकता है; लेकिन मेरी दृष्टि मे दक्षिणा की विनम्र गुरुभक्ति दान मे प्रकट नही होती। इसे दुखान्त या करुणान्त मानना भी उचित नहीं, क्योंकि एकलव्य के भीतर शोक या दुःख का भाव नही, त्याग की दीप्ति है। यत्र-तत्र अस्त्र-शस्त्र-प्रदर्शन मे वीर रस का भी सुन्दर चित्र अंकित किया गया है। अष्टम सर्ग 'ममता' में एकलव्य की माता के माध्यम से वात्सल्य का और वात्सल्य मे विरह की भी ग्यारहों अन्तर्दशाओं का चित्रण हुआ है। सम्पूर्ण महाकाव्य मे श्रद्धा-भक्ति अंगी एवं उत्साह अंग-रूप है।

कुरुक्षेत्र मे शान्त और वीर रस का अच्छा चित्रण हुआ है। युधिष्ठिर के निर्वेद मे शान्त रस तथा भीष्म के ओजपूर्ण संदेश मे वीरता के चित्रण मिलते हैं। वस्तुतः कामायनी, एकलव्य और कुरुक्षेत्र जैसे महाकाव्य परम्परागत रूप से आये शास्त्रीय रस-निरूपणों के लिए लिखे ही नहीं गये। मनोवृत्तियों एवं समस्याओ के चित्रण के माध्यम से स्वयं ही रस अनायास रूप से उद्बुद्ध हो गये हैं।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्य में शिल्प-विधि की दृष्टि से नवीनतायें



निष्कर्ष—आधुनिक युग के महाकाव्यों को देखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल शृंगार, वीर, करुण और शांत रसों की प्रधानता है। यह ठीक है कि प्रत्येक काल में इन्ही रसों की प्रधानता रही है, पर आधुनिक युग में प्राचीन-काल की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्राधान्य है। रस-चित्रण के क्षेत्र में मनोविज्ञान ने महाकाव्य के शिल्प को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फलतः, हमारे काव्य अनुभूति की अपेक्षा विचार और चिन्तन-प्रधान हो गये हैं। रीतिकालीन शृंगारिक काव्य के प्रतिक्रियास्वरूप वासनात्मकता और कामुकता के स्थान पर अधिक उदात्त शृंगार और लोकहित की भाव-धाराएँ प्रधान हो गयी। व्यक्ति और वस्तु की प्रधानता के कारण शैलियों का आधिक्य हो गया है। जब प्रियप्रवास और साकेत जैसे परम्परानुमोदित महाकाव्यों मे भी भाव और रस चित्रण सम्बन्धी नवीनतायें हैं, तब पाश्चात्य प्रभावान्वित और पौरस्त्य रस-निष्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों से परिपुष्ट और आद्यन्त मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित

महाकाव्य कामायनी, विचार-चिन्तन-प्रधान महाकाव्य कुरुक्षेत्र एवं चरित्र चित्रण तथा मनोभाव प्रधान एकलव्य महाकाव्य में रस-निरूपण सम्बन्धी नवीन धारणायें स्वाभाविक ही हैं !

आज के महाकाव्यों में रस-व्यजना से अधिक भाव-व्यजना पर ध्यान दिया जाता है। एक दो रस अन्त:सलिला की तरह प्रच्छन्न रूप से प्रवाहित होते हैं, पर उनसे अधिक चरित्र, परिस्थिति और वातावरण को ध्यान में रख क्षण-क्षण परिवर्तित मनोभावों की व्यंजना को ही अधिक महत्त्व दिया जाता हैं। इसका एक कारण आज के महाकाव्यों मे घटनात्मकता का अभाव भी है। कथात्मकता या धटनात्मकता की सघन योजना के अभाव में पूर्ण सावयव रस-निष्पत्ति की न तो आवश्यकता रहती है, न पूर्ण संभावना। आज के महाकवि शास्त्रोक्त पद्धति से सभी रसों की योजना करने नही बैठते। उनके भाव-चित्रण के शिल्प की यह विशेषता होती है कि पाठक समस्या या मनोवैज्ञानिक वस्तु-निरूपण में रम जाते हैं। आज के गम्भीर और संवर्ष-पूर्ण जीवन ने मानव के अधरों से हास जैसे छीन लिया है ! खुलकर हँसने,-खिलने का सुअवसर कहाँ मिलता है ! सम्भतः इसीलिए आज के महाकाव्यों से हास्य रस प्राय: विदा हो गया है। बदले में एक विशेषता आ गई हैं। आज जब मनुष्य अपनी छाया से भी घवड़ा रहा है, जब भाई-भाई की जान का दुश्मन बन रहा है और जब एक ही मनुष्य के बाँये हाथ को उसके दाँया हाथ की सदाशयता पर विश्वास नहीं रह गया है, ऐसे काल में महाकवियों ने एक पारिवारिक सौहार्द की आकांक्षा का अनुभव किया है। प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, रश्मिरथी, एकलव्य, कुरुक्षेत्र··· सबमे इसका आभास मिलता है। साकेत मे पारिवारिक-भावना का विकास इस हद तक हुआ है कि गुप्तजी को यदि गार्हस्थ्य रस का कवि कहा जाये, तो कोई अत्युक्ति न हो। प्रियप्रवास में राधा के माध्यम से लोक-सेवा के द्वारा सारे विश्व को ही परिवार की तरह समझा गया है। परिवार की उदात्त और उदार भावना ही विश्व-प्रेम है। कामायनी स्वयं तो मनु के साथ आनन्द लोक की ओर जाती है, पर उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश को बसाने और इडा के एकाकी जीवन को स्नेहमय बनाने के लिए मानव को उसके पास छोड़ जाती है ! कर्ण को पारिवारिक सौहार्द नहीं मिला; इसी के अभाव में उसका सारा जीवन विषण्ण और अभाव-ग्रस्त रहा—प्रकारान्तर से इसे ही सिद्ध किया गया है। कर्ण-कुन्ती-संवाद में कर्ण के करुणार्द्र वचन मे उसके मन का यह अभाब प्रकट हुआ है। एकलव्य कथा में महाभारत में कही

किसी माता-पिता का उल्लेख नहीं है, पर परिवार से सुख-स्नेह और माता की ममता के अंचल का आभास देने के लिए ही कवि ने उसके माता-पिता और सखा की अवतारणा की है। कुरुक्षेत्र कथा-काव्य नहीं है, इसलिये उसमें संकेत का आश्रय लिया गया है। युधिष्ठिर क्या पारिवारिक सुख के ध्वंस पर सिर नहीं धुन रहा है ? क्या उसकी ग्लानि अपने सगे भाइयों की मृत्यु से अश्रु-पंकिल नहीं है ?—अवश्य ही उसके सारे मनोभाव उजड़े हुए परिवार, उजड़ी हुई मानवता से सम्बद्ध है।

अष्टम प्रकरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण

प्रकृति का व्यक्तित्व—व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से नयन शब्द का एक अर्थ होता है 'ले जाना'। सो, आँखें कुछ ले जाने का काम करती हैं, दृश्य जगत का प्रभाव मन तक ले जाती है। यही कारण है कि इस संसार के रूप-रंग के लिये आँखें आवश्यक हैं। मनुष्य के अतिरिक्त ईश्वर ने हमारी आँखों के सामने जो सृष्टि फैला रखी है, वह प्रकृति का ही विस्तृत भंडार है। मनुष्य की सौन्दर्य-वृत्ति जो निर्माण करती है वह कला है; ईश्वर की सौन्दर्य-वृत्ति जो निर्माण करती है वह प्रकृति है। चूँकि ईश्वर मानव और प्रकृति दोनों का निर्माण करता है, इसलिये ये दोनों परस्पर-सम्बद्ध हैं। सांख्य दर्शन जिसे सद् मानकर सम्पूर्ण सृष्टि का कारण समझता है शंकराचार्य जिसे माया कहते हुए अनिर्वचनीय मानते हैं, वही प्रकृति काव्य के आँगन में असंख्य मुद्राओं और अनन्त छवियों में नृत्य करती है। प्रकृति नैसर्गिक और स्वाभाविक है, अतः वह अधिक विकासवान और आनन्दमूर्त्ति है। आनन्ददर्शी साहित्य के साथ इसीलिए उसका मेल बैठता है। प्रकृति का सम्बन्ध रूप, गंध, स्पर्श, रस और श्रवण—इन पाँचों तन्मात्राओं से है। अतः इस क्षेत्र में विविधता और विस्तार दोनों है।

प्रकृति, मानव और कवि—प्रकृति के साथ मानव के आदिम सम्बन्धों का संकेत 'विषय-प्रवेश' के अन्तर्गत काव्य के जन्म के इतिहास पर विचार करते समय किया जा चुका है। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि प्रकृति मानव से माता, शिक्षिका, सहचरी आदि अनेक रूपों में सम्बद्ध है और यह संभव ही नहीं है कि भावना और कल्पना के दो पंखों पर उड़ने वाले कवि के प्राण-विहग प्रकृति के कुंजों से अपना नाता न जोड़ें। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आज तक ऐसा कोई कवि नही हुआ, जिसकी आँखों मे प्रकृति का सौन्दर्य न फूला हो, जिसके कंठ से फूटने वाले गीतों की कड़ियों को प्रकृति ने न सजाया हो, जिसके कान ने प्रकृति की वीणा पर निरन्तर गूँजने वाली स्वर-

लहरी का आनन्द न लिया हो, जिसके रोम-रोम को प्रकृति की दूती वायु और किरण ने पुलकित न किया हो, जिसके नासिकारन्ध्र को फूलों की आत्मा का सुवास न भाया हो और जिसके मन-प्राण प्रकृति की दिव्य अनुभूति से रसमय न हो गये हों। रोगी, भोगी, योगी—इनमें कौन ऐसा है जो प्रकृति से लाभ नही उठाता ?—रोगी उपचार के लिये जडी-बूटियो का रस लेता है, भोगी के वासना-विलास को प्रकृति रसोद्दीप्त करती है और योगी भी आध्यात्मिक रसानन्द—ब्रह्मानन्द के लिये गिरि-कानन की गोद मे शरण लेता है। फिर कवि तो रोगी, भोगी और योगी तीनों है; प्रेम और लोकोपकार का रोगी, ईश्वर-प्रदत्त सम्पूर्ण सृष्टि का तटस्थ भोगी और शब्द-ब्रह्म की अनवरत साधना करने वाला रसानन्द योगी !—कवि क्या कुछ नही है ! फिर प्रकृति का संग उससे कैसे छूटे ! महादेवीजी ने ठीक ही कहा है कि वह तो उसके भाव और चिन्तन जगत दोनों को प्रभावित करती है।[1]

महाकाव्य में प्रकृति—महाकाव्य में प्रकृति के चित्रण का और भी अवकाश होता है, क्योंकि उसमें घटनाओं की विविधता के साथ ही परिपार्श्व का आधिक्य होना है। घटनाएँ जिस पृष्ठभूमि में घटती हैं, चरित्र जिस वातावरण मे विकसित होते हैं, वस्तुवर्णन के लिए जो अंगी रूप होते है, रस-निष्पत्ति में जो सहायक होते है, नायक-नायिकाओं के जो आभूषण बनते हैं—उन सबका सम्बन्ध प्रकृति से होता है। महाकाव्य के कथा-निर्माण में जिस भावुकता की आवश्यकता होती है, उसकी आवश्यकता प्रकृति-पर्यवेक्षण के लिए भी है। प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारी विदग्धवृत्तियाँ अधिक उदार और हमारी दृष्टि अधिक व्यापक हो। जिसके मन-नयन की सीमाएँ जितनी संकीर्ण होंगी; वह प्रकृति से उतना ही कम आनन्द उठा सकेगा। प्रकृति से पूर्णतः लाभान्वित होने के

---

[1] दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को जितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम में मानव-जाति का भाव जगत ही नहीं उसके चिन्तन की दिशाएं भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित है—महादेवी वर्मा, डॉक्टर रघुवंश के 'प्रकृति और काव्य' के 'दो शब्द' में, पृ० ९।

लिए मनुष्य को अपने अहंकार का त्याग करना पड़ता है, क्योंकि अहंकार मनुष्य को संकीर्ण बना देता है और सर्वभूत को आत्मभूत नहीं करने देता है।[२]

प्राचीन महाकाव्यों में प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण--महाकाव्य की परिभाषाओं का विवेचन करते समय हम यह देख चुके है कि महाकाव्य में प्रकृति-चित्रण को संस्कृत काव्य-शास्त्रियों ने अनिवार्य रूप से स्वीकार किया है। सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रोदय, प्रातः-संध्या, नगर-वन, पर्वत आदि प्राकृतिक उपादानों का वर्णन महाकाव्य मे होना चाहिये, ऐसा माना गया है। लक्षण-निर्धारण करनेवाले आचार्यो के सम्मुख जो महाकाव्य थे, वे प्रकृति के ऐसे चित्रों से परिपूर्ण थे, इसलिए इसकी आवश्यकता आगे के महाकवियो के लिए भी बतलायी गयी। साथ ही उन उद्भट विद्वानो ने वैदिक और लौकिक साहित्य में सर्वत्र फैली प्रकृति के महत्त्व को भी समझा था। लेकिन कुछ दिनों के बाद संस्कृत और लौकिक साहित्य मे प्रकृति-वर्णन की एक रूढ़ि बन गयी और प्रकृति-चित्रण के लिए जिस सच्ची अनुभूति और सहृदयता की अपेक्षा थी, उसका त्याग कर दिया गया। बाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, बाण, भारवि आदि तक प्रकृति का नैसर्गिक रूप बहुत अधिक सुरक्षित रहा, पर हर्ष के नैषधचरित तक आते-आते प्रकृति रूढ़ बन गयी। उसमे भावुकता और वैयक्तिक अन्वेषण के स्थान पर शास्त्रीयता आ गयी।

रीतिकाल में प्रकृति—हिन्दी के रीतिकाल मे संस्कृत काव्य की जो परम्परा अपनायी गयी, उसके अन्तर्गत प्रकृति का उपर्युक्त रूढ़ रूप आ गया। दरबार के आभूषण-मंडित वातावरण और स्वर्ण-पिजड़ मे कैद रहनेवाले कवियों की आँखों के सामने प्रकृति स्वय न आया, पुस्तको में वर्णित प्रकृति-चित्रण के पिष्टपेषित वर्णन आये। ये कवि गाँवों में बसनेवाली उन्मुक्त प्रकृति से नाता तोड़ नगर को विलास-पूर्ण अट्टालिकाओं मे खो गए। केशवदास जैसे पंडित ने शास्त्रनिरूपण करते समय आभूषणों और कृत्रिम उपवनों के पेड़-पौधों के नाम लिये, पर विस्तृत प्रकृति की नैसर्गिक छटा को देखने की सलाह न उन्होंने कवियों को दी और न स्वयं अपने काव्य मे इसको स्थान दिया। रीतिकाल में

---

१ काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत करके अनुभव करना है। दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नहीं। उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक अहंकार से पीछा न छूटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते।—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, 'चिन्तामणि' द्वितीय भाग, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' पृ० ५

ही नहीं, दुर्भाग्यवश आधुनिक काल में भी प्रकृति-वर्णन का यह अन्धानुकरण दीख पड़ता है। खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य प्रियप्रवास को ही लें! वहाँ फालसा, लीची आदि फलों के नाम तो हैं, पहाड़ी सागौन और पूर्वी समुद्रीतट के नारियल के व्यथ प्रसग तो है, पर बेचारा करील ही छूट गया है, जिसके कुंजों मे कृष्ण के ब्रज-जीवन के कितने ही मधुर क्षण बीते हैं और जिसकी शोभा पर रसखान "कोटिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारो,' लिखकर भी नही अघाए—

जम्बू अम्ब कदम्ब विव फालसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमली शिशुपा इंगुदी।
नारगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी,
श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली और शाल्मली थे खड़े।[1]

आधुनिक काल में परम्परागत शैलियाँ और नवीन शिल्प—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों मे प्रकृति-चित्रण की प्राय: वे सारी शैलियाँ अपनायी गयी, जो परम्परा से मान्य थीं। हाँ उनके वर्णन और चित्रण के शिल्प मे अवश्य ही महत्त्वपूर्ण अन्तर दीख पड़ा। अंग्रेजी में एलिजावेथ के युग में जो भावपूर्ण दृष्टिकोण प्रकृति के लिए अपनाए गए, वैसी ही उदारता द्विवेदी युग से हिन्दी में भी शुरू हो गयी। भारतेन्दु-काल मे भक्तिकालीन और रीति-कालीन दृष्टि बिन्दुओं का ही सम्मिश्रण किया गया, कुछ विशेष नवीनता नहीं दिखायी पड़ी।[2] द्विवेदीकालीन कवियो ने प्रकृति को उसके यथातथ्य रूप में देखा। उसमे वर्णनात्मकता की प्रधानता है, अनुभूति की न्यूनता। जो बड़ी बात हुई वह यह कि इस युग के श्रीधर पाठक, जगमोहन सिह आदि कवियों ने रीतिकालीन उद्दीपन परम्परा से हिन्दी कविता को मुक्त कर उसके आलम्बन पक्ष की प्रधानता दी और इसी रूप में अर्थ तथा बिम्ब ग्रहण करने का आन्दोलन चल पड़ा।

स्वच्छन्दतावाद की देन—स्वच्छन्दतावादी काव्य की यह देन चिर-स्मरणीय है कि इस धारा के कवियों ने प्रकृति को अपना साथी माना और

---

१ नवम सर्ग, पद २५

२ भारतेन्दु जी का प्रकृति-चित्रण, भक्ति-काल और रीति-काल के कवियो का सा है। आजकल का सा प्रकृति-चित्रण यदि भारतेन्दु जी में नहीं मिलता, तो इसको हम उनका दोष नहीं कह सकते हैं।

—अध्ययन और आस्वाद, गुलाबराय, पृ० २४९

सुख-दुख की भावनाओं से उसे रँगा देखा । उसने उदासी के क्षण में गुलाब कीं पंखुड़ियों पर शबनम की बूँदे देखी, तो उसे लगा कि फूल उसकी वेदना से रो रहा है; और मस्ती के क्षणों में उसी गुलाब को देखकर वह सोचने लगा कि वह कॉटों में उसी की तरह मुस्कुरा रहा है । द्विवेदीयुग और छायावाद युग के प्रकृति-चित्रण के अन्तर को इस तरह समझा जा सकता है कि 'फूल कैसा है' इसका वर्णन द्विवेदी युग ने किया, पर 'फूल कवि को कैसा लगता है' यह चित्रण छायावादियों ने किया । एक मे वस्तुनिष्ठता और दूसरे में आत्मनिष्ठता है । इस काल के कवियों ने प्रकृति को अधिक से अधिक चेतना-सम्पन्न माना और चित्रित किया ।

विज्ञान का प्रभाव—विज्ञान के क्षेत्र मे जगदीशचन्द्र बसु ने जो प्रयोग किए, उसका मूल निष्कर्ष यही था कि पेड-पौधे मनुष्य की तरह ही प्रतिक्रिया करते हैं, सुख-दुख का उन पर प्रभाव पड़ता है, वे भी पीड़ित और उल्लसित होते हैं । आधुनिक काल की कविताओं में भी प्रकृति की इस चेतना का प्रभाव पड़ा । सर जगदीशचन्द्र बसु ने जो प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किए, वह सत्यानुभव काव्य के क्षेत्र में भी दीख पडा । इसके पहले कि आधुनिक महाकाव्यों के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन और उनकी शिल्प-सम्बन्धी नवीनताओं का उल्लेख किया जाये, यह आवश्यक है कि प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी उन प्रणालियों का सिन्द्धान्त रूप से संक्षिप्त विवेचन हो, जिनका प्रयोग आधुनिक महाकाव्यों में हुआ है ।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रकृति चित्रण की प्रमुख प्रणालियाँ—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों मे प्रकृति-चित्रण की प्राय: निम्नलिखित प्रणालियॉ प्रचलित हैं:—

(१) आलम्बन-रूप में ।
(२) उद्दीपन-रूप मे ।
(३) अलंकार-रूप में ।
(४) मानवीकरण-रूप में ।
(५) नीति और उपदेश के रूप में ।
(६) दार्शनिक रूप में ।
(७) मानव-भाव-अनुरंजन-रूप में ।
(८) नारी-चित्रण-रूप में ।

(९) पृष्ठभूमि और वातावरण के रूप में।
(१०) प्रतीक के रूप में।
(११) दैवी संकेत के रूप मे।
(१२) दूत-रूप मे।
(१३) कवि-प्रसिद्धियों के रूप मे।

प्रत्येक प्रणाली की शिल्प विधानात्मक विशेषताएँ

(१) आलम्बन के रूप में प्रकृति—इस प्रणाली मे प्रकृति के यथातथ्य रूप पर जोर दिया जाता है। इसमे प्रकृति साध्य रहती है, साधन नही। इसमें कवि की सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि का पता चलता है। प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता मान कर उसका चित्र उतारा जाता है, जिसमें अर्थ-ग्रहण की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण पर अधिक ध्यान रखा जाता है। फलतः ऐसे वर्णनों को पढने पर प्रकृति का प्रत्यक्ष रूप साक्षात् आँखो के सामने उपस्थित हो जाता है। कोमल और भयंकर प्रकृति के दोनों रूपों मे ऐसे चित्रण मिलते हैं। इस रूप प्रकृति-चित्रण की एक और विशेषता होती है—'स्थानीयता'। कभी-कभी जिस नगर, ग्राम या प्रान्त का वर्णन होता रहता है, वहाँ के पेड़-पौधों या दृश्यों के चित्रण किये जाते है। इसके लिए कवि का भावुक मन ही नहीं, एक चित्रकार की आँखें भी चाहिए।

उपर्युक्त विशेषताओ के लिए जिन-जिन शिल्पों के प्रयोग किए जाते हैं उनको प्रभावित करने वाले तत्त्वों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण है—

(क) प्रकृति के विस्तृत रूप का ज्ञान—अर्थात् प्रकृति के विविध रूपों का सम्यक और सूक्ष्म परिचय। वाल्मीकि, कालिदास आदि प्रकृति के महान् कवि इसलिए हैं, कि उनकी दृष्टि प्राकृतिक दृश्यों के प्रति अत्यन्त जागरूक है।[1] किस काल में कौन-कौन वृक्ष फलते-फूलते हैं, किस ऋतु में प्रकृति किस रूप में रहती है ऐसे अनेक तथ्यों का ज्ञान आवश्यक होता है।

---

१ उदाहरण—

(i) शाखासु सप्तच्छद पादपानां प्रभासुतारार्क निशाकराणाम्।
लीलासु चैवोत्तमकारणानां श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता॥
—वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग, ३०, श्लोक २९

(ख) **वर्णों की परख**—हमारे देश मे रंगो का ज्ञान इतना सूक्ष्म है कि रसों, ग्रहों आदि के रंगों की भी कल्पना की गई है। फिर नाना वर्ण रूपात्मक सृष्टि मे वर्णो की विविधता स्वाभाविक ही है। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऐसे भी लोग है जो किसी-किसी रग के प्रति अन्धे (कलर ब्लाइन्ड) होते है। प्रकृति-वर्णन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि कवि सूक्ष्म दृष्टि से प्राकृतिक उपादानों के रंगो की पहचान भी रखे। वर्णो की विविधता, संतुलन और उपयुक्तता दृश्य-चित्रण के शिल्प को उसी तरह चमका देती है, जैसे चित्रकार का रग-ज्ञान उसकी चित्रकारी को। रगों की नामावली का ही नही, प्रकृति मे उसके स्वरूप की पहचान की भी आवश्यकता है। केवल रंगो के भेद या मिश्रण का नही, उसके प्रतिफलित रूप को पहिचानना भी आवश्यक है।[1] उदाहरणार्थ दो चित्र देखे जा सकते है—

१—पश्चाप्सरोविभ्र माण्डनानां संपादयित्री शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम ॥[2]

२—नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग,
खिला हो ज्यो बिजली का फूल,
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[3]

दो महाकाव्यों के उदाहरण हमारे सामने है। कालिदास के वर्णन में रंगों के विविध रूप और उनका मिश्रण है—हिमालय का उजला रंग, लक्ष-गेरु आदि वस्तुओं की रग-बिरंगी चट्टाने, पुनः उनके सम्पर्क से श्याम वर्ण के बादलों की प्रतिच्छायाएं, सन्ध्या के रग-बिरंगे बादलों के विभिन्न वर्णो का संकेत और अप्सराओं के साज-शृङ्गार में रंगीनी की कल्पना को जाग्रत करने की शक्ति। इस वर्णन में स्वाभाविकता भी है और रंगों के ज्ञान के कारण कालिदास के

(ii) मृगाः प्रचंडातपतापिता भृश तृषाम-त्या परिशुष्कतालवः।
वनान्तरे तोयमिति प्रधायिता निरीक्ष्य भिन्नाञ्जनसन्निभ नभः॥
—ऋतु-संहार, कालिदास, सर्ग १, श्लोक ११

१ कृपया देखिए—अप्रैल ५३ की 'कल्पना' मे प्रकाशित जगदीश मित्तल का लेख 'हिन्दी में रगो की नामावली'।

२ कुमारसम्भव, कालिदास, प्रथम सर्ग, श्लोक ४

३ कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ४६

आलम्बन रूप के चित्रण के शिल्प में कितना निखार आ गया है ! प्रसाद के वर्णन में श्रद्धा का रूप-चित्रण हुआ है, जो रगों की पृष्ठभूमि में खुल गया है। प्रसाद को नील वर्ण बहुत प्रिय है—केवल एक श्रद्धा सर्ग में ही कितने वर्णन हैं—नील रोमवाले मेषो के चर्म, 'नील परिधान', 'इन्द्र नील लघु शृंग', 'नील घनशावक', विवर मे नील गगन के आज'। नीलवर्ण है भी सर्वाधिक प्रिय वर्ण।[1] उपयुक्त चार पक्तियों की प्रारम्भिक दो पंक्तियो मे परिधान के नील वर्ण मे खिले अधखुले गौर-गुलाबी अङ्गों की समता अन्तिम दो पंक्तियो से दिखलायी गयी है। यहाँ एक साथ वर्ण-वैषम्य और वर्ण-साम्य के द्वारा चित्रण-शिल्प को चमकाया गया है। प्रथम पक्ति और द्वितीय पंक्ति मे तथा तृतीय पंक्ति और चतुर्थ पंक्ति में परस्पर वर्ण-वैषम्य है। फिर प्रथम दो पंक्तियों के चित्र का अन्तिम दो पंक्तियों के साथ वर्ण-साम्य है और इन दोनो चित्रों के साम्य का संयोजक शब्द है 'ज्यों'।

(ग) ध्वन्यात्मकता—प्रारम्भ मे निवेदन कर चुका हूँ कि प्रकृति का उपयोग पंच तंमात्राओ द्वारा होता है। आँखें ही खुली न रहे, प्रकृति को चित्रित करने को कान भी खुले रहने चाहिए। कहीं-कही नाद-सौन्दर्य के द्वारा प्रकृति-चित्रण का सौन्दर्य बढ़ाया जाता है। उदाहरणार्थ, साकेत की निम्मांकित पंक्तियाँ देखी जा सकती है—

ओ निर्झर, झरझर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ो से उलझ-सुलझ, बढ़-अड़ तू।
औ उत्तरीय, उड़, मोद-पयोद, घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्गद् भाव, सदैव उमड़ तू।[2]

× × ×

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भर के,
उछल उछल कर, छलछल करके,
थलथल तरके, कलकल धर के, बिखराता है पारा।[3]

---

१ Encyclopaedia Britannica. 1947, Page 272

२ अष्टम सर्ग, पृ० १६०

3 नवम सर्ग, पृ० २१९

प्रथम उद्धरण में नदी की धारा का और दूसरे में निर्झर का साकार रूप ही आँखों के सामने खड़ा नही होता, कानों मे वे स्वाभाविक स्वर उत्पन्न करते आस-पास बहते हुए मालूम पड़ते है। तात्पर्य यह है कि इस शिल्प के द्वारा प्रकृति के प्रति पाठकों को और सन्निकटता का बोध कराया जाता है।

(घ) घ्राण-संवेदना की तीव्रता—कभी-कभी गंध के चित्रण के सहारे प्रकृति-वर्णन को अधिक प्रभावशाली बनाया जाता है। कोई आवश्यक नहीं कि केवल मलय की सुगन्ध या पावस की प्रथम फुहार के स्पर्श से तप्त धरती की सोंधी गंध के ही वर्णन से सौन्दर्य उत्पन्न हो, भयानक या वीभत्स रस के प्रसग में भी घ्राण संवेदना का चित्रण चमत्कार उत्पन्न करता है। एक उदाहरण लें कुरुक्षेत्र से : दिनकर युद्ध के संहारात्मक रूप का चित्रण करते हुए उसके प्रति घृणा का भाव भरना चाहते है। अत: वे युद्ध-भूमि मे पटी लाशो के घृणात्मक स्वरूप को उपस्थित कर पाठको में उस भाव को जाग्रत करना चाहते है। अब देखें कि इस उद्देश्य को पूर्ति मे गंध-संवेदना के चित्रण का शिल्प कितना सहायक होता है—

सड़ती हुई विषाक्त गंध से दम घुटता-सा जान,
दबा नासिका निकल भागता है द्रुतगति पवमान।[3]

यहाँ विषाक्त गन्ध ही कर्त्ता है। वह विषाक्त गन्ध दम घोंटू वातावरण तैयार करने, पवमान के नासिका दबाने तथा द्रुतगति से निकल भागने का एक मात्र कारण है। 'सड़ती हुई' विशेषण लाशों के गलने-पचने का परिचायक है, जो दृश्य को और घृणास्पद बनाने में सहायक है।

(ङ) चर्म-संवेदना की तीव्रता -घ्राण-संवेदना की भाँति चर्म-संवेदना भी प्रकृति-चित्रण के शिल्प को कलात्मकता प्रदान करती है। शीतल, उष्ण, कोमल, कठोर, चिकना, खुरदुरा आदि विशेषण इसी शक्ति के बोधक हैं। रोमांच, भय आदि अद्भुत, शृंगार आदि रसों का अनुभाव है, पर स्पर्श-संवेदना से संयोग-शृंगार के रोमांच का विशेष सम्बन्ध है। नीचे लिखे उदाहरण में मृदुल, कण्टकित तथा सुपुलकित विशेषण अप्रत्यक्ष रूप से स्पर्श-संवेदना से ही सम्बद्ध है, क्योंकि सीता कुटिया मे राम के साथ ही राज-भवन का अनुभव कर रही या जंगल में मंगल मना रही है—

३ पंचम सर्ग, पृ० ९१

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसतीं,
तब नख-ज्योति मिस, मृदुल अँगुलियाँ हंसतीं,
पर पग उठने पर भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एडियों से सुहास-सा झडता।[1]

यहाँ यदि ध्यान से विचारा जाये तो धँसना और भार पड़ना जैसी क्रियाओं का सम्बन्ध स्पर्श से है, क्योंकि छूने का ही भीमरूप धँसना और भार डालना है।

२---**उद्दीपन रूप में प्रकृति**—प्रकृति-सौन्दर्य को चित्रित करते हुए मानव ने यह अनुभव किया कि प्रकृति उसके मनोभावों को प्रभावित करती है। प्रिया-मिलन के लिए प्रतीक्षा करते हुए पुरुष ने यह अनुभव किया कि खिल-खिलाती हुई चाँदनी, लहराता हुआ मलय पवन और कलकल करती जलधारा ने उसकी मिलनोत्सुक घड़ियों को जैसे गुदगुदा दिये हो। इसी तरह विरह-व्यथा से आर्त्त बनी नायिका ने यह पाया कि पपीहे की पुकार और काकली ने उसके प्रिय-स्मरण को और उभार दिया है और जो चाँदनी कभी सुख पहुँचाती थी वही आज जैसे उसे जला रही है। ऐसी ही परिस्थितियों और मानव-मनोभावों को इसी तरह झकझोर देने वाली शक्तियों ने कवियों को प्रकृति के उद्दीपनकारी रूप की पहचान दी।

साथ ही, स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण करने वाले कवियों के बाद हिन्दी के रीतिकालीन कवियो ने राज दरबार के शृंगार पूर्ण वातावरण में प्रकृति-चित्रण की इस शैली को बहुत अधिक प्रश्रय दिया। अब प्रकृति साध्य न होकर साधन बन गयी और कवि और नायक-नायिका के बीच मध्यस्थता का कार्य करने लगी। यह मानव-मनोभावों के लिए विभिन्न रूपो में वातावरण का निर्माण करती है। प्रकृति कविता की रस-निष्पत्ति की भूमिका तैयार करती हैं। शृंगार-वर्णन, रूप-वर्णन, नखशिख-वर्णन, ऋतु-वर्णन आदि के लिए प्रकृति का यह रूप अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ। प्रकृति के प्रति स्वाभाविक अनुराग की जैसी आवश्यकता आलम्बन के रूप मे उसे चित्रित करने में होती है, वैसी उद्दीपन-रूप मे चित्रित करने में नहीं।

प्रकृति काव्य के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों को उद्दीप्त करती है। संयोग में प्राकृतिक उपादान नायक-नायिका के पारस्परिक अनुराग को बढ़ाते

---

१ साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० १५७

हैं और मिलन को अधिक सुखद बना देते हैं, पर वियोगावस्था में वे उससे भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। वियोग मे प्रकृति के सारे रूप दुखदायी प्रतीत होते है। काम की सभी अन्तर्दशाओं को उद्दीप्त करने मे वे सहायक होते हैं।

बारहमासा और ऋतु-वर्णन के प्रसंग मे प्रकृति व्यापक रूप से उद्दीपन का कार्य करती है। बारहों महीनों और छहों ऋतुओ मे प्रकृति भिन्न-भिन्न रूपो से वियोगी जनो की वासनाओ को उद्दीप्त करती है। पावस के उमड़ते-घुमड़ते मेघ, वसन्त के फूलते-फलते उपवन, शरद की दुधिया चाँदनी और प्रकृति के ऐसे ही अनेक स्वरूप वियोगी हृदयों को उन्मत्त बना देते हैं।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति जिस वियोगवस्था मे कार्य करती है, उसमें मानव के रागात्मक सम्बन्धो का विस्तार हो जाता है। भगवान राम हों या मानवी नागमती, सब वियोगावस्था में प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। जो प्रकृति एक अनबूझ पहेली रहती है, इस अवस्था में संवेदनशीलता के कारण उसका भी स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। लक्ष्मण के वियोग में ही उर्मिला को चातकी के बोल का रहस्य मालूम होता है --

> चातकि, मुझको आज ही हुआ भाव का भान,
> हा ! वह तेरा रुदन था मैं समझी थी गान।[1]

उद्दीपन का यह कार्य व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकार के भावों के साथ सम्बद्ध होता है, क्योकि जहाँ यह एक ओर प्रकट भावो को उद्दीप्त करता है, वहाँ दूसरी ओर प्रच्छन्न भावों को भी जाग्रत करता है, उभारता है। इस उद्दीपन के रूप-चित्रण में दो प्रकार के शिल्पों का विधान किया जाता है—(१) साम्य-शिल्प और (२) वैषम्य शिल्प। प्रथम के अन्तर्गत मानव मनोभावो के अनुकूल रह कर प्रकृति उन्हें उद्दीप्त करती है और दूसरे में वैषम्य के आधार पर मानव मनोभाव उद्दीप्त होते हैं। अर्थात् प्रथम शिल्प का प्रयोग तब किया जाता है, जब प्राकृतिक दृश्यों को मनोभावों के अनुकूल सिद्ध करना हो, जैसे किसी नायक-नायिका के संयोग काल में शीतल मन्द, सुगन्ध समीर का बहना या जोरों की वर्षा होना। यहाँ ये दोनों ही उपादान नायक-नायिका के मिलन-सुख को उद्दीप्त करेंगे और यहाँ प्रकृति अनुकूल कही जायेगी। पर दूसरे

---

१ साकेत, नवम सर्ग, पृ० २००

प्रकार के शिल्प में प्रकृति को प्रतिकूल दिखलाकर भावनायें उद्दीप्त की जाती हैं, जैसे किसी प्रोषितपतिका नायिका के सामने समागम करते पक्षियों के जोड़े या फागुन के उन्मादक वन-उपवन ! विरह के विरोधी होंगे ये दृश्य—फिर भी ये प्रिय के प्रति अभाव के भाव को और उद्दीप्त करेंगे । जहाँ पहले उदाहरण में प्रकृति नायक-नानिका को सहज सुन्दर लगी, वहां दूसरे उदाहरण में वह नायिका या नायक को दुखद लगी, काटने दौड़ी !

(३) **अलंकार रूप में प्रकृति**—मनुष्य को प्रकृति का सौन्दर्य कुछ इतना प्रिय लगा कि उसने मानग-सौन्दर्य के चित्रण में भी उसकी सहायता ली। प्रकृति के सुन्दर उपादान पर रीझ कर उसकी इच्छा हुई होगी कि 'काश ! मेरी प्रिया भी वैसे ही सुन्दर अगों वाली होती, यही कारण है कि प्रकृति से नये-नये उपमान चुनकर मनुष्य के सौन्दर्प-चित्रण को अलंकृत किया जाने लगा। अलंकार शोभा को कहते हैं। कविता में अलंकार उस साधन को कहते हैं जो भावों के उत्कर्ष बढ़ाने और रूप-गुण तथा कार्यकलाप के चित्रण को अधिक तीव्र बनाने में काम आता है। प्रकृति से चुने गये उपनाम इतने लोक-प्रिय और चिर परिचित होते है कि उनके द्वारा चित्रित किये गये सौन्दर्य के आनन्दानुभव में सुविधा होती है । प्रकृति से चुने गये उपमानों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

मुख—चन्द्रमा, कमल, सूर्य ।
अलकें—भ्रमर, नाग ।
नयन—मृग, मीन, कमल, खंजन, भ्रमर ।
नाक—कीर ।
दाँत—मोती, अनार के दाने, मूंगा, कुन्दकली, तारे, विद्युत आदि ।
भुजा—शिरीष-पुष्प, यष्टि, दंड, कमल-नाल आदि ।
अधर—बिम्बाफल, पल्लव आदि ।
स्तन—बेला कमल, नासपाती, आम ।
कन्धा—शाल-वृक्ष, वृषभ आदि ।
कमर—सिंह की कमर ।
जंघा—कदली-स्तम्भ, हाथी की सूँड आदि ।
चरण—कमल इत्यादि ।
वाणी—काकली, हंस-ध्वनि आदि ।

ऊपर कुछ थोड़े से उदाहरण दिये गये है। प्रकृति में विचरने वाले जीव-जन्तुओं की चाल से भी उपमायें दी गई हैं। हाथी की तरह मन्थर गति से चलने वाली नायिका को गज-गामिनी, हंस की तरह निःशब्द चलने वाली नायिका को हंस-गामिनी आदि कहकर पुकारा जाता है। आधुनिक काल में कुछ नये-नये उपमान भी ढूँढ़े गये, जैसे, केश-जाल के लिए प्रसाद का नील घनशावक उपमान तथा पंत का मृणाल-तन्तु, मेघ, रेशम, लहर अन्धकार आदि। सम्पूर्ण शरीर के लिए प्राचीन काल से ज्योत्स्ना, दीप-शिखा, तमाल आदि उपमान प्रयुक्त किये जाते रहे है। कृष्ण-साहित्य में पीताम्बर के लिये इन्द्र-धनुष, कृष्ण-मुख के लिए मेघ-खड, मोतियो की माला के लिये बक-पंक्ति, दाँतों की चमक के लिए विद्युत आदि उपमान प्रयुक्त होते रहे हैं।

अलंकार रूप में प्रकृति-चित्रण करने का एक और शिल्प है—मनुष्य के सौन्दर्य पर प्राकृतिक उपमान न लाद कर प्रकृति-चित्रण को ही अलंकृत कर देना। ऐसे चित्रों में प्रकृति के उपमान मानव से लिए आते हैं। उदाहरणार्थ पन्त जी की बादल कविता पढ़ी जा सकती है—

धीरे-धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशिभोर,[१]

महाकाव्यों में प्रकृति के अलंकार-रूप में प्रयोग करने के लिए उपमा, रूपक,, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, अपह्नुति, व्यतिरेक, प्रतीप आदि दर्जनों अलङ्कार प्रयुक्त होते हैं। पर जब ऐसे प्रयोग में अलंकृत शैली की प्रधानता और दूर की कौड़ी लाने का प्रयास प्रमुख हो जाता है, तब प्रकृति चित्रण की सुन्दरता नष्ट हो जाती है। ऐसे अवसर पर प्रकृति का साधनत्व अत्यन्त क्षीण हो जाता है। जहाँ प्रकृति से आये उपमान भावोत्तेजक और अभिप्रेत भावनाओ को स्पष्टतर बनाकर उसे संक्रमित करते हैं, वहाँ शिल्प का कलात्मक सौन्दर्य दर्शनीय होता है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में रीतिकालीन भद्दी अलंकृत शैली के प्रकृति चित्रण की अपेक्षा अधिक कलात्मकता दीख पड़ती है।

---

१ आधुनिक कवि, पृ० २६

(४) **प्रकृति का मानवीकरण**—प्रकृति को चेतन सत्ता मानकर उसे मानव की भांति आचरण करते देखने की कल्पना मानवीकरण है। ऐसी स्थिति में उसे सखी, प्रिया, माँ आदि रूपों में कवि गण उपस्थित किया करते हैं और उसके हँसने, बोलने, झूमने, गाने, रोने आदि क्रियाओं का वर्णन करते हैं। कुछ लोग इस मानवीकरण को अंग्रेजी की रोमांटिक कविताओं की देन मानते हैं, पर सत्य तो यह है कि हमारे वैदिक-साहित्य मे भी प्रकृति के अनेक तत्त्वों का मानवीकृत रूप मिलता है। दन्तकथाओं में भी अनेक प्राकृतिक प्रतिनिधियों के बोलने, मनुष्य के साथ सहानुभूति रखने आदि के वर्णन मिलते हैं। 'मित्र लाभ' की कहानियों मे भी पशुओं के पारस्परिक वार्त्तालाप और मानव से व्यवहार दिखलाये गये हैं। प्रसाद की कामना और पन्त की ज्योत्सना में मानवीकरण की योजना अत्यन्त कलात्मक बन पड़ी है। लेकिन आधुनिक युग में मानवीकरण की जो विविधता और विस्तृति मिलती है, वैसे पहले नही दिखती। छायावाद काल मे यह प्रवृत्ति और बढ़ी क्योंकि इस काल के कवियों ने सर्वचेतनावाद के सिद्धान्त को अपने काव्य में उतारा। आधुनिक ही नहीं, हिन्दी के प्राचीन महाकाव्यों मे भी इस शैली को अपनाया गया है। मानस, पदमावत और सूरसागर मे भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं; जहाँ राम की व्यथा से पेड़-पौधे दुखी हैं, नागमती के साथ प्रकृति पूरी सहानुभूति दिखला रही है और कृष्ण के ब्रज छोड़ देने पर पशु-पक्षी, यमुना, करील, कदम्ब—सबके सब उदास हैं।

मानवीकरण द्वारा प्रकृति-चित्रण के शिल्प की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि कवि का हृदय कितना सम्वेदनशील है; क्योंकि वस्तुतः प्रकृति स्वयं मानवीय आचरण नहीं करती, उस पर उनका आरोप किया जाता है। यह आरोप संवेदना और कल्पना-शक्ति दोनों पर आश्रित है। जिस क्रियात्मक शक्ति और स्वरूप की एकता के कारण[1] प्रकृति में चेतना का आरोप कर उसे

---

१ मानव के सम्मुख परिवर्त्तन के रूप में विश्व की क्रिया-शक्ति उपस्थित हुई है। यह शक्ति प्रकृति के स्थिर स्वरूप में क्रियोन्मुखी लग सकती है और उसकी क्रियाशीलता में गतिमान भी जान पड़ती है। इसके समान मानव के अन्तर्जगत में मन की क्रियोन्मुखी स्थिति है और प्रयास तथा उत्सुकता के रूप में क्रिया की वास्तविक स्थिति भी है। वाह्य और अन्तर्जगत की ऐसी समरूपता के कारण मानव में प्रकृति को सचेतन देखने की वृत्ति है!

—प्रकृति और काव्य, डा० रघुवंश, पृ० १७

मानवानुकूल समझा जाता है, वह उपर्युक्त दो तत्त्वों—अनुभूति और कल्पना पर ही आश्रित है ।

(५) नीति और उपदेश के रूप में— हम देखते हैं कि प्राचीन काल से ही कवियों ने प्रकृति पर अनेक भावनाओं को प्रक्षेपित करते हुए उसे एक उपदेशिका और नैतिक आचार्या माना है । वर्ड्सवर्थ इसीलिए प्रकृति को एक शिक्षिका मानता था । प्रकृति हमे केवल सुख-दुख में साथ ही नही देती, हमें सदाचार थौर नैतिकता की राह पर भी ले चलती है । बिहारी ने जयसिंह को 'नहीं पराग नहीं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल, अली, कली से ही बँध्यों आगे कौन हवाल ?' कह कर प्रकृति के माध्यम से ही उन्हे सचेत किया था । इसलिए अन्योक्ति अलंकार का प्रचलन इस शैली के प्रकृति-चित्रण के लिए कलात्मक लगा । किष्किन्धाकाण्ड मे तुलसी ने 'बूंद अघात सहै गिरि कैसे, खल के वचन संत सह जैसे' कहकर पावस के माध्यम से सहनशीलता का उपदेश दिया है । इन सबसे बहुत पहले श्रीमद्भागवत् तक मे इस शैली का चित्रण मिलता है । उसके दसवें स्कन्ध के बीसवें अध्याय मे वर्षा और शरद ऋतुओं के वर्णन करते हुए प्रकृति के माध्यम से अनेक उपदेश दिये गये हैं । तुलसी की सहन-शीलतावाला उदाहरण भी भागवत से ही प्रभावित है ।[१] हिन्दी कवियों में रहीम, गिरिधरदास, वृन्द, बिहारी आदि ने प्रकृति पर आधारित नीति-परक रचनायें लिखी हैं ।

आधुनिक महाकाव्यों में नीति और उपदेश के प्रकृति-चित्रण के शिल्प को प्रश्रय नहीं दिया गया है, क्योंकि यह काल उपदेश देने के लिए नही, मानवीय संवेदनाओ के चित्रण के लिए महत्त्वपूर्ण है । इसीलिए आधुनिक महाकाव्यो मे यत्र-तत्र ही ऐसे चित्रण मिलते हैं । उनकी जगह मिलती है दार्शनिकता और मनोवैज्ञानिकता ।

(५) दार्शनिक रूप में प्रकृति—प्रकृति वह दर्पण है जिसमे निराकार अपनी झांकी दिखलाता है । प्रकृति ही अव्यक्त को व्यक्त करती है । अद्वेत दर्शन वाले तो पुरुष और प्रकृति को अभिन्न मानते हैं । सूर ने भी 'प्रकृति पुरुष एक करिजान्यो, लीला भेद बतायो' माना है । आत्मा-परमात्मा एवं जगत-ब्रह्म

---

१ गिरयो वर्ष धाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।
अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाऽधोक्षज चेतसः ॥

—भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय २०, श्लोक १५

की एकता ने प्रकृति के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा दी। यही कारण है कि वैदिक-साहित्य में सूर्य और चन्द्र को ईश्वर की दो आँखें, विशाल आकाश को उसका मस्तक, सम्पूर्ण पृथ्वी को उसके चरण तथा अन्तरिक्ष को उसका उदर माना गया। अपने यहाँ सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य में प्रकृति ईश्वर की इस चेतन शक्ति का विकास माना गया हैं।

मानवीकरण और दार्शनिक स्वरूप-चित्रण में अन्तर यह है कि मानवीकरण में प्रकृति पर मानव का आरोप किया जाता है और दार्शनिक स्वरूप-चित्रण में दैवी गुणों, कार्यावलियों और सौन्दर्य का। उपनिषदों के आधार पर जिस अद्वैतवाद की स्थापना हुई, वही संतों के एकेश्वरवाद की प्रेरणा है।[1] वह सगुणवादी वैष्णवों के अद्वैत से भी साम्य रखता है। हिन्दी के सम्पूर्ण मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में सर्वेश्वरवाद को जो धारा दीखती है, उससे प्रकृति-काव्य बहुत अधिक प्रभावित है। सर्वेश्वरवाद हो या एकेश्वरवाद—जब हम सर्वत्र एक ही ब्रह्म का निवास मान लेते हैं, स्वभावत: विराट विश्व के अणु-परमाणु में फैली प्रकृति को उससे भिन्न नहीं माना जा सकता।

दार्शनिक रूप में प्रकृति-चित्रण करने के दो शिल्प-विधान प्रचलित हैं—एक में दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या के लिए प्रकृति का उपयोग किया जाता है और दूसरे में प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में दार्शनिक सिद्धान्त चित्रित किए जाते हैं। अपेक्षाकृत एक में दार्शनिकता मुख्य होती है, दूसरे में प्रकृति। दोनों का एक-एक उदाहरण इस प्रकार होगा—

प्रथम शिल्प—गगन घटा अहरानी, साधो गगनघटा घहरानी।
पूरब दिशि से उठी बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड सम्हारों बह्यो जात यह पानी।
मन के बैल सुरत हरबाहा जोत खेत निरबानी,
दुबिधा दूब घोल करू बाहर बोव नाम की धानी॥[2]

---

१ संतों का एकेश्वरवाद अद्वैतवाद को आधार मानकर चलता है। चाहे शांकर अद्वैत हो, चाहे शैव अद्वैत हो, चाहे सगुणवादी वैष्णवों का अद्वैत हो, चाहे निर्गुणवादी सन्तों का अद्वैत हो, सबके मूल में मुख्यतः उपनिषदें हैं।

—संतमत का सरभंग सम्प्रदाय, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पृ० ३

२ कबीर वचनावली, सम्पादक हरिऔध, पृ० २३३

यहाँ कबीर का उद्देश्य पावस-वर्णन नही है। वह तो आध्यात्मिक वर्षा के माध्यम से अपने रहस्यवादी दर्शन को सिद्ध करना चाहते हैं।

द्वितीय शिल्प—चिर अविचल पर तारक अमंद।
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध।
वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असंग सुख मे विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिरनवीन,
निष्कम्प शिखा-सा वह निरूपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध, बुद्ध, शुक्र, वह सम।[1]

× × ×

हे जग जीवन के कर्णधार। चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन नौका-बिहार!
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान।[2]

यहाँ पन्त का उद्देश्य क्रमशः 'एक तारा' और 'नौका-बिहार' का वर्णन करना है, लेकिन शुद्ध प्राकृतिक उपादानों को देखते-देखते कवि के मन में आध्यात्मिक विचारों का उदय हो गया है और दार्शनिक सिद्धान्त स्वयं फूट पड़े है—जैसे बादल के बीच से स्वयं इन्द्रधनुष मुस्कुरा उठताहै।

आधुनिकहिन्दी महाकाव्यों में दोनों ही शिल्पों के उपयोग किये गये है।

(७) **मानव-भावों के चित्रण और रंजन के रूप में प्रकृति**—कवि कभी-कभी अपने सुख-दुख के चित्रण के लिए प्रकृति का उपयोग करता है। वैयक्तिकता की इस प्रधानता का युग छायावाद में और अंग्रेजी रोमांटिक साहित्य में विशेष रूप से रहा है। इसी आधार पर हेत्वाभास या 'पैथेटिक फैलेसी' का सिद्धान्त स्थिर हुआ है, जिसके अनुसार प्रकृति स्वयं सुख दुख का अनुभव नही करती, वल्कि मानव अपनी भावनाओ के अनुकूल उसका स्वरूप देखा करता है। दुखी व्यक्ति को सम्पूर्ण सृष्टि दुखमय और सुखी व्यक्ति को सुखमय दीख पड़ती है।

दूसरी बात यह है कि कभी-कभी स्वयं प्रकृति मानव को अनुरंजित करती है। अपने कोमल मधुर रूप से और क्रूर कठिन रूप से भी। कविउसकी

---

१ रश्मिबन्ध, पन्त, पृ० २९

२ रश्मिबध, पृ० ६२

कोमलता पर मुग्ध होता है और भयंकरता से आतंकित! पर चित्रित दोनों रूपों को करता है। कामायनी मे सृष्टि के विध्वंस में भयानक प्राकृतिक चित्रण का तथा श्रद्धा के सौन्दर्य-चित्रण में उसके कोमल रूप का आधार लिया गया है।

(ढ़) **नारी-चित्रण के रूप में**—वस्तुत: मानीकरण का ही यह एक रूप है, पर इसका प्रसंग-वर्णन विलग इसलिए किया जा रहा है कि विश्व के अधिकांश कवि पुरुष वर्ग से ही आये हैं, इसलिये स्त्रीलिंग के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक है। दूसरे, प्रकृति की कोमलता के प्रति आकर्षण भी स्वाभाविक है। अत: नारी, जो सुन्दरता और कोमलता की खान है, उसका उस रूप में ही चित्रण किया गया है। तीसरे, स्वयं प्रकृति स्त्री रूप है, इसलिये भी उसका नारी रूप में चित्रण किया गया है। इसका यह अर्थ नहीं की प्रकृति के विराट पौरुष रूप का चित्रण नहीं मिलता! यहाँ प्रश्न आनुपातिकता का है।

निराला ने संध्या को सुन्दरी तथा जुही की कली को प्रोषितपतिका नायिका मानकर चित्रित किया है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रकृति का यह रूप कई स्थानों पर मिलता है। कामायनी मे वधू के रूप में धरा का चित्रण कितना मनोरम है—

> सिन्धु सेज पर धरा बधू अब,
> तनिक संकुचित बैठी-सी।
> प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
> मान किये-सी ऐंठी सी।[1]

(६) **पृष्ठ भूमि, भूमिका और वातावरण के रूप में प्रक्रित**—महाकाव्यो के शिल्प-विधान में इस शैली का विशेष रूप से प्रयोग किया जाता है। इस शिल्प के निम्नलिखित प्रतिफल होते हैं:—

(१) घटनाओं के लिए अनुकूल प्रकृति-चित्रण कर पूर्वाभास दिया जाता है।

(२) कभी-कभी प्रतिकूल प्रकृति-चित्रण कर भावों या रसों को और तीव्र बनाया जाता है।

(३) प्राकृतिक वातावरण में सजे हुए चारित्रिक उत्कर्ष अधिक प्रभावशाली होते हैं।

---

१ आशा सर्ग, पृ० २८।

कवियों के लिए यह शिल्प वैसे ही उपयोगी होता है, जैसे नाटक मे रंगमंच के वातावरण की उपयुक्त योजना (सेटिग) उपयोगी होती है; या चित्रकार के लिए साध्य रूप से चित्रित किये जाने वाले चित्र के लिए साधन रूप से कैनवास पर उगाये गये रङ्ग उपयोगी होते है। यह शिल्प साम्य और वैषम्य दोनों ही रीतियो से उपयोग मे लाया जा सकता है। वातावरण का निर्माण प्रबन्धों के साथ मुक्तक में भी हुआ है—

रुककर जाती हुई रात का,
अन्तिम छांहो भरा प्रहर है।
श्वेत धुंए से पतले नभ मे,
दूर भांवरे पड़े हुए सोने से सारे
जगी हुई भारी पलकों से पहरा देते।[1]

इसी तरह प्रिय-प्रवास के अनेक सर्गो के प्रारम्भ मे प्रकृति को पृष्ठभूमि बनाकर चित्रित किया गया है।

(०) **प्रतीक के रूप में प्रकृति**—प्रतीको के रूप में प्रकृति का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन है। इस शैली में प्रकृति का अपना रूप अत्यन्त क्षीण हो जाता है और आरोपित भाव बहुत अधिक प्रमुख हो जाते हैं। जैसे, नीर-क्षीर विवेकी ज्ञान का प्रतीक हंस, पावनता की प्रतीक चांदनी, अज्ञानी का प्रतीक अन्धकार आदि। सन्त-साहित्य में तो ऐसे प्रतीको की संख्या अनेक हैं—कुछ उदाहरण—

गङ्गा-यमुना—इड़ा-पिंगला।
सरस्वती—सुषुम्ना।
चन्द्रमा—ब्रह्मरन्ध्र की चन्द्राकार योनी।
हरिण—अन्तःकरण।
कुम्भ और वन—शरीर।
पक्षी—प्राण, आत्मा।
सुग्गा—जीव।
बगुला—माया-ग्रसित मानव।
सर्पिणी—माया।
लहर—सांसारिकता।

---

[1] समाज, अगस्त, ५४, गिरिजाकुमार माथुर।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सबसे अच्छा प्रतीक-विधान कामायनी में हुआ है।

(११) दैवी संकेत के रूप में प्रकृति—शकुन-विचार और ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार प्राकृतिक उपादानों के आधार पर आगे आने वाली घटनाओ के शुभ-अशुभ का विचार हो जाता है। कथा-काव्यों में इस तरह के भविष्य निर्देशन को दैवी संकेत कहते हैं। मानस और साकेत में इसी आधार पर नानिहाल से लौटने वाले भरत और शत्रुघ्न को प्राकृतिक उपादानो से अशुभ संकेत मिलते है।

दैवी संकेतों के चित्रण के लिए दो प्रकार के शिल्प-विधान किये जाते हैं—एक प्रत्यक्ष प्राकृतिक उपादानों के द्वारा, जैसा रामायण और साकेत मे है और दूसरे स्वप्नों के द्वारा, जैसा कामायनी में है। ऐसी विधि से स्वप्न में ही प्राकृतिक उपादानो के शुभ-अशुभ विचार काम में आते हैं।

वस्तुतः यह दैवी संकेत पारलौकिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है। अब तो मनोविज्ञान मे, 'टेलीपैथी के सिद्धान्त ने हमारे इन विचारों की बहुत दूर तक व्याख्या कर दी है।

(१२) प्रकृति का दौतकर्म—प्रकृति की अनन्त शक्ति और सर्वव्यापकता से प्रभावित होकर मानव ने उसे ऐसे स्थानों पर भेजने के उपयुक्त समझा, जहाँ वह स्वयं या तो जा नहीं सकता या परिस्थितिवश जाना नही चाहता। साथ ही, मानव ने उसे स्वयं भावुक मानकर अपनी भावनाओ को पहुँचाने के दौत कर्म करने के उपयुक्त समझा। दूत को सहृदय, परिश्रमी और ईमानदार होना चाहिये और प्रकृति मे ये तीनों ही गुण भरपूर मात्रा में पाये गये। फलतः कथा-काव्यों में ही नहीं, मुक्तकों में भी प्राकृतिक उपादानों के उपयोग दूत बनाकर होने लगे। मेघ-दूत, पवन-दूत, भ्रमर-दूत सभी इसी प्रकार के काव्य हैं। घनानन्द ने बादल को सम्बोधित करते हुये इसीलिए यह अनुरोध किया था कि 'कबहुँ वा बिसासी सुजान के आंगन मों अंसुआन को ले बरसो।'

इस रूप मे प्रकृति के साथ समान भावनाओं की कल्पना की जाती है और सहचरण भावना के आधार पर उससे दूतकर्म कराया जाता है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में भी कहीं-कहीं यह रूप देखा जाता है। प्रियप्रवास में हरिऔध ने यशोदा के विरह-वर्णन के लिए इसका कलात्मक उपयोग किया है।

(१३) कवि-प्रसिद्धियों के रूप में प्रकृति—प्राचीन महाकाव्यों के विवेचन करते समय कवि-प्रसिद्धियों का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि प्राचीन काल से रूढ़ रूप मे प्रकृति के आँगन से कुछ फूल, फल और पक्षी ऐसे चुन लिए गए हैं, जिनका वर्णन आँख मूँद कर कवि-गण करते चले आ रहे है। राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे इसका स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। देश-काल के विपरीत होते हुये भी ये रूढ़ियाँ आँख मूँद कर प्रयुक्त होती आ रही है। जैसे, कवि-प्रसिद्धि है कि चन्दन मे फल-फूल नही होते पर सत्य तो यह है कि उसमे फल-फूल दोनों होते हैं। यह भी असत्य है कि उसमे सदैव सर्प लिपटे रहते हैं और वह केवल मलय पर्वत पर पाया जाता है। यह भी सरासर गलत है कि अशोक वृक्ष सुन्दरियों के पदाघात से फूलते है। इसी तरह हंस न तो सिर्फ मानसरोवर में पाया जाता है और न मोती ही चुगता है। हिन्दी मे डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में कवि-प्रसिद्धियो का अच्छा विवेचन किया है।

आज के महाकाव्यो से कवि-प्रसिद्धियाँ सर्वथा लुप्त नही हुई है। उनके प्रयोग प्राय: मिल जाते है। हाँ, ज्ञान-विज्ञान के आलोक मे ये रूढ़ियाँ प्रोत्साहन नहीं पा रही है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रकृति-चित्रण की शैलियों के उपयोग



प्रियप्रवास

प्रियप्रवास मे काव्य की प्रचलित प्राय: सभी शैलियों के प्रकृति चित्रण देखने को मिलते है—

(१) प्रकृति का आलम्बन रूप —इसके कई रूप मिलते हैं—

एक जिसमें विम्ब भाव हैं, चित्रात्मकता और सजीवता है; दूसरा वह, जिसमें पिष्टपेषण मात्र है, केवल प्राकृतिक उपादानों के नाम गिनाये गये हैं, रूढ़ चित्रण किए गए है —

(क) प्रकृति का मृदुल-मधुर रूप—

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ सर के जल मे पड़ी,

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादक-शीश विहारिणी।
तरणि-विम्ब तिरोहित हो चला।
गगन-मंडल मध्य शनैः शनैः॥

—प्रथम सर्ग, ४,५

(ख) प्रकृति का उग्र रूप—दावानल के समय प्रकृति के भीषण रूप का चित्रण—

निदाघ का काल महादुरन्त था।
भयावनी थी रवि-रश्मि हो गई।
तवा समा थी तपती वसुन्धरा।
स्फुलिंग वर्षारत तप्त व्योम था॥
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में,
ज्वलन्त था आतप ज्वाल-माल-सा।
पतंग की देख महा-प्रचण्डता।
प्रकम्पिता पादप-पूंज-पंक्ति थी।

—एकादश सर्ग, ५६,५७

(२) नामावली-गणना-प्रणाली - इसके अनुसार पेड़-पोधों का नामोल्लेख किया गया है। यही भी ध्यान नहीं रखा गया गया है कि ब्रज में वे पेड़-पौधे हैं या नही—इस दृष्टि से नवम सर्ग में चित्रित प्रकृति-वर्णन द्रष्टव्य है।

(३) आलम्बन रूप में चित्रित प्रकृति का यथातथ्य रूप भी प्रियप्रवास में यथेष्ट मात्रा में मिलता है—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती॥
कमलिनी-कुल-वल्लभ कीं प्रभा।
कल निनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली,
उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी। —प्रथम सर्ग, १, २

गत हुई अब थी द्विघटो निशा,
तिमिर-पूरित थी सब मेदनी।

अति-अनुपमता संग थी लसी।
गगन के तल तारक-मालिका !। —द्वितीय सर्ग, १

× × ×

तारे डूबे तम ढल गया छा गयी व्योम लाली।
पंछी बोले तमचुर जगे ज्यौति फैली दिशा मे।
शाखा डोली सकल तरु की कंज फूले सरों मे।
धीरे-धीरे दिनकर बूडे तामसी रात बोली।

—पंचम सर्ग, १

(४) ऋतु-वर्णन की परम्परा का पालन भी हरिऔध ने किया है, पर उसमें कुछ नवीनता नही दीखती, ऋतुओं में छह के नही चार के वर्णन विस्तार से मिलते हैं—

(क) ग्रीष्म—

रजाक्त आकाश दिगन्त को बना,
बिमर्दती वन्य असंख्य बृक्ष कों !
मुहुर्मुहुः उद्धत हो निनादिता,
प्रवाहिता थी पवनाति भीषणा।
विदग्ध होके कण-धूलि राशि का,
हुआ तपे लौह कणों समान था।
प्रतप्त-वालू-इव दग्ध-भाड़ की,
भयंकर थी मही-रेणु हो गयी। —एकादश सर्गं, ५८-५मे

(ख) वर्षा-वर्णन—

सरस-सुन्दर-सावन मास थाँ,
घन रहे नभ मे घिर-घूमते।
विलसती बहुधा जिनमे रही,
छबिवती - उड़ती-बक - मालिका।
घहरता गिरि-सानु समीप था।
बरसता छिति छू नव-वारि था।
घन कभी रवि-अन्तिम-अंशु ले,
गगन मे रचता बहु-चित्र था।

—द्वादस सर्ग, २, ३

(ग) शरद्-वर्णन—

भू में रमी शरद की कमनीयता थी,
नीला अनन्त-नभ निर्मल हो गया था
थी छा गयी कुकुम मे अमिता सितामा,
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती।

—चतुर्दश सर्ग, ७७

(घ) वसन्त-वर्णन—

विमुग्धकारी मधुमास मंजु था,
वसुन्धरा थी कमनीयता-मयी।
विचित्रता - साथ विराजती रही,
वसन्तवासन्तिकता बनान्त मे।
नवीन भूत, वन की विभूति थी,
बिनोदिता-वेली-विहंग बृन्द में।
अनूपता व्यापित थी वसन्त की,
निकुंज मे कूजित-कुंज-पुंज मे।

—पोड़श सर्ग, १-२

(२) उद्दीपन-रूप में प्रकृति—हरिऔध का प्रियप्रवास मुख्यत: वियोग-कथा ही है, अत: प्रकृति का उद्दीपन रूप मे अधिकांश उपयोग वियोग के अन्तर्गत ही किया गया है, चाहे वह वियोग शृङ्गार से सम्बद्ध हो या वात्सल्य से या सख्य भाव से , संयोग के उद्दीपन ले चित्र बहुत कम हैं।

वियोग-पक्ष के उद्दीपन के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं—

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ,
तो उत्थण्ठा-विवश चित्त में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यो ही मै समुद उड़ती श्याम के पास जाती।।

—षोड़स सर्ग, ५४

ऐसी कुंजें ब्रज अवनि में हैं अनेकों जहाँ जा।
आ आती है दृग-युगल के सामने मूर्त्ति न्यारी।
नाना-लीला-ललित जसुदा-लाल ने की जहाँ है।
ऐसी ठौरों ललक दृग हैं आज भो लग्न होते।

फूली डाले सुकुसुममयी नीप की देख आँखो !
आ जाती है मुरलीधर की मोहिनी मूर्त्ति आगे।
कालिन्दी की पुलिन पर आ देख नीलाम्बु।
हो जाती है उदय उर मे माधुरी कम्बुदो सी।

—चतुर्दश सर्ग, ४९-५०

(३) **वातावरण-निर्माण के लिए प्रकृति**—बहुत से स्थानो पर आगामी परिस्थिति की पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकृति चित्रित की गयी है। कृष्ण की विदाई से व्याप्त निराशा और वेदना के चित्रण के लिए तृतीय सर्ग का प्रारम्भ ही करुण पृष्ठभूमि से होता है—

समय था सुनसान निशीथ का।
अटल भूतल मे तम-राज्य था।
प्रलय-काल समान प्रसुप्त हो।
प्रकृति निश्चल, नीरव, शान्त थी।
परम-धीर समीर-प्रवाह था।
वह मनों कुछ निद्रित था हुआ।
गति हुई अथवा अति-धीर थी!
प्रकृति को सुप्रसुप्त बिलोक के।। तृतीय सर्ग—१, २

यहाँ 'तमराज्य' निराशान्धकार का, 'प्रलयकाल' विनाशकारी ब्रज-सुख का, 'निश्चल नीरव शान्त' अवसादपूर्ण जड़ता प्राप्त मानसिक स्थिति का और 'निद्रित' उत्साहहीनता का व्यंजक हैं।

इसी तरह पंचम सर्ग के प्रारम्भ मे भी कृष्ण-वियोग से सिसकती ब्रज भूमि की मार्मिक दशा के चित्रण के लिए प्रकृति को दर्पण बनाया गया है—

प्रात: शोभा व्रज-अवनि मे जाज प्यारी नही थी।
मीठा-मीठा विहग-रव भी कान को था न भाता।
फूले-फूले कमल दव थे लोचनो में लगाते।
लाली सारे गगन-तल की काल-व्याली समा थी।

× × × ×

फूलों पत्तों सकल पर हैं वारि बूँदें दिखातीं।
रोते हैं या बिटप सब यों आँसुओं को दिखा के!

रोई थी जो रजनि दुख से नन्द की कामिनी के।
ये बूँदे है निपतित हुई गा उसी के दृगों से। पंचम सर्ग–३-५

सप्तम सर्ग में इसी तरह मन्दाक्रान्त छन्द में अत्यन्त संक्षेप में प्रकृति को आधार बनाकर ब्रज की विशद व्यथा की अकह कहानी को चित्रित किगा गया है—

धीरे-धीरे तरणि निकला कांपता दग्ध होता।
काला-काला ब्रज अवनि मे शोक का मेघ छाया। —१

(४) **संवेदनात्मक स्वरूप**—ब्रजवासियों के दुख में प्रकृति साथ देती है। ऐसा लगता है कि प्रकृति भी गोपिकाओं की तरह ही हतभागिनी है। गोपिकाओं के पास कृष्ण नही आते, चम्पा के पास भ्रमर नही आता—

चम्पा तू है विकसित-मुखी रूप और रंग वाली।
पाई जाती सुरभि तुझमें एक सत्पुष्प-सी है।
तो भी तेरे निकट न कभी भूल है भृङ्ग आता।
क्या है ऐसी कसर तुझमे न्यूनता कौन-सी है।

—पंचदश सर्ग, २८

यहाँ तक कि तरग, पवन आदि प्राकृतिक उपादान राधा की व्यथा से ही प्रभावित होकर रोते हैं—

चिन्ता की सी कुटिल उठतीं अंक में जो तरंगे।
वे थी मानो प्रकट करतीं भानुजा थी व्यथा मे॥
धीरेधीरे मृदु पवन में चाव से थी न डोली।
शाखाओं के सहित लतिका शोक से कंपिता थी।

—पंचम सर्ग, ४

(५) **मानवीकरण के रूप में**—यद्यपि प्रियप्रवास द्विवेदी युग की रचना है, तथापि छायाबाद काल के इस तत्त्व का प्रयोग यत्र-तत्र दीख पड़ता है। चतुर्थ सर्ग में सितारों की व्यथा का चित्रण मानब की भाँति किया गया है—

उडुगण थिर से क्यों हो गये दीखते हैं।
यह विनय हमारी कान में क्या पड़ी है?
रह-रह इनमें क्यों रंग आ जा रहा हैं।
कुछ सखी! इनको भी हो रही बेकली है।

—पृ० ४५

इसी तरह नवम सर्ग में गर्वोन्नत व्यक्ति की भाँति पर्वत का वर्णन दर्शनीय है—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार मे।
मैं हूँ सुन्दर मान-दण्ड ब्रज की शोभामयी भूमिका। —१५

(६) **दूत रूप में**—यों तो बारहवीं शताब्दी में 'धोइक' ने 'पवन दूत' लिखा था, पर हरिऔध ने मेघदूत के आधार पर प्रियप्रवास मे भी पवन को ही दूत बनाकर भेजा है। षष्ठ सर्ग में पवन के प्रति दिये गये संदेश मे राधा की उदारता, स्नेहशीलता, लोक-भावना और व्यथा का अत्यन्त कलात्मक परिचय मिलता है—

तू जाती है सफल थल ही वेग वाली है बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ये भगिनि, बिगड़ी बात मेरी बना दे॥
× × × ×
जाते-जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिख वे।
तो तू जा के निकट उसकी क्लान्तियो को मिटाना।
धीरे-धीरे परस कर के गात उत्ताप खोना।
सद्गंधों से श्रमित जन को हर्षितो-सा बनाना।
× × × ×
यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथाएँ।
धीरे-धीरे बहन करके पांव की धूलि लाना।
थोड़ी-सी भी चरण रज जो ला न देगी हमे तू।
हा! कैसे तो व्यथित चित्त को बोध मैं दे सकूँगी॥
—३५, ३६, ७७

यही ठीक है कि इस पवन-दूत प्रसंग में कालिदास की शैली और शिल्प का अनुकरण किया गया गया है, पर कहीं-कहीं कवि की निजी उद्भावनाएँ भी हृदय-ग्राही हैं—

पूरी होवें न यदि तुझ से अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छूके प्यारे कमल-पग को प्यार के साथ आ जा।
जो जाऊँगी हृदय-तल मे मैं तुझी को लगा के॥

—षष्ठ सर्ग, ८२

(७) **अलंकार-रूप में**—प्रियप्रवास में अलंकृत प्रकृति-चित्रण के प्रति बहुत अधिक प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती, फिर भी प्रत्येक सर्ग मे इसके उदाहरण मिल ही जाते है। गोरज के बीच से कृष्ण निकलने पर कैसे लगे, इसके चित्रण के लिए कवि ने प्राकृतिक तत्त्वों के बीच उपमा अलंकार की कितनी सुन्दर योजना की है—

ककुभ-शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके निशि कालिमा,
विलसता नभ में नलिनीश है।

—सर्ग, १ पद १५

इसी तरह अपह्नुति अलंकार के माध्यम से विरह-व्यथा की सहानुभूति से पगी प्रकृति का चित्रण दर्शनीय है—

विकलता उनकी अवलोक के,
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के,
नयन से गिरता बहुवारि था।

—सर्ग, ३, पद ८७

परम्परा-भुक्त प्राकृतिक उपमानों का भी संकलन प्रिय प्रवास में सौन्दर्य-चित्रण के लिए किया गया है:—

मैं पाती हूँ अलक सुषमा भृंग की मालिका में,
है आँखों में सुछवि मिलती खंजनों औ मृगों में।
दोनो बाहें कलभ-कर को देख है याद आती,
पाई शोभा विविध शुक के ठोर में नासिका की।

—षोडश सर्ग, ८५

प्राकृतिक माध्यम से सांग रूपक के सहारे कही-कही यशोदा की स्थिति के चित्रण किए गए हैं—

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी,
लोनी-लोनी नवल लतिका थी अनेकों-उमंगें।
धीरे-धीरे मधुर हिलतीं वासना-बेलियाँ थीं,
सद्वांछा के विहग उसके मंजु-भाषी बड़े थे।

—दशम सर्ग, ४६

(८) **नीति और उपदेश**—प्रियप्रवास में इसका प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से किया गया है, प्रकृति को देख-दिखलाकर पवित्रता, ज्ञान-गरिमा आदि का अनुभव कराया गया है—

प्यारी सत्ता जगत-गति की नित्य लीलामयी है।
स्नेहोसिक्ता परम मधुरा पूतना में पगी है।
ऊँची-न्यारी-सरल सरसा ज्ञान-गर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय-तल की रंजिनी उज्ज्वला है।

—षोड़श सर्ग, १११

इसी तरह एक स्थान पर सुसंगति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

सुलालिमा मे फलकी लगी लखा!
विलोकनीया-कमनीय-श्यामता।
कहीं भली है बनती कुवस्तु भी,
बता रही थी वह मजु गुंजिना॥

—नवम सर्ग, ६२

(९) **तटस्थ प्रकृति-चित्रण**—'मैथ्यू आर्नल्ड' ने यत्र तत्र तटस्थ प्रकृति का चित्रण किया है; तटस्थ प्रकृति, अर्थात् मानव के सुख-दुख के ऊपर उठी हुई अपनी गति पर एक टेक चलती हुई प्रकति। यो तो प्रिय प्रवास में अधिकांश रूप से मानव-सुख-दुख-सापेक्ष प्रकृति चित्रित हुई है, पर कही कहीं तटस्थ प्रकृति के भी दर्शन जोते हैं—तभी ती एक गोपिका उसकी तटस्थता को कोसती है:—

तदपि इन सबों मे ऐंठ देखी बडी ही।
लख-दुखित-जनो को ये नहीं म्लान होते।
चित्त द्रवित न होता है व्यथा अन्य द्वारा।
बहु भाव-जनितों की वृत्ति ही ईदृशी है!

अयि अलि तुझ मे भी सौम्यता हूँ न पाती।
मम दुख सुनता है चित्त देके नही तू।
अति-चपल बडा ही ढीठ औ कौतुकी है।
थिर तनक न होता है किसी पुष्प मे भी॥

—पंचदश सर्ग, ६१-६२

(१०) दार्शनिक रूप में—कृष्ण के नायकत्व के कारण प्रकृति का दार्शनिक स्वरूप भी देखने को मिलता है ! प्रकृति के अणु-अणु में व्याप्त परम सत्ता का ही रूप दीख पड़ता है—

ताराओं मे तिमिर-हर में वह्नि में औ शशी में।
पाई जाती परम रुचिरा ज्योतियाँ हैं उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में,
देखी जाती प्रथित प्रभुता विश्व में व्याप्त ही है।

× × × ×

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि-त्रिरिलता बेलियाँ बृक्ष नाना॥

—षोड़श सर्ग, ११०, ११७

इस तरह प्राय: सभी शैलियों के उपयोग प्रियप्रवास में किये गये है, लेकिन इसकी विशिष्टता इत्त बात में नही है कि प्रकृति-चित्रण की विविध शैलितॉ एकत्र करदी गयी हैं, वरन इस बात मे है कि प्रकृनि के प्रति कवि का नैसर्गिक प्रेम सिद्ध होता है। प्रिय प्रवास के सत्रह सर्गों में बारह सर्गो के प्रारम्भ प्रकृति-चित्रण से ही किये गये हैं तथा सम्पूर्ण ग्रंथ में प्रकृति-चित्रण की इतनी अधिकता है कि यदि इससे उसको निकाल दिया जाय तो ग्रंथ का आकार वहुत छोटा हो जायेगा। प्रिय-प्रवास मे प्रकृति चित्रण के लिए प्रकृति चित्रण का उपयोग बहुत कम किया जाता है। अधिकांश स्थलो पर घटनाओं की पृष्ठ-भूमियों और मानव-भाव के रंग में रंगी प्रकृति के ही दर्शन होते है।

हरिऔध के प्रिय-प्रवास में प्रकृति-प्रेम के कई प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने अपने नायक ओर नायिका को प्रकृति की गोद मे ही अधिक सुख-सुविधा पाते दिखलाया है—

इन सब विभवों की न्यूनता थी न यों भी।
पर वह अनुरागी पुष्प ही के बड़े थे।

यह हरित-तृणों से शोभिता भूमि रम्या ॥
प्रियतर उनको थी स्वर्ण-पर्यंक से भी ।

—त्रयोदश सर्ग, १८६

कृष्ण को प्रकृति कितनी प्यारी थी, इसका चित्रण कर मानो कवि ने अपने ही प्रकृति-प्रेम को प्रकारान्तर से व्यंजित किया है। यहाँ उसका चित्रण-शिल्प दर्शनीय है। एक तो कृष्ण परमात्मा हैं फिर इस महाकाव्य के नायक; अत: कवि ने उन्हीं के मुख से प्रकृति की महत्ता का चित्रण कर अपना विशेष कौशल प्रदर्शित किया है:—

मुकुन्द आते जब थे अरण्य में।
प्रफुल्ल हो तो करते विहार थे।
विलोकते थे सु-विलास वारि की।
कलिन्दजी के कल कूल पै खड़े।
समोद बैठ गिरि-सानु पै कभी।
अनेक थे सुन्दर दृश्य देखते।
बने महा-उत्सुक वे कभी छटा।
विलोकते निर्झर-नीर की रहे ॥

—त्रयोदश सर्ग, २७-२८

शिल्प की दृष्टि से कवि ने अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही रीतियों से प्राकृतिक पृष्ठभूमिओं का निर्माण किया है। अनुकूल पृष्ठभूमि के उदाहरण प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि अनेक सर्गों की प्रारम्भिक पंक्तियों में मिलते हैं और प्रतिकूल प्राकृतिक पृष्ठभूमि का उदाहरण वहाँ पर मिलता है, जहाँ ग्यारहवें सर्ग में यमुना और ब्रज के वन-उपवन के अत्यन्त सुन्दर रूप के वर्णन के बाद कवि कालीय नाग और दावानल के अत्यन्त रौद्र रूपों के चित्रण करता है। चित्रों की यह विशेषता भावों के उतार-चढ़ाव के कारण और निखर जाती है!

यशोदा की विरह-व्यथा को चित्रित करने के लिए बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से प्रकृति का जो रूप उपस्थित किया गया है, वह अत्यन्त कलात्मक और हृदयग्राही है। इस बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के चित्रण में कवि ने जिस शिल्प का उपयोग किया है उसकी विशेषता यह है कि केवल कारणों की कल्पना की गयी है, कार्यों की नहीं। अत. सर्वांशत. कल्पना के उपयोग के बावजूद स्वाभाविकता और मार्मिकता बनी हुई है—

विकलता उनकी अवलोक के।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु-वारि था।

विपुल-नीर बहा कर नेत्र से।
मिष कलिन्द कुमारि प्रवाह के।
परमकातर हो रहे मौन ही।
रुदन थी करती ब्रज की धरा।

—तृतीय सर्ग, ८७-८८

लेकिन कुछ बातें प्रिय-प्रवास के प्रकृति-चित्रण में खलती है। एक तो कथानक की क्षीणता की पूर्त्ति के लिए बहुत अधिक प्रकृति-चित्रण किया गया है। फलतः कहीं-कही तो प्राकृतिक वर्णनों का किसी भाँति औचित्य सिद्ध नही होता और ऐसा लगता है कि ये पंक्तियाँ प्रकृति-चित्रण की खाना-पूर्ति के लिए आये हैं। उदाहरणार्थ नवम सर्ग के प्रारम्भिक पृष्ठ देखे जा सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि सम्पूर्ण प्रकृति प्रिय-प्रवास की कथा-सीमा के कारण अधिकांशतः दुखी ही दिखलायी गयी है। दूसरे रूपों में प्रकृति वहीं चित्रित हुई है, जहाँ किसी सखा, यशोदा या राधा ने कृष्ण की लीलाओं का स्मरण किया है। लीलामय कृष्ण के कार्य-विस्तार का क्षेत्र प्रकृति का आंगन था, अतः स्वभावतः उनकी लीलाओ के चित्रण के साथ सम्बद्ध प्रकृति चित्रित हो गयी है। पर रंगों की कमी के कारण कहीं-कही कृत्रिमता खलती है। सुनसान, रम्य, शोभित आदि विशेषणों के प्रयोग करते हुए कवि ने वास्तविक शून्यता, रम्यता या शोभा के प्रभाव उत्पन्न नहीं किए हैं।[1]

ये दोष मेरी दृष्टि में हिन्दी साहित्य के इतिहास को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त नगण्य है, क्योंकि प्रियप्रवास के पूर्व प्रकृति का जो जड़ रूप रीतिकाल में अथवा जो इत्तिवृत्तात्मक रूप उनके समय द्विवेदी युग के अधिकांश कवियों के द्वारा प्रयुक्त हो रहा था, प्रियप्रवास की प्रकृति चित्रण-कला उससे बहुत ऊँची

---

१ ......हम निस्संकोच कह सकते है कि प्रियप्रवास प्रकृति-महाकाव्य है। लेकिन प्रकृति के इतने सुविस्तृत और विशद वर्णन के रहते हुए भी प्रियप्रवास की प्रकृति बडी कृत्रिम है, अतः उनमें साधारणतः रंगों की कमी है।

—हरिऔध और उनका महाकाव्य प्रियप्रवास, प्रो० केसरीकुमार, पृ० १०६

है। प्रचलित सभी प्रणालियों का आवश्यकतानुसार और प्रायः उचित मात्रा में ही प्रयोग किया गया है तथा उनके प्रयोग में कवि ने यत्र-यत्र नवीन शिल्पों के विधान भी किए हैं जिनसे एक आकर्षण आ गया है, एक चमक आ गई है। इसलिए डा० शास्त्री का यह विचार हमें उपयुक्त जँचता है कि— नवयुग-खड़ी हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में मानवेतर प्रकृति से चित्रण और निरूपण की दृष्टि से हरिऔध अग्रदूत समझे जायेंगे, और प्रियप्रवास की गणना नवयुग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मील-स्तम्भ के रूप में होगी।'[1]

साकेत



साकेत मे प्रियप्रवास की अपेक्षा प्रकृति-चित्रण का कलेवर छोटा है, पर छायावाद युग की बेधकता और दृष्टिकोण की नवीनता के आभास के कारण उसकी प्रभविष्णुता अधिक है। उसमें भी प्रायः सभी प्रचलित शैलियों के प्रयोग किए गए हैं—

(१) **आलम्बन-रूप में**—प्रथम सर्ग में अयोध्या-वर्णन के प्रसंग में, पंचम सर्ग मे, अष्टम सर्ग के चित्रकूट-चित्रण में, द्वादश सर्ग के संध्या-वर्णन आदि में यह रूप देखा जा सकता है—

१ है बनी साकेत नगरी नागरी,
और सात्त्विक-भाव से सरयू भरी।
पुण्य की प्रत्यक्ष धारा बह रही।
कर्ण-कोमल कल-कथा-सी कह रही।
तीर पर हैं देव-मन्दिर सोहते,
भावुकों के भाव मन को मोहते,
आस-पास लगी वहाँ फुलबारियाँ।
हँस रही हैं खिलखिला कर क्यारियाँ।

—प्रथम सर्ग, पृ० १५

२ कहीं खड़े थे खेत, कहीं प्रान्तर पड़े,
शून्य सिन्धु के द्वीप गाँव छोटे-बड़े।
पथ के प्रहरी वृक्ष झूमते थे कहीं,

१ महाकवि हरिऔध का प्रिय-प्रवास, पृ० ९७—९८

खग-मृग चरते हुए घूमते थे कहीं।
छोटी-मोटी कहीं-कहीं थीं झाड़ियाँ,
बसी शशादिक हेतु प्राकृतिक बाड़ियाँ।

—पंचम सर्ग, पृ० १०४-५

३ किसलय-कर स्वागत हेतु हिला करते हैं।
मृदु मनोभाव-सम सुमन खिला करते हैं।
डाली में नव फल नित्य मिला करते हैं,
तृण-तृण पर मुक्ता-भार झिला करते हैं।

—अष्टम सर्ग, पृ० १५८

४ सफल सौध-भू-पटल व्योम के अटल मुकुर थे,
उडुगण अपना रूप देखते टुकुर-टुकुर थे,
फहर रहे थे केतु उच्च अट्टों पर फर-फर,
ढाल रही थी गन्ध मृदुल मारुत-गति भर-भर।

× × × ×

तिमिर-अंक में अब अशंक तारे पलते थे,
स्नेहपूर्ण पुर-दीप दीप्ति देकर जलते थे।
धूम-घूप लो, अहो उच्च ताराओं, चमको,
लिपि-मुद्राओ,—भूमि भाग्य की, दमको दमको।

—द्वादश सर्ग, पृ० ३०३-४

उपर्युक्त उद्धरणों में यदि चिह्नित शब्दों और चरणों पर ध्यान दिया जाये तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि यथातथ्य वर्णण-प्रणाली से भरे आलम्बन-चित्रों में भी कैसी नवीन उद्‌भावनाएँ और काव्य-कला के ऊँचे संस्पर्श हैं।

कहीं-कहीं यथा-तथ्य चित्रण निर्जीव से मालूम पडते है, जैसे चित्रकूट-वर्णन की ये पंक्तियाँ—

ओ गौरव गिरि उच्च उदार,
तुझ पर ऊँचे-ऊँचे झाड़;
तने पत्रमय छत्र पहाड़।
क्या अपूर्व है तेरी आड़।
करते है बहुजीव विहार।

—नवम सर्ग, पृ० १९८

नवम सर्ग मे चित्रकूट-वर्णन-सम्बन्धी यह पूरी रचना ही निरर्थक है, यह न तो कथा-विकास में सहायक है; न भाव-चित्रण में, और न प्रकृति चित्रण की दृष्टि से नवम सर्ग मे इसका स्थान होना चाहिए था। 'मिथिला मेरी मूल है और अयोध्या फूल, चित्रकूट को क्या कहूँ, रह जाती हूँ भूल' जैसी कलात्मक पंक्तियों के बाद चित्रकूट-वर्णन का यह प्रसग और भी नीरस लगता है।

(२) **उद्दीपन-रूप में**—इस शैली का उपगोग मुख्यत: नवम सर्ग में किया गया है, उर्मिला की विरह-व्यथा को उद्दीप्त करने के लिए। इसी क्रम में षड्ऋतु वर्णन की परम्परा को भी स्वीकार किया गया है, किन्तु प्राय: सर्वत्र प्रकृति उर्मिला की भावनाओं के अनुकूल ही चित्रित हुई है। उद्दीपन-वर्णन साम्य और वैषम्य दोनो आधारों पर चित्रित है—

साम्य—उर्मिला के डूबे-डूबे मन के चित्रण के लिए कितना संक्षिप्त और पूर्ण चित्रण है—

लिखकर लोहित लेख डूब गया है दिन अहा।
व्योम-सिन्धु सखि देख, तारक-बुद-बुद दे रहा॥

दूसरा चित्र,

घूम रहे हैं शून्य में उमड़-घुमड़ धनघोर।
ये किसके उच्छ्वास-से छाये है सब ओर?
मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी।

—नवम सर्ग, २०४, २११

वैषम्य—यहाँ प्रतिकूल प्रकृति के द्वारा विरह उद्दीप्त किया गया है—

अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अग सहेज,
तू है फूलों में पली, यह काँटों की सेज।

—पृ० २०५

षड् ऋतु वर्णन में भी कहीं-कहीं नवीनता दीखती है। पावस के वर्णन में प्राचीन आलंकारिक शैली को त्याग कर कितना सरल और उर्मिला की अश्रु-वर्षा के अनुकूल चित्रण है—

बरस घटा, बरसूँ मैं संग।
सरसें अवनी के सब अंग।

मिले मुझे भी कभी उमंग, सबके साथ सयानी।

—पृ० २११

उसी तरह हेमन्त के वर्णन में कृशता के लिए जो चित्र सामने रखा गया है, वह भी सुन्दर है—

एक अनोखी मै ही क्या दुबली हो गई सखी, घर में,
देख पद्मिनी भी यों आज हुई नाल-शेष निज सर में।

—पृ० २२१

शिशिर का वर्णन भी परम्परागत वर्णन से भिन्न है, कम से कम कहने की शैली में पर्याप्त नवीनता है—

शिशिर, न फिर गिरि-बन में।
जितना मांगे, पतझड़ दूँगी, मैं इस निजनन्दन में।
कितना कम्प तुझे चाहिए, ले मेरे इस तब में।
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में?

—पृ० २२४

ऐसे तो अनेक स्थल उद्धृत किये जा सकते हैं, पर उद्दीपन के रूप में प्रकृति-चित्रण में दो बातें विशेष रूप से ध्यान देने की है—एक तो यह कि कुछ अंश (नवम सर्ग के) बहुत सुन्दर होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से सार्थक सिद्ध नहीं होते। वे अंश स्वतन्त्र रूप से लिखकर बाद में जोड़े गये हैं। 'दरसो, परसो घन बरसो' गीत प्राचीन संस्करणों में नही है। यह गीत अत्यन्त सुन्दर मेघ-गीत होते हुए भी सिवा इस बात के कि बादल भी कामोद्दीप्त करते हैं, यहाँ कुछ बहुत उपयुक्त नही दीखता। 'ओ गौरव गिरि उच्च उदार' के विषय में तों निवेदन कर चुका हूँ कि वह सर्वथा प्रसंग-हीन है।

दूसरी बात मह है कि उद्दीपन के रूप में आये प्रकृति चित्रण के लिए कवि ने एक विशेष शिल्प का सहारा लिया है। कविताओं में पूर्व-स्मरण के रूप में आये हुए चित्र कवि की उल्लेखनीय विशेषता के प्रमाण हैं। कवि ने प्रकृति-चित्रण को नाटकीय-शैली पर उपस्थित करते हुए पूर्व स्मृतियों की योजना की है, जिनसे विरह को उद्दीपन मिला है। इस दृष्टि से पृ० २१४ में चित्रित पावस-प्रसंग और पृ० २१५ में चित्रित फल-प्रसंम द्रष्टव्य हैं।

(३) **अलंकार रूप में**—कवि ने प्रकृति के चित्रण में अलंकारो के कलात्मक चित्रण किए हैं—

उपमा—चौंका वह इस बार देख कर राम को।
शैवाल - परिवृत्त यथा सरोरुह श्याम को ।।

—पृ० ११२

—वल्कल पहने श्याम वर्ण राम की शोभा का इससे सुन्दर और संक्षिप्त चित्र और क्या हो सकता है !

× × × ×

पड़ी थी बिजली सी विकराल,
लपेटे थी घन -जैसे बाल।

—पृ० ४४

यहाँ कैकेयी के क्रोधोन्मत्त रूप का चित्रण बिजली और घन जैसे प्राचीन उपमानों के सहारे किया गया है।

सन्देह—भींगी या रज में सनी अलिनी की यह पाँख ?
आलि, खुली किवा लगी नलिनी की यह आँख ?

—नवम सर्ग, पृ० २२६

अनुप्रास—शब्दालंकार की योजना मे भी कवि ने भाव की श्रेष्ठता का निर्वाह किया है। कही पद्माकरी अनुप्रास नहीं मिलता। निम्नांकित उद्धरण मे ध्वन्यात्मकता के साथ ही चित्रात्मकता है—

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल, ढलमल, अंचल, चंचल, झलमल, झलमल तारा।

— वही, पृ० २२६

ऐसे ही नवम सर्ग के दो सौ सातवें पृष्ठ पर लिखित दुर्मिल सवैया में रूपक अलंकार का अत्यन्त स्वाभाविक वर्णन हुआ है।

(४) **मानवीकरण**—इस शैली के कई कलात्मक प्रकृति-चित्र मिलते हैं—

(१) सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चड़े,
रम्य रत्नाभरण ढीले पर चले।

—प्रथम सर्ग पृ० १७

यहाँ सूर्य और रात्रि का मानवीकरण हुआ है। आगे 'वेषभूषा साज ऊषा आ गयी' में ऊषा का भी मानवीकरण किया गया है।

(२) अरुण-पूर्व उतार तारक-हार।
मलिन-सा सित शून्य अम्बर धार।
प्रकृति रंजनहीन, दीन अजस्र,
प्रकृति-विधवा थी भरे हिम-अस्र।

—सप्तम सर्ग, पृ० १५०

उपर्युक्त पंक्तियों में दशरथ-मरण के बाद उनकी तीन विधवा रानियों की भाँति प्रकृति भी वैधव्य का रूप धारण कर लेती है।

(३) मज्जनपूर्वक सुधा नीर से पुरी नहाईं,
उस पर उसने वर्ण-वर्ण की भूषा पाई।
लिख बहु स्वागत-वाक्य सुपरिचय दे रति-मति का,
वासक सज्जा बनी देखती थी पथ पति का।

—द्वादश सर्ग, पृ० ३२७

वासक-सज्जा नायिका के रूप में अयोध्यापति राम की प्रतीक्षा करती अयोध्या का कैसा स्पष्ट चित्रण है!

(४) अरुण सन्ध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँचीं तत्काल।

—द्वितीय सर्ग, पृ० ४५

यहाँ यामिनी के मानवीकरण में सौन्दर्य और गतिशीलता दोनों है।

५. पृष्ठभूमि के रूप में—

(१) इसी दशा में रात कटी,
छाती-सी पौ प्रात फटी,
अरुण भान प्रतिभात हुआ,
विरूपाक्ष-सा ज्ञात हुआ।

—द्वितीय सर्ग, पृ० ५२

उपर्युक्त पंक्तियों में तृतीय सर्ग में आनेवाली दुर्घटना के अनुकूल प्रकृति का चित्रण किया गया है। दशरथ की ही नही कैकेयी-मंथरा को छोड़ जैसे सारे साकेत की छाती फटनेवाली है।

(२) शिला-कलश से छोड़ उत्स उद्रेक-सा,
करता है नग-नाग प्रकृति अभिषेक-सा,
क्षिप्त ललितकण किरण-योग पाकर सदा,
वार रहे हैं रुचिर रत्नमणि-सम्पदा,
वन-मुद्रा में चित्रकूट का नग जड़ा,
किसे न होगा यहाँ हर्ष-विस्मय बड़ा।

—पंचम सर्ग, पृ० ११०

यहाँ चित्रकूट में राम-भरत-मिलन का पूर्वाभास देने को प्रकृति की अनुकूल पृष्ठभूमि उपस्थित की गई है।

(६) **लघु और विराट चित्र**—गुप्तजी का शिल्प ऐसे चित्रणों में दर्शनीय बन गया है—

तप मैं क्षिप्त-लोक सुप्त यों,
व्योम शीर्ण कंचुक धरे विषधर-सा विस्तीर्ण।

—नवम सर्ग, २१७

(७) **स्थिर और गतिशील प्राकृतिक चित्रण**—

स्थिर चित्र—पट मंडप चारों ओर तने मन भाये,
जिन पर रसाल, मधु, निम्ब, जम्बु वट छाये।
मानों बहु कटि-पट चित्रकूट ने पाये,
किंवा, नूतन घन उसे घेर घिर आये।

—अष्टम सर्ग, पृ० १७५

गतिशील चित्र—मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झांकी,
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।

(८) **प्रतीक-विधान**—प्रियप्रवास में प्रतीक-विधान पर ध्यान नहीं दिया गया है, पर साकेत में प्राकृतिक प्रतीकों की कमी नहीं है, जिनके प्रयोग से वर्णन में कलात्मकता आ गयी है—

१—ऊषा-सी आयी थी जग में, संध्या-सी क्या जाऊँ ?
श्रान्त पवन-से वे आवे, मैं सुरभि-समान समाऊँ ।

—नवम सर्ग, पृ० २३४

२—आगे जीवन की संध्या है, देखे क्या हो आली,
तू कहती है—चन्द्रोदय ही, काली में उजियाली ? वही, पृ० २०१

यहाँ ऊषा का अर्थ जीवन की मधुरता, आनन्द और प्रकाश है , 'संध्या' दुख का, जीवन के वार्धक्य का प्रतीक है। 'चन्द्रोदय' और 'उजियाली' सुखमय जीवन और मिलन-सुख का एवं 'काली' निराशा का प्रतीक है।

(९) मनोभावों से अनुरंजित प्रकृति—

१—द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहने दीख पढ़ी गिरिमाला।
सिन्दूर-चढ़ा आदर्श-दिनेश उदित था।
जन जन अपने को आप निहार मुदित था।

—अष्टम सर्ग, पृ० १०२

यहाँ राम-लक्ष्मण और सीता से चित्रकूट में मिलने के बाद प्रसन्न साकेत-वासियों की मनोभावना का प्रतिबिम्ब है।

२—लपट से झट रूख जले, जले।
नद-नदी घट सूख चले,चले।
विकल वे मृग-मीन मरे, मरे।
विफल ये दृगदीन भरे, भरे।

—नवम सर्ग, पृ० २०८

यहाँ उर्मिला के विषाद से रंगी ग्रीष्म-प्रभा है।

(१०) उपदेश के लिये—

१—मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया,
जग-उपवन के झंखाड़ छाँटने आया।

—अष्टम सर्ग, पृ० १६७

२—सफल है उन्हीं घनों का घोष,
वंश-वंश को देते हैं जो वृद्धि विभव, संतोष।
नभ में आप विचरते हैं जो,

हरा धरा को करते हैं जो,
जल में मोती भरते हैं जो, अक्षय उनका कोष।

—नवम सर्ग, पृ० २१३

११—दैवी संकेत और 'टेलीपैथी'—

साकेत में नानिहाल से आते समय दशरथ-मरण और राम-लक्ष्मण-सीता के वन-गमन की सूचना नहीं मालूम होने पर भी जैसे दैवी संकेत या आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार 'टेलीपैथी' (जिसके अनुसार मनुष्य अपने प्रियजन के हर्ष या विषाद का भाव अपने मन मे प्रतिबिम्बित पा लेता है) के कारण भरत-शत्रुघ्न के मन में एक अनजान वेदना-सी छा जाती है—

अनुज, देखो आ गया साकेत,
देखते हैं उच्च राजनिकेत।
किन्तु करते हाय ! आज प्रबेश,
काँपता हैं क्यों हृदय सविशेष।
जान पड़ता है, न जाकर आप,
मैं खिंचा जाता, खिंचे ज्यों चाप।
जब उमड़ना चाहिए आह्लाद,
हो रहा है क्यों मुझे अवसाद ?
निकट ज्यों-ज्यों आ रहा है गेह,
सिहरती है क्यों न जाने देह ?

—सप्तम सर्ग, पृ० ११६

(१२) कवि समय के रूप में—साकेत में कवि-प्रसिद्धियों के भी चित्र मिलते हैं:—

१—चन्द्रामृत पीकर तू चकोरि, अंगार है चखती।

—नवम सर्ग, पृ० २०२

२—आयी हूँ सशोक मैं अशोक आज तेरे तले,
आती है मुझे क्या हाय ! सुध उस बात की !
प्रिय ने कहा था—प्रिय पहले ही फूला यह,
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की !

—वही, पृ० २१६

३—सखि, नील नस्भसर से उतरा,
यह हंस अहा ! तरता - तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नही,
निकला जिनको चरता-चरता ।

—वही, पृ० २०७

यहाँ क्रमशः चकोर के अंगार खाने, अशोक के पदाघात से फूलने और हंस के मोती चुगने की कवि प्रसिद्धियों के चित्रण हैं, पर उर्मिला के विरह के प्रसग में इस की योजना से रूढ़ियों के बीच भी एक ताजापन आगया है ।

साकेत मे प्रकृति-चित्रण की प्रणालियाँ काव्यपूर्ण हैं । प्रकृति के निरर्थक चित्र या अतिशय उद्दीपन-रूप देखने को नही मिलते । मानव-भावों की पृष्ठ भूमि में उतरी प्रकृति अधिक सफल हुई है । अलंकृत प्रकृति-चित्रण में भी हृदय पक्ष प्रधान है । परम्परा-मुक्त वर्णनों मे भी शिल्प के सौष्ठव से हृदय-ग्राहिता आ गयी है ।

कामायनी—मेरी दृष्टि में प्रकृति-चित्रण के शिल्प की दृष्टि से प्रिय-प्रवास साकेत और कामायनी क्रमश: उत्तरोत्तर विकास के सूचक हैं । प्रिय-प्रवास में सम्पूर्ण रीतिकाल और भारतेन्दु-युग के प्रकृति-चित्रण से अधिक सँवरी कलात्मकता है और साकेत मे उससे भी अधिक काव्यात्मकता । आगे कामायनी के प्रसंग मे हम देखेंगे कि प्रकृति अधिक संक्षिप्त रूप में चित्रित हुई है । वाह्य प्रकृति की अपेक्षा उसमें मानवीय प्रकृति का अधिक चित्रण किया गया है और यही कारण है कि कामायनी में उन बहुत-सी रूढ़ियों का त्याग किया हे, जितसे प्रयोग साकेत में हुए हैं । न इसमें षड्ऋतु-वर्णन की परम्परा का निर्वाह है और न नगर-वर्णन आदि ही है । प्रकृति जहाँ भी आयी है, कलात्मकता प्रदान करने के लिए ।

हम एक-एक करके कामायनी के प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं पर विचार करेंगे—

(१)कथा-विस्तार में प्रगति—कामायनी का सम्पूर्ण कथा-क्षेत्र प्राकृतिक वैभव के बीच फैला हुआ है—हिमगिरि और सारस्वत प्रदेश के बीच । कैलाश की यात्रा भी हिमगिरि यात्रा ही मानी जा सकती है । इस बीच सहज ही पर्वत, नदी, समुद्र, आंधी-पानी, उषा-निशा आदि का प्रवेश हो जाता है ।

(२) **जीवन की प्रेरिका**—प्रसाद ने प्रकृति को जीवन की शक्ति और प्रेरिका मान कर उसकी महत्ता की स्थापना की है। उसने प्रकृति को दुर्जेय और महती माना है—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित,
हम सब थे भूले मद मे,
भोले थे, हा तिरते केवल,
सब विलासता के नद में।
शक्ति रही, हाँ शक्ति प्रकृति थी,
पद-तल में विनम्र विश्रान्त,
कँपती थी धरणी, उन चरणों से,
होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।

—प्रथम सर्ग, पृ० ७, ६

प्रसाद की यह आस्था है कि प्रकृति-शक्ति के नष्ट हो जाने से जीवन शक्ति नष्ट हो जाती है, इसीलिये उसने संघर्म सर्ग में जन-वाणी से यह घोषित कराया है—

प्रकृति शक्ति, तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर भीनी।

—पृ० १६६

(३) **उद्दीपन रूप में**—मनु और श्रद्धा के मिलन के अवसर पर तथा श्रद्धा के विरह-वर्णन में इसका उपयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

१—देवदारु निकुंज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सब जागरण की रात।
आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध,
पवन के घन घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध।

—वासना, पृ० ८८

शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कान्त,
सो रही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त।
वहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल क्रान्त।

२--इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनी ! तू हृदय कड़ाकर धीरे-धीरे सब सहले।

—स्वप्न, पृ० १७७

(४) पात्रों के भावों के चित्रण रूप में—

(१) मनु के विरह में श्रद्धा की मानसिक स्थिति का चित्रण—

वह चन्द्रहीन थी एक रात,
जिसमें सोया था स्वच्छ प्रात।
चुपचाप खड़ी थी वृक्ष पांत,
सुनती जैसे कुछ निजी बात।

(२) लज्जा के व्यक्तित्व की परछाईं प्रकृति में कितनी स्पष्ट है—

अम्बर चुम्बी हिम-शृंगों से,
कलरव कोलाहल साथ लिए,
विद्युत की रागमयी धारा,
बहती जिसमें उन्माद लिए,
मंगल कुमकुम की श्री जिसमें,
निखरी हो ऊषा की लाली।

—लज्जा, पृ० १००

(५) पृष्ठभूमि रूप में—

(i)—उषा सुनहले तीर बरसती।
जय लक्ष्मी सी उदित हुई,
उधर पराजित काल रात्रि भी,
जल में अन्तर्निहित हुई।
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का,
आज लगा हँसने फिर से,
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में,
शरद विकास नये सिर से।

—आशा, पृ० २१

यहाँ चिन्ता के बाद मनु के जीवन में उगी आशा की किरणों के उदय का प्राकृतिक आभास है।

(ii)—संध्या अरुण जलज के सर ले अब तक मन थी बहलाती,
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिका के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मंडराती।

—स्वप्न, पृ० १८५

यहाँ श्रद्धा के वियुक्त जीवन के अवसाद तथा स्वप्न में मनु के घायल होने के दुखांत-चित्रण की पृष्ठभूमि उपस्थित की गयी है।

(६) **मानवीकरण—**

(१) धीरे-धीरे हिम-आच्छादन,
हटने लगा धरातल से।
जगी वनस्पतियाँ अलसाई,
मुख धोती शीतल जल से।
नेत्र निमीलन करती मानो,
प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
जलधि-लहरियों की अंगडाई,
बार-बार जाती सोने।

—आशा, पृ० २३

यहाँ वनस्पतियों का अलसाना, मुख-धोना, प्रकृति का नेत्र-निमीलन करना तथा लहरियों की अंगडाई लेने मे मानवीकरण है।

(२) विकल खिलखिलाती है क्यों तू ?
इतनी हँसी न व्यर्थ बिखेर।
× × ×
घूंघट हटा देख मुसक्याती,
किसे ठिठकती-सी आती।

—वही, पृ० ३९

यहाँ रजनी को विकल दिखाने और घूंघट हटाकर मुस्कराने की क्रिया में मानवीकरण है।

(७) **रूप भिन्नता**—प्रकृति के भीषण सौम्य और विराट सभी रूपों के चित्रण मिलते हैं—

(१) उधर गरजतीं सिन्धु लहरियाँ,
कुटिल काल के जालों-सी ।
चली आ रही फेन उगलती,
फन फैलाये व्यालों-सी ।

धंसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निश्वास ।
और संकुचित क्रमशः उसके,
अवयव का होता था ह्रास ।

—चिन्ता, पृ० १४

२—नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर भर अनुराग ।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग ।

—आशा, पृ० २३

धवल, मनोहर चन्द्र-बिम्ब से,
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ;
जिसमें शीतल पवन गा रहा,
पुलकित हो पावन उद्गीथ ।

—वही, पृ० ३४

३—नीचे जलधर दौड़ रहे थे,
सुन्दर धनुमाला पहिने ।
कुंजर कलम सदृश इठलाते,
चमकाते चपला के गहने ।

—रहस्य, पृ० २५८

ऊपर क्रमशः प्रकृति के कठोर, कोमल और विराट रूप के चित्रण हुए हैं ।

(८) **यथातथ्य चित्रण**—आलम्बन रूप में या यथातथ्य चित्रण कामायनी में बहुत कम आए हैं, जहाँ भी वे आए हैं मनोभावों की पृष्ठभूमि और कथापार्श्व में ही, फिर भी यथातथ्य चित्रण के कुछ उदाहरण देखे जा सकते हैं:—

(१) लहरें व्योम चूमती उठतीं,
चपलाएँ असंख्य नचती ।
गरल जलद की खड़ी झड़ी में,
बूंदें निज संसृति रचतीं ।

—चिन्ता, पृ० १६

(२) उसकी तलहटी मनोहर,
श्यामल तृण वीरुध वाली,
नवकुंज, गुहा गृह सुन्दर,
ह्रद से भर रही निराली ।
खग कुल किलकार रहे थे,
कल हंस कर रहे कलरव,
किन्नरियाँ बनी प्रतिध्वनि,
लेती थीं तानें अभिनव ।

—कानन्द, पृ० २८४-८५

लेकिन उपर्युक्त चित्रणों में भी काव्यात्मकता की कमी नही है । उसमें नीरस इतिवृत्तात्मकता का अभाव है ।

(६) **अलंकृत रूप में**—अलंकृत रूप में प्रसाद ने जहाँ भी प्रकृति-चित्रण किया है, वहाँ मनोहारिता बढ़ गयी है, अलंकरण के कारण दबी नही है—

(१) उपमा—

(१) थी अनन्त की गोद-सदृश जो,
विस्तृत गुहा वहाँ रमणीय ।

—आशा, पृ० ३०

(२) घिर रहे थे घुंघराले बाल,
अंश अवलम्बित मुख के पास ।

— श्रद्धा, पृ० ४७

(३) शिथिल शरीर वसन विशृंखल,
कबरी अधिक अधीर खुली ।
छिन्न-पत्र मकरन्द लुटी-सी,

—निर्वेद पृ० २१२

(२) रूपक—

सिन्धु-सेज पर धरा-बधू अब,
तनिक संकुचित बैठी-सी ।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में,
मान किए-सी ऐंठी-सी ।

—आशा, पृ० २४

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी,
रजनी तू किस कोने से ।
आती चूम-चूम चल जाती,
पढ़ी हुई किस टोने से ।

—आशा, पृ० ३९

(३) उत्प्रेक्षा—

बार-बार उस भीषण रव से,
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो,
आलिंगन के हेतु अशेष ।

—चिता, पृ० १४

(१०) **दार्शनिक रूप**—कामायनी जीवन-दर्शन सम्पन्न काव्य है । अतः प्रकृति के माध्यम से दार्शनिक सिद्धान्तों की सहज व्यंजना हुई है—

(१) वह बोली, "नील गगन अपार,
जिसमें अवनत घन सजल भार,
आते-जाते सुख, दुख, दिशि, पल,
शिशु-सा आता कर खेल अनिल,
फिर झलमल सुन्दर तारक दल,
नभ - रजनी के जुगनू अविरल,

—दर्शन, पृ० २३४

जग, जगता आँखें किये लाल,
सोता ओढ़े, तम-नींद-जाल,
सुरधनु-सा अपना रंग बदल,
मृति, संसृति, नति, उन्नति में ढल,

अपनी सुषमा में यह झलमल,
इस पर खिलता झरता उडुदल,
अवकाश-सरोवर का मराल,
कितना सुन्दर कितना विशाल ।

—दर्शन, पृ० २३५

इस तरह प्रसाद ने प्रकृति का उपयोग विविध रूपों मे किया है । प्रसाद के चित्रण-शिल्प की यह विशेषता है कि प्रकृति सर्वत्र मानव के साथ सम्बद्ध होकर आयी है । सृष्टि के आदि पुरुष और आदि नारी के सम्बन्ध के आधार पर रचे इस महाकाव्य मे प्रकृति-शक्ति का चित्रण स्वाभाविक ही है । संस्कृत में इस शिल्प का उपयोग कई स्थानों पर किया गया है, जहाँ प्रकृति के आधार पर कथा का प्रारम्भ होता है । यहाँ भी मनु का चित्रण पर्वत और सागर के क्रोड़ में हुआ है । इस कथा का प्रारम्भ-अन्त दोनों ही प्रसाद ने हिमालय के अंचल में किया है ।

मानव की भावना, सुन्दरता, जिज्ञासा, दर्शन, चिन्ता सब कुछ प्रकृति के माध्यम से प्रकट हुई है । प्रकृति का उपयोग सर्वत्र काव्य को उदात्त बनाने के लिए किया गया है । जहाँ भी प्रकृति-चित्रण के शिल्प की सुन्दरता है, प्रायः वहीं कामायनी की काव्यात्मक पंक्तियाँ मिलती हैं । इसी शिल्प की कुशलता के कारण वस्तु-वर्णन में सरलता आयी है तथा इसी के कारण भावों में मांसलता और स्पष्टता आ गई है । सूक्ष्म मनोभावों को अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में प्रमुख स्थान देने वाले कवि प्रसाद ने यदि प्रकृति-चित्रण के उदात्त शिल्प को नहीं अपनाया होता, तो उनकी सूक्ष्म रेखाएँ स्पष्ट नहीं हो पाती और भावनाएँ मांसल होकर सजीव नहीं लगतीं ! प्रकृति के उपयोग के शिल्प की ऐसी ही विशेषताओं पर रीझ कर आचार्य विश्वनाथ प्र० मिश्र ने यह लिखा है कि 'कविता में प्रकृति की ऐसी मधुर, रमणीय योजनाकरने वाला और उसके प्रति ऐसी मार्मिक दृष्टि रखने वाला कोई दूसरा आधुनिक कवि नहीं दिखाई देता ।'[1]

नूरजहाँ—प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से नूरजहाँ की प्रशंसा **की गयी है ।** शिल्प की दृष्टि से भी इसमें कुछ नवीनताएँ है । प्रकृति की विशाल पृष्ठभूमि

---

१ महावीर अधिकारी द्वारा सम्पादित 'प्रसाद का जीवन दर्शन, कला और कृतित्व, में सगृहीत मिश्र जी का निबन्ध, प्रसाद द्वारा प्रकृति का उपयोग, पृ० २६२

पर नूरजहाँ की कथा पनपी, बढ़ी और फैली है। संक्षेप में निम्नलिखित विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं—

(१) **प्रकृति के माध्यम से राष्ट्र-भक्ति**—गयास जब मातृभूमि छोड़ने लगता है, तब वहाँ की प्रकृति के माध्यम से अपने देश को स्मरण करने का विवरण उपस्थित करता है—

मातृ भूमि ! तेरी झांकी यह कभी न मुझको भूलेगी,
तेरे इस गुलाब की लाली आखों में नित फूलेगी।
बुलबुल ! तेरी प्रेम कहानी उठ-उठ कर मैं गाऊंगी,
केनि कुज के पत्ते-पत्ते को मैं नहीं भुलाऊंगी।

—प्रथम सर्ग, पृ० २६

(२) **स्वाभाविक चित्रण** -

कभी काफिला होकर निकला ऊँचे शुष्क पहाड़ों से।
समतल मैदानों से, होता हुआ करीले झाड़ों से।
नीरवता से बढ़ती जाती थी ऊँटों की बड़ी कतार।
इनमें से कोई लख झाड़ी चुपके से लेती मुखमार॥

—दूसरा सर्ग, पृ० ११

विकट है सूखा रेगिस्तान, वनस्पति का है वहीं निशान,
नाचती हैं किरणें भूपर, आग जलती नीचे-ऊपर

—वही, पृ० १३

(३) नव कुसुमों का मृदुल हास रह-रह ले रहा हिलोरें,
भृंग पुंज कर रहा गुंजरित वन उपवन की छोरें।
ओस बिन्दु की मालाओं का भूषण भार सम्हाले,
उतर रही मुग्धा ऊषा रवि के कर में कर डाले।

—सातवां सर्ग, पृ० ४५

निशा-सुन्दरी ने तारों संग रति में रात गँवाई।
इन अलियों की अठखेलीं पर लज्जा लाली छाई।
इतने ही में तो दुनियाँ जन लगी देखने लीला।
शरमाती घूंघट देती झट भागी लज्जाशीला।

—वही, पृ० ५६

उपर्युक्त दोनों चित्र कल्पना की सजीवता के भी प्रमाण हैं।

(४) संवेदनात्मक रूप—

दु:ख यहाँ भी आ पहुँचा क्या निर्झर जो तुम रोते हो।
किस पीड़ा में हे प्रभात ! गिरि से गिर जीवन खोते हो।

—पाँचवां सर्ग, पृ० ४०

बासंती मृदु समीर खा-खा लतिका यौवन बढ़ता जाता।
है मेहरुन्निसा सुन्दरी पर दिन-दिन पानी चढ़ता जाता।

—छठवां सर्ग, पृ० ४४

(५) अलंकार-रूप—

रूपक—गहन विपिन मे भूली-भूली आई इक सारिका के नीर,
सहस करों से खींच रहा है दिन नायक जिसका वर चीर,
वे-पानी होने के भय से कृष्ण-कृष्ण चिल्लाती है।
मीन व्याज तड़पी जाती है लहर व्याज बल चाती है।

—पाँचवां सर्ग, पृ० ३६

(६) उद्दीपन-रूप—विरहिणी अनारकली प्रकृति के रूप से उद्दीप्त हो उठती है—

कुछ देर निरखती रही नदी सुनती अस्टफुट-कल-मन्त्र-जाप,
उसके दुकूल पर फिर देखा विहँगों के पग की धूल-छाप।
'काण्डर' के पीत पुष्प देखे झाड़ी झुरमुट में फूलों पर।
फिरदौड़ गई उसकी आँखें तट के ऊपर के फूलों पर॥

—पाँचवाँ सर्ग, पृ० ३५-३६

मौलसिरी की कहीं कतारें पारिजात की अवली,
परियों-सी उड़ती फिरती है तितली पुष्पासवपी।
बौराये रसाल रंभा संग नारिकेल में रत है।
विविध ताल ऊँचे विशाल रोके सिर पर नभ छत हैं।

गुरुभक्त सिंह ने नूरजहां में प्रकृति के रूढ़ चित्रों को भी प्रश्रय दिया है। नाम-गणना प्रणाली का आश्रय काव्य को इतिवृत्तात्ममक बना देता है—

रंग-रंग के तोता मैना जहाँ विचरते दल के दल।
चातक और चकोर, कोकिला, मोर, धनेश, लवा, दहियल,

सरि के तट पर चाहा, बगुला, मछुवा, सारस, आंजन, ढेंक,
वर्तें, लाल सर, टीका चकवा, विरह रहे है विहग अनेक ।।

दसवां सर्ग, पृ० ४७

मेरे विचार से नूरजहाँ के प्रकृति-चित्रण की विशेषताएँ वहाँ निखार पर हैं, जहाँ कवि ने प्रकृति-चित्रण के शिल्प को कल्पना से संवारा है--

अर्ध निशा मे महा निविड़तम घेरे था।
अन्धकार ही अन्धकार दिखलाई देता केवल ।।
अपद लोकवासी के लख पड़ते थे जो दृग तारे ।
वे भी मेघों की पलको पर छिपे नीद के मारे ।

—नवां सर्ग, पृ० ६६

प्रकृति-चित्रण शिल्प की दृष्टि से अन्य आधुनिक हिन्दी महाकाव्य



हरिऔध ने अपने दूसरे महाकाव्य वैदेही वनवास में बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली का अधिक प्रयोग किया है । आलम्बन रूप से चित्रित प्रकृति को नाम-परिगणन प्रणाली से मुक्ति नही मिली है । चौदहवें सर्ग के प्रारम्भ में ऐसे ही परम्परा-भुक्त वर्णन मिले हैं । उद्दीपन के रूप में सीता के वियोग-वर्णन में प्रकृति का उपयोग किया गया है । संवेदनशील प्रकृति का रूप राम और सीता के सम्मुख प्रथम सर्ग मे उपस्थित किया गया है । राम को शम्बूक-वध के अवसर पर सत्रहवें सर्ग में पंचवटी की प्रकृति व्यथा-द्रवित दीख पड़ती है । अधिकांश सर्गो के प्रारम्भ में वातावरण-निर्माण के लिए प्रकृति का उपयोग किया गया है ।प्रथम सर्ग में पवन के स्वरूप-चित्रण में प्रकृति के शिक्षिका-रूप का परिचय मिलता है । प्रिय-प्रवास की अपेक्षा मानवीकरण का अधिक प्रयोग वैदेही वनवास में किया गया है । उदाहरणार्थ प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में उषा का, सप्तम सर्ग में अवधपुरी का तथा अष्टम सर्ग में शाल वृक्षों का कलात्मक मानवीकरण दीख पड़ता है ।

पन्द्रहवें सर्ग में प्रकृति के रहस्यात्मक रूप के दर्शन भी होते हैं । तेरहवें सर्ग में प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण हुआ है । प्रतीक और दूत के रूप में प्रकृति का चित्रण वैदेही-वनवास में नहीं किया गया है ।

कृष्णायन में प्रकृति-चित्रण में कोई नवीनता नहीं दीख पड़ती। कवि का ध्यान प्रकृति-चित्रण की ओर विशेष नहीं दिखता। घटनाओं की सर जमीन पर प्रकृति के बेल-बूटे बहुत अधिक नही मिलते। कृष्ण रुक्मिणी के मिलन के अवसर पर प्रकृति के उद्दीपन रूप का, मथुरा जाते समय कृष्ण के स्वागतार्थ उपस्थित प्रकृति मे मानवीय व्यापारो की पृष्ठभूमि का, शरद-वर्णन मे मानवीकरण का और कृष्ण-वियोग मे प्रकृति के संवेदनात्मक स्वरूप का अच्छा चित्रण मिलता है।

'साकेत-संत' की प्रकृति अधिकांशत: अपने परम्परा-भुक्त रूप में ही चित्रित हुई है। दूसरे सर्ग में हिमालय के यथातथ्य वर्णन, माण्डवी के सौन्दर्य-चित्रण मे उसके अलंकृत रूप तथा दिग्वाला के रूप में मानवीकरण के सुन्दर उदाहरण मिलते है। छठे तथा दसवे सर्ग में मानव के भावो से प्रकृति को रंजित दिखलाया गया है। प्रकृति के भयानक रूप का अच्छा चित्रण दसवें और तेरहवें सर्ग में हुआ है।

'सिद्धार्थ' में परम्परा की सीमा और गहरी हो गयी है। आलम्बन उद्दीपन तथा अलंकृत रूप की प्रकृति में हृदय छूने की शक्ति का अभाव दीख पड़ता है। इससे अधिक सफल चित्रण अंगराज में हुआ है, यद्यपि वहाँ भी परम्परा-भुक्त वर्णनों के ही प्राधान्य हैं। 'रावण' मे भी महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार प्रकृति-चित्रण हुआ है। 'जय भारत' में यद्यपि कुछ प्राकृतिक चित्र अच्छे उतरे हैं तथापि उसमें भी कवि का मन प्रकृति-चित्रण में नहीं रमा है।

प्रभात की 'कैकेयी' में मानव-भावनाओं के साथ प्रकृति का तादात्म्य कलात्मक ढंग से दिखलाया गया है। इसके विपरीत हल्दीघाटी मे तथ्य-परक, स्वयं-जीवी प्रकृति का सुन्दर चित्रण हुआ है। हल्दीघाटी का प्राकृतिक वातावरण आलम्बन-रूप में चित्रण के लिए अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है। अष्टम सर्ग में इसका उदाहरण देखा जा सकता है। मानवीकरण के भी कतिपय अच्छे उदाहरण हल्दीघाटी में है।

'कुरुक्षेत्र' में प्रकृति के बहुत अधिक उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उसमें कथानक की स्थूलता है ही नहीं। प्रकृति वहीं-वही आयी है, जहाँ-जहाँ विचारों को मूर्त्त करने या वातावरण के निर्माण के शिल्प में वह सहायक हुई है। प्रथम सर्ग के अन्त में युधिष्ठिर के मन के हाहाकार को

व्यंजित करने के लिए दो पंक्तियों का चित्रण द्रष्टव्य है, जिसमें सिर्फ 'वायु' शब्द की सहायता से एक भावोत्तेजक चित्र खड़ा हो जाता है—

और हर्ष निनाद अन्तः शून्य-सा,
लड़खड़ाता भर रहा था वायु में।

—पृ० ९

द्वितीय सर्ग में तूफान के उदाहरण से क्रान्ति के चित्र का अत्यन्त कलात्मक और प्रतीकात्मक रूप हमारे सामने उपस्थित होता है—

...तूफान देखा है कभी ?
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ।
काल-सा वन में द्रुमों को तोड़ता, झकझोड़ता...
...है भेजती हमको प्रकृति तूफान क्यों ?

—पृ० १६

प्रकृति के भिन्न-भिन्न तत्त्वों के सहारे प्रतिशोध के जन्म-सिद्ध अधिकार का ओजस्वी चित्रण कवि ने किया है—

सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो
उठता कराल हो फणीश फुफकार है,
सुनता गजेन्द्र की चिग्घार जो वनों में कहीं,
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुँकार है,
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती, भू को
लीलने को देखो, गर्जमान पारावार हैं।
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध,
जड़-चेतनों का जन्म सिद्ध अधिकार है।

—तृतीय सर्ग, पृ० ३९

चतुर्थ सर्ग में भीष्म पितामह के आत्म-कथन मे उसके ब्रह्मचर्य के कारण पुँजीभूत जीवन-शक्ति की तथा युद्ध-क्षेत्र में प्रस्फुटन के चित्रण में प्राकृतिक प्रतीकों की ध्वनिपूर्ण व्यंजना श्लाघ्य है—

बही न कोमल वायु, कुंज,
मन का था कभी न डोला,
पत्तों की झुरमुट में छिपकर,
विहग न कोई बोला।

चढ़ा किसी दिन फूल, किसी का,
मान न मैं कर पाया ।
एक बार भी अपने को था,
दान न मैं कर पाया ।

—पृ० ७३-७४

शवों से पटी युद्ध-भूमि के वातावरण से प्रभावित प्रकृति के चित्रण में कलात्मकता और मानवीकरण है—

सड़ती हुई विषाक्त गन्ध से दम घुटता-सा जान,
दबा नासिका निकल भागता है द्रुतगति पवमान ।
शीत-सूर्य अवसन्न डालता सहम-सहम कर ताप,
जाता है मुँह छिपा घनों में चाँद चला चुपचाप ।

—पञ्चम सर्ग, पृ० ६१

जिस तरह प्रसाद ने कामायनी के संघर्ष सर्ग में प्रकृति पर यन्त्रों की विजय की आलोचना की है, वैसे ही कुरूक्षेत्र के कवि ने भी प्रकृति पर विज्ञान की विजय का चित्र उतारा है ।

प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीन,
शोषण कर जीवनी बना दी झीनी ।

—पृ० १६६

आज की दुनिया विचित्र नवीन,
प्रकृति पर सर्वत्र हैं विजयी पुरुष आसीन ।
है बँधे नर के करों में वारि, विद्युत, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप,
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लांघ सकता नर, सरित, गिरि, सिन्धु, एक समान ।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार ।
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार ।

—षष्ठ सर्ग, पृ० १०६-१०

कुरुक्षेत्र में निष्क्रियता के त्याग एवं कर्ममय जीवन व्यतीत करने के उपदेश में प्रकृति का उपयोग किया गया है; पर यहाँ प्रकृति उपदेश नहीं देती, उपदेश के लिए प्रकृति से उदाहरण दिए गए हैं—

हर लेती आनन्द हास,
कुसुमों का यह चुम्बन से,
और प्रगतियय कम्पन जीवित
चपल तुहिन के कण से।

—सप्तम सर्ग, पृ० १६०

प्रकृति का उपयोग कुरुक्षेत्र की अपेक्षा एकलव्य मे अधिक किया गया है—अपेक्षाकृत कथा के अधिक विस्तार के कारण उसकी सम्भावना भी अधिक थी। प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से कुछ प्राचीन नियमों के पालन करते हुए भी कवि ने सर्वत्र नवीन प्रणाली मौर चित्रण-शिल्प का आश्रय लिया है।

नवीन उदाहरणों की सृष्टि करने के लिए कवि ने द्वितीय सर्ग में प्रकृति का उपयोग किया है—

···देखते है प्रतिभा की दृष्टि से,
जैसे मेघ नेत्र-हीन, किन्तु सारे नभ में,
विचरण करता है और कृपा-जल से,
पुलकित करता है जीवन का दान दे।
शतपुत्र उनके जैसे एक अंकुर में,
उठ शतपुत्र हे·······
जैसे रबि बादलों की ओट मे रहे न क्यों,
किन्तु फैलता प्रकाश पृथ्वी पर वैसे ही—

—पृ० २७

ऐसे ही अलंकृत प्रकृति-चित्रण में नवीनता है—

श्याम वर्ण किन्तु हैं प्रदीप्त मुख उनका,
जैसे श्याम तारिका में क्रान्तिमयी दृष्टि है।

उपदेश के रूप में प्रकृति का चित्रण कथा-प्रसंग-सिद्ध है—

वारि-मूल से विहीन सरिता जो होती है,
सूखती है वर्षा-काल बीतने के बाद ही।

—पृ० ३७

पंचम सर्ग के प्रारम्भ में प्रकृति एक साथ ही वातावरण-निर्माण और अलंकृति चित्रण के लिए प्रयुक्त हुई है, पर डा० वर्मा की उपमाएँ और उदाहरण मौलिक कल्पना-सूत्रों से जुड़े हैं—

दिवस-सरोरुह की एक खुली पंखुड़ी,
पद्मराग-जैसी रवि-कोर दिखी प्राची में।
जैसे एक वाक्य मे अमोघ आशीर्वाद हो,
व्याप्त हो जो जग के स-जग कण-कण में।

फूल खिले मानो वे सहास खिले मुख हैं
पढ़ते सुगन्धि के है छन्द अलि-कंठ से,
झूम-झूम उठती लता है, जैसे सुत के।
सुन सु-चरित्र माता पुलकित होती है।

रवि रश्मियां उठी क्यों सूची-मुख तीर हों,
छूटने ही वाले हों, जो क्षितिज के पाप से।

—पृ० ९७

ममता सर्ग में षड्-ऋतु वर्णन की परम्परा का पालन किया गया है, पर साकेत की भाँति यहां भी वियोग-वर्णन के क्रोड में यह चित्रण आया है। समस्त प्रकृति एकलव्य की माँ की वेदना से रंगी है—

आतप की उष्मा से सूखी,
मेरे उपवन की डाल-डाल।

× × × ×

देख, भिगोना मत अबनी,
बूँदों से सुत का गात।

× × × ×

खंजन-सा आवे सुत मेरा,
तब हो स-मुद व्यतीत।

× × × ×

गिरि के पीछे उगने को है,
मेरा बाल किशोर।

× × × ×

मैं कहती हूँ, बड़ी विनय से,
बिना किसी भी व्याज के।
तू अशोक बन करे तपस्या,
विना विषम शर-साज के।

—पृ० १५९-६०

इस परम्परा-वर्णन में भी कहीं-कही कल्पना की नवीनता दीख जाती है—

आया शरद प्रकृति का मीत।
वर्षा के मंथन से निकला।
जैसे यह नवनीत !

—पृ० १५७

संकल्प सर्ग मे प्रकृति के मानवीकरण और रूपक द्वारा एकलव्य की साधना के संकल्प के लिए एक अत्यन्त प्रभावशाली वातावरण का निर्माण किया गया है। निद्रा की माता-रूप में कल्पना करने के बाद प्रकृति की वृद्धा माता के रूप में कल्पना पूर्ण सफल और एकलव्य की प्रतीक्षा में शून्य मे पन्थ निहारती माता का स्मरण दिखाने वाली है—

निर्जन अरण्य-भूमि जैसे अन्धी वृद्धा है,
बैठी हुई शून्य-सी है विवस एकान्त में।
अस्त-व्यस्त त्रस्त-सा विषम धरातल है,
कही गिरा नीचे और कहीं टेढ़-मेढ़ा है !

--पृ १७४

इसी तरह प्रकृति का कल्पना-प्रवण मानवीकरण दर्शनीय है--

पेड़ जैसे अष्टावक्र खड़े ज्ञान-मुद्रा में,
जनक विदेह की सभा में शास्त्रार्थ हेतु।
झाड़ियों के झुंड जैसे वीतरागी संत है,
जटिल झुकाये शीश चिन्तन में लीन है।

--वही

अलंकृत प्रकृति-चित्रण के कुछ और कलात्मक उदाहरण इस पृष्ठ में भी मिलते हैं--

भूमि में छिपे ये कुश-कंटक अपार हैं,
उदासीन माता के मानों उदण्ड बाल हैं।
और ये शिला के खंड फैले हुए ऐसे हैं,
जैसे कष्ट पुँजीभूत होके यहाँ बैठा है।

प्रकृति के पृष्ठाधार का शब्द-चित्र नाटकीय दृश्य संकेत की भाँति सूक्ष्म और स्पष्ट है—

एक घना पेड़ नीचे एक शिला टेढ़ी-सी,
मध्य में सिकोड़ पैर एकलव्य बैठा है।
पार्श्व में धनुष और तीर विष भिने हैं,
जीवन के वक्ष पर जैसे सधी मृत्यु है।

—वही

एकलव्य की मूल प्रेरणा—उपेक्षितों और शोषितों-दलितों की शक्ति और विकास के चित्रण के लिए भी कवि ने प्रकृति का सहारा लिया है—

किन्तु भूमि-पत्र उठता है जैसे भूमि से,
पत्थरों की सन्धियों में सूर्य की किरण का।
हाथ आता है उसे उठाने को प्रभात में,
ओस से नहाता हुआ बादलों की ओट में,
वायु की तरंगों में उठाता शीश अपना,
पैर देके कंटकों के बीच खड़ा होता है।
सूर्य की प्रखर अग्नि उसका बिछौना है,
झंझा का प्रहार उसे यौवन का व्रत है।

वीरता के ऐसे ही लक्षण श्री दिनकर ने रश्मिरथी में प्रस्तुत किये हैं—

कंकड़ियाँ जिनकी सेज सुघर,
छाया देता केवल अम्बर।
विपदाएँ दूध पिलाती है,
लोरी आँधियाँ सुनाती है।
जो लाक्षा-गृह में जलते हैं,
वे ही शूरमा निकलते हैं।

—तृतीय सर्ग पृ० २८

और पुन: डा० वर्मा लिखते हैं—

शीत का प्रकोप उसे ओप से है भरता,
और वर्षा का प्रचण्ड घोष देते वाणी है।
ऐसे भूमि-पुत्र है जो मानव का मान है,
बाधा धन्य होती है उसी से हार मान के।

—पृ० १७६

वात्सल्य को उद्दीप्त करने के लिए इसी सर्ग में प्रकृति का उपयोग किया गया है—

छौने मृगों के जब तीव्र व्याघ्र गर्जना से,
अध बची दूब छोड़, क्षण-क्षण चौंक के।
शंकित दृगों से निज जननी के पार्श्व में,
जननी के पार्श्व में—हां, उसके समीप हों।
इस उस ओर देखी तन में सिमिट के,
जननी की ओर मुख………………।
मेरी जननी भी तो,
कितनी दुखित होंगी मेरे बिना गृह में……।

—पृ० १८२

वातावरण-निर्माण की दृष्टि से साधना सर्ग भी महत्त्वपूर्ण है—

अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु वही धीरे से।
× × ×
इस ज्योति-पर्व में विहंग वृन्द हर्ष से,
जागरण-गीत जैसे गा उठे हैं मुक्त हो।
उड़-उड डाल-डाल बैठे ऐसे झूलते,
जैसे नए भाव झूलते हैं छन्द-छन्द में।
× × ×
झाड़ियाँ कटीली जैसे चक्रव्यूह योजना,
की हो वन-भूमि ने, न यहाँ कोई आ सके।
× × ×
कुछ दूर पत्थरों से ऐसी पटी भूमि है,
जैसे वह बन का कठोर वक्षस्थल है।

इस सर्ग में प्रकृति-सुन्दरी का अलंकृत सौदर्य द्रष्टव्य है—

एकलव्य देखता है, प्रकृति किरीटिनी,
पुष्प छीट वाली कैसे हरी पत्र-कंचुकी।
नीलाम्बर धार कर वायु का प्रतोद ले,
सृष्टि रथ आगे बढ़ा, आ रही है सुन्दरी।

—पृ० २०१

एकलव्य के धनुष तीर के निर्माण में भी प्राकृतिक साधनों का सहारा लिया गया है—

अज, मृग, महिष की तांत तिहरी बँटी,
रज्जु परिवेष्ठित सुचिक्कण, समान है।
तृण, नीबार या गवेधु वेणु-तन्तुओं से,
धनु की प्रत्यंचा ग्रन्थि-हीन शब्द वाली है।
× × ×
काक, क्रौंच, गिद्ध, वक, कंकया कपोत के,
पक्ष-लगे वाण सीधे लक्ष्य पर जाते है।

—पृ० २०९

स्वप्न सर्ग का प्रारम्भ अशान्त प्रकृति के चित्रण से प्रारम्भ हुआ है, जो द्रोण की मानसिक अशान्ति का परिचायक है—

प्रकृति में क्रान्ति है। अशान्त आधी रात है,
झोंके झूमते हैं। तरु-पत्र हाहाकार में।
दूर से पुकारते हैं·········
अन्धकार की असीम कालिमा के क्रोड़ में,
क्रूरता का कोश लिए घन घिर आते हैं।

—पृ० २१५

प्रकृति के गतिशील चित्रण का एक अच्छा उदाहरण इस सर्ग में मिलता है-

और वीर पार्थ देखता है मृगराज को,
जिसकी दहाड़ से पहाड़ कांप जाते है।
गर्वीली चाल से उतरता गिरि-शृङ्ग से,
जहाँ देखता है अग्नि लौ-सी बल खाती है।
झूमकर झुकता है झाड़ी झांकता हुआ,
लेता है उछाल तरु जाल झुक जाता है।
और वह घूरता है अंगारक आँखों से।

—पृ० २३९

कहीं-कहीं डा० वर्मा ने प्रसंग की बेधकता को प्रमाणित करने के लिए प्रकृति का आश्रय लिया है। घने जंगल में श्वान के सहारे पथ ढूंढ़ते हुए भृत्यों के चित्रिण के लिए कवि ने कितनी स्पष्ट रूप-योजना की है—

रवि की सुवर्ण-रश्मि तिरछी हो, वृक्ष की
डालियों से छनती हुई गिरी है वन में
जैसे वन की कँटीली झाड़ियों के तम को
दिखला रही है नित्य रश्मि की कुमारियाँ।

—पृ० २४५

संध्याकाल हो चुका था, पश्चिम में रवि था।
तेज-हीन अस्तोन्मुख अरुण वदन था।
जैसे सब पाण्डु-पुत्र लज्जित थे, हीन थे
एकलव्य की महान साधना के सामने।

—पृ० २५९

डा० वर्मा और श्री दिनकर ने डूबते हुए सूर्य के चित्रण अपने-अपने नायक के लिए किये हैं, पर दोनों के चित्रों मे अन्तर है। डा० वर्मा ने दक्षिणा सर्ग में एकलव्य की साधना की पूर्णता पर पहुँचने के क्रम में अपना सर्वस्व लुटाने का संकेत देने को दिनभर विश्व को ज्योतित कर पश्चिम के क्षितिज पर अस्त हो जाने का चित्रण किया है—

जा रहा दिनेश, देखो, पश्चिम दिशा मे है,
अपनी समस्त साधना की रश्मियाँ लिए।
सौम्य वह कितना है इस निवार्ण में ही,
एक-एक बादल में रंग भरता हुआ।
दिन में प्रकाश - कोश उसने लुटाया है,
अब असमर्थता में लज्जित हुआ सा है।
क्षितिज के मंच पर बैठ सन्तोष यह
दे रहा है, कल फिर तेज लेके आऊंगा।

—पृ० २७६

किन्तु दिनकर ने कर्ण-कुन्ती-संवाद में दिनकर को एक पात्र के रूप में उपस्थित किया है। यहाँ सूर्य केवल प्रकृति का प्रमुख-तत्व ही नहीं, कर्ण का पिता और कुन्ती का एक पति भी है—

कुन्ती का सारा कथन सत्य कर जानो,
माँ की आज्ञा बेटा, अवश्य तुम मानो।

यह कह दिनेश चट उतर गये अम्बर से,
हो गये तिरोहित मिलकर किसी लहर से।

यहाँ प्रकृति का उपयोग आकाश-भाषित के लिए किया गया है, जो आधुनिक वैज्ञानिक युग के लिए विश्वसनीय नही है। यहाँ 'मानो', 'ऐसा लगा कि' आदि शब्दों के प्रयोग के द्वारा या उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा इस बात को कहकर भी नये युग के अनुकूल बनाया जा सकता था। डॉ० वर्मा का चित्रण पूर्वाभास देता है, श्री दिनकर का प्रत्यक्ष यथार्थ ज्ञान। एक में प्रकृति प्रकृति है, दूसरे में कथा का पात्र।

एकलव्य की दक्षिणा से प्रभावित प्रकृति (सूर्य) का भी प्रभावपूर्ण चित्रण किया गया है—

भूमि लाल थी। था सूर्य पश्चिम में रक्तिम,
और बादलो ने एकलव्य-रक्त देख के
अपना शरीर रक्त - रग मे सजा लिया,
सारा नभ एकलव्य - दक्षिणा का रूप था।

—पृ० ३०५

गहरी संध्या हुई थी, चन्द्र उठा व्योम में,
टूटने को हुई अब अन्धकार-कारा थी।

—३०५

इस तरह आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में प्रकृति के उपयोग की विविध शैलियाँ है। लेकिन ये शैलियाँ पूर्णत: उन्ही रूपो मे प्रयुक्त नहीं है, जिन रूपों में प्राचीन या मध्ययुगीन महाकाव्यों मे प्रचलित होती रही हैं। जिस तरह नायक की कोटियाँ बदली, मानव-चरित्र के मानदण्ड बदले, कथा की पार्श्व-भूमि बदली, इसी तरह प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण में भी नवीनता आयी। प्रकृति प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार महाकाव्यों मे मुख्यत: वर्णनात्मकता के लिए प्रयुक्त नहीं हुई। प्रकृति उद्दीपन और आलम्बन की सीमा से आगे बढ़ी और उसको साधन बनाकर मानव-भावो की पृष्ठिभूमि और उसके राग-विरागों से चित्रित दिखायी जाने के लिए मुख्यत: प्रयुक्त होने लगी। प्रकृति का उपयोग वहीं वांछनीय माना जाने लगा, जहाँ वह काव्य के उत्कर्ष मे किसी न किसी रूप में सहायक होने लगी, और वह उत्कर्ष मुख्यत: काव्य के अन्तरङ्ग से

सम्बद्ध होने लगी--काव्य के वहिरंग के लिए उसका उपयोग सीमित मात्रा में किया जाने लगा।

आधुनिक महाकाव्यों मे प्रकृति-चित्रण का शिल्प उसके मानवीकरण संवेदनात्मक स्वरूप, पृष्ठभूमि प्रतीक-विधान आदि से अधिक प्रभावित है। स्वतन्त्र प्रकृति का बहुत कम उपयोग किया गया है। बिम्ब-ग्रहण द्वारा प्रकृति को अधिक आकर्षक बनाने की चेष्टा की गयी है। मानव की सहचरी के रूप में प्रकृति चित्रित की जाने लगी। इस काल के कवियो को केवल प्रकृति के स्थूल-चित्रण मे आस्था नही रही, उन्होंने उसका अन्तर्दर्शन कर उसका सम्बन्ध एक ओर मानव से दूसरी ओर विराट अलौकिक शक्ति से जोडा। इतना ही नही, महाकव्य की परम्परागत वस्तु-परिगणन-प्रणाली के स्थान पर मानव-भाव से परिपूरित प्रकृति के स्वरूप का चित्रण होने लगा। मानव और प्रकृति के रागात्सक सन्बन्धों मे महाकाव्य के दृश्य-चित्रण के शिल्प को इस हद तक प्रभावित किया कि कामायनी और एकलव्य जैसे महाकाव्यों में भूले-भटके ही कहीं एकाध स्थल पर प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण हुआ है। प्रिय-प्रवास, वैदेही-वनवास, साकेत, तारक-वध, नूरजहाँ, कामायनी, रश्मिरथि, एकलव्य आदि कृतियो को देखने से यह स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है कि प्रकृति चित्रण की दृष्टि से आधुनिक काल मे दो प्रकार के महाकाव्य लिखे गये— एक जिनमें प्रकृति की सघनता और व्यापकता है और दूसरे वे, जिनमें प्रकृति-चित्रण की सघनता नही है—अधिकांश रूप से सांकेतिकता और प्रभावोत्पादकता ही है। फिर भी दोनों प्रकार की रचनाओं में आधुनिक युग की परिवर्त्तित मनोवृत्तियों की स्पष्ट छाप है।

आज प्रकृति काव्य का नही, मानव-काव्य का युग है; पर प्रकृति का मार्मिक साहचर्य और सौम्य वरतावरण के प्रति आज के महाकवियों का आकर्षण अमोघ है और आज प्रकृति मानव से अभिन्न होकर चित्रित हो रही है।



नवम प्रकरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की शैलियाँ

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की शैलियाँ

शैली—रचनात्मक साहित्य मौलिक कृतियों को कहते है। प्रत्येक रचना के दो पक्ष होते हैं—वस्तु-पक्ष और शैली-पक्ष। शैली-पक्ष का सम्बन्ध रचना-प्रणाली से होता है। शैली विषय की अभिव्यक्ति या रीति को कहते है। विषय-वस्तु की सम्यक अभिव्यंजना ही इसका उद्देश्य है। काव्य की आत्मा रस है, जिसका सम्बन्ध उसके भाव-पक्ष से है, पर काव्य के बाह्य रूप-सौन्दर्य के लिए जिन तत्त्वो की आवश्यकता है, उनमे एक प्रमुख तत्त्व शैली है। भाव-तत्त्व, बुद्धि-तत्त्व और कल्पना-तत्त्व के अतिरिक्त शैली-तत्त्व की महत्ता निर्विवाद रूप से सिद्ध है।

शैली एक विधा—शैली साहित्यकार की एक वैयक्तिक विधा है। एक ही भाव या एक ही रस के लिए अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न दिशाएँ होती है। दिशाओं की ये भिन्नताएँ शैली-निर्माण मे बहुत दूर तक सहायक होती हैं। कौन साहित्यकार किस प्रकार की शब्द-योजना करता है, वह किस तरह वाक्यांशो का निर्माण करता है तथा उसकी रचना से कैसी ध्वनि-निकलती है—ये सारी बातें शैली के अन्तर्गत आती हैं। रचना के शिल्प-विधान का इसीलिए शैली के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। शैली शिल्प-विधान को परिमार्जित करती है, उसके स्वरूप-निर्माण में बहुत दूर तक सहायक होती है। बुद्धि, संकल्प और भाव इन तीनों वृत्तियो को अधिक से अधिक रूप में प्रभावशाली बनाने का काम शैली करती है।

शैली और साहित्यकार की एकरूपता—शैली का निर्माण साहित्य-कार के जीवन के उषा-काल से ही होने लगता है,[1] जो प्रयोग से सिद्ध होता

---

1 What is called style in writing or speking is formed very early in life, while the imagination is warm and impressions are permanent.

—Writings, Thomas Jafferson, Vol, V, Pege-185

है। यह व्यक्तित्व की परिचायिका होती है और किसी लेखक से उसकी शैली का सम्बन्ध कभी-कभी इस हद तक हो जाता है कि केवल शैली के द्वारा बिना लेखक का नाम देखे ही यह कह दिया जा सकता है कि यह रचना अमुक की है। इसलिए शैली को मानव का प्रतिरूप माना गया है।[1] डा० श्यामसुन्दर-दास ने लिखा है कि 'एक विद्वान के मत से शैली विचारों का परिधान है पर यह ठीक नहीं, क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उसकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से उसके विचार अलग नहीं हो सकते वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कह कर उनका वाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा!'[2] एक विद्वान से डा० दास का तात्पर्य सम्भवतः 'लार्ड चेस्टर फील्ड' से है, जिसने अपने एक पत्र में शैली को विचारों का परिधान माना है।[3] डा० दास का विचार 'एमर्सन' से मिलता है जिसने शैली को मस्तिष्क का स्वर माना है।[4]

शैली के गुण—भारतीय साहित्य-शास्त्र के विकाश के मूल में विभिन्न शैलियों का विवेचन ही मिलता है। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि प्रायः प्रत्येक साहित्यकार अपनी शैली को नवीन कलेवर प्रदान करने की चेष्टा करता है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो केवल प्रत्येक व्यक्ति की ही शैली नहीं होती, प्रत्येक युग और प्रत्येक साहित्य-प्रवृत्ति की अपनी शैली होती है, जो उसकी रमणीयता, आकर्षण, प्रभावोत्पादकता आदि की वृद्धि करती है।

---

1 The style is the man;
—The Victorian age in Literature, G. K. Chesterton. Page-185,

2 साहित्यालोचन, पृ० २४६

3 Style is the dress of thoughts.
—Letters 24th Nov, 1749, The Stevenson's Dictionary, Page-1926.

4 A man's style is his mind's voice.
—Journals Vol, X Page 457.

प्रिय प्रवास का प्रारम्भ मनोभाव की सफल व्यजना के लिए चित्रित प्राकृतिक भूमि से हुआ है। दिवस के अवसान का चित्र ब्रज-भूमि के सुदिन के अन्त का प्रतीक है। कृष्ण का ब्रज छोड़ना वहाँ के लिए दुख की रात्रि का आना ही है। पुस्तक का अन्त दुख की उदात्त भूमि पर हुआ है, जहाँ व्यक्ति अपने दुख से ऊपर उठकर बिश्वात्मा की झलक कण-कण में पाने लगता है तथा अपनी पीड़ा को भुलाने के लिए दूसरों के दुख मे हाथ बँटाने लगता है। प्रिय-प्रवास का मध्य विलाप और गुण-कथन से पूर्ण है। प्रियप्रवास का कथानक इतना क्षीण है कि कलेवर देने के लिए मध्य मे इस शिल्प को अपनाना आवश्यक समझा गया है।

शैली और महाकाव्य—शैली के कारण ही मानव की रागात्मक वृत्तियों को अधिक से अधिक जागरित करने के लिए जीवनगत सनैदर्य का उद्घाटन किया जाता है तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोणों मे अधिक से अधिक मौलिकता लायी जाती है। इसीलिए मनोभावों को व्यस्त करने का व्यक्तिगत सौन्दर्यात्मक प्रयोग शैली का आधार है। महाकाव्य को भी अधिक से अधिक आकर्षक, प्रभावपूर्ण और सरल-सुन्दर बनाने के लिए उसकी शैली के निर्माण की आवश्यकता होती है। इसके लिए शब्द-शक्तियाँ, प्रतीक, अलंकार, छन्द, संज्ञा विशेषण, क्रिया-पद आदि के सुप्रयोग के साथ ही महाकाव्य के प्रारम्भ, मध्य, और अन्त, सन्धियों एव वृत्तों के प्रयोग, मगलाचरण की दृष्टियों आदि का विवेचन भी आवश्यक है।

'प्रबन्ध-काव्य' शब्द पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसमें एक विशेष व्यवस्था (प्र+बन्ध) होती है, यह व्यवस्था भी इस बात का द्योतक है कि प्रबन्धात्मकता अपने आप मे एक शैली है। महाकाव्य और खण्डकाव्य प्रबन्धकाव्य के ये दो प्रकार हैं, अतः महाकाव्य की प्रबन्धात्मकता में सर्गों का नियोजन किया जाता है। सर्गबद्ध कर देने मात्र से महाकाव्य का कथानक सुशृंखल नहीं हो जाता। किस सर्ग को कहाँ से प्रारम्भ और कहा से समाप्त किया जाये तथा किस तरह किसी सर्ग का प्रारम्भ या अन्त किया जाय, यह बात महाकाव्य की शैली और शिल्प-विधान दोनों से सम्बद्ध होती है। कवि की कुशलता का पता कथा में नियोजन की नाटकीयता और आकार से भली-भाँति लग जाता है।

शैलीकी दृष्टिसे आधुनिक हिन्दी महाकाव्य – सर्ग-नियोजन, प्रारम्भ, मध्य एवं अन्त



प्रिय-प्रवास—प्रियप्रवास मे सत्रह सर्ग हैं, जिनमे ग्यारह का प्रारम्भ प्रकृति चित्रण से और प्राय: सभी सर्गो का अन्त दुखात्मक हुआ है, प्राय: शब्द का प्रयोग मैंने इसलिए किया कि सातवे सर्ग में वेदना के साथ थोड़ी आशा मिली हुई है, ग्यारहवे सर्ग मे दर्शनाभिलाषा की कामना है और बारहवें सर्ग के अन्त मे गुण-कथन है। पर अभिलाषा गुण-कथन आदि भी विरह की ही अन्तर्दशाएँ है—इस तरह यह कहा जा सकता है कि सत्रहो सर्गो का अन्त वेदना-विह्वल है।

वैदेही-वनवास—सर्गो के प्रारम्भ और अन्त के अधिक कलापूर्ण शिल्प का प्रयोग हरिऔध ने वैदेही-वनवास मे किया है। इसके अठारह सर्गो में तेरह का प्रारम्भ प्रकृति- चित्रण से, चार का भवन-वर्णन से (चाहे वह देवालय या आश्रम हो) और सिर्फ एक का मानव-मन की उद्वेलित स्थिति से हुआ है। अत: यह कहा जा सकता है कि सिर्फ तृतीय सर्ग को छोड़कर जिसमें चिन्तित राम का भाइयो के साथ जानकी के लोकापवाद पर मंत्रणा है, शेष सभी सर्गो का प्रारम्भ सौदर्य- चित्रण से हुआ है, चाहे बह प्रकृतिकी नैसर्गिक-कला हो या मानव की कृत्रिम-कला।

प्रारम्भ से अधिक कलात्मकता अन्त करने के शिल्प मे है। अठारहों सर्गो का अन्त विदा से है, केवल सातवे सर्ग में 'देखा सिय ने सामने सरिगोमती-वाह' कहकर सांकेतिकता से प्रस्थान का कथन किया गया है, अन्यथा सत्रहो र्गो में बिदा का स्पष्ट कथन है। प्रश्न यह उठता है कि कवि ने अन्त की कुरूपता क्यों रखी ?—क्या उसकी यह एकरूपता एकरसता और पुनरावृत्ति-ोष से पूर्ण है ?—मेरी दृष्टि से कवि की यह मौलिक सूझ है। वैदेही-वनवास कथानक का मूल चित्र सीता का राम से चिरन्तन विछोह है। अन्तिम सर्ग मे ोता के महाप्रयाण को अधिक गति देने के लिए ही प्रत्येक सर्ग को विदा या याण से समाप्त किया गया है—विदा, विदा, विदा—महाविदा। वैदेही नवास की करुणा को अधिक से अधिक प्रभावशाली बनाने को ही एकरूपता ी गयी है।

अट्ठारह सर्गो में एक से छह तक प्रारम्भ, सात से बारह तक मध्य और रह से अट्ठारह तक अन्त के सर्ग माने जायेंगे! सात से बारह तक कथा-क्रम

किंचित गतिशील है, पर, प्रकृति-चित्रण की अधिकता के कारण उसका पूर्ण विकास नही हो सका है। प्रकृति का उपयोग मानव मनोभावों के चित्रण के लिए किया गया है। प्रियप्रवास की भाँति ही कथा की क्षीणता की परिपूर्ति के लिए प्रकृति की अधिकता दिखलाई गई है। अतः मध्य का विकास उतना कलात्मक नही कहा जा सकता, जितना प्रारम्भ या अन्त का है।

साकेत—साकेत के सर्गों का विभाजन प्रियप्रवास और वैदेही वनवास से भिन्न शैली में हुआ है। उर्मिला को महत्त्व देने के लिए प्रारम्भिक आठ सर्गों में शीघ्रता से अयोध्याकांड के प्रसंगों को कह दिया गया है। यही कथा का प्रारम्भिक अंश माना जायगा। साकेत के मूल उद्देश्य उर्मिला की विरह-भावना का वर्णन मध्य के दो सर्गों मे हुआ है—नवम और दसम में। इसी में बालकांड को कथा का स्मरण किया गया है। सरयू को सम्बन्धित कर उर्मिला ने अपनी वेदना प्रगट की है। अन्तिम दो सर्गो—एकादश और द्वादश को इसका अन्तिम अंश माना जा सकता है, जिसमें अयोध्या काण्ड की घटनाएँ सूक्ष्म रूप से कही गयी हैं। प्रथम आठ सर्गो मे चौदह वर्ष की घटनाओ के समावेश के कारण डा० कमलाकान्त पाठक ने हुए कथा शिल्प मे त्रुटि मानते इसे यह विचार व्यक्त किया है कि…'साकेत का वस्तु-शिल्प-आरम्भ, मध्य और अन्त—संतुलित नहीं है। प्रथम आठ सर्गो में प्रबन्धात्मकता व्यवस्थित है। नवम् सर्ग में वह मनोगत है अर्थात् विशृंखलित हो गई है दशम सर्ग से वह अतीत का स्मरण मात्र है। एकादश और द्वादश सर्ग में यह प्रवेग पूर्ण है।'[1] कथानक का विवेचन करते समय मैं यह निवेदन कर चुका हूँ कि मैथिलीशरण की यही विशेषता उनकी रामकथा की मौलिकता है।

यहाँ मुख्यतः प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ और अन्त की शैली से प्रभावित कथा-शिल्प का विवेचन ही मुख्य उद्देश्य है। साकेत के बाहर सर्गो में आठ सर्गों का प्रारम्भ प्रार्थना-परक है तथा शेष चार में कथा से सम्बन्ध भूमिका-निर्माण किया गया है। इसके कारणों का विवेचन इसी मे आगे मंगलाचरण के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त है कि चार सर्गों में जो भूमिका है वह प्रायः अपने पिछले सर्ग की अन्तिम पक्तियाँ से सम्बद्ध है। इस तरह आगे-पीछे के सर्गों में एक पूर्वापर सम्बन्ध है। सर्गों का अन्त भिन्न-भिन्न रूपों में हुआ है—कथा के आभास के रूप में चार सर्गों का, भावों से

१ मैथिलीशरण गुप्त व्यक्तित्व और काव्य, पृ० ४१८

सम्बद्ध प्रकृति-चित्रण के रूप में तीन सर्गों का, दुखात्मक दो सर्गो का, वाता-वरण के रूप में एक सर्ग का, कैकेयी के शब्द-चित्र के रूप में एक सर्ग का और एक सर्ग का प्रार्थना-परक अन्त देखने को मिलता है ।

कामायनी—कामायनी के पन्द्रह सर्गों मे सात का प्रारम्भ प्राकृतिक वातावरण से और आठ का प्रारम्भ वर्णनात्मक रीति से हुआ है, लेकिन प्राकृतिक दृश्यों या वातावरण से किए गए प्रारम्भ में मानव-मन की प्रतिच्छाया है और उसका साधन रूप ही व्यक्त हुआ है, प्रकृति अपने आप में साध्य नही है । इसी तरह वर्णनात्मकता मे नाटकीयता और सजीवता है, इत्तिवृत्तात्मक नीरसता का सर्वथा अभाव है । कामायनी के सर्गो का अन्त कथात्मक रीति से हुआ है—वे या तो किसी वार्तालाप की अन्तिम कड़ियों के रूप में है या उनमें कथा या वर्णन का अन्त दिखलाया गया है—वे किसी भी रूप में कथा-वार्त्ता से असम्बद्ध नहीं हैं । सर्गो की दृष्टि से कामायनी की शिल्पात्मक विशेषतायें प्रत्येक सर्ग के मध्य मे ही हैं, उनके प्रारम्भ या अन्त में शैलीगत या शिल्पगत विभिन्नतायें नहीं हैं ।

कुरुक्षेत्र--कुरुक्षेत्र मे नाटकीय शैली की प्रधानता है । वार्तालाप और औत्सुक्य जगाने वाली शैली—दोनो मे नाटकीय ही कही जायगी । सात सर्गों में दो सर्गों में दो सर्गो मे प्रत्यक्ष रूप से नाटकीय शैली का, तीन में वार्तालाप की शैली का और दो मे वर्णनात्मक शैली का आश्रय लिया गया है; इसी तरह सर्गो के अन्त का भी ऐसा ही शिल्प-विधान है—सात सर्गो में पाँच का अन्त वार्त्तालाप से और दो का नाटकीय प्रभाव से हुआ है । वार्तालाप की शैली में पूरा महाकाव्य लिखा गया है, इसीलिए प्रारम्भ और अन्त में इसकी प्रधानता है ।

एकलव्य—एकलव्य के चौदह सर्गों के प्रारम्भ और अन्त करते हुए नाटकीय शैली का विशेष रूप से, आश्रय लिया गया है । वह सर्गों का प्रारम्भ वार्त्तालाप की नाटकीय शैली से, पाँच सर्गो का प्रकृति-चित्रण से, दो सर्गो का वर्णनात्मक शैली से तथा एक का प्रगीत शैली से हुआ है । इन सर्गों में नौ का नाटकीय शैली से, तीन का चित्रात्मक शैली से, एक का स्वगत शैली से और एक का वर्णनात्मक शैली से हुआ है । स्वगत भी एक प्रकार का वार्तालाप ही है । इस तरह एकलव्य के प्रारम्भ और अन्त में कुरुक्षेत्र की भाँति नाटकीय कौशल का प्रयोग हुआ है । मध्य में भावना एवं वर्णनात्मकता दोनों की प्रधानता है ।

अन्य महाकाव्य—इस काल के अधिकांश महाकाव्य के प्रारम्भ और अन्त में नाटकीयता और प्रकृति-चित्रण की पृष्ठभूमि का आश्रय लिया गया है। 'आर्यावर्त' के तेरह सर्गों मे आठ के प्रारम्भ प्रकृति-चित्रण से हुए हैं तथा पाँच के अन्त भी। वर्द्धमान के सत्रह सर्गों मे भी दस का प्रारम्भ प्रकृति से हुआ है, यद्यपि इसके अन्त मे अधिकता वर्णनात्मकता की ही है। वर्णनात्मक शैली का आश्रय हल्दीघाटी में भी लिया गया है—सत्रह सर्गों में प्रकृति से सिर्फ छह के प्रारम्भ और दो के अन्त हुए हैं—शेष प्रायः सभी प्रारम्भ या अन्त वर्णनात्मक प्रसगों से हैं।

सर्गो के नामकरण की प्रणाली आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिकता और घटनात्मकता के आधार पर रखी गयी हैं। कामायनी के सर्गों के नामकरण मनोवैज्ञानिक तथा एकलव्य के घटना-मनोविज्ञान मिश्रित हैं। रामायण-शैली पर कृष्णायन के नामकरण काण्डों के अन्तर्गत हुए हैं। यों अधिकांश महाकाव्यों —प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास, साकेत, हल्दीघाटी, रामचन्द्रोदय, वर्द्धमान, अंगराज, रश्मिरथी, विक्रमादित्य, आर्यावर्त, कुरुक्षेत्र आदि के सर्गों का विभाजन संख्या पर ही हैं।

मंगलाचरण, स्तुति आदि की दृष्टियाँ

शिल्पविधि की दृष्टि से नवीनताएं



प्राचीन दृष्टिकोण—संस्कृत के प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्यों में मंगलाचरण की आवश्यकता बतलायी है। देव-स्तुति, आशीर्वाद आदि इसी मंगलाचरण के अन्तर्गत माने गये हैं। हेमचन्द्र ने भी प्राकृत-अपभ्रंश के महाकाव्यों को पढ़कर इनकी आवश्यकता बतलायी है। बाद को चलकर प्रारम्भ और अन्त दोनों में स्तुति, मंगलाचरण आदि लिखे जाने लगे। आचार्य विश्वनाथ ने खल-निन्दा की भी चर्चा की है। कुमारसंभव, शिशुपाल-वध आदि मे ये नियम नहीं पाले गये। फिर भी अधिकांश महाकाव्यों में इसका पालन किया गया है।

आधुनिक परिवर्त्तित दृष्टिकोण—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में मंगलाचरण की दृष्टि में कई प्रकार से परिवर्तन हुए। प्रारम्भ और अन्त की अपेक्षा समय-समय पर बीच-बीच में स्तुतियाँ की गयीं। साथ ही, खल-निन्दा की रीति बदल गयी। अनेक महाकवियों ने इसकी आवश्यकता ही

नहीं समझी। सबसे बड़ी बात यह हुई कि मंगलाचरण के प्रकट करने की शैलियों में नवीनता आयी।

प्रिय-प्रवास का शिल्प—प्रिय-प्रवास मे मंगलाचरण-सम्बन्धी शिल्प का प्रयोग सर्वथा नवीन रूप से हुआ है। कही प्रारम्भ या अन्त मे कवि ने किसी की प्रशंसा, स्तुति या निन्दा नही की है, लेकिन तृतीय सर्ग के मध्य में स्वयं स्तुति न कर कवि ने यशोदा के द्वारा कुलदेवता की बन्दना करायी है। कृष्ण ब्रज से जाने वाले हैं और वह भी दुष्ट कंस के राज्य मे—मातृ-हृदय को अनेक आशंकायें हो रही है, वह अपने पुत्र की रक्षा के लिए अपने कुल-देवता की बन्दना करती हैं—

सकल-अमंगल-मूल कृपानिधे।
कुशलतालय से कुल-देवता॥
बिपत-संकुल मे कुल हो रहा है।
विपुल वांछित है अनूकूलता॥

—पद ३८

और वह जगदम्बा की अभ्यर्थना उपयुक्त सम्बोधनों के साथ करती है—

कलुष-नाशिनि-दुष्ट - निकन्दिनी,
जगत की जननी जगदम्बिके।
जननि के जिय की सिगरी व्यथा,
जननी ही जिय है कुछ जानता।

—पद ४९

यशोदा अपने पुत्र की मंगल-कामना और पुनरागमम के लिए अन्य देवी-देवताओं की पूजा-स्तुति करती है, इसका भी आभास कवि ने षष्ट सर्ग में दिया है—

प्रतिदिन कितने हो देवता थी मनाती।

—दव२

प्रियप्रवास में देव-स्तुति का निमय रूढ़ नही स्वाभाविक और समुचित दीख पड़ता है। एक माँ का इस तरह रोना-गिरगिराना और मनौतियाँ मानना सर्बथा उपयुक्त है।

साकेत का शिल्प—प्रियप्रवास की अपेक्षा साकेत में इस नियम का अधिक विस्तार से पालन हुआ है, यद्यपि साकेत की रचना के एक युग

पूर्व ही प्रियप्रवास की रचना हुई थी। साकेत में कई रूपों मे स्तुति और मंगलाचरण के नियम का पालन किया गया है। प्रथम पृष्ठ पर ही पंचम सर्ग में वाल्मीकि के मुख से राम के प्रति अर्पित श्रद्धांजलि की दो पंक्तियाँ लिखी गयी हैं—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।

पुनः प्रथम सर्ग के पूर्व तीन शैलियो मे बन्दना की गयी है —

१—कवि ने समतावादी साहित्य-देवता के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। द्वार-पूजा एक मांगलिक विधान है। कवि ने साकेत में एक ऐसी द्वार-पूजा का विधान किया है, जैसा यन्यत्र देखने को नही मिलता। काव्य-कला का भी वह एक सुन्दर उदाहरण है, जिसमे एक-एक शब्द नगीना की भाँति जड़ा गया है और कवि ने साहित्य के प्रति अपनी शुभ-कामनायें भी प्रकट की है—

जय देव मन्दिर-देहली
मम भाव मे जिस पर चढी—
नृप हेम-मुद्रा और रंक-वराटिका।
मुनि-सत्य-सौरभ की कली—
फूले-फले साहित्य की वह वाटिका।

—पृ० ४

२—वैष्णव कवि ने अपने इष्ट देव की स्तुति की है—अत्यन्त अपनापन और नयापन के साथ। मानवता और ईश्वरता की कसौटी पर राम को परखा गया है और राम के प्रति असीम और सुदृढ़ भक्ति को प्रकट किया गया है—

राम, तुम मानव हो? ईश्वर नही हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

—पृ० ५

३—मंगलाचरण शीर्षक से कवि ने एक अत्यन्त आधुनिक रीति का और अपने महाकाव्य के मुख्य भाव मे सम्बद्ध एक पारिवारिक चित्र का निर्माण

किया है, जिसमें शंकर-पार्वती के पुत्र कार्त्तिकेय और गणेश का एक विनोदपूर्ण कृत्य वर्णित है—

जयति कुमार अभियोग-गिरा-गौरी-प्रति,
स-गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते हैं।
देखा अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर,
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें,
सूंड़से उठा के मुझे, देने को दिखाते हैं,
देते नहीं, कन्दुक-सा ऊपर उछलाते हैं,
ऊपर ही झेल कर, खेलकर खाते हैं।

—पृ० ६

सूर के कृष्ण जैसी शिकायत बलराम के प्रति करते हैं—'मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायो', उससे भी अधिक चित्रमय उपालम्भ यहाँ वर्णित है। कवि की दृष्टि की नवीनता दर्शनीय है। शंकर, पार्वती, गणेश, कार्त्तिकेय—सब का नाम लेकर भी कवि ने कहीं आशीर्वाद नहीं मांगे, कहीं वन्दना शब्द का व्यवहार नहीं किया है। एक पारिवारिक झाँकी दी है, वह इसलिए कि वह साकेत में गार्हस्थ्य रस का कवि है।[१] सम्पूर्ण साकेत में गार्हस्थ जीवन की जिस उच्चता, पावनता और मधुरता का चित्रण है, उसी का आभास कवि ने यहाँ दिया है, मानो वह ऐसे ही पारिवारिक आमोद-प्रमोद और प्रसन्न वातावरण की कामना भारत के घर-घर के लिए करता हो।

प्रथम सर्ग के प्रारम्भ मे सरस्वती-वन्दना है, जिनमें माँ शारदा को सुख, सार, वर, चिर-झकार आदि देने वाली कहा गया है—

अयि दयामयि देवि, सुखदे, सारदे,
इधर भी निज वरद-पाणि पसार दे।
दास की यह देह-तन्त्री सारदे,

---

१ मुझे ठीक नहीं मालूम कि भारतवर्ष के किसी और कवि ने इस पारिवारिक या गार्हस्थ रस को इतनी निपुणता से चित्रित किया है या नहीं, पर मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि इस रस के लिए गुप्तजी सरीखा आदर्श गृहस्थ से अधिक उचित अधिकारी की कल्पना नहीं की जा सकती। साकेत के प्रेम, विरह और चरित्रगत उत्कर्ष इसी मजबूत भूमिका पर प्रतिष्ठित हैं।

—डा० नगेन्द्र कृत 'साकेत, एक अध्ययन' की भूमिका में डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

रोम-तारों में नयी झंकार दे ।
बैठ, आ, मानस-मराल सनाथ हो,
भार-वाही कंठ—केकी साथ हो ।
चल अयोध्या के लिए, सज साज तू,
माँ, मुझे कृतकृत्य कर दे आज तू ।

—प्रथम सर्ग, पृ० ११

द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में भी भारती और जगदम्बा की अभ्यर्थना में एक पंक्ति लिखी गयी है—

बोल—जय भारति, जय जगदम्ब !

—पृ० ३२

चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ में कवि ने आदि कवि वाल्मीकि का गुण-गान किया है, जिसका ऋण प्रत्येक राम-कथाकार को मानना पड़ता है—

करुणा-कंजारण्य रवे ! गुण-रत्नाकर आदिकवे !
कविता-पितः कृपा वर दो, भाव-राशि मुझ में भर दो ।

—पृ० ७२

षष्ठ सर्ग में तुलसीदास का ऋण स्वीकार करते हुए उनकी भी वन्दना की गयी है—

तुलसी, यह दास कृतार्थ तभी—मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे, जो निज मानस-कवि कथा कहे ।

जिस प्रकार वाल्मीकि की वन्दना में उन्हें क्रौंच की करुणा से विदग्ध आदि कवि (कविता के पिता) और उनके रत्नाकर नाम को बतलाया गया है, उसी प्रकार तुलसी-वन्दना में उनके मानस का उल्लेख करते हुए तुलसीदल के समान उन्हें पवित्र बतलाया गया है ।

नवम सर्ग में उर्मिला को इस हद तक महत्त्व दिया गया है कि उसके पिता जनक की वन्दना भी की गयी है, पर यदि ध्यान देकर देखा जाय तो प्रकारान्तर से उनकी पुत्रियों की ही प्रशंसा की गयी है—

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला ।

त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्य देही, विदेही,

—पृ० १६४

दसम सर्ग में कवीन्द्र कालिदास की स्तुति की गयी है—

चिरकाल रसाल ही रहा,, जिस भावज्ञ कवीन्द्र का कहा,
जय हो उस कालिदास की—कविता-केलि-कला विलास की !

—पृ० १४८

एकादस सर्ग के प्रारम्भ में महाकवि व्यास की वन्दना की गयी है—

जयति कपिध्वज के कृपालु कवि-वेद पुराण-विधाता-व्यास,
जिनके अमर गिराश्रित हैं सब धर्म, नीति, दर्शन, इतिहास ।

—पृ० २६८

इसी सर्ग में प्रसंगवश हनूमान की जयकार ही मनायी गयी है—

लंकानल, शंका-दलन, जय जय पवनकुमार,
तुम ने सागर ही नहीं, किया जगत भी पार ।

—पृ० २६३

इस तरह साकेत के कवि ने देवी-देवताओं की स्तुति, खलों की निन्दा और मंगलाचरण की दिशा में एक विशेष दृष्टिकोण का परिचय दिया है—उन्होंने अपने इष्टदेव राम के अतिरिक्त विद्या-बुद्धि से सम्बद्ध देवी देवता—सरस्वती, गणेश एवं महाकवियों—वाल्मीकि, व्यास, कालिदास ओर तुलसी की बन्दना की है । प्रसंगवश जनक और हनूमान की वन्दना की गयी है, जनक की इसलिए कि वे जगज्जननी सीता और महाकाव्य की मुख्य पात्री उर्मिला के पिता हैं तथा हनूमान की इसलिए कि वे राम के दास हैं और उनसे गुप्तजी का अपनापन स्वाभाविक है ।

आर्यावर्त्त की विरलता—आर्यावर्त्त में प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में वीरता की देवी रणचण्डिका का आह्वान किया गया है—

अम्बे ! रणचन्डिके ! नृमुंडमाल धारिणी,
देवी प्रलयकरी ! पुकारता हूँ आज मैं !

—पृ० २

षष्ठ सर्ग में वीणापाणि की बन्दना की गई है—

वीणा पाणि, काव्यरूपे, जड़तम-हारिणी,
कवि-रम्य-मानस-विहारिणी, हे वर दे।
भावुकों के हृदय तुम्हारी रम्य वीणा के,
तार से बने हैं जगदम्बे! तार-तार हो।

—पृ० ६०

केवल शक्ति और वाणी की वन्दना के द्वारा कवि ने अपने नायक की दोनों आराध्य देवियों को महत्त्व दिया है, क्योंकि कवि चन्द कलम और तलवार दोनों का धनी था।

कृष्णायन का राष्ट्रीय दृष्टिकोण—श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र ने कृष्णायन में कृष्ण के साथ-साथ मातृभूमि की वन्दना की है। आज के युग में अवधी में लिखी गई द्वापर की कथा में भी कवि ने देश-बन्दना की योजना कर अपनी नवीन दृष्टि और राष्ट्र-भक्ति का प्रमाण दिया है। इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के प्रारम्भ में स्तुति है—प्रत्येक स्तुति कृष्ण से सम्बद्ध है, पर प्रत्येक सर्ग के मुख्य वर्ण्य विषय या कृष्ण-लीला की चर्चा अलग-अलग प्रत्येक सर्ग की वन्दना से सम्वद्ध है। प्रत्येक सर्ग की वन्दना मे कृष्ण और भारत-भूमि के साथ व्यास और तुलसीदास को भी सम्मिलित किया गया है—

जन्मेउ बंदी-धाम, जो जन जननी मुक्ति हित
वंदुहुँ सोइ घनश्याम मैं बंदी, बंदिनी-तनय।
× × × × ×
बंदहुँ वेद व्यास, ज्ञान-मूर्त्ति कृष्णहि स्वयम्।
बंदहुँ तुलसीदान, सत-रवि-भासित-ज्ञान-घन।
× × × ×
बंदहुँ भारत-भूमि, हरि-जननी, हरि-यश-मयी।

—पृ० १

द्वितीय सर्ग मथुरा काण्ड में पुनः मथुरा से विदा होते कृष्ण के माध्यम से भारत-माता की बन्दना की गई है—

मुकुट जासु हिमवंत, चरण-पखारत सिन्धु नित,
जनित जँह भगवन्त, प्रणम हूँ भारत मातु सोई।

जननि-चरण-जलजात, भक्ति सहित बंदहुँ बहुरि,
मधुपुर दिशि हरि जगत, भार जासु दुःसह हरन ।

तत्पश्चात अन्यान्य सर्गों में विविध प्रसंगों मे केवल कृष्णवन्दना की गई है—

बसेउ बार निधि, क्रोड़ रक्तपात-भयभीत जो,
बंदहुँ सोई रण छोड़, इष्टदेव आनर्तजन ।

—द्वारका काण्ड, पृ० २३३

कंस काल भौमारि, वाणासुर-रण-मद दलन ।
जित-सुरपति त्रिपुरारि, वंदहुँ यदुपति चक्रधर ।

—पूजा काण्ड, पृ० ३६६

नमहूँ पार्थ यदुनाथ, नर-नारायण रूप दोउ,
जन्मत संतत साथ, शस्त्र-तस्त्र-महि त्राण-हित ।

—गीता काण्ड, पृ० ४६७

बदि मुरलिधर श्याम, करि बंदन पुनि चक्रधर,
रथ-नागर अभिराम बँदहुँ कृष्ण अभीषुधर ।
कृष्ण-सदृश नय-दक्ष, योद्धा अर्जुन सम जहाँ,
सतत बसत तेहि पक्ष, धर्म, विजय, लक्ष्मी विभव ।

—जय काण्ड, पृ० ६१७

गीतावाविप्रमाण, कीन्हेउ खल दल, गंजि जेहि,
युग-युग जन-परित्राण, प्रणाम हुँ सोउ व्रत पाल हरि ।

—आरोहण काण्ड, पृ० ७८१

तारक वध की पृष्ठभूमि—तारकवध में कवि ने अपने महाकाव्यगत उद्देश्यों की पृष्ठभूमि में मंगलाचरण की योजना की है—

तुंदिल उदर मनोज्ञ प्रथित जो मूषक वाहन ।
एक दन्त द्युति ओक मदन-मद हरित गजानन ।।
जिनकी मोदक-निरति अमित जग-मानस-रंजिनि ।
जिनकी अगति-निमग्न प्रगति भव-खेद-विभंजनि ।।
वे ही दिव्य-गणेश हरें मेरी गति बाधा ।
चलूं बिना श्रम आज प्राप्त कर प्रीति अगाधा ।

—पृ० ५

इसी क्रम मे कवि ने शंकर, षडानन, शारदा, शृंगी ऋषि, रघुकुल, वशिष्ठ आदि की वन्दना करते हुए कवि ने एक साथ ही यह निवेदन कर दिया है—

ब्रह्म रूप सब लोक-लोक के प्राणी-प्राणी।
जड़ चेतन-चर-अचर मयी जगती रसदानी॥
सब मेरे आराध्य सभी का मैं अनुचर हूँ।
सबके प्रति साष्टांग प्रणति-रत निशि-वासर हूँ।

—पृ० ११

गिरीश के मगलाचरण में दृष्टि की नवीनता नहीं, उसकी पृष्ठभूमि में ओज और प्रवाह अवश्य है।

हल्दीघाटी का परम्परा पालन—हल्दीघाटी मे चौबीस पंक्तियों में परम्परा-पालन के लिए देवी-देवताओं को नमस्कार अर्पित कर दिया गया है, कहीं-कोई नवीनता नहीं, कही काव्य की भंगिमा नहीं, नामोल्लेख मात्र है—

हे देव-देव, हे दक्ष देव,
हे गुप्त-देव प्रत्यक्ष देव।
आद्यन्त-मध्य, मतिमय उदार,
हे जगन्नियन्ता नमस्कार।

अज्ञात रूप, अज्ञात नाम,
अविराम धाम, अज्ञात काम।
क्षण अस्ति-नास्ति भ्रममय अपार,
घनश्याम-राममय नमस्कार।

—पृ० ३, ४

इससे अधिक प्रभावोत्पादक मंगल कामना और प्रार्थना सप्तदश सर्ग के अन्त में की गई है—

हे राम, हे अभिराम,
तू कृतकृत्य कर अवतार से।
दबती निरन्तर जा रही है,
मेदनी अघ-भार से॥
राणा सदृश तू शक्ति दे,
जननी-चरण-अनुरक्ति दे।

या देश सेवा के लिए,
झाला-सदृश ही भक्ति दे।

—पृ० १९५

कैकेयी की आधुनिकता—कैकेयी मे कवि ने आर्य-धर्म के प्रतिनिधि मंगल मूर्त्ति राम और उनकी जन्म-भूमि का जयगान किया है—

साकेतपुरी की जय हो।
जय अवधपुरी की जय हो।
× × ×
जय आर्य-धर्म ध्वजधारी,
युग पुरुष राम की जय हो।
युग-मूर्त्ति मृदुल मगलमय,
नयनाभिराम की जय हो।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ४५

कुरुक्षेत्र की व्यक्ति-निष्ठ-शैली—कुरुक्षेत्र के कवि ने अत्यन्त भापूर्णव वाणी में माँ सरस्वती और भगवान का ध्यान किया है—

शारदे! विकल संकान्ति काल का नर मैं,
कलिकाल-भालपर चढा हुआ द्वापर मैं।

और उसकी मंगल कामना इसी से प्रकट होती है कि—

संतप्त विश्व के लिए खोजते छाया,
आशा मे था इतिहास-लोक तक आया।

—तंचम सर्ग, पृ० ८१

पर उसे यहाँ भी निराशा हाथ लगी और उसने इशीलिए आर्त्त होकर पुकार की है—

धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा' कब जलेगा विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त,
हो, सरस होंगे जली-सुखी रसा के प्राण?

—षष्ठ सर्ग, पृ० १०८

कुरुक्षेत्र में इस तरह मंगलाचरण और स्तुति अत्यन्त संक्षिप्त होकर भी बेधक हैं।

रश्मिरथी और एकलव्य के क्रान्तिकारी दृष्टिकोण—रश्मिरथी और एकलव्य दो ऐसी कृतियाँ है, जिनमे पहली बार सम्पूर्ण परम्परा को त्यागकर मंगलाचरण और स्तुति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम उठाये गए है। अब तक जहाँ कहीं भी न्यूनाधिक मात्रा में वन्दना की गई है—देवता और ईश्वर की ही, बहुत प्रगतिशील चरण उठे, तो कृष्णायन में मातृ-भूमि की प्राथना लिखी गई, पर पहली बार दिनकर और रामकुमार ने शोषित-उपेक्षित मानव-पुत्र की वन्दना की है और नई मानवता के उदय का मगल-गान गाया है। साकेतकार ने बहुत साहस किया तो इतना ही लिखा कि यदि राम सर्वव्यापी नहीं, तो वे निरीश्वर हैं, पर इन दो कवियो ने तो स्पष्ट रूप से सूत और शूद्र कहे जानेवाले मानव-पुत्रों की स्तुति की है।

रश्मिरथी के पूर्व अगराज लिखा गया, पर उनमे भी कर्ण की वन्दना नहीं की गयी। दिनकर ने तो कर्ण को संकेत कर पुस्तक के प्रारम्भ मे ही लिखा—

जय हो. जग मे जले जहाँ भी नमन पुनीति अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को।
किसी वृन्त पर खिले विपिन मे, पर नमस्य हैं फूल,
सुधी खोजते नही गुणों का आदि, शक्ति का मूल।

—प्रथम सर्ग, पृ० १

हरि के सम्मुख भी न हार जिसकी निष्ठा ने मानी,
धन्य - धन्य राधेय, बन्धुता के अद्भुत अभिमानी।

—चतुर्थ सर्ग पृ० ५१

रश्मिरथी में कर्ण को लक्ष्य करके सामान्य रूप से जाति, वर्ण से ऊपर उठे गुणी व्यक्ति की जयकर मनाई गई है, पर एकलव्य मे तो कवि ने स्पष्ट रूप से उस किरात-कुमार की बन्दना की है—

ऐसी साधना दो मुझे, एकाग्र एकलव्य!
एकलव्य मेरी लेखनी को हो तुम्हारी ही,
शब्द-बेध एक बार फिर हो, ये कार्मुकी।
चकित हो साधना से यह सृष्टि सारी ही।

—स्तव, पृ० ७

और किरात के सम्पर्क से ही नीलकंठ और वाल्मीकि की भी बन्दना की गई हैं—

वाणी दो, हे नील कंठ ! हे किरात कार्मुकी,
गूँज उठे व्योम, वन, प्रान्त, गिरि-कन्दरा।
शब्द वेध की अलक्ष्य लक्ष-लक्ष ध्वनि में।
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुंधरा।

—वही, पृ० ३

और हे किरात कर्मी आदि कवि वाल्मीकि।
मेरी दृष्टि में सदा तुम्हारे श्रीचरण है।
एक अश्रुवाक्य में ही क्रौंचि यश पा गई,
मेरे काव्य-गान भी तुम्हारी ही शरण है।

—वह पृ० ४

डा० वर्मा ने अलंकृत रूप से अप्रत्यक्ष योजना द्वारा शारदा-स्तुति की है—

सूर्य का मुकुट जैसे व्योम-भाल पर है।
जैसे काव्य-शीर्ष पर शारदा की स्तुति है।

इसके अतिरिक्त वाणी की प्रसंग-गर्भित वन्दना सोद्देश्य और कलात्मक है—

वाणी, वीर एकलव्य के उद्दात्त यश मे,
कुछ पंक्तियाँ हैं शेष, जो लिखेगी लेखनी।
उसको तुम ऐसी शक्ति दे दो हे शारदे।
एकलव्य बाण जैसा शब्द-लक्ष्य हो सके।

चतुर्दश सर्ग, पृ० २७५

माँ शादा की कृपा को स्वीकार कर उसकी वन्दना की अप्रत्यक्ष योजना 'प्रदर्शन' सर्ग में भी बड़ी मार्मिकता से की गई है एक उदाहरण के प्रसग में—

पार्वतास्त्र से अनेक पर्वत बना दिए
समतल भूमि उठी नभ-स्पर्श करने।
ज्यों माँ भारती ने इस राम के कुमार को,
कवि का उदात्त यश हँसकर दे दिया।

—पृ० ११२

निष्कर्ष—आधुनिक काल के महाकाव्यों में मंगलाचरण, स्तुति, आशीर्वाद, खल-निन्दा आदि के नियम का पालन अनिवार्य नहीं माना गया। अनेक महाकाव्यों में इसका सर्वथा अभाव है। कामायनी, अंगराज, नूरजहाँ,

विक्रमादित्य आदि महाकाव्यों में तो इस नियम का बहिष्कार किया गया है। मेरी समझ से प्रत्यक्ष मगलाचरण नही लिखकर भी आज के महाकवि अपनी रचनाओं में मानव की मंगल-कामना करते हैं। कामायनी मे कही भी यह नियम-पालन नही किया गया है, पर कवि का उद्देश्य तो आनन्दमय, मगलमय मानवता और समरसता की स्थापना करना ही है—

शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है।

—आनन्द सर्ग, पृ० २८८

सारांश यह कि आज के महाकाव्यों में खल-निन्दा नही मिलती। देवी-देवताओं मे भी प्रमुखता गणेश और शारदा की ही है। सज्जनों मे महाकवियों की वन्दना की गई है। जाति-वर्ण से हीन और समाज से उपेक्षित मनुष्यों की भी, उनके सद्गुणों के कारण प्रशंसा की गई है।

महाकाव्य में संधियाँ

नाट्य-शास्त्र की भाँति महाकाव्यों मे भी सन्धियो के निर्वाह का प्रश्न उठना है। कथावस्तु को चमत्कारपूर्ण अंशों के द्वारा, फल-प्राप्ति की ओर ले जाने वाले तत्त्व को 'अर्थ प्रकृति' कहते हैं, जिसको पाँच अवस्थाएँ होती है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। बीज मे कथा का मूल होता है—विन्दु मे समाप्त होती अवान्तर कथा को आगे बढ़ाने की क्षमता होती है, पताका में कथा बराबर चलती है, प्रकरी मे थोड़ी दूर चलकर रुक जाती है—ये छोटे-छोटे वृत्तों में पूर्ण हो जाते हैं; कार्य वह अर्थ प्रकृति है, जिसके लिए सारे उद्योग किए जाते है। इसी तरह, कार्य व्यापार की भी पाँच अवस्थाएँ होती है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। आरम्भ में फल-प्राप्ति की उत्सुकता होती है, प्रयत्न मे उद्योग होता है, प्राप्त्याशा में फल-प्राप्ति की संभावना होती है, पर कुछ विघ्न भी रहते हैं। नियताप्ति में सफलता का निश्चय होता है और फलागम मे फल-प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त पाँचों अर्थ-प्रकृतियों और पाँचों कार्य-व्यापारों को मिलाकर पाँच सन्धियाँ होती हैं। मुख सन्धि में बीज और आरम्भ का मिलन होता है;

इसी तरह प्रतिमुख सन्धि में विन्दु और प्रयत्न, गर्भ सन्धि में पताका और प्राप्त्याशा, विमर्श सन्धि में प्रकरी और नियताप्ति तथा निर्वहण सन्धि मे कार्य और फलागम का मिलन होता है ।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में इन सन्धियों की स्थिति—आधुनिक महाकाव्यो मे सभी सन्धियों का निर्वाह संभव नही दीखता। कथामक की सघनता के अभाव मे इन सन्धियो का निर्वाह सभव नही है । प्रियप्रवास, कुरुक्षेत्र आदि महाकाव्यों मे ये सन्धियाॅ बहुत कम संख्या में मिलती है ।

वैदेही वनवास की मुख सन्धि प्रथम सर्ग मे सीता की वन-गमन-इच्छा से नही मानी जा सकती, क्योंकि उसकी इच्छा उसकी वन-भ्रमण की थी, निष्कासन की नही। अतएव, तीसरे सर्ग में मंत्रणा-गृह के विचार में मुख सन्धि; वशिष्ठ के पास जाकर सीता-परित्याग के लिए परामर्श लेने में प्रति मुखसधि; उनकी स्वीकृति एवं सीता को सारी बातों को समझाने में गर्भ सन्धि; सीता की स्वीकृति मे विमर्श सन्धि और सीता परित्याग में निर्वाहण सन्धि मानी जा सकती है ।

साकेत मे लक्ष्मण-उर्मिला एवं राम-सीता दोनों को महत्त्व देने के कारण आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाया है। यदि राम-सीता को प्रमुखता दी जाय, तो लंका-विजय के बाद दोनों का मिलन निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत आ जाता है; और यदि लक्ष्मण-उर्मिला की कथा को प्रमुख माना जाये तो लक्ष्मण-उर्मिला का चौदह वर्षो के बाद अयोध्या मे मिलन के अन्तर्गत वह सन्धि मानी जायगी ।

कामायनी मे आशा सर्ग के मध्य से लेकर श्रद्धा सर्ग के अन्त तक मुख-सन्धि; काम और कर्म सर्ग प्रतिमुख सन्धि; ईर्ष्या और इड़ा सर्ग गर्भ सन्धि; स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद सर्ग विमर्श सन्धि और दर्शन, रहस्य एवं आनन्द सर्ग निर्वहण सन्धि के अन्तर्गत आते हैं। कामायनी मे पाश्चात्य रीति की चार कार्यावस्थाओं का उपयोग सफलता से हुआ है । केवल अवसान का अभाव है, क्योंकि दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्गों में पौरस्य रीति की नियताप्ति और फलागम नाम की कार्यावस्थाएँ हैं । इस तरह कामायनी में ये सन्धियाँ अधिक सफलता से नियोजित हैं ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि "कामायनी का वस्तु-निर्माण पश्चिमी ट्रेजडी और पूर्वी आनन्द कल्पना के योग

से समन्वित होने के कारण समीक्षकों के सामने थोड़ी-सी कठिनाई उपस्थित करता है। समस्त सन्धियो का विनियोग दुःखान्त रचना के ही अनुकूल हुआ है। .....उपसंहार के आनन्दायक दृश्यों को हम सन्धियो के परे काव्य की आलंकारिक पूर्त्ति मानकर भी संतोष कर सकते है।[1]"

दुखान्त महाकाव्यो की संख्या आधुनिक काल मे कुछ कम नही है। प्रिय-प्रवास, वैदेही-वनवास, रश्मिरथी, एकलव्य आदि दुखान्त महाकाव्य ही हैं। ये प्रसंग ही ऐसे है जिनमें दुख का प्राधान्य परम्परागत विषय के कारण हैं और रश्मिरथी, एकलव्य को इसलिए दुखान्त बनाया गया है कि सर्व साधारण की श्रद्धा और सहानभूति को कवि अपने उपेक्षित और अनादृत नायकों के प्रति उभारना चाहते हैं। इसलिए इन पर भी आधुनिक ट्रेजेडी की शैली का प्रभाव है।

कैकेयी में भारतीय सन्धियों का निर्वाह उचित रीति से हुआ है। कैकेयी की चिन्ता और स्वप्न में मुखसन्धि, उसके कोप-भवन प्रवेश मे प्रतिमुख सन्धि; वरदान पा लेने मे गर्भ सन्धि; रामके पितृ-आदेश शिरोधार्य करने में विमर्श सन्धि और राम-वन-गवन में निर्बहण सन्धि है।

निष्कर्ष—संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि सभी सन्धियो का पूर्ण निर्वाह आज के महाकाव्यो मे आवश्यक नही माना जाता और पाश्चात्य एव पौरस्त्य दोनो शैलियो का सम्मिश्रण भी आज के महाकाव्यों मे मिलता है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में वृत्तियों और गुणों का प्रयोग— रसों के उत्कर्ष के लिये वृत्तियों का उपयोग किया जाता में। जिन गुणों को उत्पन्न करने के लिए शब्दों की बनावट वृत्तियों के रूप में की जाती है वे भी तीन होते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में आवश्यकतानुकार प्रायः सभी वृत्तियों और गुणों के उपयोग किए गए है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों से कुछ उदाहरण—प्रिय प्रवास, साकेत, कामायनी, कृष्णायन, रामचरित-चिन्तामणि, वैदेही-वनवास, सिद्धार्थ, वर्द्धमान, कर्ण, अंगराज, रश्मिरथी, कैकेयी, एकलव्य, नूरजहाँ, तारकवध आदि इस काल के अधिकांश महाकाव्यों मे शृंगार, करुण एवं शान्त रसों की प्रधानता होने के कारण माधुर्य, गुण एव वैदर्भी रीतियाँ उपनागरिका या मधुरा वृत्ति के समन्वय हुए हैं। हल्दीघाटी, जौहर आदि महाकाव्यों मे वीररस के कारण

---

१ आधुनिक साहित्य, पृ० २२१

ओजगुण, गौड़ी रीति और परुषा वृत्ति की प्रधानता है। प्रसाद गुण, पांचाली रीति और कोमला या प्रौढ़ा वृत्ति न्यूनाधिक मात्रामें सभी महाकाव्यो में मिलती है। इस सम्बन्ध मे कुछ उदाहरण देखे जा सकते है।

(१) माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति या उपनागरिकावृत्ति का उदाहरण—

लाली उन सरल कपोलों मे
आँखो मे अंजन-सी लगती,
कुंचित अलकों-सी घुँघराली,
मन की मरोर बनकर जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता कीं,
मै करती रहती रखवाली,
मैं वह हल्की-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली,

— कामायनी, लज्जा, पृ० १०३

(२) ओजगुण, गौड़ी रीति या परुषा वृत्ति का उदाहरण—

लहराती थी सिर काट-काट,
बल खाती थी भूपाट-पाट।
बिखराती अवयव बाट-बाट,
तनती थी लोहू चाट-चाट।
क्षण भर में गिरते रुण्डों से।
मदमस्त गजों के झुण्डों से।
घोड़ों से विकल बितुण्डों से।
पट गई भूमि नर-मुण्डों से।

—हल्दी घाटी, द्वादश सर्ग, पृ० १३७-३८

(३) प्रसाद गुण, पांचाली रीति या कोमलावृत्ति का उदाहरण—

देव, हैं निषाद, किन्तु इसका विषाद क्या ?
भाग्य का विधान तो विधाता की विभूति है।
पावन विभूतियाँ हैं, मेघ घनश्याम हो,
या कि चन्द्रिका की चारुता में चैत्र-चन्द्र हो।
चन्द्र से भले न मेघ-मंडल की शोभा हो,

किन्तु यदि मेघ-खंड चन्द्र के समीप हो।
ज्ञात होगा शंभु-शैल मे समाधिलीन हैं।

—एकलव्य, आत्मनिवेदन, पृ६ १२१

महाकाव्यों मे अनेक रसो के समावेश के कारण प्रायः सभी गुणों और वृत्तियों का समावेश होता है—एक कुरुक्षेत्र से सारे उदाहरण लिए जा सकते हैं—

(१) माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति—

मोम-सी मुलायम कोई चीज,
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज,
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार,
ज्ञान के मरु में सुकुमोल भावना की धार,
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुसकान,
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान,
रंग में घुलता हुआ खिलती कली का राग,
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज,
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तसवीर,
फूल की रस में बमी-भीगी हुई जंजीर।

– षष्ठ सर्ग; पृ० १११

(२) ओज गुण, गौड़ी रीति या परुषावृत्ति का उदाहरण—

सटता कहीं भी एक तृण शरीर से जी
उठता कराल हो फणीश फुफकार है,
मुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों मे कहीं,
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुँकार है,
शूल चुमते हैं, छूते आग है जलातीं भू को,
लीलने को देखो, गर्जमान पारावार है,
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध,
जड़-चेतनों का जन्म सिद्ध अधिकार है।

—तृतीय सर्ग, पृ० ३८-३९

(३) प्रसाद गुण, पांचाली रीति या कोमलावृत्ति—

फूलों पर आँसू के मोती,
और अश्रु मे आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी,
नपी-तुली परिभाषा।

सप्तम् सर्ग, पृ० १८०

भाषा-शैली-छन्द—भाषा विचारो की वाहिका है; अतएव शैली और शिल्प को चमत्कार प्रदान करने मे भाषा का बहुत अधिक हाथ होता है। भाषा के सौन्दर्य और लाघव का प्रभाव उन पर पड़ता है। भाषा के दोनों उपकरणों—नाद और अर्थ के उपयोग शैली-शिल्प-निर्माण मे किए जाते है। इसलिए इस प्रकरण में आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो की भाषा और छन्द पर भी विचार करना आवश्यक है।

भाषा-शैली

प्रियप्रवास मे हरिऔध ने संस्कृतमयी भाषा-शैली अपनाई है। संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली का यह अपने ढंग का पहला महाकाव्य है। भिन्न तुकान्त वर्णिक वृत्तो को अपनाने के लिए ऐसी भाषा-शैली ही कवि ने उपयुक्त समझी है। कहीं-कही इस संस्कृतमयी शैली के कारण दुरूहता आगयी है—

सद्वस्त्रा-सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी-वृद्धजनोपकार निरता सच्छास्त्र-चिन्ता-परा॥
सद्भावतिरता अमन्य हृदय सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति रत्नोपमा॥

—चौथा सर्ग, पद ८

कहीं-कहीं तो हिन्दी क्रिया के हल्के से प्रयोग के अतिरिक्त पूरा का पूरा पद संस्कृत का मालूम होता है—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु बिंबानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्यमणि-सी लावन्यलीलामयी।
श्रीराधा मृदु-भाषिणी मृग-दृगी-माधुर्य की मूर्त्ति थी।

—वही, पद ४

प्रियप्रवास में है यो तत्सम शब्दों की प्रधानता, पर ब्रजभाषा के ढिग, पाहन, सिगरी, बिसूरना, भावना आदि शब्दों के भी प्रयोग किये गये है। दिलजले, ताब आदि फारसी शब्द भी मिलते है। संस्कृत के आदौ, स्वच्छायया आदि प्रयोग उचित नहीं मालूम होते। शब्दों का विकृत करना बहुत खलता है, कवि की असमर्थता के ये परिचायक है--काहिं, बैसि, बिच, इकठे, अकले, लौटाल आदि। कुछ शब्द तो प्रिय-प्रवास को छोड़ अन्यत्र किसी खड़ी बोली रचना में शायद ही कहीं दीखें—कियत, कदन, व्यादन, तल्प, विधि, मुह्यमाना आदि।

इन कतिपय दोषों के होते हुए भी प्रियप्रवास की भाषा-शैली में अनेक विशेषतायें हैं। मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग अत्यन्त सुघर हुए हैं—

(१) हो जाती थी निरख जिसको भग्न छाती शिला की
(२) जी होता है विकल मुँह आ रहा है कलेजा,
(३) प्रियतम। अब मेरा कंठ में प्राण आया,
(४) हा! हा! मेरे हृदय पर योंसांप क्यों लोटता है।
(५) तुम सब मिलके क्या कान को फोड़ दोगी?
(६) फूले नहीं नवल पादपत है समाते।

कहीं-कहीं इनके प्रयोग इतने सुष्ठु हुए हैं कि सूक्तियों-सी सुन्दरता आ गयी है—

(१) भावों से सी अवनि-तल है स्वर्ग के तुल्य होता।
(२) कुछ दुख नहीं कोई बाँट लेता किसी का।
(३) खोटे होते दिवस जब है भाग्य जो फूटता है।

जहाँ संस्कृत शब्दों का अनावश्यक बोझ नही है, वहाँ भाषा स्वाभाविक और सरल हो गयी है—

मुदित गोकुल की जन-मंडली,
जब व्रजाधिप सम्मुख जा परी,
निरखते मुख की छवियों लगी,
तृषित चातक ज्यों घन की घटा।

सर्ग १, पद २६

घड़े लिए कामिनियाँ, कुमारियाँ,
अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता।

पधारती जो जल ले स्वगेह थीं,
बजा-बजा के निज नूपुरादि को,

सर्ग, नवा १२०

कवि द्वारा भावानुकूल शब्दों का प्रयोग कहीं कहीं अत्यन्त प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ है—ओज पूर्ण प्रसंग के चित्रण के लिए भाषा के ओजस्वी रूप दर्शनीय है—

प्रवाहित उद्धत वायु तीव्र से।
विधूनिता हो लपटें दवग्नि की।
नितान्त ही थीं बनती भयंकरी।
प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा॥

—ग्यारहवां सर्ग, पद ७३

मथित चालित ताड़ित हो महा।
यति-प्रचंड-प्रभंजन वेग से।
जलद थे दल के दल आ रहे।
घुमड़ते घिरते ब्रज-घेरते।

—बारहवां सर्ग, पद २०

हिन्दी में विशेषण का लिंग आवश्यक नहीं कि संज्ञा के अनुसार बदला जाय—लाल धोती, लाल कुर्त्ता—दोनों शुद्ध हैं। संस्कृत में विशेषणो के लिंग पर विशेष ध्यान रखना होता है। प्रियप्रवास में संस्कृत के अनुसार विशेषणों के लिंग पर ध्यान रखा गया है—

(१) सुललिता-सी नव माधवी लता।

(२) कथामयी नव शारिका कहीं।

पर कहीं-कहीं एक ही पंक्ति मे एक विशेषण में लिंग का ध्यान रखा गया है, दूसरे में नहीं—

बातें वही मधुर औ अति ही मनोज्ञा।

भूमिका में लिखे कवि के ही सब्दों में विशेषणों का प्रयोग उभय रीति से किया गया है। कहीं-कहीं कवि ने विभक्तियों के प्रयोग नही किए हैं—

तल-मुरली-निनादी लोभनीयांग-शोभी,
अलि-कुल-मति-लोपी-कुन्तलां-कान्तिशाली।

अयि पुलकित अंके आज लौं क्यों न आया,
वह कलित-कपोलो कान्त-आलाप-वाला ॥

—पंचदश सर्ग, पद ११३

प्रो० केसरीकुमार ने अपनी पुस्तक 'हरिऔध और उनका महाकाव्य' में ठीक ही लिखा है कि 'प्रियप्रवास' की भाषा-शैली में सु, स्व और स का प्रयोग सीमा का अतिक्रमण कर गया है। 'सु' अच्छे के अर्थ मे, 'स' साथ के अर्थ मे और 'स्व' निज के अर्थ मे कुछ इस बेरहमी के साथ व्यवहृत हुए है कि शैली को कृत्रिम और बोझिल बनाने में सहायक हो गये है।[1]

वर्णिक वृत्त के कारण यति-प्रवाह के निर्वाह के लिए शब्दों को तोडा गया है, सूत्र-योजना में अतिशय स्वातन्त्र्य को अपनाया गया है, फलतः शैली में कृत्रिमता आ गई है! जहाँ-जहाँ इस कृत्रिम शैली का त्याग किया गया है, वही स्वाभाविकता और काव्य-गुण निखर गये हैं—

प्रियपति! वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
देख जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है॥

—सप्तम सर्ग, पद ११

सरस सुन्दर सावन मास था।
घन रहे नभ में घिर घूमते।
विलसती बहुधा जिनमें रही।
छविवती उड़ती बक-मालिका।

—द्वादश सर्ग, पद २

आकर्षण-ऐक्य (यूनिटी आफ इन्टरेस्ट) और नाटकीय क्षण (ड्रैमेटिक मोमेन्टस) के अभाव में शैली कहीं-कहीं शिथिल हो गयी है—केवल कथात्मकता दीख पड़ती है।

शब्द शक्तियों के उपयुक्त प्रयोग से शैली की शोभा बढ़ती है। प्रिय-प्रवास को वाच्यार्थ की प्रधानता के कारण अभिधा-प्रधान महाकाव्य कहा जायेगा। यत्र-तत्र लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का प्रयोग हुआ है। व्यंग्यार्थ के लिए निम्नलिखित पद देखा जा सकता है—

---

१ पृ० ४५

प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है,
दुःख जल निधि डूबी का सहारा कहाँ है।
लख मुख जिसका मैं आज लौ जी सकी हूँ,
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है।
हा! हा! आँखों मम-दुख दशा देख ली औ न सोची।
बातें मेरी कमलिनिपते कान की भी न तू ने।
जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उजाला।
तेरा होना उदय ब्रज में तो अँधेरा करेगा।

—चतुर्थ सर्ग, पद ५१

तीनों गुणों के उदाहरण प्रियप्रवास में मिलते हैं, पर प्रधानता प्रसाद और माधुर्य की है—

प्रसाद—चमक-चमक तारे धीर देते हमें हैं।
सखि, मुझ दुखिया की बात भी क्या सुनेंगे।
पर-हित-रत हों ये ठौर को जो न छोड़े।
विगत निशि न होगी बात मेरी बनेगी॥

—चतुर्थ सर्ग, पद ४४

माधुर्य—यह विचित्र-सुता वृषभानु की।
ब्रज विभूषण में अनुरक्त थी।
सहृदया यह सुन्दर-बालिका।
परमकृष्ण-समर्पित-चित्त थी।

—वही, पद ६

ओज—दिवस एक प्रभंजन का हुआ।
अति-प्रकोप घटा नभ में घिरी।
बहु-भयावह-गाढ़-मसी-समा।
सकल-लोक प्रकम्पित-कारिणी।

—द्वादस सर्ग, पद १८

वैदेही-वनवास—हरिऔध ने प्रियप्रवास की संस्कृत-भाषा के प्रतिक्रिया-स्वरूप लोक-प्रचलित भाषा में (खड़ी बोली में) एक दूसरे महाकाव्य वैदेही-वनवास की रचना की। उन्होंने इसकी घोषणा प्रियप्रवास की भूमिका में की थी, 'जो सज्जन मेरे इतना निवेदन करने पर भी अपनी भौंह की बंकता निवारण न कर सकें, उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि वे वैदेही-वनवास के कर

कमलों में पहुँचने तक मुझे क्षमा करें, इस ग्रन्थ को मैं अत्यन्त सरल हिन्दी और प्रचलित छन्दों मे लिख रहा हूँ "[1]

वैदेही बनवास मे सामसिक शब्दो का त्याग है, भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। भाषा का अधिकांश रूप भावों के अनुकूल ही है। 'रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दु बिम्बनाना' की भाषा को ध्यान मे रखकर वैदेही बनवास की यह भाषा देखने पर आश्चर्य-सा होता है—

यह चाहता समीर न था तृण उड़ जल जाये।
थी न आग की चाह राख वह उसे बनाये।
किन्तु पलक मारते हो गयी उभय क्रियाएँ।
होती है भव मे प्राय· ऐसी घटनाएँ।

—प्रथम सर्ग, पद ६६

मुहावरे और लोकोक्तियों ने वैदेही वनवास की भाषा को अधिक व्यंजना-पूर्ण बना दिया है—

(१) खौलता हैं मेरा लोहू, क्रोध से मै हूँ मर जाता।
(२) खड़े हो गए रोंगटे हैं, जी मेरा है काँपता।
(३) मुझे यदि आज्ञा हो तो मैं पचा दूँ कुजनों की बाई।
(४) गये गन्धर्व रसातल को, रहा वह जिनका मुंह ताकना।
(५) अपने सुख-पथ मे अपने हाथों से काँटे बोता हूँ॥

प्रियप्रवास और वैदेही वनवास की शैलियो में सिर्फ इतना अन्तर नहीं है कि पहला संस्कृत-गर्भित शैली में और दूसरा लोक प्रचलित खडी बोली में रचा गया है वल्कि प्रथम की रचना संस्कृव वर्णिक वृत्तों मे और दूसरी की रचना मात्रिक छन्दों में हुई है। पहली की शैली में कृत्रिमता है, दूसरी की शैली में स्वाभाविकता। डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने दोनों महाकाव्यों की शैलियो की तुलना करते हुए ठीक ही लिखा है—'वैदेही वनवास की शैली मे जो भी त्रुटि हो, किन्तु इनमें सन्देह नही कि शैली के क्षेत्र में यह प्रियप्रवास के पाप का प्रायश्चित है और हिन्दी की नैसर्गिक प्रतिभा के अनुकूल है।'[2]

साकेत



भाषा-शैली—साकेत की भाषा खडी बोली के सामर्थ्य का द्योतक है। उसमें लाक्षणिकता, चित्रोपमता और पद-सौष्ठव की प्रधानता है। अपने कथन

---

१ पृ० १०
२ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास पृ० १७४—७५

को अधिक से अधिक स्पष्ट और रोचक बनाने की ओर कवि की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है। साकेत मे विवरण-प्रधान व्यास-शैली का प्राधान्य है।

साकेत की भाषा तत्सम प्रधान है, पर उसकी तत्समता प्रियप्रवास-सी बोझिल और श्रम साध्य नहीं हैं। कहीं-कही स्थानीय या प्रान्तीय शब्दों के कलात्मक प्रयोग किये गए हैं—तती, धडाम, धाड़, डिडकार, पैठ आदि। क्रियाओं के दीजियो, लीजियो, दीजो, कीजो आदि रूप भी अशुद्ध ही कहे जायेंगे। कही-कहीं मुहावरो के पद का परिवर्तन भी अनुचित लगता है—जैसे, पहुँचा पकड़ना का प्रकोष्ठ पकड़ना आदि। गुप्त जी की भाषा व्याकरण-सम्मत है, पर कही-कही कुछ त्रुटियाँ दीखती है—

(१) हमने उसको रोक न पाया।

(२) शरण किसे छलता है।

मात्रा की पूर्ति के लिए कहीं-कही ह्रस्व शब्दों को दीर्घ बनाया गया है—ज्योती, प्रती, मुनी आदि! 'जाय प्रणाम किया', प्रयोग भी खलता है। कुछ अप्रचलित शब्द भी खलते हैं—त्वेष, अरन्तुद, जिष्णु, अस्य, अपत्य, क्षोणी, उपनीत, निगड, कौणाप वीक्ष्य आदि। कुछ शब्दों को अपने अनुकूल गढ़ भी लिया है—राहित्य, सारल्य, प्रपाणी, उत्कर्णता, प्रकटा आदि।

इन दो चार दोषों के अतिरिक्त साकेत की भाषा अत्यन्त परिष्कृत और खडी बोली की प्रकृति के अनुकूल है। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग अत्यन्त सुन्दर हुए हैं—

(१) लगे इस मेरे मुँह में आग।

(२) ...... आज शत्रु से मुँह मोड़ूँ मैं?

(३) होगा होगा वही उचित है जो कुछ होना।

(४) ......सूखे पर पाला।

(५) सुरगण उलटा आज तुम्हारा मुँह तकता है।

(६) ......बन सकती है बिगड़ी बात।

(७) यह साधारण बात काटता है जो बोता।

(८) दाँत पीस कर, ओंठ काटकर करती है वह क्रुद्ध प्रहार।

भाषा प्रवाह के कई अच्छे उदाहरण साकेत में मिलते हैं—

दैव! यह सपना है कि प्रतीति?
यही है नर-नारी की प्रीति?

—द्वितीय सर्ग, पृ० ५०

राम-से सुत को भी वनवास,
सत्य है यह अथवा परिहास,
सत्य है तो यह सत्यानाश।
हास्य है तो भी हत्या - पाश।

—वही, पृ० ५१

विमाता बन गई आँधी भयावह,
हुआ चंचल न तो भी श्याम घन वह,
पिता को देख तापत भूमि तल-सा,
बरसने यों लगा वर वाक्य जल-सा—
अरे यह बात है, तो खेद क्या है?
भरत में और मुझ में भेद क्या है?

तृतीय सर्ग पृ० ५७

इसी तरह लक्ष्मण-उर्मिला-वार्तालाप, भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना, राम-सीता-संवाद, चित्रकूट-प्रसंग आदि मे भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है।

साकेत की भाषा की भावानुकूलता भी सराहनीय है। सौन्दर्य-चित्रण, प्रेम-कथन, विरह-वर्णन, लक्ष्मण के आवेश आदि के अवसर पर भाषा उग्र हो जाती है—ओज गुण सम्पन्न—क्रमशः एक-एक उदाहरण दोनों प्रकार का देखा जा सकता है—

(१) बीत जाता एक युग पल-सा वहाँ,
सुन पड़ा पर हर्ष कलकल-सा वहाँ,
द्वार पर होने लगी विरुदावली,
गूँजने सहसा लगी गगनस्थली,
सूत, मागध, वन्दिजन यश पढ़ उठे,
छंद और प्रबन्ध नूतन गढ़ उठे,
मुरज, वीणा, वेणु आदिक बज उठे,
विज्ञ वैतालिक सुरावट सज उठे
दम्पती चौंके पवन-मंडल हिला,
चंचला-सी छिटक छूटी उर्मिला।

—प्रथम सर्ग, पृ ३०

(२) वह लका की और चला चारों द्वारों से,
उपड़ा प्रलय पयोधि घुमड़ सौ-सौ ज्वारों से,
चौड़े-चौड़े चार वक्ष थे लंका गढ के,
तोड़ें द्वार कपाट कटक ने बढ़के, चढ़के।
प्रथम वेग से बचे शत्रु, जो सजग खड़े थे,
करके जब हुंकार प्रेत-से- टूट पड़े थे।
दल बादल भिड गये, धरा धँस चली धमक से,
भडक उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक-दमक से।
रण-भेरी की गमक, सुभट नट से फिरते थे।
ताल - ताल पर रुण्ड - मुण्ड उठते गिरते थे।

—द्वादश सर्ग, पृ० ३२०

दृश्यात्मकता—भाषा-शैली की एक यह भी विशेषता है कि वह दृश्य का मूर्त्त रूप सामने खड़ा कर देती है। आँखों के सामने घटना, सौन्दर्य, प्रकृति आदि से दृश्य मानों प्रत्यक्ष हो जाते है। साकेत मे यह शैली अपनायी गयी है और पूरी सफलता के साथ। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(१) सौन्दर्य-दृश्यांकन—

अरुण पट पहने हुए आह्लाद मे,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में ?
प्रकट मूत्तिमती उषा ही तो नहीं ?
कान्ति की किरणें उजेला कर रहीं,
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नयी।
आप विधि के हाथ से ढाली गयी।
कनक-लतिका भी कमल सी कोमला।
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला।

—प्रथम सर्ग, पृ० १०

(२) घटना-चित्रण—

कहा सौमित्र ने—हे तात सुनिए,
उचित अनुचिय हृदय में आप सुनिए,
कि मँझली माँ हमें वन भेजती हैं,
भरत के अर्थ राज्य सहेजती है,

निरख कर सामने ज्यों सांप भारी,
सहम जावें अचानक मार्ग चारी,
सचिव वर रह गए त्यों भ्रान्त होकर,
रुका निःश्वास भी क्या श्रान्त होकर।

—तृतीय सर्ग, पृ० ७०

(३) प्रकृति-चित्रण—

मूंदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चिन्त हँसी हस बाँकी
द्विज चहक उठे, हो गया नया उजियाला
हाटक-पट पहने दीख पड़ी गिरि-माला।

—अष्टम सर्ग, पृ० १६२

कहीं-कहीं नाटकीय दृश्य संकेत जैसी चित्रात्मकता और स्पष्ट गति-योजना मिलती है—

तरु तले विराजे हुए, शिला के ऊपर,
कुछ टिके,—धनुष की कोटि टेककर भू पर,
निज लक्ष-सिद्धि-सी, तनिक घूम कर तिरछे,
जो सींच रही थीं पर्णकुटी के बिरछे

—अष्टम सर्ग, पृ० १५६

अंचल-पट कटि मे खोंस, कछोटा मारे।
सीता माता थी आज नयी धज धारे।
कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके।
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके।

—वही, पृ० १५६

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर दांये,
देख अजिर में उनकी ओर
शीश झुका कर चली चली गयी वह,
मन्दिर में निज हृदय-हिलोर।
हाथ बढ़ाकर रक्खा उसने,
पादपीठ के सम्मुख थाल।

टेका फिर घुटनों के बल से,
द्वार-देहली पर निज भाल।

—एकादस सर्ग, पृ० २६९

सूक्ष्म से सूक्ष्म चित्रण करने में भी कवि की भाषा-शैली पीछे नही छूटी है–

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ
किन्तु समझो, रात का जाना हुआ,
क्योंकि उसके अंग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे,
देख लो लोचन- कुमुद झँपने लगे,
प्राणियों के नेत्र कुछ-कुछ खुल उठे,

प्रथम सर्ग, पृ० १७

उपर्युक्त चिह्नित अंश सूक्ष्म चित्रण के उदाहरण है।

कैकेयी के चित्रण के समय कवि का लाघव दर्शनीय है—वह एक ही शब्द के द्वारा एक व्यापक चित्र को ऑखों के सामने स्पष्ट कर देता है—

(१) उठी आँधी सी होकर भ्रान्त।

—द्वितीय सर्ग, पृ० ४०

(२) हुआ देवी का दुर्गा - वेश।

—वही

(३) चुटीलो फणिनी-सी फुंकार।

—वही, पृ० ४२

(४) सिंहनी सोती थी सविकार।

वही पृ०, ४६

(५) पड़ी थी बिजली सी विकराल।

—वही, पृ० ४६

साकेत में सम्बोधन-शैली का भी प्रयोग किया गया है—एक नवम सर्ग में ही इसके कई उदाहरण मिल सकते है—

(१) दरसो, परसो, घन बरसो।
(२) भूल पड़ी तू किरण कहाँ ?

(३) आजा मेरी निदिया गूंगी।
(४) कह विहग, कहाँ है आज आचार्य तेरे ?
(५) ओ गौरव गिरि उच्च उदार,
(६) करुणे क्यों रोती है ?

पुनरुक्ति दोष मानी गयी है, पर सुकवि की लेखनी के प्रसाद से कही-कहीं वह गुण बन जाती है। साकेत में पुनरुक्ति का उपयोग कई रूपों में किया गया है—

(१) ध्वान्यात्मकता के लिये—ओ निर्झर, झरझर नाद सुनाकर झड़तू।
(२) गति के लिए—सिकुड़ा-सिकुड़ा दिन था।
(३) भेदकता के लिए—थलथल करके, कलकल झरके,
(४) सम्वेदना के लिए—कूड़े से भी आगे पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते-गिरते।
(५) मंथरता के लिए—यह हंस अहा तरता-तरता।

वाक्य की आवृत्ति की दृष्टि से द्वितीय सर्ग में 'भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उसे जो गेह' अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। छह बार इन दो वाक्यों के प्रयोग किये गये है और छहों बार ये छह रूपो मे व्यक्त होते है —

(१) पहलीबार सामान्य रूप से दोनों पंक्तियाँ सामने आती हैं, फिर निम्नलिखित क्रम से बलाघात देकर उनके पाठ करने से विशिष्ट अर्थ स्पष्ट होता है—

१—भरत से,
२—सुत पर भी,
३—संदेह,
४—बुलाया तक न,
५—उसे जो गेह।

साकेत में सभी रीतियाँ, गुण और वृत्तियाँ अपनायी गयी है:—

१—माधुर्य गुण, वैदर्भी रीति या उपनागरिका वृत्ति—

सखि, मैं भव कानन में निकली,
बनके इसकी वह एक कली,
खिलते-खिलते जिससे मिलने,
उड़ आ पहुँचा हिल हेम अली,

मुसकाकर आलि, लिया उसको,
तब लौं यह कौन बयार चली,
पथ देख जियो' कह गूंज यहाँ,
किस ओर गया वह छोड़ कली ?

—नवम सर्ग, पृ०

२—ओज गुण, गौड़ी रीति या परुषा वृत्ति—

छूकर उनके चरण द्वार की ओर बढ़े थे,
झोंके पर ज्यों गन्ध, अश्व पर कूद चढ़े थे.
निकला पड़ता वक्ष फोड़ कर वीर-हृदय था,
उधर धरातल छोड़ आज उड़ता-सा हय था,
जैसा उनके क्षुब्ध हृदय में धड़ धड़ धड़ था,
वैसा ही उस बाजि-वेग में पड़ पड़ पड़ था,
फड़-फड़ करने लगे जाग पेड़ों पर पक्षी,
अपलक था आकाश, चपल-वल्गित गति लक्षी।

—द्वादश सर्ग, पृ० २६८

शब्द-शक्तियों के सम्बन्ध मे यह निर्विवाद है कि गुप्त जी मुख्यत: अभिधा के कवि है पर साकेत में तीनों ही शब्द-शक्तियों का अच्छा परिचय मिलता है :—

अभिधा—चमत्कार-वर्द्धन के लिए कवि ने व्यंजना के प्रसिद्ध उदाहरण कोभी अभिधा में परिणत किया है—

बैठी नाव, निहार लक्षणा-व्यंजना,
गंगा में गृह, वाक्य सहज वाचक बना ।

—पंचम सर्ग, पृ० १०२

लक्षणा —श्रुति-पट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल ।
देख आपही अरुण हुए हैं उनके पांडु कपोल ।।

—नवम सर्ग, पृ० १००

व्यंजना—करुणे, क्यों रोती है, उत्तर में और अधिक तू रोई ।
मेरी बिभूति है जो उसकी भवभूति क्यों कहे कोई ?

—नवम सर्ग, पृ० १६४

(२) तुम्हारे हँसने में है फूल हमारे रोने में मोती।

—नवम् सर्ग पृ० १६४

(३) पाकर विशाल कच भार एड़ियाँ धँसती,
तब नख-ज्योतिमिस मृदुल उँगलियाँ हँसती,
पर पग उठने पर भार उन्हीं पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियों से सु-हास-सा झड़ता।

—अष्टम सर्ग पृ० १५७

इस तरह साकेत की भाषा-शैली महाकाव्य के अनुकूल उदात्त और विविध भावों की प्रकाशिनी है। वृत्तियों और गुणो एव शब्द-शक्तियों के समुचित प्रयोग किए गए हैं। अनेक प्रकार की शैलियों के मिश्रण से रोचकता आगई है।

कामायनी



भाषा-शैली—कामायनी की भाषा शैली उत्कर्ष के शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित है। छायाशाद काल के इस महाकाव्य मे खड़ी बोली का पूर्ण परिष्कार हो गया है। भाषा की भावानुकूलता कामायनी मे बहुत अधिक निखार पर है, जैसे चिन्ता सर्ग मे चिन्ता को व्यक्त करने के लिए कालिमा, अन्धकार, रात्रि, उल्का आदि शब्दो के माध्यम से बने चित्र का सहारा लिया गया है तथा ज्वाला, उत्पात, संहार आदि से संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है। यह प्रसाद की भाषा शैली का ही कौशल है कि काम वासना जैसे सूक्ष्म भाव स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो पाये हैं।

प्रसाद ने वस्तु-चित्रण के लिए व्यंजना शक्ति का आश्रय लिया है। जो चित्र शब्दों द्वारा व्यक्त होते हैं, वे व्यंजना शक्ति से पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं। व्यजना के अनेक प्रकार के उदाहरण मिलते हैं :—

प्रयोजनवती लक्षणा—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी,
अरी उठा बेसुध चंचल।

—आशा, पृ० ४०

सारोपा गौणी लक्षणा—

सिन्धु सेज परा धरा वधू अब,
तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हलचल स्मृति मे,
मान किए सी ऐंठी सी।

—आशा, पृ० २४

शुद्धा उपादान लक्षणा—

लोक सुखी हो यदि आश्रय ले इस छाया में,
प्राण-सदृश तुम रमो राष्ट्र की इस काया में।

मनु और श्रद्धा के परिचय के समय के लक्षणा व्यंजना का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण मिलता है :—

कौन हो तुम विश्व-माया कुहुक सी साकार,
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार।
हृदय जिसकी कान्त छाया में लिए विश्वास।
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश।

—वासना, पृ० ६०

अन्योक्तियों के स्थान पर प्रसाद ने प्रतीकात्मकता एवं लाक्षणिकता का ही आश्रय लिया है। वसन्त वर्णन के बहाने यौवनारम्भ के चित्रण में एक उदाहरण देखा जा सकता है :—

मधुमय बसन्त जीवन बन के
वह अन्तरिक्ष की लहरों में,
कल आये थे तुम चुपके से,
रजनी के पिछले पहरों में।

क्या उन्हे देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई,
कलियों ने आँखे खोली थी।

—काम, पृ० ६३

कामायनी की लाक्षणिकता एक चित्रात्मक स्वरूप आँखों के सामने खड़ी कर देती है—

वैसी ही माया में लिपटी,
अधरो पर उँगली धरे हुए,
माधव के सरस कुतूहल का,
आँखों में पानी भरे हुये।

—लज्जा, पृ० ९७

अपनी भाषा को अधिक व्यंजक बनाने के लिये प्रसाद ने विरोधी शब्दो के उपयोग का शिल्प भी अपनाया है:—

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी,
अरी आधि, मधुमय अभिशाप।
हृदय - गगन में धूमकेतु सी,
पुण्य सृष्टि में सुन्दर पाप।

—चिन्ता पृ० ५

विरोधाभास के कारण उत्पन्न वाग्विदग्धता के कुछ और उदाहरण देखे जा सकते हैं :—

लाली बन सरल कपोलों में,
आँखों में अंजन-सी लगती,

—लज्जा, पृ० १०३

रस के निर्झर में धँस कर मैं,
आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती।

—वही, पृ० ९९

जीवन का संतोष अन्य का,
रोदन बन हँसता क्यो ?

--कर्म, पृ० १२४

जागृत था सौन्दर्य यद्यपि वह,
सोती थी सुकुमारी।

--वही, पृ० १२५

भाषा को अधिक स्पष्ट करने के लिये अनेक नवीन उपमानों के प्रयोग किये गये हैं :--

नील परिधान बीच सुकुमार,
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल,
मेघ बन बीच गुलाबी रंग।

—श्रद्धा, पृ० ४६

कुसुम कानन-अंचल में मन्द,
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर,
खड़ा हो ले मधु का आधार।

--वही, पृ० ४८

केतकी गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह।

--ईर्ष्या, पृ० ४८

प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत का विधान करने में प्रसाद की भाषा वातावरण के अनुकूल बन गयी है:—

जीवन-निशीथ के अन्धकार!
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम-सा दुर्निवार,
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी-सी उठती पुकार।
यौवन-मधुवन की कालिन्दी वह रही चूम कर सब दिगन्त,
मन शिशु की क्रीडा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती है अनन्त।।

--इडा, पृ० १५६

वर्णन को सरस बनाने के लिये ध्वनियों के अनेक उदाहरण कामायनी में मिलते हैं--

इस ग्रह कक्षा की हलचल! री,
तरल गरल की लघु लहरी।
जरा अमर जीवन की, और न,
कुछ सुनने वाली, बहरी।

--चिन्ता, पृ० ५

वस्तु-ध्वनि—

आँसू से भीगे अंचल पर,
मन का सब कुछ रखना होगा,
तुझको अपनी स्मित रेखा से,
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।

—लज्जा, पृ० १०६

रस-ध्वनि—

अब न कपोलों पर छाया सी,
पड़ती मुख पर सुरभित भाप,
भुज भूलों से शिथिल वसन की,
व्यस्त न होती है, अब माप।

प्रसाद ने अपनी अभिव्यंजना-शक्ति को बढ़ाने के लिते विदेशी तथ्यो को भी अपनाया है—जैसे—'इटरनल म्यूजिक औफ दि स्फेयर' के लिए शाश्वत नभ के गानों में, 'वार्म फीलिंग' के लिए उष्ण विचार तथा 'टू वियर दि बर्डेन' के लिए बोझ-सी ढोती। फारसी प्रभाव के उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में देखे जा सकते हैं—

अग्निकीट समान जलती है भरी उत्साह,
और जीवित है, न छाले है न उसमें दाह।

—वासना, पृ० ६०

इन्द्रनील मणि महा चषक था,
सोम रहित उलटा लटका।

—आशा, पृ० २४

शब्द जो लाखों बार के प्रयोग से पुराने पड़ जाते हैं, उन्हे नये रूप मे प्रयुक्त करके कवि आकर्षक बना देता है। यथास्थान और यथा मात्रा शब्द प्रयोग के द्वारा कवियों की प्रतिभा-शक्ति का पता चलता है। विशेषण के प्रयोग में यह शक्ति और भी खराद पर चढ जाती है। कामायनी में विशेषणो के अत्यन्त सफल प्रयोग हुए हैं—

घिर रहे थे घुँघराले बाल,
अंश अवलम्बित मुख के पास,

नील घन-शावक से सुकुम र।
सुधा भरने को बिधु के पास।

—श्रद्धा, पृ० ४७

भुजलता पड़ी सरिताओं की,
शैली के गले सनाथ हुए,
जलनिधि का अँचल व्यजन बना,
धरणी का, दो-दो साथ हुए,

—काम, पृ० ७३

उषा की सजल गुलाली जो,
घुलती है नीले अम्बर में।

—वही, पृ० ७५

चल पडे कब से हृदय दो पथिक से अश्रान्त,
यहाँ मिलने के लिए, जो भटकते थे भ्रान्त,
एक गृह-पति दूसरा था अतिथि विगत उदार,
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार।

—वासना पृ० ८१

क्या तुम्हें देखकर आते यों,
मतवाली कोयल बोली थीं,

—काम, पृ० ४३

इसी तरह कवि ने चिन्ता, सर्ग में कल्पना और चित्र से पूर्ण विशेषणों के प्रयोग किए हैं :—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली,
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा,
हरी-भरी सी दौड़-धूप ओ,
जल-माया की चल रेखा।
इस ग्रह कक्षा की हलचल री।
तरल गरल की लघु लहरी।

जरा अमर जीवन की, और न
कुछ सुनने वाली बहरी।

—पृ० ५

यदा-कदा ढूँढने से दो चार दोष मिल सकते हैं—जैसे 'एक सजीव तपस्या जैसे पतझर में कर वास रहा' में लिंग-दोष; 'तुम्हे तृप्ति कर सुख के साधन सफल बताया' में वचन-दोष आदि। पर कामायनी मे भाषा दोष ढूंढना मक्षिका-वृत्ति का परिचय देना है। प्रसाद की भाषा-शैली भव्य, उदात्त, प्रगीतमय, चित्रमय और महाकाव्योचित गरिमा से पूर्ण है।

कुरुक्षेत्र और एकलव्य

कुरुक्षेत्र की भाषा-शैली सहज और प्रसाद गुण से परिपूर्ण है। ओज और माधुर्य गुणो का भी यथाअवसर समावेश है। शीर्षवलक्ष, व्याहार, वेशन्त आदि शब्दों को छोडकर सर्वत्र चिरपरिचत, किन्तु नवीन भावो के उन्मेषक शब्द ही दीख पड़ते है। भाषा की सफाई के आदर्श नमूने ठौर-ठौर पर मिलते हैं—

सहसा हृदय को तोड़कर,
कढ़ती प्रति ध्वनि प्राणगत अनिवार सत्याघात की,
नर का बहाया रक्त, हे भगवान मैंने क्या किया ?
लेकिन मनुज के प्राण, शायद पत्थरों के है, बने।
इस देश का दुख भूल कर,
होता समर-आरूढ़ फिर,
फिर मारता मरता,
विजय पाकर बहाता अश्रु है।

प्रथम सर्ग, पृ० ३

औ समर तो और भी अपवाद हैं,
चाहता कोई नही इसको, मगर,
जूझना पड़ता सभी को, शत्रु जब
आ गया हो द्वारा पर ललकारता।

—द्वितीय सर्ग पृ० २०

भावानुकूल भाषा के उदाहरण भी पर्याप्त है। निम्नलिखित उद्धरणों मे ग्लानि और ओज को अभिव्यक्त करने वाले भाषा-रूपों का अन्तर प्रत्यक्ष है—

बाल हीन माता की पुकार आती और,
आता कभी आर्त्तनाद पितृहीन बालका,
आँख पड़ती है जहाँ हाय, वहीं देखता हूँ,
सेन्दूर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का,
बाहर से भाग कक्ष मे जो छिपता हूँ कभी
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का,
और सोते-जागते चौंक उठता हूँ, मानों,
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।

—द्वितीय सर्ग, पृ० १४

कुरुक्षेत्र के पूर्व नहीं क्या,
समर लगा था चलने ?
प्रतिहिंसा का दीप भयानक
हृदय-हृदय में बलने ?
शान्ति खोलकर खड्ग क्रांति का
जब वर्जन करती है,
तभी जान लो, किसी समर का
वह सर्जन करती है।

—तृतीय सर्ग, पृ० ३१

चित्रों को स्पष्ट करने के लिए कवि ने यत्र-तत्र अपनी विलक्षण भाषा-शक्ति का परिचय दिया है—

शरों की नोंक पर लेटे हुए गजराज—जैसे,
थके, टूटे गरुड़-से स्रस्त पन्नागराज—जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बल-भार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को सम्भाले,

—चतुर्थ सर्ग पृ० ४७

कुरुक्षेत्र में ऐसी पंक्तियाँ का बाहुल्य है, जिसके एक भी शब्द का स्थापन्न अनुपयुक्त होगा—

चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है।

नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु जो रण में उसे ललकारते हैं।

—वही, पृ० ४८

कुरुक्षेत्र में शब्दों की आवृत्ति के द्वारा प्रभावोत्पादक बढ़ायी गयी है–

शूर धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना,
शूर धर्म है शाणित असि पर धर कर चरण मचलना।
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को,
शूर धर्म कहते हँसकर हलाहल पी जाने को।
आग हथेली पर सुलगाकर सिर का हविष् चढ़ाना,
शूर धर्म है जगको अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ६४

विभव, तेज, सौन्दर्य गये सब दुर्योधन के साथ,
एक शुष्क कंकाल लगा है मुझ पापी के हाथ।
एक शुष्क कंकाल, जीवितों के मन का संताप,
एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान,
एक शुष्क कंकाल, महाभारत का अनुपम दान।

—पंचम सर्ग, पृ० ९३

धर्म का दीपक, दया का दीप
कब जलेगा, कब जलेगा विश्व में भगवान?

—षष्ठ सर्ग, पृ० १०८

शब्दों की आवृत्ति मन में एक ही स्थान पर चोट करती भावों को जाग्रत कर देती है।

विशेषणों के सम्बन्ध में कवि ने जो मानदण्ड स्थिर किया है, उसका निर्वाह कुरुक्षेत्र में हुआ है—एक-एक विशेषण सार्थ और उपयुक्त है—

गरल द्रोह-विस्फोट हेतु का,
करके सफल निवारण,
मनुज-प्रकृति ही करती शीतल
रूप शान्ति का धारण।
आनन सरल, वचन मधुमय है,
तन पर शुभ्र बसन है,

बचो युधिष्ठिर! इस नागिन का
विष से भरा दशन है।

—तृतीय सर्ग, पृ० ७५

कुछ स्थानों पर भाव-शक्ति को उद्दीप्त करनेवाले प्रसंग-गर्भत्व के अच्छे उदाहरण मिलते हैं— यथा, द्वितीय सर्ग के अन्त में राम के प्रण का विवरण। पर एक स्थान पर इस प्रसंग-गर्भत्व के कारण काल-दोष भी आ गया है।

भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हो भगवान्।
बुद्ध हों कि अशोक, गांधी हों कि ईस महान्॥

बुद्ध, अशोक, गांधी--सभी कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद उत्पन्न हुये हैं, पर कवि ने भावावेश में इस काल-दोष का ध्यान नहीं रखा है। पर षष्ठ सर्ग में आधुनिक युग की मीमांसा तथा कवि के 'निवेदन' की ये पंक्तियाँ 'जहाँ कोई ऐसी उड़ान आयी है, जिसका सम्बन्ध द्वापर से नहीं बैठता, उसका सारा दायित्व मैंने अपने ऊपर लिया है! ऐसे प्रसंग, अपनी प्रक्षिप्तता के कारण, पाठकों की पहचान में आप ही आ जायेंगे। पूरा का पूरा छठा सर्ग ऐसा ही क्षेपक है जो इस काव्य से टूटकर अलग भी जा सकता है।'—इस दोष को बहुत अंशों में स्पष्ट और साथ ही क्षम्य बना देती है।

लक्ष्यार्थ से भरी मार्मिक उक्तियों के भी कई उदाहरण मिलते हैं—
बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर का कीच,
यह वचन से देवता पर, कर्म से पशु नीच।

—षष्ठ सर्ग, पृ० ८

बुद्धि बिलखते उर का चाहे जितना करे प्रबोध।
सहज नहीं छोड़ती प्रकृति लेना अपना प्रतिशोध॥

पंचम सर्ग, पृ० ९०

निम्नलिखित पंक्तियों में प्रयोजनवती के सहारे अमूर्त्त भावों का मूर्त्तविधान किया गया है—

यौवन चलता सदा गर्व से सिर ताने, शर खींच,
झुकने लगता किन्तु, क्षीण बलवय विवेक के नीचे,
किंतु बुद्धि नित खड़ी ताक में, रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो, कब वह उसे दबाये।

चतुर्थ सर्ग, पृ० ६७

मुहावरों और लोकोक्तियों के भी उपयोग शैली को बढाने मे काम आये हैं—

(१) किन्तु बुद्धि नित खडी ताक मे घात लगाये,

(२) तब कौन ग्लानि के साथ हृदय को तोले,
दृग श्रवण मूद कर अपना हृदय टटोले ?

(३) दॉत अपने पीस अन्तिम क्रोध से,

—पृ० ४

(४) ध्वंश अवशेष पर सिर धुनता है कौन ?

—पृ० १२

(५) सबकी सुबुद्धि पितामह, हाय मारी गई,

—पृ० १२

(६) युद्ध की लपटें चुनौती भेजती।

—पृ० १६

(७) आ गया हो द्वार पर ललकारता !

—कु० २०

संक्षेप मे, दिनकर की भाषा-शैली सुस्पष्ट, व्यंजनापूर्ण और भावानुकूल है।

एकलव्य



एकलव्य कुरुक्षेत्र की अपेक्षा अधिक तत्मम-प्रधान, अलकृत और चित्रमय भाषा-शैली से सम्बन्धित है। जहॉ कुरुक्षेत्र मे दो पात्रो की वार्त्तालाप-शैली के कारण वस्तु-वर्णन का पट सीमित हो गया है, वहॉ उसकी अधिकता एकलव्य मे है। पर, ओज के चित्रण मे जहाँ दिनकर की भाषा में सहजता है, वहाँ रामकुमार की भाषा में अलकरण।

एकलव्य की तत्समता-प्रधान भाषा का उदाहरण किसी भी पृष्ठ से दिया जा सकता है—

विस्मय की बात क्या है ? मन्त्र-शक्ति ऐसी है,
सींक ने विसिख रूप प्राप्त कर क्षण मे,
कूप मे प्रवेश लिया जैसे स्मृति क्षण में,
डूब जाती शैशव के सोए हुए सुख में,
एक-एक भावना को राग से जगाती है,
बन्धु एकलव्य ! तुम भी तो हो धनुर्धर,

रुचि रखते हो धगुर्बेद में स्वयं तुम,
और श्री निषादराज पुत्र, कृतविद्य हो,
ऐसी कौन-सी विचित्र धटना हुई है जो,
प्राण मे समाई हुई प्राण बनी बैठी हुई ?
आदि से सुनाओ वृत्त मैं भी सुनू ! सोचूं तों
कैसा वह कौतुक है !

—प्रथम सर्ग का प्रथम पृष्ठ

कहीं-कहीं भाषण-शैली के द्वारा प्रसंग को नाटकीय गति प्रदान की गई है—

(१) सुनो नागदन्त हे !

—पृ० १२

(२) राजपत्र ! तुम कुरुवंशी वीर हो,

—पृ० १३

(३) देव ! हम सबने उपाय किए शतशः,

—पृ० १३

(४) प्रभो ! करें कृतार्थ परिचय दे हमें,

—पृ० २१

(५) राजेन्द्र राजपुत्र !

—पृ०—२१

(६) राजन्, गांगेय भीष्म ! ओर सभ्य मानवो ¡

—पृ० ३४

(७) द्विज श्रेष्ठ ! स्वागत है। बोलिए क्या इच्छा है ?

—पृ० ४१

(८) द्रोण ! कहो क्या दूं तुम्हें ? हो रहा विलम्ब है,

—पृ० ३१

(९) विप्र ! व्यर्थ बातों के लिए न अवकाश है।

पृ० ४६

(१०) राजवर्ग ! और जनपद के हे मानवो।

—पृ० १०१

(११) मेरे प्रिय जनो !

—पृ० ११३

(१२) शान्त, शान्त हो।

—पृ० २७१

वाद-विवाद के अवसर पर कथन की संक्षिप्तता और भाषा का प्रवाह देखने योग्य हैं—

'आओ, आओ, एकलव्य।
शिष्य आर्य द्रोण के।
'साधक महान्!
'इनको 'निषाद-राज-पुत्र' मत कहना,
'आर्य-द्रोण-शिष्य' नाम आज से हैं इनका।'

—सप्तम् सर्ग, पृ० १३१

'जय गुरु देव।'
पार्थ?
'नाथ' को प्रणाम है।'
'स्वस्ति! तुम जाग उठे?'
'देव! सो सका नहीं।'...

—त्रयोदश सर्ग, पृ० २६७

'नाम क्या बताया?'
'एकलव्य.'
'एकलव्य, हाँ,
पिता कौन? वंश क्या है?
'श्री हिरण्यधनु हैं।
मेरे पिता और वंश है निषाद राज का।"
'श्री हिरण्यधनु को मैं जानता दिनों से हूँ।
स्वामिभक्त, किन्तु वे निषादराज ही तो है।

—षष्ठ सर्ग, पृ० १२१

गीत-शैली की भाषा सहज, सुबोध और सरल है—

मेरा लाल न अब तक आया।
मार्ग देखकर थकी, न कोई उसका कुशल संदेशा लाया।

अष्टम सर्ग, पृ० १४७

× × × ×

मैं भी साथ तुम्हारे जाती ।
उषा-काल में तुम्हें उठाने,
मधुर प्रभाती गाती ॥

—पृ० १४६

पूरा अष्टम सर्ग ऐसे उदाहरणों से भरा है ।

एकलव्य की भाषा भाव की अनुगामिनी है । ओजपूर्ण स्थल की भाषा कितनी ओजस्विनी है—

गौरव से गर्जना की मानो घोषणा की हो—
'वन में, श्रीवनराज युद्ध में प्रवृत्त हैं ।'
आक्रमण आँखों में, सु-रक्त स्वाद मुख में,
पुष्ट मांस-पेशियों में शक्ति का संचार है ।
गति में प्रचण्ड झंझावात वाली उग्रता,
और गुर-गर्जन में अशनि-निपात है ।
पूछ उठी जैसे वह काल का प्रतोद है,
लोहितास्व जैसे रक्त-भरा मृत्यु-कूप है ।
डाढ़ें दीख पड़ी जैसे खिंचे व्रज खण्ड हैं,
औरझुके नख जैसे वृश्चिकों के डंक हैं ।

—द्वादश सर्ग, पृ० २४०

यही भाषा वेदना के क्षणों मे कितनी सरल और मधुर हो गयी है—

मेरी जननी भी तो,
कितनी दुखित होंगी मेरे बिना गृह में,
नित्य ही प्रतीक्षा में वे दिवस बिताती हों ।
नित्य नए व्यंजन बना के अति प्रेम से,
कितने ही चाव से संजोये हुए पात्र में,
मार्ग देख-देख साश्रु-नयना निराशा हो,
ग्राम बालकों को बाँट-बाँट देती हों वे ।

× × × ×

यदि एकलव्य ने विजय कहीं प्राप्त की,
होगा श्रेय माता का, तुम्हारा माँ, तुम्हारा ही !

बाँसुरी के छिद्रों में जो रागिनी उठेगी माँ।
उसमें प्रवाह रहेगा तुम्हारी साँसों का।

—नवम सर्ग, पृ० १८३

लक्षणा, व्यजना और प्रतीक के कारण भाषा अधिक अर्थव्यंजक हो गयी है—

(१) धनुर्वेद सीखकर जब पुत्र आएगा,
पहले लक्ष्य बेधेगा तुम्हारा ही दुःख का।

—पृ० १४२

(२) देव ! दास उत्तर दे कैसे गुरुदेव को।
अर्पित हो कैसे एक पल्लव वसन्त को।

पृ० ११६

(३) आज वही सुधि आ जाती है,
छा जाती है सुख की छाया।

—पृ० १४७

(४) आँख खुली तो मैंने पाया,
अपना अचल गीला।

—पृ० १५४

गतिशील सौन्दर्य और सूक्ष्म पर्यवेक्षण को चित्रित करने में कवि की भाषाशैली पूर्णतः समर्थ हुई है—

नेत्र कुछ फैल गये, बंकिम भृकुटि है,
नासा-पुट स्पन्दित-से बार-बार हो रहे।
मुख कुछ कहने को चाहता है खुलना।
और तर्जनी का संकेत उठ रहा-सा है।

—दशम सर्ग, पृ० २०३

४ × ×

श्वेत जटा, विस्तृत ललाट किसी भौंहे है।
नेत्र है विशाल, रक्त वर्ण, उठी नासिका
श्वेत श्मश्रु बीच ओठ, जैसे शुभ्र अभ्रों की
ओट संध्याकाल-मध्य दुर्ग का कलश है।

—प्रथम सर्ग, पृ० १२

विशेषणो के सार्थक प्रयोग ने कल्पना और अभिव्यंजना को अधिक प्रभविष्णु बनाया है। कही-कहीं तो पंक्ति-पक्ति में विशेषण इस तरह गुँथे गए है कि चित्र है कि चित्र-समूह की रचना हो जाती है, जो स्थूल काव्य को स्पष्ट बना देती है—

—एकलव्य बोला शीघ्र ही
वाष्प-गद गद-कंठ जैसे प्रथम वर्षा से,
भूमि से निकलता है उष्ण गन्ध हलका।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ६२

तीन, पांच, सात और नव-नव पर्व के,
चिक्कण, सुदृढ़, लचकीले धनुर्दण्ड है।

दशम् सर्ग, पृ २०८

× × × ×

पीत, नील वर्ण वाले शर हैं अनेकशः
पूर्ण परिपक्व ग्रन्थिवाले युग हाथ के।

—दशम सर्ग, पृ० २८०

× × × ×

स्थिर लक्ष्य लेके स्थिरबंधी एकलव्य है,
बेंधी चल लक्ष्य में चलायमान वस्तुएँ।
चलाचल-लक्ष्य में स्वयं चल-अचल को,
बेंधा ! द्वय-बल में चलित को सु-चल के।

—दशम सर्ग, पृ० २११

इस तरह एकलव्य की भाषा-शैली गम्भीर और उदात्त है।

आधुनिक काल में खड़ी बोली के अतिरिक्त अवधी और ब्रजभाषा में भी महाकाव्य लिखे गये हैं। कृष्णायन अवधी में और दैत्यवंश, रावण एवं रामचन्द्रोदय काव्य ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। इनमें भाषा-शैली की दृष्टि से कृष्णायन और रावण क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा के सफल महाकाव्य है।

अन्य महाकाव्यों की भाषा-शैली—साकेत-सन्त की भाषा तत्सम प्रधान है और मुहावरे तथा लोकोक्तियों का कलात्मक प्रयोग किया गया है। नूरजहाँ में उर्दू-फारसी के भी शब्द हैं। मुहावरों के प्रयोग इसमें भी बड़ी सफलता से किए गए हैं। सिद्धार्थ की भाषा तत्सम प्रधान है, पर इसमें

अप्रचलित संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण कहीं-कहीं क्लिष्टता आ गयी है। इसकी शैली अलंकृत है। अप्रचलित संस्कृत-निष्ठता अंगराज और बर्द्धमान में भी भरी है। आर्यावर्त्त और कैकेयी की भाषा में तत्समता है, पर दुरूहता नहीं।

भाषा के प्रवाह, लाक्षणिक प्रयोग और प्रसाद गुण के लिए रश्मिरथी का अपना विशिष्ट स्थान है। करुण और ओजस्वी प्रसंगों के चित्रण में कवि की भाषा-शैली अत्यन्त भावोत्तेजक हो गयी है—

(१) अब जब सब कुछ हो चुका शेष दो क्षण हैं,
आखिरी दाँव पर लगा हुआ जीवन है,
तब प्यार बाँध करके अंचल के पट मे,
आई हो निधि खोजती हुई मरघट में।

× × × ×

लज्जित होकर तू वृथा वत्स! रोता है,
निर्घोष सत्य का कब कोमल होता है।
धिक्कार नहीं तो मैं क्या और सुनूंगी ?
काँटे बोये थे, कैसे कुसुम चुनूंगी ?

धिक्कार, ग्लानि; कुत्सा, पछतावे की ही,
लेकर तो बीता है जीवन निर्मोही,
थे अमित बार अरमान हृदय में जागे,
धर दूं उधार अन्तर में तेरे आगे।

—पंचम सर्ग, ८मृ, ९५

(२) फूटे ज्यों वह्निमुखी पर्वत
ज्यों उठे सिन्धु मे प्रलय-ज्वार,
कूदा रण में त्यों महाघोर,
गर्जन का दानव किमाकार।
सत्य ही, असुर के आते ही
रण का वह क्रम टूटने लगा,
कौरवी अनी भयभीत हुई
धीरज उसका छूटने लगा।

—षष्ट सर्ग, पृ० १३३

रश्मिरथी का भाषा-प्रवाह और भावनुकूलता हल्दीघाटी की प्रवाहमयता और भावानुकूलता से बहुत अधिक भिन्न है। रश्मिरथी का ओज गम्भीरता और

लाक्षणिकता से युक्त है, हल्दीघाटी में एक हल्कापन और कृत्रिम शैली का आधिक्य है। हल्दीघाटी में जो नाद-सौन्दर्य और प्रसाद गुण है, वे कवि-सम्मेलनों के श्रोताओं को क्षण भर को उद्दीप्त करने में सफल है, पर वे आंखों की राह मन में उतर कर ओज पैदा नहीं कर पाते। वे श्रव्यानन्द के अधिक उपयुक्त है पाठ्यानन्द के कम। इनके प्रमाण में निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

सुनकर सैनिक तन तना उठे,
हाथी-हय दल पन-पना उठे।
हथियारों से भिड़ जाने को,
हथियार सभी झनझना उठे॥

× × ×

वह कड़-कड़-कड़-कड़-कड़क उठी,
यह भीम नाद से तड़क उठी,
भीषण संगर की आग प्रबल,
बैरी सेना में भड़क उठी।

डग-डग-डग-डग रण के डंके,
मारू के साथ भयद बाजे।
टप-टप-टप घोड़े कूद पड़े,
कट-कट मतंग के रज बाजे।

—एकादश सर्ग, पृ० १२१

पुनरावृत्ति की शैली के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास हल्दीघाटी में भी हुआ है, पर वह कुरुक्षेत्र की भाँति गम्भीर और भावपूर्ण नहीं, यद्यपि ओज का निर्वाह अच्छी रीति से हुआ है—

अब से मुझको भी ह्रास शपथ,
रमणी का वह मधुमास शपथ।
रति-केलि शपथ, भुजपाश शपथ,
महलो के भोग-विलास शपथ।

यहाँ तक तो ठीक है, पर आगे व्यर्थ का शपथ-विस्तार किया गया है—

सोने चाँदी के पात्र शपथ,
हीरा मनियों के हार शपथ।

माणिक मोती से कलित-ललित,
अब से तन के शृङ्गार शपथ।
गायक के मधुमय गान शपथ
कवि की कविता की तान शपथ।
रस-रंग शपथ, मधुपान शपथ,
अब से मुख पर मुस्कान शपथ।

और आगे की आठ पंक्तियों मे भी ऐसी ही अनेक प्रकार की शपथो की आवृत्ति के दारा व्यर्थ का वर्णन-विस्तार मिलता है।

निष्कर्ष—निष्कर्ष यह कि आधुनिक हिन्दी महाशयो की भाषा-शैली खडी बोली की प्रौढता के प्रमाण-स्वरूप है। अधिकांश रूप मे तत्सम-प्रधान भाषा को अपनाया गया है। प्राय: प्रत्येक कवि की अपनी भाषा-शैली होती है, जो उसके व्यक्तित्व निर्माण मे सहायक होती है। वह प्रचलित शब्दों की सप्रसंग योजनाकर उसे निजता से विशेष भंगिमा प्रदान कर उर्जस्वल बना देता है। वह भाषा अच्छी होती है जो चुस्त हो, न एक शब्द कम, न एक शब्द ज्यादा। वह प्रयोग के विचारो और भावोको तदनुरूप प्रकट कर देने वाली हो। भावो, विचारो और कल्पनाओ पर लदी हुई भाषा शैली कृत्रिम होती है, उसमे साहित्यकार के अभिप्रेत भावों को झंकृत करने की क्षमता नही होती। आधुनिक महाकाव्यो की भाषा-शैली निखरती जा रही है। दिन-दिन उस पर से अलंकार की बोझिलता और व्यर्थ के उक्ति-चमत्कार का बोझ हटता जा रहा है। प्रिय-प्रवास, साकेत कामायनी, कुरुक्षेत्र, एकलव्य, रश्मिरथी, कैकेयी आदि भाषा-शैली के आन्तरिक गुणों के विकास के परिचायक है।

छन्दों की विशेषता



छन्द—छन्द कविता का चरण है, गति है और है उसके प्राणों का स्पन्दन। मनकी ऐंठन, भावनाओं की उमडन-घुमडन जिस लय में प्रकट होती है—उसे ही छन्द कहते हैं। यही कारण है कि छन्द को कविता का संगीत कहा गया है। महाकाव्यो के विवेचन के क्रम में शैली प्रकरण में छन्द-विचार की आवश्यकता इसलिए है कि शैली-निर्माण में छन्दों का बहुत अधिक हाथ होता है। विशेष मनोदशाओ में विशेष छन्द प्रयुक्त होते है। जहाँ विचार और

छन्द एक रूप होते हैं वहाँ दोनों की पूर्ण सिद्धि होती है। शक्तिशाली और गुरु गम्भीर छन्दों मे वीर रस एवं पूर्ण और अधिक यतियों वाले रुक-रुक कर चलने वाले छन्दो में करुण रस अधिक उपयुक्त होते हैं। यही कारण है कि कवित्तों मे वीर रस के पद और मन्दाक्रान्ता मे करुण रस के पद अधिक मिलने हैं। यों कवित्त और सवैये तो ऐसे छन्द है जिनमें वीर और शृंगार रस समान रूप से जँचते हैं। भूषण और पद्माकर दोनों ने इसे समान रूप से अपनाए। श्री सुमित्रा नन्दन पन्त ने वैतालीय, मालिनी, पीयूषवर्ष, रूपमाला, सुखी, प्लवंगम, हरिगीतिका, राधिका आदि छन्दों को करुण रस के अनुकूल माना है। अरिल्ल को उन्होंने निर्झरिणी के सामान प्रवाहपूर्ण और स्वच्छन्द छन्द को मुक्त भावावेश के लिये उपयुक्त माना है।[1]

छन्दों का चुनाव—प्रत्येक कवि अपनी रुचि और आवश्यकता के लिए विशेष प्रकार छन्द का चुनाव करता है। इसी तरह युग विशेष भी अपने अनुकूल छन्दो को ग्रहण करता है। अपभ्रंश काल में पंच-चामर और अमृत-ध्वनि छंद जितने प्रचलित हुए, उतने और किसी काल में नही। लावनी या राधिका छंद जितना भारतेन्दु और द्विवेदी युग में प्रचलित हुआ, उतना और किसी काल में नहीं। इसी तरह प्राचीन छन्दों का नवीन संस्कार अपनी रुचि और आवश्यकता से किया गया। निराला ने बरबै छद का नये रूप में बादल राग में उपयोग किया तथा पन्त ने राधिका, ललित पद, ककुभ और रोला छंदों का परिवर्त्तित रूप निर्माण किया। आवश्यकतानुसार कवियों ने कई छंदों का मिश्रण कर नवीन गति का संचार किया। निराला ने मुक्त छद में राधिका, ललित, सरसी, बरवै, वीर आदि कई छंदों का मिश्रण किया तथा तथा बच्चन आदि कई कवियों ने पद्धरी, सवैया और शुद्ध ध्वनि छंदों का सम्मिश्रण किया।

महाकाव्य में छन्द—महाकाव्यों में बहुत दूर और देर तक रस-निर्वाह और चरित्र के शील-निरूपण की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए छन्दों का परिवर्त्तन शीघ्रता से नहीं होता। यही कारण है कि प्राचीन आचार्यों ने सर्गान्त में छन्द बदलने की सलाह दी थी— बीच-बीच में, क्षण-क्षण नहीं। पर बदली हुई स्थिति और बदले हुए मनोभावों की व्यंजना के लिए विभिन्न छन्दों के प्रयोग का कोई निषेध उन आचार्यों ने नहीं किया। आधुनिक युग के महा-

---

१. पल्लव का प्रवेश

काव्यों में कवियों की श्रुति-चेतना अधिक परिष्कृत दीख पड़ती है। इस काल के कवियों ने प्राचीन छन्दों के ही अधिक प्रयोग किए, पर एक महाकाव्य में छन्दों की विविधता की दृष्टि से यह काल महत्त्वपूर्ण हैं। नवीन और मिश्रित छन्दों को भी अपनाया गया। सबसे बड़ी बात यह हुई कि उर्दू, बंगला और संस्कृत के छन्दों को स्वीकार किया गया तथा वर्णिक और अमित्राक्षर छन्दों को प्रश्रय दिया गया। एक ही सर्ग में अनेक छन्दों के प्रयोग लिए गये—साकेत का नवम सर्ग इसका एक उदाहरण है।

प्रिय-प्रवास



प्रिय-प्रवास संस्कृत के वर्णवृत्तों—छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। उसमें मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, वसन्त लतिका, द्रुत-विलम्बित, शार्दूल विक्रीड़ित तथा शिखरिणी—सात छन्दों के प्रयोग किये गये हैं। प्रियप्रवास अन्त्यानुप्रांस विहीन छन्दों से परिपूर्ण है, पर इसमें लालित्य और प्रसाद सर्वत्र वर्त्तमान है। कवि ने इसके लिए शब्द-शिल्पों का आश्रय लिया है—भावानुकूल अनुप्रास पूर्ण शब्दों को योजना की है। कहीं-कहीं इसी क्रम में दो तीन पंक्तियाँ और कहीं चारों पंक्तियाँ तुकपूर्ण हो गयी हैं—

जाते ही छू कमल दल से पांव को पूत होना।
काली काली अलक मृदुता से कपोलों हिलाना॥
क्रीड़ाएँ भी ललित करना ले दुकूलादिको को।
धीरे-धीरे परस तन को प्यार कीं बेली बोना॥

—षष्ठ सर्ग, कृ० ६६

× × ×

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम हों तू उसी का।
कोई पत्ता निकठ उसके नेत्र के ले हिलाना॥
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना।
मेरे चिन्ता-विजित चित्त का क्लान्त हो काँप जाना।

—षष्ठ सर्ग, पृ० ७४

× × ×

नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद आपूरिता।
लीला-लोल कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोदबादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी मुमुखी विशाल-नयना आनन्द आन्दोलिता।

—जतुर्थ सर्ग, पद ५१

इस तरह १२ से १९ अक्षरों तक की संख्या के छन्दों में ही भाव-विस्तार किया गया है, क्योंकि वंशस्थ और द्रुतविलम्बित में १२, वसन्तमालिका मे १४, मालिनी में १५, मन्दाक्रान्ता और शिखरिणी मे १७ और शार्दूल-विक्रीड़ित में १९ अक्षर होते हैं।

प्रियप्रवास में भावानुकूल छन्दो का प्रयोग किया गया है। व्यथित उद्गारों के लिए मन्दाक्रान्ता छन्द का तथा वर्णनात्मक प्रसंगों मे प्रायः द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग किया गयाहै—

मन्दाक्रान्ता—

हा ! हा! ऑखो मम-दुख-दशा देख ली औ न सोची,
बातें मेरी कमलिनिपने कान को भी न तूने।
जो देवेगा अवनिनल को नित्य का सा उजाला,
तेरा होना उदय व्रज मे भी अंधेरा करेगा॥

चतुर्थ सर्ग, पद ५१

× × × ×

द्रुत विलम्बित—

समय था मुनसान निशीथ का।
अटल भूत मे तम-राज्य था।
प्रलय - काल समान प्रसुप्त ही।
प्रकृति निश्चल, नीरव, शांत थी।

—तृतीय सर्ग, पद १

वैदेही वनवास में इसी कवि ने अतुकान्त वर्णिक वृत्तों को छोड़कर तुकान्त मात्रिक छन्दों को अपनाया है और प्रियप्रवास की अपेक्षा अधिक छन्दो को प्रयुक्त किया है, जिसकी संख्या दस है। ये छन्द हैं—रोला, दोहा चतुष्पद, तिलोकी, ताटक, चौपदे, पादाकुलक, सखी, मत्तसमन, घनाक्षरी। कहीं-कहीं यति-भंग के उदाहरण मिलते हैं—

(१) दृश्य बड़ा रम्य था महा मंजु दिखाता।

प्रथम सर्ग, पृ० १३

(२) उनमें से कुछ धूल में पड़े है दिखलाते।

—वही, पद ३७

(३) प्रायशः लोक का असंतोष।

तृतीय—सर्ग, पद ३

इसी तरह छन्द की शुद्धता के लिए शब्द भी तोड़े-मरोड़े गये हैं, यथा लंका के लिए लंक ओर वातावरण के लिए वात-आवरण।

साकेत



गुप्तजी ने मुक्त छन्द छोड़कर अपनी कृतियों में प्रायः सभी वर्णिक और मात्रिक छन्दों का प्रयोग किया है, पर बहुलता मात्रिक छन्दों की है। साकेत में नये-पुराने अनेक छन्दों का व्यवहार किया गया है। बंगला के पयार छन्द का इन्होंने सफलता से प्रयोग किया है। 'सरस' और 'चन्द्र' छन्दों को परिवर्त्तित कर भावानुकुल एक नया छन्द इन्होंने गढ़ लिया है—

सूत, रथ की गति करे कुछ मंद,
अश्व अपने से चलें स्वच्छन्द,
अनुज देखो आ गया साकेत,
दीखते हैं उच्च राज निकेत।

सप्तम सर्ग, पृ० १२६

यहाँ शंका, दुख और उदास वातावरण के लिए यह कितना उपयुक्त छन्द है !

प्रथम सर्ग में पीयूष वर्ष, चौपाई तथा रूपमाला, द्वितीय सर्ग में श्रृंगार छन्द और हाकलि; तृतीय सर्ग में सुमेरु, सरसी और राम; चतुर्थ सर्ग में मानव, हाकलि सार और तोमर; पंचम में त्रिलोकी, घनाक्षरी और दोहा; षष्ठ सर्ग में पद पादाकुलक, गीतिका और मधुमालती; सप्तम में चन्द्र और सरस छन्द का परिवर्त्तित नया छन्द, घनाक्षरी और समानिकावृत; अष्टम में राधिका, वीर और अनुष्टुप वृत्त; एकादश में वीर, ताटंक, मनहरण एवं दोहा तथा द्वादश में रोला, उल्लाला छन्द और उपजाति वृत्त अपनाए गए हैं।

नवम सर्ग के छन्दों की चर्चा ऊपर इसलिए नहीं की है कि यह एक सर्ग ऐसा है, जिसमें ५१ छन्द प्रयुक्त हुए हैं। उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त निम्न-लिखित छन्द इस सर्ग में प्रयुक्त हुए हैं—

मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, आर्या, उपेन्द्रवज्रा, शालिनी, भुजंग प्रयात हरिगीतिका, शिखरिणी, पृथ्वी, रास, इन्द्रवज्रा, हरिणी, परिवर्द्धित, सोरठा दुर्मिल सवैया, वसन्तमालिका, विजया, उपमान, समान सवैया, समुद्रिका और मालती मिश्रण, भुजंगी, उपचित्रा कुण्डलियाँ, चण्डालिनी, नित, शोकहर, दिग्पाल, तोमर, सुन्दरी सवैया, पद्धरि, शृंगार और गोपी का मिश्रण, शोमन प्रनिप्रमि मिश्रण प्रतिक्षशोमन प्रमिताक्षरा, उपजाति और इन्दिरा।

साकेत में भावानुकूल छन्दों की योजना पर ध्यान रखा गया है। वर्णन-प्रधान प्रसंगों मे दीर्घ छन्दों का प्रयोग किया गया है। यथा, एकादश सर्ग की विवरणात्मकता को ३० मात्राओं के छन्द में व्यक्त किया गया है —

सहसा शब्द हुआ कुछ बाहर, किन्तु न टूटा उसका ध्यान।
कब आ पहुँची वहाँ माण्डवी हुआ न उसको इसका ज्ञान।

—पृ० २६९

इसी तरह द्वादश सर्ग की इतिवृत्तात्मकता के लिए २४ मात्राओं का रोला छन्द व्यवहृत है—

डाल लेखनी, सफल अन्त में मसि भी तेरी,
तनिक और हो जाय असित यह निशा अँधेरी।

—पृ० २९४

पर जहाँ चित्रण पर ध्यान दिया है, वहाँ छन्द अपेक्षाकृत छोटा है, यथा, प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में २१ मात्राओं का त्रिलोकी छन्द—

कहीं खड़े थे खेत, कहीं प्रान्तर बड़े।
शून्य सिन्धु के दीप, गांव छोटे बड़े।

—पंचम सर्ग, १०५

मनोभावों से पूर्ण चित्रण में तो सिर्फ १६ मात्राओं के छन्द का प्रयोग किया गया है—

बोले नृप-राम नहीं लौटे ?
गूँजा सब धाम—नहीं लौटे।

नृप ने सशंक जो कुछ पूछा,
बस उत्तर हुआ वही छूछा ।

—षष्ठ सर्ग, पृ० १२१

संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाव को व्यंजित करने के लिए कितनी सफलता से १९ मात्राओं (१२+७) का बरवै छन्द प्रयुक्त किया गया है—

अवधि शिला का उर पर था गुरुभार,
तिलतिल काट रही थी दृग-जलधार ।

नवम सर्ग,पृ० २४८

उर्मिला के विरह-वर्णन के लिए दसम सर्ग में वियोगिती छन्द का प्रयोग अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ है—

अब भी वह वाटिका वहाँ,
पर बैठी थी उर्मिला यहाँ ।

करुणाकृति माँ विसूरती,
गिरिजा भी वन मूर्त्ति घूरती ।

—पृ० २५३

कामायनी



कामायनी में शास्त्रीय, मिश्रित और नवीन तीनों ही प्रकार के छन्दों के उदाहरण मिलते हैं । सर्वाधिक प्रयोग बीस मात्राओं के ताटंक छन्द का हुआ है । इसी में एक मात्रा जोड़कर एकतीस मात्राओं के वीर छन्द का प्रयोग भी किया गया है । चिन्ता में वीर छन्द का तथा आशा, स्वप्न और निर्वेद सर्गों में ताटंक का प्रयोग किया गया है । श्रद्धा में सोलह मात्राओं की एक पंक्ति-वाला शृंगार छन्द प्रयुक्त हुआ है । इसी तरह काम और लज्जा में पादाकुलक, वासना में रूपमाला, संघर्ष में रोला और कर्म में सार छन्दों का प्रयोग है ।

प्रसाद ने कर्म सर्ग में सार छन्द के प्रयोग में अन्त में गुरु के निर्वाह में स्वच्छन्दता बरती है—एक से लेकर तीन गुरु तक की योजना की है । ईर्ष्या और दर्शन सर्गों में मिश्रित छन्द के उदाहरण मिलते हैं, जहाँ १६-१६ मात्राओं के पादाकुलक और पद्धरि छन्दों का मिश्रण कर दिया गया है, जिसमें प्रथम और अन्तिम दो-दो पंक्तियाँ पद्धरि की और बीच की चार पदपादाकुलक की है । आनन्द को आनन्द छंद में लिखा गया है, जिसमें चौदह-चौदह मात्राएँ

होती हैं। आंसू का यह लोकप्रिय छन्द यहाँ भी पूर्ण निखार पर है। रहस्य में ताटंक छन्द का ही परिवर्त्तित रूप मिलता है! इड़ा सर्ग में गीतों की योजना की गई है, जिसकी टेक में १६-१६ और अन्तरा में २२-२० मात्राएँ हैं। पाँचवीं-छठी पंक्तियाँ मत्त सवैया के समान हैं, जिनके अन्त में लघु गुरु हैं तथा अन्तिम पंक्तियों में गुरु लघु क्रम है। तुक की दृष्टि से प्रथम, द्वितीय, तृतीय, अष्टम और नवम मिलते हैं, पर चतुर्थ और पंचम का दूसरा और षष्ठ तथा सप्तम का तीसरा तुक है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित गीत देखा जा सकता है—

वह प्रेम न रह जाये पुनीत।
अपने स्वार्थों से आवृत्त हो मंगल-रहस्य सकुचे सभीत,
सारी संसृति हो विरहभरी, गाते ही बीते करुण गीत,
आकांक्षा जलनिधि की सीमा हो क्षितिज निराशा सदा रक्त,
तुम राग-विराग करो सबसे अपने को कर शतशः विभक्त,
मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध दोनों मे हो सद्भाव नहीं,
वह चलने को जब कहे कहीं तब हृदय विकल चल जाय कहीं,
रोकर बोलें सब वर्त्तमान क्षण, सुन्दर सपना हो अतीत,,
पेंगों मे झूले हार-जीत।

यह गीत-योजना प्रसाद की अपनी विशेषता की परिचायिका है।

इसीतरह रहस्य सर्ग में जो ताटंक का परिवर्त्तित रूप अन्त में एक गुरु जोड़कर—सामने आता है, वह भी प्रसाद की देन है—

महाज्योति -रेखा सी बनकर,
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें,
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा,
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

—रहस्य, पृ० २७३

निर्वेद सर्ग में श्रद्धा के गीत की चौदह मात्रा वाली छन्द-योजना इड़ा के गीतों से भिन्न है—

तुमुल कोलाहल कलह में,
मैं हृदय की बात रे मन।

विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल,
चेतना थक - सो रही तब,
मैं मलय की बात रे मन ।

—पृ० २१६

प्रसाद ने पर्याप्त मौलिकता और गम्भीर श्रुति-चेतना का परिचय दिया है ।

कृष्णायन में जायसी का अनुसरण करते हुए दोहा, सोरठा ओर चौपाई—केवल इन छन्दों का प्रयोग किया गया है । अंगराज में वंशस्थ, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, काव्य, षटपदी, सुमन्द्र, प्रज्जवलित, वीर, सुन्दरी, कवित्त, सवैया, नागराज, ताटंक, दोहा, चौपाई आदि विविध छन्दो का प्रयोग किया गया है, पर छन्दों में इतने प्रकार किसी रस-सिद्धि या प्रसंग -सौष्ठब के लिये नही प्रदर्शन के लिए ही अधिकांशतः आए हैं । नूरजहाँ में चार प्रकार के छन्दों के प्रयोग हुए हैं—समान सवैया, पद्धरि; चन्द्रायण और सार, जिनमें क्रमशः ३२, १५, २१ और २३ मात्रायें होती है । सिद्धार्थ में प्रियप्रवास के अनुकरण पर द्रुतविलम्बित, शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्तमलिका, भुजंगप्रयात, शिखरिणी आदि छन्दों के प्रयोग हुए हैं । विक्रमादित्य में तीन छन्द अपनाए गए हैं—वीर, पद्धरि और गीत । पार्वती काव्य छन्द की दृष्टि से एक रस है—सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है, सर्गान्त में भी छन्द नहीं बदला है । एकलव्य की रचना अमित्राक्षर छन्द में हुई है, जो महाकाव्य की उदात्त शैली के सर्वथा अनुकूल है । यों इसमें गीत शैली का प्रयोग भी माँ की ममता के चित्रण में हुआ है, मानो रोना-गाना साथ मिला दिया गया हो । कवित्तों का उपयोग वीर रसानुकूल होता है, अतः कुरुक्षेत्र में उसका अत्यन्त ओजस्वी प्रयोग किया गया है । अमित्राक्षर छन्द में ही अर्यावर्त्त की भी रचना हुई है । माइकेल मधुसूदनदत्त के मेघनाद में प्रयुक्त यह छन्द हिन्दी में अपनी प्रकृति के साथ बड़ी सफलता से निभा है ।

निष्कर्ष—तात्पर्य यह कि आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में छन्दों के प्राचीन नियमों का पालन रूढ़ रूप में नहीं किया गया । भावानुकूल विविध छन्दों का प्रयोग हुआ । कहीं सारे महाकाव्य में एक छद, कही संर्गान्त में छंद परिवर्त्तन, कहीं एक सर्ग में बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस छद, कहीं तुकान्द छंद, कहीं अतुकान्त छंद, कही मात्रिक, कहीं वर्णिक छंद, कही संस्कृत से, कहीं बंगला

और उर्दू से प्रभावित छंद प्रयुक्त हुए हैं। मानों, छंदों के बन्धन को तोड़कर चलने वाली कविता धारा महाकाव्य की प्राचीन सीमा में न बंधकर उसके कूल-किनारे को ही विस्तृत कर गयी। फिर भी प्राचीन छंदों का बहुत अधिक आकर्षण इन नवीन कवियों में दीखता है। उन्हें नये रूपों में प्रयुक्त करने की क्षमता विरले कवियों में ही दीखती हैं। इतनी बात महत्त्वपूर्ण है कि छंदों की अधिक से अधिक भावानुकूल और खड़ी बोली की उपयुक्त शब्दावलियों में ढालने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

दशम प्रकरण

काव्य के अन्य तत्त्व और महाकाव्य

काव्य के अन्य तत्त्व और महाकाव्य

काव्य की अनेक शैलियों और स्वरूप-विधान की दृष्टियों से उनकी विभिन्नताओं को व्यंजित करने के लिए श्रेणी-विभाजन की आवश्यकता पड़ गयी। काव्य के विभाजन के तीन आधार माने गये—शैली, बन्ध और अर्थ।

शैली की दृष्टि से तीन भेद माने गए—गद्य, पद्य और मिश्रित। पिंगलशास्त्र से सम्बद्ध शैली को पद्य और इससे भिन्न केवल व्याकरण के नियमों से अनुशासित शैली को गद्य माना गया।। मिश्रित शैली कोचम्पू कहते हैं जिसमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों के उपयोग किए जाते हैं। वस्तुत: यह विभाजन संस्कृत के आचार्यों द्वारा किया गया है, जिनके सामने गद्य और पद्य दोनों की शैलियों में वर्ण्य विषयों का भेद नही था। पर अब तो कवितायें ही पद्य में लिखी जाती हैं। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि गद्य में लिखे जाते हैं। हिन्दी में प्रसाद की उर्वशी, चम्पू काव्य का उदाहरण है। गुप्त की यशोधरा कुछ-कुछ चम्पू की ही शैली की रचना है।

अर्थ की दृष्टि से काव्य के तीन भेद माने गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। कोशार्थ या मुख्यार्थ की अपेक्षा जिसमें व्यंग्यार्थ या ध्वनि की प्रधानता होती है वह उत्तम कोटि का काव्य होता है, जिसमें ध्वनि या व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ के सामान या कम महत्त्वपूर्ण होता है, वह मध्यम कोटि का अलंकार काव्य या अधम काव्य होता है।

इसी तरह बन्ध की दृष्टि से दो प्रकार की रचनायें मानी गयी हैं—प्रबन्ध या सानुबन्ध तथा निर्बन्ध या मुक्तक। प्रबन्ध रचना में क्रमबद्ध कथा होती है पर निर्बन्ध मुक्तक में कथा का आग्रह आवश्यक नहीं, उसमें स्वतन्त्र रीति से पद्य के द्वारा रस या भाव का अनुभव कराने की क्षमता होती है।

प्रबन्ध काव्य के भेद—प्रबन्ध काव्य के भी तीन भेद होते हैं—महाकाव्य, खण्ड काव्य और एकार्थक काव्य। महाकाव्य में जीवन वृत्त की पूर्णता होती है, खण्ड काव्य में जीवन का खण्ड-चित्र होता है। साहित्य-दर्पण

के अनुसार एकार्थक काव्य महाकाव्य और खण्ड काव्य के बीच की ऐसी रचना मानी गयी है, जिसमे सभी नाट्य संधियो का निर्वाह आवश्यक नहीं होता— 'भाषा विभाषा नियमात् काव्यं सर्गसमुत्थितम्। एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ।'

महाकाव्य और खंड काव्य—महाकाव्य और खंड काव्य में आकार का ही नहीं गुणों का भी अन्तर होता है। महाकाव्य का कथा-विस्तार खंड काव्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। दोनो मे सर्गों का विभाजन होता है, पर जीवन के सम्पूर्ण चित्र के कारण महाकाव्य में जीवन के खंड-चित्र वाले खण्ड काव्य की अपेक्षा अधिक सर्ग होते हैं। खण्ड काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर ही रचा जाता है। अत: उसमे खण्ड-चित्र होते हुए भी एक ऐसी व्यवस्था होती है, जिससे वह लघु होकर भी पूर्ण प्रतीत होता है महाकाव्य में प्रासंगिक कथाओं का संयोग अधिक व्यापकता से होता है, महाकाव्य की शास्त्रीयता खंडकाव्य में अपेक्षाकृत सीमित होती है। खंडकाव्य का महदुद्देश्य महाकाव्य की भाँति व्यापक नही होता। इसमें समाज के विशेष पक्ष का ही चित्रण होता है।

इसका यह अर्थ नही कि महाकाव्य का लघु रूप ही खण्ड काव्य है, दोनों का पृथक् स्वरूप-विधान है। लघुता का अर्थ खण्डकाव्य की हीनता भी नही हैं, क्योकि जहाँ महाकाव्य में विस्तार होता है वहाँ खण्डकाव्य में गहराई की अपेक्षा रहती है। छोटे खण्ड चित्र में अधिक सूक्ष्मता होती है, अणुवीक्षणात्मक अध्ययन होता है। महाकाव्य की रचना के लिए महान् चेतना और उदात्त घटना प्रेरक होती हैं, पर कल्पना के हल्के रंग और लघु अंश को चमत्कृत रूप से वर्णित करने का आग्रह खण्ड काव्य में होता है। महाकाव्य के लिए विषय की जैसी विशालता आवश्यक है, वैसी खण्ड काव्य में नहीं, अत: जीवन की अनेकरूपता के अभाव में कल्पना और भाव-वैविध्य के लिए उतना अवकाश नहीं होता।

साहित्य दर्पणकार ने इतना ही लिखा—

खण्ड काव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च ।

—परिच्छेद ६, ३२९

उनके अनुसार महाकाव्य के एक देश अर्थात् अंश का अनुसरण खण्ड काव्य होता है, पर खण्डकाव्यों की रचनाओ के बाद उसकी अन्य विशेषताएँ

स्पष्ट होती गयीं। आधुनिक काल में हिन्दी में महाकाव्य की अपेक्षा खंडकाव्य ही अधिक लिखे गये हैं। महाकाव्य की अपेक्षा खंडकाव्य में रसों की सख्या भी कम होती है। एक रस की प्रमुखता होती है, अन्य रस भी लाये जा सकते हैं। नैसर्गिक प्रकृति और मानवीय प्रकृति के कुछ रूपों का भी चित्रण होता है। छंदवैविध्मा भी प्राय: कम ही होता है, कथा की जटिलना भी महाकाव्य-सी नही होती—सीधो-सादी एक कथा का प्रवाहपूर्ण वर्णन होता है। खण्ड काव्यो के छोटे दायरे में भी सोद्देश्यता देखी जाती है। प्राय: चारित्रिक आदर्शों की स्थापना की जाती है। महाकाव्यो में जैसे गीतो की योजना होती है, वैसे ही खंडकाव्यों में गीतों की योजना की जाने लगी है!

आख्यानक गीति, खण्ड काव्य और महाकाव्य—आख्यानक गीति महाकाव्य के नहीं, खण्ड काव्य के अधिक निकट होती हैं। पर खंडकाव्य की तरह आख्यानक गीतियों में वर्णनात्मकता और मनोवैज्ञानिकता नही होती हैं। उसमें पद्य-बद्ध कथा मात्र होती है, जिसमें वीरता, प्रेम आदि का प्रवाहपूर्ण शैली में चित्रण रहता है। आख्यानक गीतियो के शिल्प के साथ खण्ड काव्य और महाकाव्य के शिल्प की तुलना करते हुए हम इस बात को भी नही भूल पाते कि खंडकाव्य और महाकाव्य का प्रत्येक सर्ग एक नये वातावरण, एक नयी पृष्ठभूमि में प्रारम्भ किया जाता है, पर आख्यानक गीतियों में इसका अवकाश ही नहीं रहता। एक स्थान पर प्रारम्भ मे अत्यन्त संक्षेप में वातावरण उपस्थित किया जा सकता है।

गीति-काव्य और महाकाव्य—प्रबन्ध काव्य और मुक्तक में यह अन्तर है कि मुक्तक मे पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं होती। एक भाव या रस की व्यंजना ही उसका उद्देश्य होता है, वह पात्र, घटना या परिस्थिति के क्रोड़ में चित्रित हुआ है या नहीं, प्रबन्ध की तरह यह नहीं देखा जाता। अभिनव गुप्त ने 'पूर्वापर निरपेक्षायति येन रस चर्वणाक्रियते तन्मुक्तम्' तथा अग्नि पुराणकार ने 'मुक्तक श्लोक वैकश्चमत्कारक्षम: सताम्' लिखकर इस तथ्य की ओर सकेत किया है कि मुक्तक में स्वयं रसोद्रेक करने की क्षमता और पूर्वापर संबंध न रहते हुये भी रसाभिव्यक्ति की शक्ति होती है। इसमें न महाकाव्य की भांति जीवन का पूर्ण चित्रण होता है, न खंड काव्य की भांति खंड-चित्र का, होता है जीवन की एक भाव-तरंग, क्षण विशेष की घनीभूत अनुभूति का चित्रण। इसमें महाकाव्य की रस-धार नही, रस की बूंदें होती है।

गीति काव्य में भावानुभूति का विशुद्ध रूप प्रकट होता है, महाकाव्य की भांति कथा, चरित्र आदि विजातीय द्रव्यों का समावेश नहीं होता। जितनी वैयक्तिकता (सब्जेक्टिविटी) गीतिकाव्य में होती है, उतनी महाकाव्य में संभव नही। पाश्चात्य दृष्टि से काव्य के जो दो भेद विषयीगत (सब्जेक्टीव) और विषयगत (ऑवजेक्टिव), माने गये हैं, उनमे गीतिकाव्य विषयगीत काव्य के अन्तर्गत एवं महाकाव्य विषयगत काव्य के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु ये मनोवैज्ञानिक विभाजन पूर्णतः शुद्ध नही कहे जा सकते। गीति काव्यों में भी विषयगत चित्र और महाकाव्यों में भी विषयीगत भाव होते हैं। आजकल तो महाकाव्यों के भीतर गीतों की योजना शिल्प-विधि की एक विशेषता मानी जाती है। कामायनी, साकेत, एकलव्य आदि महाकाव्य इसके उदाहरण हैं।

एक स्थान पर मनोवेग की जैसी प्रबलता गीतिकाव्य में होती है, वैसी महाकाव्य में नहीं। महाकाव्य में यह मनोवेग विस्तृत घेरे में रहता है, संकीर्ण होकर घनीभूत नही। महाकाव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य अधिक प्राचीन है। ग्राम्य-गीतों के बहुत बाद महाकाव्य का प्रारंभ हुआ। गीतिकाव्य में संगीतात्मकता की प्रधानता होती है, महाकाव्य में वर्णनात्मकता की। आज प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा गीतिकाव्यों की रचना अधिक हो रही है।

महाकाव्य में जहाँ सानुन्ध कथा, वस्तु वर्णन, भावव्यंजना और सम्वाद होते हैं, वहाँ गीतिकाव्य में भावावेशमयी अवस्था, संगीतात्मकता, संक्षिप्तता, आत्म-निष्ठता और चित्रात्मकता होती है। महाकाव्य जहाँ उपन्यास के निकट है, आख्यायिका वहाँ गीतिकाव्य के। आख्यायिका और गीतिकाव्य दोनों व्यक्तित्व प्रधान रचनायें होती हैं और जिस प्रकार गीत काव्य में 'प्रधान भाव को उच्छ्वासित करना पड़ता है, उसी प्रकार आख्यायिकाओं में भी एक ही प्रधान लक्ष्य की पूर्त्ति करनी पड़ती है।'[1]

नाटक और महाकाव्य—संस्कृत साहित्य के अनुसार काव्य का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है, इसीलिये उसके अन्तर्गत सारा रसात्मक साहित्य आ जाता है। प्रेषणीयता के आधार पर इसके दो भेद किये गए हैं—दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्य। दृश्य काव्य के दो भेद माने गये हैं—रूपक और उपरूपक। इस रूपक के दस भेदों में सर्व प्रमुख भेद नाटक है। स्थूल रूप से नाटक और महाकाव्य दोनों ही काव्य के भेद हुए, पर स्वरूप-विधान की दृष्टि से दोनों में बहुत अधिक अन्तर है। हाँ, दोनों में कुछ समानतायें अवश्य पाई जाती हैं।

१. साहित्यालोचन, डा० दास, पृ० १८४।

महाकाव्य में नाटकों के कई तत्त्व समान रूप से पाये जाते हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, संवाद, रस आदि। नाटकों के जो प्रमुख तथ्य महाकाव्य में आते हैं, वे हैं सम्वाद और नाटकीय प्रसंग-योजना। इन दोनों ही तत्त्व का उपयोग महाकाव्यों में खुलकर किया गया है। आधुनिक युग के महाकाव्यों में नाटकीय प्रसंगों की उद्भावना पहले से अधिक की जाती है। एकलव्य इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। नाटक की पंच संधियों का निर्वाह महाकाव्य में आवश्यक माना गया है। इसके कारण प्रबन्ध में सुव्यवस्था भी आ जाती है।

दृश्य काव्य होने के कारण नाटकों में वेश-भूषा, हावभाव, मुद्रा-संकेत, वाणी के उतार चढ़ाव आदि पर ध्यान देना पड़ता है, जिनके कुछ संकेत कोष्ठक में दिये जाते हैं और कुछ परिस्थिति के अनुसार निर्देशक के निर्देशन से सम्पन्न होते हैं। पर महाकाव्य में ये सारे प्रसंग शब्दों के द्वारा प्रकट करने पड़ते हैं। नाटक में जो काम पात्र अपनी वैयक्तिक योग्यता से सम्पन्न करते हैं (उनमें नाटककार की योग्यता बहुत कम होती है) वहाँ महाकाव्य मे वह काम भी स्वयं कवि को करना पड़ता है। इसी तरह नाटक में जो काम पात्रों के चुनाव और चित्रकार के रूप-रंग-प्रदान (पटिंग) से सम्पन्न होता है, वह काम भी कवि को स्वयं करना पड़ता है। द्रोण के इस चित्र को लें—

> श्वेत जटा, विस्तृत ललाट, कसी भौंहें हैं,
> नेत्र हैं विशाल, रक्त वर्ण, उठी नासिका।
> श्वेत श्मश्रु बीच ओंठ, जैसे शुभ्र अभ्रों की,
> ओठ संध्याकाल-मध्य दुर्ग का कलश है।
>
> —एकलव्य, पृ० १२

अब यदि यही स्वरूप किसी नाटक में उतारना हो तो उठी नासिका, विशालनेत्र और बिशाल ललाटवाले पात्र, उजले-काले क्रेप हेयर और किसी चित्रकार या साज-सज्जा वाले व्यक्ति की आवश्यकता होगी। नाटककार यह सकेत कोष्टक में दे सकता है। पर जो काम नाटककार के लिये आवश्यक नहीं, कवि के लिये आवश्यक है। वह काम है रंगमंच पर सशरीर पात्र की उपस्थिति के कारण उत्पन्न प्रभाव को केवल शब्दों में बांधना। इसलिए ऊपर की पक्तियों में 'जैसे शुभ्र अभ्रो की ओट संध्या काल मध्य दुर्ग का कलश है, लिखना पड़ा। नाटककार को इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिये

नाटककार के प्रसाधन-पदार्थों और पात्रों की जगह कवि को शब्द-शिल्प का आश्रय लेना पड़ता है।

नाटककार की अपेक्षा महाकवि को एक लाभ भी होता है वह उन दृश्यों को बड़ी सुविधा और शीघ्रता से उपस्थित कर देता है, जिनके लिये नाटककार के दृश्य-संकेत पर चलने वाले निर्देशक को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है, या उस दृदय को नाटककार या निर्देशक को छाँट देना पड़ सकता है। उदाहरणार्थ कुरुक्षेत्र में भीष्म पितामह के इस दृश्य को लें—

शरों की नोंक पर लेटे हुए गजराज-जैसे,
थके, टूटे गरुड़-से त्रस्त पन्नगराज जैसे,
मरण पर वीर-जीवन का अगम बलभार डाले,
दबाये काल को, सायास संज्ञा को संभाले।

चतुर्थ सर्ग, पृ० ४७

शरों की नोंक पर थके-हारे, पर वीरता से दीप्त व्यक्ति को रंगमंच पर उपस्थित करने में तो कठिनाई होगी सो अलग, पर गजराज जैसे लेटे, गरुड़-से टूटे, पन्नगराज से त्रस्त, मरण पर जीवन का अगम बल भार डाले और सायास संज्ञा को संभाले पात्र को आधुनिक रंगमंच के विकसित शिल्प के द्वारा उपस्थित करने पर भी वैसा प्रभाव नहीं पड़ सकता, जैसा इन पंक्तियो से पड़ता है। हाँ, शरों की नोंक पर लेटे व्यक्ति को देखकर करिश्मा चाहे जितना मालूम पड़े! इसी तरह युद्ध-वर्णन, सूर्योदय-सूर्यास्त, नदी, पर्वत आदि रंगमंच के विकास के इस युग में भी महाकाव्य जैसे प्रभावोत्पादक रीति से प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। मात्रा का बहुत अधिक अन्तर हो जायगा। भला इस दृश्य को ज्यों का त्यों कौन नाटककार या निर्देशक उपस्थित कर सकता है—

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर,
बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

—कामयानी का प्रथम पद

भींगे नयनों से चाहे जिस अभिनेता को नाटककार या निर्देशक उपस्थित कर दे, पर न वह हिमगिरि का उत्तुंग शिखर दिखला सकता है और न प्रलय-

प्रवाह। पृष्ठभूमि में पर्दे पर जो दृश्य दिखाये जायेंगे, उनका वैसा प्रभाव नहीं पड़ सकता, जैसा इन पंक्तियों के पढ़ने से। इस अन्तर का एक कारण मनोवैज्ञानिक भी है। नाटक का दर्शक जो आशा लगाकर जाता है रंगमंच पर दृश्य देखने, महाकाव्य का पाठक या श्रोता दृश्य के सम्बन्ध में वैसी आशा नहीं रखता।

तात्पर्य यह है कि नाटक के दर्शक की अपेक्षा महाकाव्य के पाठकों को अधिक भाव-प्रवण और चेतन-सम्पन्न होने की आवश्यकता है। आँखों के उपयोग की अपेक्षा कल्पना का उपयोग अधिक कठिन होता है, क्योंकि नाटक के दृश्य आंखों के सामने प्रत्यक्ष होते है, पर महाकाव्य के दृश्यों के प्रत्यक्षीकरण के लिए कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। नाटक का रगमच धरती पर होता है, महाकाव्य का रगमंच सर्गों के भीतर तुनुक कागज के पन्नों पर। अतः महाकाव्यों में जो सूच्य होता है, अभिनय में उसे प्रत्यक्ष करना पड़ता है।

महाकाव्य में कवि बीच-बीच में वर्णनों एवं चरित्रों की टीका-टिप्पणियाँ भी करता है, पर नाटककार बेचारा अपने नाटकों में नहीं आ पाता। उसे तो अपने विचारों के लिए कभी-कभी अपने पात्रों के मुख में ही अपनी जीभ डालनी पड़ती है।

आज तो महाकाव्यों में सर्गों का प्रारम्भ और अन्त नाटकीय-कौशल के द्वारा हो रहा है पर शिल्प-विधान की दृष्टि से नाटकों से अधिक एकांकियों की रचना की जा रही है।

उपन्यास और महाकाव्य—उपन्यास और महाकाव्य दोनों ही श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत परिगणित होते हैं, पर दोनों के कुछ तत्वों में समानता होते हुए भी वहुत अधिक अन्तर है। हालाँकि आजकल उपन्यासो के महदनुष्ठान को देखते हुए उसे भी महाकाव्य कहने का रिवाज विदेशी अनुकरण पर हिन्दी में चल पडा है और प्रेमचन्द के गोदान को उपन्यास न कहकर उनका महाकाव्य (एपिक) माना जाता है।

उपन्यास और महाकाव्य दोनों में जीवन का विस्तृत और सर्वाङ्गीण चित्रण होता है। दोनों में पात्र, कथानक, कथनोपकथन, शैली और उद्देश्य, ये तत्व समान रूप से पाये जाते हैं। रसों की स्थिति भी उपन्यासों में होती है, पर उनके प्रकाशन के शिल्प में अन्तर होता है। नाटकों में रङ्ग-मच की सीमाओं का ध्यान रखने के कारण दृश्य वर्णन का जो सकोच होता है, वह न उपन्यास में होता है और न महाकाव्य में। महाकवि की भांति उपन्यासकार

को भी पात्रों की आलोचना और स्वयं पात्रों के बीच उपस्थित हो विश्लेषण करने का अधिकार होता है ।

उपन्यास में मानव-चरित्रों का विश्लेषण किया जाता है, उसमें चरित्रों के शील-निरूपण पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना महाकाव्यों मे । यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के कथानक अधिकांश रूप से महाभारत, रामायण और इतिहास पर आश्रित हैं, जबकि नब्बे प्रतिशत से अधिक आधुनिक उपन्यास बीसवीं शताब्दी के सामाजिक वातावरण से सम्बद्ध है । इस दृष्टि से उपन्यास की नवीनता बढ़ी हुई है ।

उपन्यास और महाकाव्य दोनों में मानव-जीवन की समस्याओं, आहार-विहार, रीति-रिवाज आदि के चित्रण भी होते हैं, लेकिन आधुनिक काल में उपन्यासों में प्राय: जीवन के यथार्थ रूपों के और महाकाव्यों में आदर्श रूपों के चित्रण होते हैं । उपन्यास में जीवन की घटनाओं का अनुकरण और महाकाव्य में प्राय: उसका उदात्तीकरण होता है ।

महाकाव्य के प्राचीन शास्त्रीय नियमों के अनुसार तो केवल महान चरित्र ही महाकाव्यों के नायक हो सकते हैं, जबकि उपन्यासों के नायकों के लिये कभी कोई सीमा नहीं रही, लेकिन आज तो नायकों के सम्बन्ध का यह नियम उपन्यासों की भाँति महाकाव्यों में भी लागू हो गया है । यहाँ भी एक बात ध्यान देने की है कि साधारण और उपेक्षित नायक भी जहाँ महाकाव्यो में प्राचीन इतिहास, पुराणों आदि से लिये गये, वहा उपन्यासों में समसामयिक उपेक्षित पात्रों को ही नायक बनाया गया । कर्ण, एकलव्य आदि नवीन महाकाव्यों के नायक भले ही हैं पुराने ही पात्र; पर होरी, सुनीता, रमानाथ, भुवन आदि प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय के समसामयिक पात्र हैं ।

उपन्यास के लिये आधुनिक युग की कथा जितनी अनुकूल है, उतनी महाकाव्य के लिए नहीं । महाकाव्य में कवि पाठकों के संस्कार पर जमी पुरानी कथा के तत्त्वों को नयी व्यंजना देता है । युद्ध की समस्यायों और वर्तमान वैज्ञानिक युग की कुत्सा के चित्रण के लिये भी दिनकर को महाभारत की शरण लेनी पड़ी । जाति-प्रथा के विरोध में स्वर उठाने के लिये भी उन्हें रश्मिरथी के लिय महाभारत के पन्नों पर ही रुकना पड़ा ।

उपन्यास की भाषा-शैली की अपेक्षा महाकाव्य की भाषा-शैली अधिक अलंकृत और गम्भीर होती है । उपन्यास में कुतूहलता और रोचकता पर तथा

महाकाव्य में रस-व्यंजना पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि उपन्यास में संदेश की योजना की जाय।

नैसर्गिक प्रकृति का जितना अधिक उपयोग महाकाव्य में होता है, उतना उपन्यास में नही। उपन्यास मे मानव-प्रवृति के बिश्लेषण का आधिक्य होता है। दृश्य-योजना उपन्यास और महाकाव्य दोनों में, पूर्व पोठिका, वातावरण, चरित्रों की प्रतिक्रिया आदि के सकेत के लिये की जाती है, पर महाकाव्य में अपेक्षाकृत इसकी अधिकता होती है।

देश-काल के चित्रण का जितना अवकाश नाटक में होता है, उतना महाकाव्य में नहीं। महाकाव्य में सर्वजनीन सत्यों और सनातन मानव समस्याओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। उपन्यास मे प्रधानतः कुतूहल वृत्ति की शान्ति होती है और महाकाव्य में भापवृत्ति की। एक में आगे बढ़ते चलने की प्रवृत्ति होती है कौर दूसरे में रुक-रुककर रस लेने की।

इस तरह उपन्यास और महाकाव्य में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी शिल्प-विधान की दृष्टि से तात्त्विक अन्तर है।

काव्य के कुछ अन्य प्रकार और महाकाव्य—आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य में नाटक काव्य और निबध-काव्य—दो रूप और मिलते हैं। नाटक काव्य (ड्रमेटिक पोयट्री) में कथनोपकथन और स्वगत भाषण का सहारा लिया जाता है, जबकि महाकाव्य में ये एक साधारण तत्त्व हैं! निबन्ध-काव्य या काव्य-निबन्ध कथात्मक दीर्घ रचना को कहते हैं। इसमें कथा के एक पहलू पर जोर होता है। इसमें महाकाव्य की प्रबन्धात्मकता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें कहानी की भाँति जीवन का एक दृश्य-खंड मात्र होता है—जैसे लाला भगवान दीन का वीर पंचरत्न और मैथिलीशरण का द्वापर।

निष्कर्ष—इस तरह शिल्प-विधान की दृष्टि से महाकाव्य के साथ प्रबन्ध काव्य, गीतिकाव्य, नाटक, उपन्यास, निबन्ध-काव्य, नाटक-काव्य आदि की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें पर्याप्त अन्तर होते हुए भी आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में प्रबन्धात्मकता, नाटकीयता, गीतात्मकता, औपन्यासिकता आदि के कई प्रमुख गुणों का समन्वय बड़ी कलाचातुरी से हुआ है। नितान्त भिन्नता हो भी कैसे? आखिर साहित्य के ये विभिन्न अंग अलग होते हुए भी एक ही जीवन और जगत की अभिव्यक्ति तो करते हैं!

एकादश प्रकरण

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का नामकरण

आधुनिकहिन्दी महाकाव्यों का नामकरण

नाम का अर्थ-स्वरूप—नाम का अर्थ है पहचान। नाम किसी व्यक्ति या वस्तु का परिचायक ही नही, अन्य वस्तुओ और व्यक्तियो से उसका विभाजक भी होता है। नाम-रूपात्मक जगत मे जड़ और चेतन सभी पदार्थों के नाम होते है क्योकि वे नाम ही उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। इस संसार में निन्नानवे प्रतिशत मानव के नाम उनके गुणों के आधार पर नही होते, क्योंकि जन्म के साथ ही नामकरण हो जाता है और उसके गुणों का पता उस समय नही चलता। दूसरा कारण यह है कि इतनी संख्या में मनुष्य जन्म लेता रहता है कि उसके गुणों के आधार पर नामकरण करना बहुत कठिन है। तीसरा कारण यह है कि सभी बच्चों के अभिभावक शब्दों और गुणों के पारखी नही होते कि वे उनके गुणों के अनुसार नाम चुन ले, पर ये बातें महाकाव्यों के रचयिता के साथ नहीं होतीं। महाकाव्यों के प्रणेता महाकवि ही हुआ करते हैं, जिनका शब्दों पर पूर्ण अधिकार होता है तथा जो महाकाव्य के लिखने के पूर्व उसकी कुछ-कुछ रूप-रेखा तैयार कर लेते हैं। उन्हे महाकाव्य लिख लेने के बाद भी नामकरण करने की छूट रहती है। इन सब कारणों से महाकाव्य के नाम सुचिन्तित रहते हैं और उनमें सार्थकता होती है।

प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में नामकरण का संकेत—साहित्य दर्पणकार ने नामकरण के सम्बन्ध में सिर्फ इतना सकेत दिया है कि "कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्यवा। नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्ग नाम तु॥" अर्थात् महाकाव्य का नामकरण कवि के नाम पर अथवा कथानक, नायक या अन्य पात्रों पर होना चाहिए, परन्तु प्रत्येक सर्ग का नाम उसके वर्ण्य विषय के आधार पर होना चाहिए। इस तरह मनुष्य के नाम पर या कथानक के आधार पर महाकाव्य के नामकरण का संकेत किया गया। यह 'कथानक' शब्द अपने आपमें बहुत व्यापक है, क्योंकि इसके अन्तर्गत घटना और घटना-स्थल भी आ जाते हैं। पात्र की संख्या अधिक होने के कारण इस दिशा में पूर्ण विस्तार की छूट है। आगे चलकर महाकाव्यों के नामाकरण का आधार भी

विस्तृत होता गया और कथा, पात्र, स्थान, वंश, घटना आदि के नाम पर महाकाव्य का नामकरण होने लगा।

महाकाव्यों के नामकरण के आधुनिक आधार



कथा दृष्टि से नामकरण—कथा के आधार पर नामकरण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि घटनाओं का मर्म क्या है ? कवि अपने उद्देश्य को भी इस माध्यम से अभिव्यक्त करता है। आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में प्रिय-प्रवास और वैदेही-वनवास हरिऔध के दोनों महाकाव्यो के नाम कथा-दृष्टि से रखे गये है।

प्रियप्रवास के नामकरण के सम्बन्ध में कवि ने स्वयं भूमिका मे जो निवेदन किया है,[1] उससे इतना ही ज्ञात होता है कि कविने 'व्रजांगना-विलाप' नाम रखने को सोचा था, पर कई कारणों से उसनेइसका नाम प्रियप्रवास रखा। इस परिवर्त्तन को औचित्यपूर्ण और सकारण तो बतलाया गया है, पर उनका उल्लेख नहीं किया गया है। उन्हे पाठकों की बुद्धि पर छोड़ दिया गया है।

'व्रजांगना विलाप' नाम होने से प्रियप्रवास नाम की व्यापकता नहीं आती। इसमे केवल व्रज की वनिताओं का बिलाप ही प्रधान हो जाता और कृष्ण के वियोग में उनकी आह-कराह के अतिरिक्त अन्य घटनाओं का समावेश नहीं हो पाता।

प्रियप्रवास नाम होने से कृष्ण और उनके चारित्रिक गुणों के वर्णन का अवकाश मिल गया है। साथ ही, कृष्ण की अलौकिक घटनाओं का जो लौकिक रूप प्रस्तुत किया गया है, वह विलाप के घेरे में पूर्णत: और स्वभाविक रूप से समाविष्ट नहीं होता। व्रजांगना-विलाप नाम रखने से गोपबालाओं के परस्पर सान्त्वना देने एवं धीरज बँधाने के कार्य को उपस्थित नहीं किया जा सकता था।

राधा के उदात्त चरित्र और लोक-सेवा की उसकी अनुपम भावना का चित्र भी प्रियप्रवास नाम की व्यापकता के कारण ही उपस्थित हो सका।

---

१. मैंने पहले इस ग्रन्थ का नाम व्रजांगना-विलाप रखा था, किन्तु कई कारण से मुझको यह नाम-परिवर्त्तन करना पड़ा। जो इस ग्रन्थ के समग्र पढ़ जाने पर आप लोगों को स्वयं अवगत होंगे।

—प्रियप्रवास, पृ० २

राधा प्रमुख ब्रजांगना है और जब कवि ने उसके जीवन से ही विलाप को गौण कर लोकोपकार प्रधान कर दिया, तब ब्रजांगना-विलाप की पूर्णसार्थकता कहाँ सिद्ध होती ! विलाप शब्द के कारण कृष्ण के निर्मम स्वरूप की ही झाँकी प्रस्तुत होती, पर यहाँ तो कवि ने कृष्ण को उदात्त लोक-प्रतिपालक एवं जन-सेवक के रूप में उपस्थित किया है।

ब्रजागना-विलाप नाम रखने से ब्रज के प्रकृति, पशु-पक्षी के जिस विदग्ध रूपका चित्रण प्रियप्रवास में हुआ है, वह प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो पाता। फिर, ब्रजांगना-विलाप नाम में भक्तिकालीन और रीतिकालीन कृष्ण-वियोग का आभास मिलता है।

इसके अतिरिक्त ब्रजांगना-विलाप में महाकाव्योचित गरिमा और विषय-व्यापकता नहीं दीख पड़ती, केवल गोपियों के रोने-विसूरने का आभास मिलता है, कृष्ण-चरित्र की झाँकी का नहीं। इस नाम के कारण प्रिय (कृष्ण) की प्रधानता न होकर प्रिया (गोपिकाएँ-राधा) की प्रधानता हो जाती है। हरिऔध के मन की श्रद्धा-भावना को प्रिय-प्रवास नाम रखने से ही तुष्टि मिल तकती थी।

प्रियप्रवास शब्द कवि की ही नहीं समस्त ब्रजवासियों की श्रद्धा और प्रेम का प्रतीक है और उसके प्रवास के आधार पर ही पुस्तक के प्रणयन की सार्थकता सिद्ध होती है, क्योंकि समस्त पुस्तक का प्रेरक तत्त्व कृष्ण का मथुरा-गमन ही है।

प्रियप्रवास शब्द में एक कौशल है, क्योंकि प्रियप्रवास नाम पढ़ने से यह ज्ञात नहीं होता कि किस प्रिय का प्रवास वर्णित है। इस तरह एक उत्सुकता पुस्तक पढ़ने के पहले बनी रहती है, पर ब्रजांगना-विलाप से हमारे संस्कार के कारण तत्काल आभासित हो जाता है कि परम्परा से वर्णित कृष्ण-वियोग ही होगा। अत: प्रियप्रवास से बढ़कर आकर्षक और वर्ण्य विषय का द्योतक दूसरा शब्द नहीं हो सकता था। ब्रजांगना-विलाप या अन्य किसी नाम की जगह प्रियप्रवास नाम सुन्दर और सार्थक है।

वैदेही वनवास—केवल प्रियप्रवास के तुक पर वैदेही वनवास नाम नहीं रखा गया; इस नाम की अपनी विशेष महत्ता है। वैदेही-बनवास की कथा वाल्मीकीय रामायण, रघुवंशम् और उत्तर रामचरित में मिलती है। आदर्शवादी तुलसी के मानस में इसके चित्रण का अवकाश नहीं था। हरिऔध कृष्ण चरित्र

के बाद रामचरित से सम्बद्ध एक कथा लिखने के उद्देश्य से वैदेही वनवास की कथा सामने लाये।

वैदेही-वनवास नाम में प्रियप्रवास की तरह औत्सुक्य रखने की क्षमता और सांकेतिकता नहीं है। वैदेही वनवास नाम पढ़ते ही जगज्जननी सीता के लंका-विजय के बाद लौटकर वन जाने की कथा साकार हो आती है। और जो कलात्मकता उत्तर-रामचरित नाम में है, वह यहाँ नहीं है।

चूँकि इस महाकाव्य का मूल विषय सीता के वनवास की कथा है, इसीलिए कवि ने इसका नाम वैदेही-वनवास रखा है। सीता वनवास भी नाम हो सकता था, पर वनवास के साथ वैदेही शब्द के योग से एक सुखद और अनायास अनुप्रास की योजना हो जाती है।

वैदेही-वनवास शब्द के कारण उसके भीतर सारी कार्यावलि समाहित तो जाती है। विदाई की करुणा और सीता के दुःख के साथ ही राम को उसे समझाने, वनवास की पूर्ण सूचना देने एवं सीता के द्वारा लोकोपकार की शिक्षा आदि की नवीन उद्भावनाएँ भी इस नाम में समाहित हो जाती हैं। वैदेही-संताप आदि नाम अत्यन्त संकुचित होते।

यद्यपि वैदेही-वनवास नाम सर्वथा उपयुक्त है और यह कथा के मर्म को स्पष्ट करता है, पर उसमें प्रिय-प्रवास की भाँति नामकरण की नवीनता नहीं है।

पात्र-दृष्टि से

पात्र की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी के बहुत-से महाकाव्यों के नामकरण हुए हैं। पात्र की दृष्टि से नामकरण कई प्रकार से किए गये हैं—

(१) नायक के नाम पर।
(२) नायिका के नाम पर।
(३) अन्य पात्रों के नाम पर।
(४) पात्र की विशेषताओं के आधार पर।
(५) संयुक्त आधार पर।
(६) भाव के आधार पर।

(१) नायक के नाम पर महाकाव्यों के नामकरण की एक बहुत बड़ी सुविधा यह होती है कि नाम जानते ही वह ऐतिहासिक, पौराणिक या सामा-

जिक चरित्र आँखों के सामने अपने पूर्ण इतिवृत्त के साथ प्रत्यक्ष हो जाता है। हिन्दी में एकलव्य, रावण आदि महाकाव्य इसके अन्तर्गत आते है।

एकलव्य का सम्बन्ध महाभारत से, रावण का रामायण से और बिक्रमादित्य का इतिहास से है। ये तीनों ही नाम प्रत्यक्ष रूप से अपने वर्णय विषय की घोषणा करते है। मेरी समझ से एकलव्य और रावण नाम रखने का एक विशेष कारण भी है—ये दो नायक-पद के लिए उपेक्षित नाम हे, अत: इन नामों से लिखे गए महाकाव्य अपने आप में आकर्षक है। राम और कृष्ण पर महाकाव्य पढ़ते हुए पाठको के सामने जब एकलव्य और रावण जैसे नामों पर लिखे गये महाकाव्य आते है, तो वे बडी उत्सुकता से उन्हें पढ़ने लगते है। मान लें, एकलव्य की जगह उसका नाम निषाद, गुरुभक्ति या अपूर्व दक्षिणा आदि होना तो उसकी वह उत्सुकता नष्ट हो जाती जो सीधे एकलव्य से होती है।

(२) आधुनिक काल में नायक से अधिक नायिकाओं के नाम पर ही महाकाव्यों के नाम रखे गये हैं, क्योंकि वस्तुत: ये नायिकाएँ काव्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका उपस्थित करती है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कामायनी, नूरजहाँ, कैकेयी, उर्मिला, पार्वती, मीरा आदि अनेक महाकाव्य इस तरह के हैं। 'झांसी की रानी, भी नायिका के नाम पर ही है, जिसका विवेचन हम आगे दूसरे वर्गीकरण के अन्तर्गत करेंगे।

नारी भी युग-युग से उपेक्षिता हो रही, अतएव बीसवीं शताब्दी में नारी कों महत्त्व देने का आन्दोलन सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यक सभी धरातलों पर उठा। इसका प्रतिफल महाकाव्य में नारी-चरित्रों को महत्त्व देना ही नहीं हुआ, उनके आघार पर गामकरण करना भी हुआ।

कामायनी श्रद्धा का नाम हैं। काम गोत्र की होने के कारण वह कामायनी कही जाती हैं। यहाँ दो प्रश्न उठते हैं, एक यह कि इस ग्रन्थ का नाम नायक मनु के आधार पर क्यों नहीं रखा गया और दूसरे यह कि जब श्रद्धा शब्द ही मुख्यत: सम्पूर्ण महाकाव्य में व्यवहृत हुआ है, तब श्रद्धा नाम ही क्यों नहीं रखा गया।

वस्तुत: इस महाकाव्य का नायक मनु एक अत्यन्त साधारण कोटि के मानव के रूप में चित्रित किया गया है, जो वासना और संघर्ष के झोंकों से ही डूबता-उतराता रहता है। इसके विपरीत कामायनी निष्कम्प साधना-शिखा

की भाँति जलती रहती है। मनु को प्रेरणा देनेवाली शक्ति कामायनी ही है। वही उस गिरे हुए सामान्य प्राणी को आनन्द के शिखर तक ले जाती है। अतः कामायनी को छोड़कर मनु के आधार पर नाम रखना प्रबल व्यक्तित्व की उपेक्षा करना होता।

कामायनी नाम रखने का एक कारण प्रतीकात्मकता भी है। मनु-मन का और श्रद्धा तथा इड़ा क्रमशः हृदय और बुद्धि के प्रतीक है। बुद्धि की नहीं, हृदय की विजय दिखलाना कवि का कल्याणकारी उद्देश्य है। अतः इसका नामकरण विजित मन या प्रवल बुद्धि पर न रख कर हृदय पर रखा गया है। साथ ही, कामायनी जो श्रद्धा-भावना का प्रतिनिधित्व करती हैं। (तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन) उसका महत्त्व देना मानवता के कल्याण की दृष्टि से भी समुचित है।

कामायनी का नाम श्रद्धा इसलिये नहीं रखा गया है कि कामायनी शब्द में जो कमनीयता है, वह श्रद्धा के संयुक्त वर्णों मे नहीं। दूसरे, कामायनी कहने से उसके गोत्र का पता भी चलता है। तीसरे, कामायनी शब्द में श्रद्धा शब्द की अपेक्षा एक नवीनता है। अतः कामायनी नाम सर्वथा सार्थक और समुचित है।

नूरजहाँ, पार्वती और मीरा नामों में क्रमशः ऐतिहासिकता, पौराणिकता और साहित्यिकता है। ये तीनों प्रत्यक्ष व्यक्तित्व-परिचायक नाम हैं। इनमें सरलता है। पर, उर्मिला और कैकेयी नामों में पर्याप्त आकर्षण है। ये नाम प्रत्यक्ष होकर भी उत्सुकता बढ़ाने वाले नाम हैं, क्योंकि ऐसी पात्रियों पर महाकाव्य लिखे नहीं जाते रहे हैं। मीरा के साहित्यिक चरित्र मे भी आकर्षण है, पर उतना नहीं, जितना इन उपेक्षित चरित्रों के नाम मे।

(३) अन्य पात्रों के आधार पर—नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य पात्र-पात्रियों के नाम पर आधुनिक काल में कोई महाकाव्य नहीं लिखा गया। ऐसा लिखा जाना व्यावहारिकता और व्यक्तित्व-मूल्यांकन के औचित्य की दृष्टि से ठीक भी नहीं है। नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त अन्य पात्रों को इतना महत्त्व नहीं दिया जाता कि उनके नाम पर महाकाव्य का नामकरण किया जाय। प्रचीन महाकाव्यों के बहुत से सामान्य पात्र ही आज महाकाव्य के नायक बन बैठे हैं—भरत, उर्मिला, लक्ष्मण, रावण आदि ऐसे ही चरित्र हैं।

(४) पात्र की विशेषताओं के आधार पर—छायावाद के लाक्षणिकता-प्रधान युग में नायक के आधार पर नामकरण किये गये महाकाव्यों में अनेक

ऐसे हैं, जिनमें पात्रों के सीधे नाम उपस्थित न कर उनकी विशेषताओं के उद्घाटन करने वाले शब्द ही प्रश्रय पा सके हैं। इस तरह के नामों वाले ग्रन्थ हैं—जननायक, जगदालोक, महामानव, वर्द्धमान, सिद्धार्थ, साकेत-सन्त, विदेह, रश्मिरथी आदि।

इस तरह के नामों के चुनाव में नायक के नाम के बोधक उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया जाता है, जो उनके गुणों या विशेष तथ्यों के द्योतक होते हैं। युग पुरुष गाँधी के नाम पर कई महाकाव्य लिखे गये, पर सीधे गांधी, बापू आदि नाम नहीं रखकर जननायक, जगदालोक और महामानव नाम रखे गये। ये नाम क्रमशः गांधी की नेतृत्व-शक्ति, उनके ज्योतिर्मय व्यक्तित्व और उनकी देव-तुल्य मनुष्यता के द्योतक हैं। वस्तुतः एक में उनके राजनैतिक, दूसरे में उनके आध्यात्मिक और तीसरे में उनके श्रेष्ठ मानव रूप की अभिव्यक्ति की गयी है।

इसी तरह वर्द्धमान और सिद्धार्थ कमशः महावीर तीर्थङ्कर और गौतम के ऐसे नाम हैं, जिनमें उनकी विशेषताएँ—उनकी बढ़ती हुई शक्ति (आध्यात्मिक) और सिद्धि के अर्थ महाभिनिष्क्रमण करने वाली स्थिति की व्यंजना है। महावीर और गौतम नामों की अपेक्षा ये नाम अधिक अर्थ-बोधक हैं यद्यपि ये दोनों नाम ही परम्परा से मान्य हैं, कवि-प्रदत्त नहीं।

साकेत सन्त और विदेह शब्द क्रमशः भरत और जनक के बोधक हैं। भरत का सम्पूर्ण जीवन त्याग और तपस्या का जीवन है। राज्य छोड़ अपने भाई की चरण-पादुकाओं को लेकर एक बिरागी, भ्रातृ-पूजक के रूप में भरत का जीवन अत्यन्त पावन है, इसीलिए इस ग्रंथ का नाम भरत न रखकर कवि ने साकेत-सन्त रखा है, जो अत्यन्त उपयुक्त है। विदेह जनक के उस महान योगी-रूप का बोधक है, जिसके सम्बन्ध में मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है कि 'देही होकर भी जो है विदेही'। विदेह अर्थात् दैहिक सीमाओं में मुक्तात्मा।

रश्मिरथी शब्द व्याकरण से भले रश्मिरथ हो, पर भाव की दृष्टि से वह सूर्यपुत्र, आलोकवान कर्ण जैसे प्रतापी पुरुष के स्वर्गारोहण के अत्यन्त उपयुक्त नाम है। यह शब्द कर्ण की आत्मिक ज्योति और उसके प्रति श्रद्धांजलि के भाव से दीप्त है।

संयुक्त आधार पर—कभी-कभी पात्र और कथा दोनों के संयोग से नाम रखे जाते हैं या कभी-कभी नायक के नाम में ही कोई दूसरा शब्द

जोड़कर विशेष ध्वनि की सृष्टि की जाती है। इस तरह के नामों में कृष्णायन, रामचरित चिन्तामणि, रामचन्द्रोदय, श्रीकृष्णचरित मानस आदि रचनाएं आती हैं।

कृष्णायन तो रामायण के तुक पर रखा गया नाम है, जिसमें राम और अयन दो शब्दों का मिश्रण है। यह अयन आश्रम, घर, समय आदि का बोधक है। कृष्णायण नाम मे परम्परागत स्वीकृति है, नवीनता नहीं।

रामचरित चिन्तामणि में राम कथा है, पर इस नामकरण में एक नवीनता है। राम-चरित की स्मृति मे संजोयी गयी मणियों का यह संग्रह है—यही बोध होता है इस ग्रंथ के नाम मे। रामचन्द्रोदय में रामचन्द्र के उदय अर्थात् उनके ज्योतिपूर्ण जीवन की गाथा गायी गयी है—ऐसी व्यंजना होगी। श्रीकृष्णचरित मानस तो पूर्णतः रामचरित मानस के आधार पर रखा गया नाम है। वस्तुतः वाल्मीकि की रामायण और मानस के नाम के बाद रामकथा पर लिखी गयी रचनाओं के नाम को दूसरे रूपों में रखना आवश्यक हो गया पर राम के व्यक्तित्व के अतिरिक्त इनमें दूसरे नामों के आधार का प्रश्न ही नहीं उठता।

(६) **भाव के आधार पर**—भाव के आधार पर बहुत कम नाम रखे गये हैं। तुलसीदास न रखकर उसका नाम देवार्चन रखा जाना इसी बात का द्योतक है। यों भावों का कुछ न कुछ आधार तो गुणो के बोधक नाम में भी होते हैं, पर देवार्चन जैसे नाम प्रकृत विषय को बिल्कुल ही व्यंजित नहीं करते, बिना पुस्तक पढ़े नाम का रहस्य समझा नहीं जा सकता।

स्थान-दृष्टि से—स्थान की दृष्टि भी आधुनिक महाकाव्यों के नामकरण किये गये हैं। कुछ स्थान ऐसे होते हैं, जो प्राचीनता के कारण किसी चिर स्मरणीय घटना या पात्र से सम्बद्ध होते हैं। ऐसे शब्दों के नाम मात्र से सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में ऐसे नाम हैं—साकेत, कुरुक्षेत्र, आर्यावर्त्त और हल्दीघाटी। स्थानों से सम्बद्ध कुछ नाम ऐसे हैं जो हैं पात्र-पात्रियों के बोधक पर उनका आधार स्थान ही है, जैसे 'झाँसी की रानी और अंगराज'। झाँसी की रानी से तात्पर्य लक्ष्मीबाई का और अंगराज से कर्ण का है, पर इन कवियों ने महाकाव्य के नाम लक्ष्मी बाई, या कर्ण नहीं रखकर ये नाम क्यों रखे ?—स्पष्ट कारण है कि इन दोनों नामो के साथ झाँसी और अग देश के ऐतिहासिक और पौराणिक सम्बन्ध हैं। लक्ष्मीबाई ने झाँसी की रानी वीर क्षत्राणी के रूप में अपना परिचय दिया सभा में पाण्डव

था तथा दुर्योधन द्वारा अंग राज्य के समर्पण के बाद ही कर्ण की मर्यादा भरी सभा में पाण्डव और द्रोणाचार्य के सामने लुटने से बची थी। यही घटना थी कि जिसने सम्पूर्ण जीवन कर्ण को दुर्योधन के प्रति कृतज्ञता अर्पित करने को प्रेरित किया।

कुरुक्षेत्र और हल्दीघाटी कहने मात्र से क्रमशः महाभारत और मुगल-काल के दो भीषण युद्धों के चित्र सामने आ जाते है। कुरुक्षेत्र, अर्थात् वह भूमि जहाँ कौरवों और पाण्डवों की विश्व-प्रसिद्ध लड़ाई हुई, जहाँ भगवान कृष्ण ने गीता का प्रवचन किया और जिसे धर्म-युद्ध कहा जाता है। दिनकर ने सम्पूर्ण महाकाव्य में महाभारत के आधार पर युद्ध और हिंसा के तथ्यों पर विचार किया है और इस भाव-भूमि की व्यंजना के लिये इस नाम से बढ़कर कोई दूसरा नाम नही हो सकता था।

श्री वियोगी ने वर्णन तो चन्दवरदाई और पृथ्वीराज-जयचन्द युद्ध का किया है, पर उसे सम्पूर्ण आर्यावर्त्त की समस्या के रूप में मान कर पुस्तक का नाम आर्यावर्त्त रखा है।

हल्दीघाटी का अर्थ होता है महाराणा प्रताप और मुगलों के बीच भीषण युद्ध, जिसमें महाराणा ने स्वाभिमान, देश-भक्ति और वीरता का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किया है। अतः श्यामनारायण पाण्डेय ने महाराणा प्रताप नाम नही रख कर हल्दी घाटी नाम रखकर अपनी कला-कुशलता का परिचय दिया है।

स्थान पर आधारित नामों में साकेत का विशेष महत्त्व इस लिये है कि इस नाम की रक्षा के कारण कवि को कथा-शिल्प में कई परिवर्त्तन करने पड़े हैं। इसके कारण कई सीमाएँ स्वयं आ गई हैं। एक तो कवि को सम्पूर्ण राम-कथा को साकेत में नियोजित करना पड़ा, फलतः उर्मिला-विरह को बहुत अधिक प्रधानता देनी पड़ी तथा वन की घटनाओं को चलता करना पड़ा।

सारी कथा साकेत में केन्द्रित है। केवल एक स्थान पर साकेत से बाहर चित्रकूट की कथा आयी है। वहाँ भी कवि ने—

सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है सारा।
सर्वत्र हमारे संग स्वदेश हमारा॥[1]

लिखकर अपनी इस कमी को पूर्त्ति की है। साकेत में बालकाण्ड की घटनाओं की भांति इसे भी सूच्य न बनाकर कवि ने प्रत्यक्ष वर्णन इसलिये किया है कि इसके

१. अष्टम सर्ग, पृ० १५६

अभाव में लक्ष्मण-उर्मिला के मार्मिक मिलन और कैकेयी के कलंक का प्रक्षालन संभव नहीं होता।

आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का मत है कि 'साकेत नाम की सार्थकता क्या है ? यही कि काव्य की घटनाओं का केन्द्र साकेत है। पर साकेत के साथ कवि की कोई विशेष घनिष्टता प्रतिलक्षित नही होती। साकेत के नर-नारियों से कवि को कुछ अधिक मतलव नही जान पडता। अन्यथा राम के वनवास के अवसर पर उन्हें भी अपने मनोभाव व्यक्त करने का कुछ अवसर दिया जाता। यदि उतनी उदारता न भी की जाती तो कम से कम उर्मिला की विरह-वर्णन में ही कोई विधि सोची जाती जाती। साकेत के नर-नारियों तक उर्मिला की विरह-वेदना नही पहुँचती। यह न तो उर्मिला के पक्ष मे उपयुक्त है, न साकेत वासियों के पक्ष में।'[1] आचार्य वाजपेयी का यह मत स्वीकार करते हुए भी यह बात माननी पड़ती है कि कुछ दूर तक साकेतवासियों को महत्त्व देने का प्रयास कवि ने किया है, यद्यपि साकेत नामकरण के साथ उसे बहुत दूर तक निभाना चाहिये था। राम-वन गमन के अवसर पर, पिकेटिंग की दृश्य-योजना एवं लंका पर चढ़ाई करने की उद्यतता आदि के द्वारा यत्र-तत्र प्रजा का स्वरूप चित्रण भी किया गया है।

चित्रकूट-प्रसंग छोड़कर काव्य की प्रमुख पात्री उर्मिला साकेत में ही रही है। स्वयं राम सात सर्गों में साकेत में दीखते हैं, शेष पाँच सर्गों का वर्णन राम की अनुपस्थिति में है। प्रकारान्तर से यह कथा भी राम, लक्ष्मण और सीता के वियोग में जलती साकेत नगरी से ही सम्बन्ध है।

पुस्तक का प्रारंभ और अंत साकेत मे ही होता है। पुस्तक के अंत में राम लौट कर साकेत आते हैं और लक्ष्मण-उर्मिला का चिर-प्रतीक्षित मिलन भी वहीं होता है

वस्तुत: राम-कथा में नवीनता लाने के लिये साकेत नामकरण के अतिरिक्त दूसरा उपाय भी तो वहीं था। उर्मिला नाम इस महाकाव्य का यदि रखा जाता, तो कथा का विस्तार और सीमित हो जाता। साकेत नामकरण के कारण राम-कथा भी आ गयी और कवि की उर्मिला के महत्त्व स्थापन का अवकाश भी मिल गया। इस तरह कवि की राम-भावना और उपेक्षिता उर्मिला को महत्त्व देने की गुरु-कामना (महावीर प्रसाद द्विवेदी का लेख

---

१ हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी, पृ० ४४

'कवियोंकी उर्मिला विषयक उदासीनता' द्रष्टव्य है) का मणिकांचन संयोग हो गया। इधर सीताराम भी महत्त्व पा गए और उधर उर्मिला देवी भी प्रमुखता पा गयीं।

मैथिलीशरणगुप्त नवीनचन्द्रसेन के 'रैवतक और 'पलासी का युद्ध' रचनाओं के स्थानीय नामों के महत्त्व को समझ गए थे और उनके लिये साकेत नाम अधिक व्यापक और नवीन सिद्ध हुआ। साकेत के नामकरण के कारण घटनाएं प्रत्यक्ष के स्थान पर परोक्ष[1] बन गयी हैं, पर स्थान-ऐक्य के कारण[2] उसमें गुप्तजी के आदर्शों की सुरक्षा हो सकी है।

वंश की दृष्टि से—रघुवंशम् में कालिदास ने रघु के वंश का वर्णन किया है। इसी आधार पर ब्रजभाषा में दैत्यवंश महाकाव्य लिखा गया, जिसमें हिरण्याक्ष, हिरणयकशिपु, विरोचन आदि दैत्यों का वर्णन किया गया है। इधर मैथिलीशरण गुप्त ने कई कथा-द्रव्यों के संकलन के आधार पर जयभारत नामक विशाल प्रबन्ध लिखा है, जिसमें नहुष के स्वर्ग से अधःपतन से प्रारंभ कर युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण तक एक कथाक्रम बैठाने की चेष्टा की गयी है। वस्तुत: जयभारत नाम स्थानीयता तथा विशाल भारतीय परिवार का वोधक है, जिसमें इस देश की जय की कामना अन्तर्हित है। पर वंश के आधार पर हिन्दी में महाकाव्य लिखने की परम्परा प्रश्रय नहीं पा सकी। गन-तंत्र प्रेमी इस देश में वैयक्तिक विशेषताओं का समादर बढ़ा, वंश के नाम पर व्यक्ति का महत्व नहीं मिल सका।

घटना की दृष्टि से—किसी कथा या घटना को अधिक प्रकाश में लाकर भी कहाकाव्य का नामकरण किया जाता है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में तारका-बध और जौहर ऐसे ही काव्य हैं। तारक-वध की घटना का अत्यन्त कलात्मक वर्णन किया गया है, पर पुस्तक का नाम कार्त्तिकेय, शृङ्गी ऋषि या शान्ता नहीं है। यह नाम तारक-वध है, क्योंकि तारक-बध की पौराणिक धटना को प्रतीक रूप से कवि ने इस महाकाव्य में चित्रित किया है। जौहर की सर्वप्रमुख पात्री पद्मिनी है। पर जौहर की भीषण घटना और राजपूती प्रथा को कवि ने महत्त्व देकर उसी पर पुस्तक का नाम-करण किया है, ताकि

१ हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० ४२

२ स्थान ऐक्य का साकेत में बड़ा सफल प्रयोग है और साथ ही साकेत नाम भी पूर्ण रूप से सार्थक होता है।

'साकेत—एक अध्यन' डा० नगेन्द्र, पृ० ७

पद्मिनी और उसकी प्रेरणा से प्रभावित अन्य क्षत्राणियो के कठिन जौहर-व्रत की स्मृति आज भी देश की नारियों में वीरोचित भावनाओं को जाग्रत करती रहें।

निष्कर्ष—इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के नामकरण के आधार में विविधता है। महाकवि अपनी मनोवृत्ति के अनुसार नामकरण को भी शिल्प-विधि का अंग मानते हैं और समझते हैं कि नामकरण का महत्त्व किसी कहानी के शीर्षक से कम महत्वपूर्ण नहीं है। पर उपन्यासों के नामकरण के संबंध में जितनी विविधता और रचनावैशिस्टय दीखते हैं, उतने महाकाव्यों के नामकरण मे नहीं, क्योकि आज के उपन्यासों का वर्ण्य-विषय पल-पल परिवर्त्तित सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक घटना-चक्र हैं, जबकि महाकाव्य के वर्ण्य-विषय आज भी पौराणिक और ऐतिहासिक हैं, भले, ही उनके प्रतिपादन नवीन और युग-सापेक्ष्य हो। इसके अतिरिक्त महाकाव्यों में अधिक गंभीर और अधिक शाश्वत समस्याओं का चित्रण होता है, फलतः उसमें उपन्यास की तरह नवीन कुतूहल-वर्द्धक नामकरणों की गुंजाइश नही है।

इतना तो सत्य है कि सफल महाकाव्यों के नाम उनके रचयिताओं के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ जाते हैं, जैसे हम यदि कहीं यह पढ़ें कि प्रसाद ने अपने महाकाव्य में मानव मनोभावों का सूक्ष्म निरीक्षण किया है तो झट यह समझ लेंगे कि लेखक का मतलब कामायनी से है। यह बात महाकाव्य के नाम के साथ ही नहीं, सभी कृतियों के साथ है। नामकरण से भी अधिक महत्त्व महाकाव्य के गंभीर विवेचन, वस्तु-वर्णन और रसनिष्पत्ति से है, क्योंकि 'नाम नयनसुख आंख का अन्धा'। आज हिन्दी में बड़े-बड़े नाम से अनेक छोटे-छोटे (हीन) काव्य लिखे जा रहे हैं। नाम से महाकाव्यत्व नही आता, महाकाव्य से नाम होता है।

द्वादश प्रकरण

आधुनिक हिन्दी-काव्य में महाकाव्य का स्थान

आधुनिक हिन्दी काव्य में महाकाव्य का स्थान

आधुनिक युग की गद्यात्मकता—आधुनिक काल हिन्दी का गद्यकाल कहा जाता है, पर यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर देखा जाय तो इसका कारण यह नहीं कि इस काल में पद्य का विकास नगण्य हुआ। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में गद्य का विकास प्राचीनकाल मे अत्यन्त गौण रूप से हुआ—उसका एक ऐतिहासिक स्वरूप ही मिलता है। अतः जब आधुनिक-काल में गद्य का विकास बड़ी तीव्रता से होने लगा—कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबन्ध, गद्य-गीत, नाटक (यह भी अब गद्य के अन्तर्गत ही परिगणित होता है) आदि के विषय-गत और शैलीगत सहस्रों रूप सामने आने लगे, तब लोगों ने सहज ही इसे गद्य-युग कहना प्रारम्भ किया। हिन्दी के दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक आदि पत्र-पत्रिकाओं के कारण भी गद्य को बहुत अधिक प्रोत्सा- हन मिला। साथ ही, पाठ्य-क्रम में हिन्दी को स्थान मिलने के कारण विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के विविध विषय हिन्दी में पढ़ाये जाने लगे—जिसका स्वरूप स्वभावतः गद्य का है ही। फलतः एक गद्यमय वातावरण साहित्य में छाने लगा। यह ठीक है कि परिणाम की दृष्टि से गद्य का आधिक्य आधुनिक युग मे है, पर हिन्दी-साहित्य में प्रतिष्ठा पाने वाले साहित्यकारों में कवियों की संख्या कुछ कम नहीं रही। हरिऔध, प्रसाद, गुप्त, निराला, पन्त, महादेवी, रामकुमार, बच्चन, दिनकर आदि के व्यक्तित्व का विकास इसी काल में हुआ।

कवियों का गद्यकार रूप—हमारे बहुत सारे साहित्यकारों ने कविता के साथ ही गद्य का निर्माण भी किया पर उनका प्रधान रूप कवि का ही रहा। प्रसाद श्रेष्ठ नाटककार और कथाकार हैं, निराला अच्छे उपन्यासकार और समीक्षक कहे जायेंगे, महादेवी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ रेखा-चित्र और संस्मरण लिखनेवाली महिला हैं, डा० रामकुमार एक युग प्रवर्त्तक एकांकीकार, आलोचक और इतिहासकार हैं, दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' और 'संस्कृति के चार अध्याय' में अपने विचारों का उत्कृष्ट रूप हमारे सामने रखा है,—पर ये सभी कवि के रूप में ही अधिक मान्य और ख्यात हैं।

आधुनिक काल में कविता का महत्व—तात्पर्य यह कि आधुनिक काल गद्य के साथ ही पद्य की भाषा-शैली और वर्ण्य विषय के विस्तार की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक हैकि यह यन्त्र-युग है और समाज नीरस एवं कठोर वास्तविकताओ से टकरा कर चूर-चूर हो रहा है। कोमल और रगीन सपने यथार्थवाद की बंजरभूमि पर पनप नही पा रहे हैं तथा चिन्ता और अभावग्रस्त समाज की रागात्मिक वृत्तियां जैसे अनमनी-सी हो गयी है। फिर भी कविता की आवश्यकता आज बनी हुई है।[१] मेरी सम्मति में आज तो इस कविता की और भी आवश्यकता है। मलय-बयार की मधुरता अधिक तब मालूम होती है, जब पथिक थका-हारा किसी छांह मे पलभर को विश्राम करना चाहता है। आज की क्लान्त और पिपासित मानवता को कविता-भागीरथी की शीतल धार की अधिक आवश्यकता है। भटकी हुई मनुष्य जाति को सत्य, शान्ति और उदारता का जितना प्रभावशाली संदेश कविता दे सकती है, उतना और कोई साहित्यांग नहीं दे सकता। कविता से बढ़कर साहित्य का कोई रूप मानव की रागात्मिका वृत्ति को उद्वेलित नहीं कर सकता है। इसीलिये यह मानते हुए भी कि आज कविता के प्रति वैचारिक रूप से अनास्था है, हार्दिक रूप से उसका अस्तित्व बना हुआ है, बना हुआ रहेगा।[२] नैसर्गिक प्रकृति और मानव प्रकृति दोनो का सनातन संबंध कविता से है, इसलिये उसका अस्तित्व चाँद-सूरज की भाँति असंदिग्ध है।

आधुनिक युग में साहित्य के लघु रूप के प्रश्रय का मनोविज्ञान—एक बात ध्यान देने की यह है कि आधुनिक काल के कार्य-व्यस्त पाठकों के बीच साहित्य के लघु रूप अधिक प्रचलित और विकसित हुए। पहले के न

१ मेकाले की यह उक्ति कि सभ्यता के विकास के साथ कविता का पतन होता है, अत्यन्त भ्रामक है, क्योंकि उनकी यह धारणा है कि कविता का उद्‌गम् कौतूहल में है, मान्य नहीं हो सकती। कविता केवल कौतूहल से आविर्भूत नहीं होती, वरन् उसका जन्म अधिक स्थायी, गम्भीर मानसिक अवस्थाओं में होता है।

—समकालीन हिन्दी साहित्य : कुछ समस्याएँ, डा० रामअवध द्विवेदी, पाटल, अप्रैल, ५४,

२ सम्प्रति ज्ञान और राजनीति के कारण जीवन उत्तरोत्तर जटिल और व्यक्तित्व शून्य होता जा रहा है। ऐसे कृत्रिम युग में स्वाभावतः सहज कविता का भविष्य संदिग्ध हो गया है। किन्तु प्रकृति को मिटाकर कोई युग चल नहीं सकता। जब तक प्रकृति है तब तक कविता भी है।

—वृन्त और विकास, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ० १४१

सामन्ती वातावरण रहे, जिसमें शास्त्रार्थ और साहित्य सुनने-सुनाने में रात-दिन बीतते थे (काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्) और न जीवन की सुख-सुविधाओं से संतोष करनेवाले मनुष्य रहे। आज तो प्रत्येक व्यक्ति अपने आप से असंतुष्ट दीखता है। करोड़पति व्यवसायी हो या निम्नपदस्थ कर्मचारी—सभी अपने आप से असंतुष्ट दीखते है। आगे बढ़ने की आपाधापी में मनुष्य अपने आप से छूटता जा रहा है। विद्या-जीवियों को छोड़कर ऐसे साहित्यानुरागी कितने हैं, जो साहित्य के मनन और चिन्तन में नियमित रूप से कुछ घंटे लगा सकें। फलतः साहित्य के लघु-रूप प्रश्रय पाने लग गये है और आज उपन्यासों की अपेक्षा कहानियाँ, नाटकों की अपेक्षा एकांकी और उसी तरह महाकाव्यों की अपेक्षा गीतिकाव्य अधिक लिखे जा रहे हैं। वह जमाना नहीं रहा कि एक नाटक देखने को लगातार कई रोज तक दर्शक बड़ी संख्या में आया करते थे। अब तो एक-डेढ़ घन्टे के एकांकी का प्रचलन है।

महाकाव्य के अभाव का कारण—और महाकाव्य तो किसी भी काल में संख्या की दृष्टि से अन्य साहित्यांगों या काव्यांगों की अपेक्षा अधिक नहीं लिखे जाते। लिखे भी कैसे जा सकते हैं ?—महाकाव्य लिखने के लिए जैसे व्यापक दृष्टि सम्पन्न महाकवियों की आवश्यकता होती है, वे सदैव और सर्वत्र कम ही होते है। साथ ही, समाज विशेष अवस्था में स्वयं महाकवि को जन्म दिया करता है। कुछ आलोचकों की दृष्टि में परिवर्त्तन काल या संक्रान्ति काल में प्रायः ऐसे महाकवि जन्म लेते हैं[1], जो प्रबन्ध काव्य के माध्यम से जातीय जीवन के महान् स्वप्नों को साकार करने का प्रयास करते है। पर आज की स्थिति कुछ विचित्र अस्थिरताओं से भरी है। यद्यपि आज अनेक दिशाओं में साहित्य का विकास हो रहा है, तथापि उच्च प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि बहुत कम देखने को मिल रहे हैं। ऐसा लगता है कि परिवर्त्तन की व्यस्तताओं के तूफान में कवि की साधना का दीप निष्कम्प जल नहीं पा रहा है। इसलिये मुझे डा० श्रीकृष्ण लाल के विचार की अपेक्षा आचार्य वाजपेयी के मत में विशेष बल मालूम पड़ता है जो परिवर्त्तन के युग में महाकाव्यों के प्रणयन के क्षेत्र में बाधाएँ पाते हैं और प्रकारान्तर से आज सच्चे कर्मनिष्ठ साधक

---

[1] प्रबन्ध-काव्य प्रायः परिवर्त्तन-काल (ट्रांजिशनल पीरियड) में ही अधिक मिलते है जबकि प्राचीन शैली का प्रचार क्रमशः घटने लगता है और नवीन शैली का उदय प्रारम्भ हो जाता है।

—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्री कृष्ण लाल पृ० ९७

साहित्यकारों का आह्वान करते हैं ।[1] पर इसका यह अर्थ नहीं कि आचार्य वाजपेयी आधुनिक कवियों की साधना एवं मानवता को उच्च-स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाले महाकाव्यों के प्रति उदासीन है। वे तो उन महाकाव्यों के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का भाव रखते है, जिनमे किसी भी रूप में मानवता का अभ्युत्थान निहित है ।[2] प्रियप्रवास, साकेत, कृष्णायन, कुरुक्षेत्र, एकलव्य आदि के प्रति उनके मन में प्रशंसा के भाव इसीलिए हैं कि ये ग्रन्थ काव्य के गुणों से विभूषित होने के साथ ही न्यूनाधिक मात्रा में मानवीय समस्याओं का विश्लेषण और समाधान प्रस्तुत करते हैं ।

मुक्तक-युग—अतः स्वभावतः आजकल महाकाव्यों की अपेक्षा अधिकांश रूप से गीत ही लिखे गए हैं ।[3] यहाँ तक कि महाकाव्यो में भी गीतों को पिरोया गया है। महाकाव्यों में गीतो को समाविष्ट करने की शैली नाटको से प्रभावित है। जिस प्रकार नाटकों मे वातावरण, पात्र-स्थिति और मनोभावो के प्रकाशन के लिये गीत लिखे जाते रहे हैं, उसी प्रकार उपर्युक्त कारणों से आधुनिक महाकाव्यों में भी गीत लिखे गये हैं, पर जहाँ गद्य के माध्यम से आयोजित नाटको के वार्त्तालाप सुनते हुए श्रोता को गीतों की सुखद योजना से रस-परिवर्त्तन का

---

१ कविता की अनेकोमुखी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अन्तर्दृष्टि सम्पन्न महाकवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिन्दी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का ग्रहण इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है। फिर भी अब तक परिवर्त्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्य-रचना करना प्रायः असम्भव होता है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परन्तु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र से अलग काम करते हैं। साहित्य अब तक जीवन की गहनता का बाहर का दिखाऊ नन्दन निकुञ्ज बना हुआ है। इसलिए सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं।

—हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० ६३-६४

२ मानस (मन) का ऐसा विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है।...कामायनी एकांगी और अव्यावहारिक, निर्बल तथा ह्रासोन्मुख रूढ़ि के स्थान पर बहुमुखी जीवन-दृष्टि का संदेश सुनाती और नियोजन करती है।

—जयशंकर प्रसाद, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० ६६

३ आज की कविता प्रधानतया मुक्त गीतात्मक है।

—आधुनिक काव्य-धारा, डा० केसरी नारायण शुक्ल, पृ० १९८

आनन्द मिलता था, ठीक वैसा ही आनन्द महाकाव्य के पाठकों को नहीं मिलता। इस आनन्द-भेद का कारण यह है कि नाटकों के श्रोता दर्शक भी होते हैं। यदि नाटकों और महाकाव्यों के पाठ ही किये जाएँ, तो महाकाव्य के गीतों पर पाठको का ध्यान नाटकों के गीतों के अपेक्षा अधिक जाता है। इसका कारण यह है कि नाटक के कथा-प्रवाह के बीच पाठक भावपूर्ण गीतों पर रीझने की अपेक्षा कथा-सूत्र को पकड़ना चाहता है, पर महाकाव्यों के पाठक छन्दों के सहारे ही कथा का परिचय पाते हैं। अतः छन्दो का यह नयापन गीतों में भी उन्हे कुछ आकस्मिक नहीं लगता। उदाहरण के लिए प्रसाद के महाकाव्य और नाटकों के गीतों को पढ़ कर देखा जा सकता है।

आज के साहित्य में भी महाकाव्य की रचना अधिक सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है, जैसे प्रसाद का ही उदाहरण लें। उन्होंने कामायनी जैसा श्रेष्ठ महाकाव्य ही नही लिखा, सैकड़ों सुन्दर, मधुर गीत भी लिखे है, पर आज उनका सम्मान कामायनी लेकर जितना है, उतना उनके गीतो के कारण नहीं; पर इसका यह अर्थ नही कि निम्नकोटि के प्रबन्ध काव्यों की अपेक्षा सुन्दर गीतिकाव्य हीन समझे जाते है। जितने महाकाव्यों के प्रणेता की विवेचना पिछले अध्यायों मे की गई है, उनमें बहुतों से उच्च और महान प्रतिभा मुक्तक लिखने वाले निराला, पन्त, महादेवी और बच्चन में है।

आधुनिक काल की एक विशेषता—आधुनिक काल की एक विशेषता और ध्यान देने योग्य है—आजकल ऐसे कुछ कवि शीर्ष स्थान के अधिकारी हो गये हैं, जिन्होंने किसी महाकाव्य की रचना नहीं की। प्रश्न है—निराला, पन्त, महादेवी—छायावाद की ये तीन बृहत्रयी प्रतिभाएँ क्यों महाकाव्य लिखने के प्रति उदासीन रहीं ? जो बड़ी सुविधा से श्रेष्ठ महाकाव्यों का प्रणयन कर सकते थे, उनकी रुचि इस ओर नहीं रही, यद्यपि छायावाद-युग के प्रतिनिधि कवि होते हुए भी महादेवी को छोड़कर इन सभी कवियों की रचनाएँ युग की समस्याओं से उद्वेलित रहीं'। निराला तो समयुगीन परिस्थितियों और समस्याओं के चित्रकार रहे ही हैं, पन्त ने ग्राम्या, युगवाणी, युगान्त, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि आदि में तथा बच्चन ने बंगाल का काल तथा आधुनिक अनेक रचनाओं में अपनी युगोन्मुख सजग चेतना का प्रमाण उपस्थित किया है। महादेवी ने अपने रेखा-चित्रों और संस्मरणों में इस अभाव की पूर्त्ति की है, रामा बदलू, चीनी फेरीवाला आदि अनेक उपेक्षित और साधारण व्यक्तियों को अपनी

स्नेह-सहानुभूति से परिप्लावित लेखनी ने अमर बना दिया है। वस्तुत: ये सभी मुक्तकों के महाकवि हैं।

महाकाव्य की महत्ता के कारण—महाकाव्य का स्थान काव्य के क्षेत्र में इस लिए उपयोगी माना जाता है कि उसमें सम्पूर्ण युग-जीवन की झांकी मिलती है, पर वे सामयिक समस्यायें मानव की चिरन्तन अनुभूति से सम्बद्ध होती हैं। महाकाव्य की यह विशेषता होती है कि वह वर्त्तमान परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करते हुए भी मानव की जन्मजात प्रवृत्तियों को प्रभावित करने का प्रयास करता है। जैसे, कुरुक्षेत्र में वर्त्तमान युग की युद्ध समस्या का चित्रण करते हुए भी कवि ने मानव की मूल हिंसावृत्ति का ही विवेचन किया है।

महाकाव्यकार के सामने अखंड मानवता का आदर्श रहता है, खंडित जीवन का चित्र नही। इसीलिए महाकाव्य को सम्पूर्ण मानव-संस्कृति का प्रकाश-स्तम्भ माना जाता है। महाकाव्य में इसीलिए अन्तर्वाह्य का उभय चित्रण होता है। उसमें वर्णणात्मकता और इतिवृत्तात्मकता के माध्यम से मानसिक और आन्तरिक संघर्षों का चित्रण किया जाता है। अन्तर्जगत और बहिर्जगत के सन्तुलन के प्रयास के साथ ही महाकवि लौकिक मूल्यों की आदर्शवादी व्याख्या करता है। उसका उद्देश्य गीतों की भाँति अपने क्षणिक मनोभावों का रागात्मक चित्रण मात्र नहीं होता, वह मानव-जीवन के बीच के उस टूटे हुए तार को जोड़ने का प्रयास करता है, जिसके कारण मधुर सरगम के स्थान पर बेसुरा राग निकलता है।

मानव की शान्ति और सुख के लिए जो प्रयास वैज्ञानिक, दार्शनिक और धर्म-प्रवर्त्तक महात्मा किया करते हैं, उन्हें ही महाकवि अपनी कलात्म कृति द्वारा सम्पन्न करने का प्रयास करता है। समाज में महाकवि की प्रतिष्ठा इसलिए होती है कि उसकी कृति में एक वैज्ञानिक की अनुसन्धानात्मक और प्रयोगोन्मुखी बुद्धि, एक दार्शनिक की गम्भीर और चिन्तनशील दृष्टि एवं एक महात्मा का उदार-लोकोपकारक हृदय होता है।

आधुनिक हिन्दी कविता के बीच महाकाव्य अपनी लोक-विस्तार दृष्टि के कारण अधिक उपयोगी समझा गया है। यह तो कोई नहीं कह सकता कि साकेतकार, प्रियप्रवासकार और कृष्णायनकार की प्रतिभा तुलसी या सूर से बड़ी है, पर आधुनिक काल की किसी भी पुस्तक से इनका महत्त्व कम नहीं है, क्योंकि इन कवियों ने इनके कथानक और इनके चरित्र-चित्रण के माध्यम से

बदले हुए युग, बदली हुई मानवीय दृष्टि को महत्त्व दिया है। पुराण या महाभारत के रचयितों से अधिक प्रतिभाशाली और सम्माननीय कामायनी, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी और एकलव्य के कवि नहीं हो सकते, पर उन दोनों के आधार लेकर रचे गये ये महाकाव्य वर्त्तमान काल में अधिक रुचि से पढ़े जाते हैं और पर्याप्त लोकप्रिय हैं। इसका कारण यह है कि ये रचनायें चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति करती हुई भी आधुनिक काल की समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं।

निष्कर्ष---संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी काव्य में महाकाव्यों की उपयोगिता बहुत है, क्योंकि महाकाव्य का माध्यम कविता के अन्य रूपों की अपेक्षा मानवता, समाज, नैसर्गिक और मानवीय प्रकृति, संस्कृति, विविध चरित्र आदि को चित्रित करने के लिए अधिक उपयुक्त और श्रेष्ठ है। मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक विचारधाराओं के आकलन एवं जातीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व की दृष्टि [1] इससे बढ़कर कविता का कोई साधन नहीं---गीतिकाव्य, खंडकाव्य आदि इतने व्यापक हो ही नहीं सकते।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की जीवनगत दृष्टि

साहित्य की संजीवनी शक्ति—जीवन ही साहित्य की संजीवनी शक्ति है। साहित्य की कोई भी दिशा हो, जीवन सर्वत्र व्याप्त होता है, चित्रित होता है।[2] साहित्य अन्तर्जगत की विभूति है, पर वह स्थूल जगत से असबद्ध नही हो सकता। इसीलिए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'यह तो निश्चित है कि स्थूल जगत को छोडकर मनुष्य नही रह सकता और न अपने देश और काल की सीमाओं से अस्पष्ट रहकर ही कोई शिल्प-सृष्टि कर सकता है। काव्य भी स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित वाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं।'[3]

---

१ महाकाव्य जातीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं। वह संस्कृति, जो अपरिवर्तनशील है।

महाकाव्य की व्यापकता, एस० टी नरसिंहाचारी, कल्पना, सितम्बर, ५३

२ जब से हिन्दी में प्रगतिवाद के नाम पर एक नये आन्दोलन का आविर्भाव हुआ है तब से कुछ लोग यह भी कहने लगे हैं कि छायावाद जीवन से पलायनवाद का रूपक था, आकाश को क्रान्ति के बादलों से आच्छन्न देखकर छायावादी कवि डरकर जीवन से कल्पना के देश में भाग गये थे—मिट्टी की ओर, दिनकर, पृ० १०

३ साहित्य का मर्म, लखनऊ विश्वविद्यालय-व्याख्यान-माला, १, पृ० ४०

आधुनिक काव्य पर एक आरोप—विवेचन—यह आरोप लगाया जाता है कि आधुनिक काल में छायावादी वायवीयता से अत्यधिक प्रभावित कुछ कवियों ने कल्पना-लोक की इस हद तक शरण ली कि वे इस धरती के ठोस धरातल पर बैठना ही नही चाहते थे। वे इस संघर्षपूर्ण जीवन को छोड़कर कल्पनालोक में पलायन करना अधिक श्रेयस्कर समझने लगे।[1]

कदाचित ऐसे आलोचक यह मानते हैं कि कल्पना का काम विश्व-विमुख और कर्त्तव्य च्युत करना ही है। यह धारणा सी बन गयी है कि 'कवि है ?—अरे वे तो कल्पना लल्पना लोक के जीव हैं। वस्तुत: कल्पना एक शक्ति है, दुर्बलता नहीं। इसीलिए शेली ने 'दि डिफेन्स ऑफ पोयट्री' में यह मत व्यक्त किया था कि 'The great instrument of moral good is the imagination' यह ठोस अनुभूति को संजीवनी शक्ति देती है, उसे कुंठित या गुमराह नहीं करती।[2] आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में कल्पना का उपयोग जीवन के सत्यों को अधिक प्रभावशाली और व्यापक बनाने के लिए किया गया है। साहित्य की जो विशेषता उसे युग प्रतिनिधित्व, युगानुरूपता, अनुभूति-प्रवणता और निर्णयात्मक सांकेतिकता देती है,[3] उसे बहुत दूर तक कल्पना-

---

१ पिछले २८ वर्षों में साहित्य साधना का जो मुझे सौभाग्य मिला है उसमें मेरी साधना के तीनों अंग—कविता, नाटक और आलोचना में जीवन की अभिव्यक्ति ही मेरे सामने कला के रूप में आती रही है। मैं जब साधना और कला की बात कहता हूँ तब सबसे प्रथम मेरे सामने जीवन ही आता है। मैं जीवन और कला में अविच्छिन्न सम्बन्ध देखता हूँ। ......मेरे सामने कला जीवन का मुकुट बनकर आती है।

—डा० रामकुमार वर्मा से एक भेंट, डा० रामचरण महेन्द्र, अवन्तिका, अक्टूबर, ५३

२ कल्पना, इस प्रकार, काव्य अथवा कला में अनुभूति को स्पष्टता, गंभीरता तीव्रता संवेग और आवेश देती है।......कल्पना व्योम कुंजों की परी भी नही, आकाशलता भी नही, भूमि के गर्भ से ही उसका जन्म है।—काव्य और कल्पना, डा० रामखेलावन पाण्डेय, हिमालय, दिसम्बर, ४६

3 Litereturo consists in the enunciation and Techings of those who have a right to speak as the representative of their kind and in whose words their brethren find an interpretation of their own sentiments, a record of their an Experience and a Suggetion for their own (udgements—The idea of a university, part 2, J. H. Newman.

शक्ति प्रभावित करती है। सच्चा साहित्यकार कल्पना-विलास का नहीं ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों से रस ग्रहण करने की आवश्यकता अनुभव करता है[1] और इस दिशा में रूप-विधायिनी कल्पना ही काम आती है।

आज ऐसे विचारकों का दल है कि जो साहित्य में गत्यावरोध मानते हैं और उसे समाज से विच्छिन्न एवं जीवन की वास्तविकता से परे मानते हैं और उसमें मौलिकता का अभाव पाते हैं।[2] वस्तुतः युगानुरूपता का अर्थ व्यक्तित्व का लोप नहीं है। युग-प्रवर्तक कवि युग की धारा को आदर्शों के अनुकूल मोड़ता है, उसके साथ बहता नहीं।[3]

सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्—महान काव्य-कृतियों में सत्य, शिव और सुन्दर तीनों के समन्वय की आवश्यकता मानी जाती है, पर इसके लिए आचरण की उच्चता और दृष्टि की उस व्यापकता की आवश्यकता है जो सत्य को शिव और सुन्दर तथा सुन्दर को सत्य और शिव मानती है—केवल विचार से

---

१ आज साहित्य को केवल कल्पना विलास की सामग्री समझना खतरनाक है। नवीन साहित्यकारों को ज्ञान विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सभी रस संग्रह करने की आवश्यकता है।

—साहित्य की साधना, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, आलोचना, अप्रैल ५२

२ हमारे अधिकांश साहित्यकारों में आज मौलिकता का अभाव दिखायी दे रहा है। वे कविता और कहानी का आश्रय लेकर सस्ती भावुकता में प्रवाहित है।

—सम्पादकीय, विक्रम (उज्जैन) मार्च, १९५३।

३ जो लोग साहित्य में गतिरोध की बात करते हैं, उन्हें यह स्पष्ट रूप से समझना चाहिये कि आज हमारा कवि किधर जा रहा है और परिस्थितियां किधर? क्या, आज का कवि समाज की वास्तविक स्थिति का ज्ञान-प्राप्त करके उसके स्वास्थ्य की परीक्षा कर सकता है और औषधि दे सकता है? आज के कवियों में हमें स्पष्टतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। कवियों का एक वर्ग समय-प्रवाह के साथ तेजी से बढ़ रहा है। उनकी कविता का अपना कोई लक्ष्य नहीं है। परिस्थितियों और युग-प्रभाव की गति से वह एक अनिश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने में ही प्रगतिमान रही है। कविता की यह स्थिति समाज के लिये घातक है। धारा के प्रवाह में तिनके और शव बहा करते हैं। किन्तु चेतनशील प्राणी धारा को काटता हुआ लक्ष्य की ओर ही बढ़ता है। दूसरा वर्ग नये-नये सम्बल लेकर नवीन युग की सृष्टि करना चाहता है।

—ब्रजभूषण पाण्डेय, सरस्वती, मई, १९५५

नहीं, अनुभूति से भी। पर ऐसे कवियों की संख्या सदैव बहुत कम रही है।[१] उच्चकोटि के महाकाव्य के लिए ऐसी ही महान् व्यक्तियों की आवश्यकता होती है जो जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय करते हैं। आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों में जीवन की पकड़ है और सत्य, शिव एवं सुन्दर के समन्वय का प्रयास भी। प्रयास सफलता में पूर्णत: परिणित नहीं होकर भी विकासोन्मुख है।

महाकाव्य में विचार-शक्ति—महाकाव्य उस ऊँचे उठे व्यक्ति की कृति होता है, जिसकी इच्छा-शक्ति से विचार-शक्ति प्रबल और स्वतन्त्र होती है,[२] क्योंकि मन की सामान्य गति को विशिष्ट दिशा में नियोजित करने के लिए विचार-शक्ति की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि आज के हिन्दी महाकाव्यों में विचार और तर्क का समावेश मिलता है। व्यक्तिगत स्वार्थों को त्याग कर लोकोपकारी और सामूहिक हित प्रदान करने की क्षमता मनुष्यता का गुण है[३] और इस नैतिक शक्ति को विचार ही प्रेरित करते हैं।

आधुनिक महाकाव्यों की आस्था—साहित्य का जीवन में इसलिये महत्त्वपूर्ण स्थान है कि वह मानव का सच्चे अर्थ में हितैषी होता है।[४] साहित्य

---

१ दुःख की बात है कि ऊँची मनुष्यता और निश्छल सौन्दर्योन्माद, इनका मिलन कम हो पाता है, किन्तु जब कभी ये दोनों गुण एक व्यक्ति में मिल जाते हैं तभी हमें वह कला-कृति प्राप्त होती है जो एक साथ सत्य, शिव और सुन्दर, तीनों गुणों का आलिंगन किये रहती है।—सत्यं, शिवं, सुन्दरम्,—दिनकर, त्रैमासिक साहित्य, नवम्बर, ४५ मार्च, ५६।

२ प्रारंभ में विचार इच्छा का दास होता है, आगे चलकर वह इच्छा का संचालक और स्वामी बन जाता है। जिस व्यक्ति का विचार इच्छा से जितना ही स्वतंत्र होता है वह उतना ही विकसित मन का है।

—मनुष्य की वासना का विकास, लालजीराम शुक्ल, अजन्ता (हैदराबाद ।।) जनवरी, ५३।

३ जीवन में नीति और समाज की सत्ता अनिवार्य है—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। लेखक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है, अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है।

—साहित्य में आत्माभिव्यक्ति, डा० नगेन्द्र, प्रतीक ४ हेमन्त।

४ इस प्रकार साहित्य माता के समान हमारा पालन करता है, पिता के समान हमारी रक्षा और वृद्धि करता है, गुरु के समान शिक्षा देता है, सुहृद के समान मार्ग दिखाता है और स्त्री के समान मधुर स्नेह की साकार मूर्त्ति बनकर आता है।

—अध्ययन, डा० भगीरथ मिश्र, खंड २ पृ० ९०

से मात्र मनोरंजन ही नहीं होता, ज्ञान और पथ-प्रदर्शन भी मिलता है। साहित्य जीवन से पूर्णतः सम्पृक्त रहता है। वह जीवन की वाणी, जीवन का प्रकाशन होता है। इसलिये आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में जीवन के प्रति एक गहरी आस्था, जगत के प्रति एक उत्कट प्रेम परिलक्षित होता है।

महाकाव्य का जीवन और समाज से अटूट संबंध—मानव-जीवन और समाज से महाकाव्य का सम्बन्ध छूटे भी तो कैसे ? उसकी प्रेरणा तो जीव और जगत से ही मिलती है। आचार्य विनोबा ने कवियों की स्फूर्ति के तीन कारण माने हैं – मानव हृदय की उन्नति, सामाजिक दायित्व और प्रकृति के साथ सम्बन्ध [१] और महाकाव्य में तो इनके प्रकाशन की और अधिक सुविधा है, अनिवार्यता है। साहित्य का अर्थ ही होता है सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाला प्रबल साधन।[२] साहित्याङ्गों में महाकाव्य में यह प्रभाव और भी इसलिये बढ़ जाता है कि बृहत् काव्य के कारण उसमें रागात्मिक वृत्तियों को छूने की शक्ति प्रबल होती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसीलिये 'साहित्य को मानव जीवन से सीधा उत्पन्न होकर सीधे मानव जीवन को प्रभावित' करने वाला माना है और स्पष्ट रूप से लिखा है कि 'जीवन के जो जो पहलू हमें नजदीक से और स्थायी रूप से प्रभावित करते हैं उनके विषय में मनुष्य के अनुभवों के समझने का एक मात्र साधन साहित्य है।'[3]

जीवनगत दृष्टिकोण का विस्तार—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में जीवनगत दृष्टिकोण का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। केवल प्रकृति में मानवीय भावनाओं का आरोप ही नहीं हुआ है, मानव को महत्त्व देने के लिए ईश्वर में भी मानवत्व का आरोप हुआ है। राम और कृष्ण जैसे अवतारों को भी अधिक से अधिक मानवीय समस्याओं से ओत-प्रोत दिखलाया गया है। साथ ही, सामान्य व्यक्तियों में ईश्वरत्व जैसी उच्चता दिखलायी गयी है।

कुछ उदाहरण—प्रियप्रवास के कृष्ण रस-विलासी नहीं, लोकनायक और नररत्न हैं। उसमें कवि ने राधा के स्वरूप को भी अत्यधिक परिमार्जित किया

---

१ साहित्यिकों से, पृ० १०३

२ साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं। जो समाज और सामाजिक जीवन को भली बुरी दिशा में ले जाने का प्रबल सामर्थ्य रखती है।

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आलोचना. अप्रैल ५७ के सम्पादकीय में।

३ साहित्य का साथी, पृ० ४

है—वह भी विरह-व्यथिता कामिनी नहीं, एक कर्त्तव्यनिष्ठ भारतीय महिला है। उसमें लोक-जीवन को प्रमुखता देने के लिये ही नवधा-भक्ति की नई व्याख्या की गई है। कर्त्तव्य-परायणता और जीवन के प्रति कैसी उदार-वृत्ति प्रियप्रवास में है—

विपर-सिन्धु पड़े नर-वृंद के।
दुख-निवारण औ हित के लिए।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म-निवेदन- भक्ति है।

—षोड़श सर्ग, पद १२३

यहाँ तककि कृष्ण सम्पूर्ण ब्रज की चिन्ता और प्रेम-स्मरण करते हुए भी वहाँ इसलिए नहीं जाते कि वे मथुरा की पतित राजनीति और पीड़ित मनुष्य के जीवन का सुधार करने में व्यस्त हैं। इसीलिए वे कहते हैं—

जी में बात अनेक बार यह थी मेरे उठी मैं चलूँ
प्यारी-भावमयी सु-भूमि में दो ही दिनों के लिए।
बीते मास कई परन्तु अब लौं इच्छा न पूरी हुई।
नाना कार्य-कलाप की जटिलता होती गई बाधिका।

—नवम् सर्ग, पद ५

वैदेही वनवास में भी यही लोकाराधना की भावना है, जिसने राम को सीता-वनवास के लिए प्रेरित किया है। सीता दाम्पत्य के आदर्श का जो उपदेश देती हैं, उसमें भी सुखमय सामाजिक जीवन की ही भावना छिपी है। सीता नारी-जीवन का आदर्श पति के लिए जीवन का उत्सर्ग मानती है—प्रणय की आधार-शिला यही त्याग-भावना है भी तो—

अवनी में जो जीवन का अवलम्ब है।
सबसे अधिक उसी पर जिसका प्यार है।
वह पतिता है जो उससे है उलझती।
जिस पति का तन, मन, धन पर अधिकार है।

—चतुर्दश सर्ग, पद १०८

गुप्त जी भी जीवन के सम्बन्ध में त्यागमय आदर्श की स्थापना करते हैं। उनके चरित्रों में त्याग भावना की पराकाष्ठा है। राम, सीता, लक्ष्मण, भरत,

दशरथ, उर्मिला सब इसके ज्वालन्त उदाहरण हैं। वे इसीलिए स्वीकार भी करते हैं कि—

त्याग और अनुराग चाहिए बस यही।'

पंचम सर्ग, पृ० १०७

हम हों समष्टि के लिए व्यष्टि बलिदानी।

—अष्टम् सर्ग, पृ० १६६

जीवन के लिए गुप्तजी पुरुषार्थ की आवश्यकता मानते हैं, इसीलिए साकेत के पात्रों की कौन कहे पात्रियाँ भी शक्ति और सामर्थ्य पर भरोसा रखती हैं; और तभी तो कैकेयी पति के संग समर में जाने की दुहाई देती हुई लंका-युद्ध में सम्मिलित होना चाहती है। आंसू बहाने के लिए बदनाम उर्मिला भी युद्ध क्षेत्र में जाने को उद्यत दीखती है। वह तो सावित्री की भाँति यम तक को साधने की क्षमता अपने में पाती है—

कुछ शमन-यत्न करते हम भी,
है योग साध्य दुर्दम यम भी।

— षष्ठ सर्ग पृ० ११७

सामूहिक जन-जीवन को महत्त्व देने को ही कवि ने लोकमत के महत्त्व को स्वीकार किया है। राम की प्रजा उनसे कहती है।

बोल उठे जन—भद्र, न ऐसा तुम कहो,
देते हैं हम तुम्हें बिदा ही कब अहो।
राजा हमने राम तुम्ही को है चुना,
करो न तुम यों हाय, लोकमत अनसुना।

—पंचम सर्ग,पृ० ८९

जीवन को भोग के लिए नही, सेवा के लिए अर्पित करने का आदर्श कवि राजा (प्रकारान्तर से आज के मन्त्रियों) के लिए भी रखता है. इसी से साकेत के राम कहते हैं—

तुम्हें रुचता है यह अधिकार ?
राज्य है प्रिये ? भोग या भार ?
बड़े के लिए बड़ा ही दण्ड,
प्रजा की थाती रहे अखंड।

—द्वितीय सर्ग, पृ० ४३

भरत के शब्दों में तो राज्य का मूल्य और भी मँहगा ज्ञात होता है—

राज्य, क्यों माँ, राज्य केवल राज्य ?
न्याय-धर्म-स्नेह, तीनों त्याज्य
राज सुख है बलि पुरुष का भोग,
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग।

सप्तम् सर्ग, पृ० १३८

जीवन की प्रगति को अभिनन्दनीय और अनिवार्य मानते हुए भी साकेत के कवि ने मर्यादा की आवश्यकता बतलायी है—मानो वे प्रगति की धारा को कूलों में बँधे रहकर बहने देने के आकांक्षी हैं—

बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है ?
देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है।
इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं।
हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं।
"पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है,
पर बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है।
मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूंगा,
हित उनका उससे अधिक कौन जानूंगा ?
जितने प्रवाह हैं, बहे, अवश्य बहें, वे,
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।—अष्टम सर्ग, पृ० १६४

पारस्परिक प्रीति एवं योग-भोग के समन्वय को कवि ने जन-जीवन के विकास के लिए शुभ माना है। साकेत को आदर्श राज्य मानकर वहाँ के आदर्श निवासियों का वर्णन कवि ने इस तरह किया है—

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले,
स्वस्थ, शिक्षित, शिष्ट, उद्योगी सभी,
बाह्य भोगी, आन्तरिक योगी सभी।

—प्रथम सर्ग, पृ० १५

जिस दाम्पत्य जीवन का उपदेशात्मक स्वरूप वनवास में उपस्थित किया गया है, उसी का भावात्मक चित्र साकेत में मिलता है। पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम का स्वरूप लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद में देखा जा सकता है—

भूमि के कोटर, गुहा, गिरि, गर्त्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त्त भी।
प्रेयसी किसके सहज-संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों का स्वर्ग-से।
खोजती है किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुम-सा पात्र हम,
आन्तरिक सुख-दुःख हम जिसमे धरे,
और निज भवभार यों हलका करें।

—प्रथम सर्ग, पृ० २३

महाकाव्य में जिस सर्वकालीन जीवन की अभिव्यक्ति की आवश्यकता होती है, वह पर्याप्त मात्रा मे साकेत में मिलती है। जीवन को सुख और शांति से पूर्ण बनाने का लक्ष्य इस काल के प्रत्येक महाकवि का रहा है। हरिऔध लोक-सेवा मे सुख-शान्ति पाते है, गुप्त वैष्णव-भावना के द्वारा 'सखे समन्वय करो भक्ति को मुक्ति से' [1] मानते हैं और प्रसाद इसे ही समरसता और आनन्द तत्त्व के द्वारा सुलभ मानते हैं। एक जहाँ कोलाहलपूर्ण धरती पर सुख-शान्ति की स्थापना करता है, वहाँ दूसरा कैलाश पर्वत की ऊँचाई पर चढ़ कर इस आनन्द का अनुभव करता है। यह अन्तर प्रतीकात्मकता के कारण है, स्थूल दृष्टि के कारण नही।

कामायनी में जीवन का स्वर और भी प्रबल है, क्योंकि इसका नायक प्रियप्रवास और साकेत के राम और कृष्ण-सा आदर्शवादी नहीं, एक सामान्य यथार्थवादी व्यक्ति है। प्रसाद ने एक चिन्ताग्रस्त, पिपासित, क्षुधित और निराश मानव को संघर्ष करते हुये, भूलों से प्रताड़ित होते हुये, अन्त में देव-सुलभ चेतना-सम्पन्न आनन्दलोक मे प्रतिष्ठित किया है। मनु का प्रारम्भिक जीवन ग्राह्य नही, श्रद्धेय नहीं, पर उसका पतन स्वाभाविक रूप से चित्रित है। अतः मनु के प्रति श्रद्धा नहीं उमड़ती तो घृणा भी नहीं होती। वह एक सहज तिनके-सा ज्ञात होता है, जो इच्छाओं की आँधी में बहता जाता है।

मानव के ह्रास के कारणों पर विचार करते हुए कवि यह मानता है कि मनुष्यों के बीच वर्ण-भेद, जाति-मोह, ऊँच-नीच, छूत-अछूत आदि के संकुचित विचार बहुत दूर तक पतन में सहायक सिद्ध हुये। जिस जातिवाद के

१. पंचम सर्ग, पृ० १०१

विरोध में दिनकर ने रश्मिरथी में और एकलव्य में रामकुमार ने स्वर उठाये उस पर सांकेतिक विचार कामायनी मे पहले ही किया गया—

यह अभिनव मानव-प्रजा-सृष्टि
द्वयता मे लगी निरन्तर ही वर्णो की करती रहे वृष्टि,
अनजान समस्याएँ गढ़ती, रचती हो अपनी ही विनष्टि,
कोलाहल-कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो बढ़े भेद,
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे,हाँ मिले अनिच्छित दुखद खेद।

—इड़ा, पृ० १६४

जीवन के लिये प्रसाद परिवर्त्तन की आवश्यकता मानते हैं। वे नवीनता का आह्वान करते हैं—

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनन्द,
किए हैं परिवर्त्तन में टेक।

—श्रद्धा, पृ० ५५

पर, वे नवीनता के स्थान पर उपयोगी और कल्याणकारी प्राचीन नियमों का त्याग श्रेयस्कर नहीं समझते, इसीलिए कभी-कभी जीवन में वे नियम भी स्वीकृत होते है—

कभी-कभी हम वही देखते पुनरावर्त्तन,
उसे मानते नियम चल रहा जिससे जीवन। —संघर्ष पृ० १६१

प्रसाद ने अतीत, समाज, संस्कृति, धर्म आदि को जीवन के लिए साधन माना है, वे जीवन के लिए हैं, जीवन उनके लिये नही। जीवन के पूर्ण उपयोग के वे पक्षपाती थे- –

यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि साधना,
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की आराधना।। वही,पृ० १६३

प्रसाद ने अधिकार-प्रमत्तता का विरोध किया है और सुखमय जीवन के लिए सामाजिक नियमों के पालन की आवश्यकता सिर्फ सामान्य मानवों के लिए ही नहीं, उनके नियामकों के लिए भी मानी है—

और कह रही, किन्तु नियामक नियम न माने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ-सा निश्चय जाने।

—वही, पृ०१६२

आज के शासन-सूत्रधारों के लिए यह विचार कितना उपयोगी है !

मनुष्योचित जीवन व्यतीत करने के लिए शक्ति की नितान्त आवश्यकता है । यह शक्ति शरीर और आत्मा दोनों के लिए आवश्यक है । शक्ति का अमृत-मन्त्र प्रकृति मे निरंतर गूंज रहा है, पर अज्ञान के वशीभूत हम उसे सुनते ही नही—

और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मंगल वरदान ।
शक्तिशाली हो विजयी बनो,
विश्व में गूंज रहा जयगान । —श्रद्धा, पृ० ५७

इस शक्ति के बल पर ही इस दुनिया में ठहरा जा सकता है !

जिस बुद्धिवाद की अतिशयता का विरोध कुरुक्षेत्र में किया गया है, उसका सूत्र-रूप कामायनी मे पहले से मिलता है । इड़ा, जो बुद्धि की प्रतीक है, उसके सम्बन्ध की ये पंक्तियाँ इसका प्रमाण है—

मूर्त्तिमती अभिशाप बनी-सी सम्मुख आयी,
तुमने ही संघर्ष-भूमिका मुझे दिखायी ।
रुधिर-भरी वेदियाॅ भयकरी उनमें ज्वाला,
विनयन का उपचार तुम्ही से सीख निकाला,
चार वर्ण बन गए, बँटा श्रम उनका अपना,
शस्त्र यन्त्र बन चले, न देखा जिनका सपना ।

—संघर्ष, पृ० १९६

कामायनी में जीवन का यह आदर्श कितना ऊँचा, कितना व्यावहारिक है—

शापित न यहाॅ है कोई,
तापित पापी न यहाॅ है,
जीवन वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाॅ है ।

—आनन्द, पृ० २८८

कुरुक्षेत्र में कवि ने जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है । वह संसार के मंगलमय विहान का विश्वासी है—

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से,

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से।

—सप्तम सर्ग, पृ० १८१

कवि ने जीवन के लिए आत्मबल के साथ देह-बल के संतुलन का संदेश दिया है।

कौन केवल आत्म-बल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खंग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।

—द्वितीय सर्ग पृ० २४

कवि मनुष्य के जीवन को शासित करनेवाली राजतन्त्रात्मक नीति का बिरोधी है—

राजतन्त्र द्योतक है नर की,
मलिन निहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और,
कुत्सित कलंक संस्कृति का।

—सप्तम सर्ग, पृ० १४४

कवि, मानवता की आशा के लिये सहृदयता और पुण्य-बल की आवश्यकता बतलाता है—

जब तक है नर की आँखों में शेष व्यथा का पानी,
जब तक है करती विदग्ध मानव की मलिन कहानी,
जब तक है अवशिष्ट पुण्य-बल की नर में अभिलाषा।
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा।

—वही, पृ० १२१

बुद्धिवाद के कलुषित और स्वार्थमय रूप को कविने अनुचित और त्याज्य माना है, क्योंकि—

सच है, बुद्धि-कलश में जल है,
शीतल सुधा तरल है,
पर, भूलो मत कुसमय में,
हो जाता वही गरल है।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ६६

किन्तु, बुद्धि नित खड़ी ताक में,
रहती घात लगाये,
कब जीवन का ज्वार शिथिल हो,
कब वह उसे दबाये।

—चतुर्थ सर्ग, पृ० ६८

यह ठीक है कि मनुष्य को रसातल में पहुँचाने वाली लोभ, द्रोह, प्रतिशोध, वैर जैसी अनेक कुप्रवृत्तियाँ हैं, पर उसे ऊपर उठाने वाली शक्तियाँ भी कुछ कुछ कम नहीं, फिर मानव निराश क्यों हो ?

लोभ, द्रोह, प्रतिशोध वैर,
नरता के विघ्न अमित है,
तप, वलिदान, त्याग के सम्बल
भी न किन्तु परिमित है।

व्यक्ति और समाज के जीवल को सुखद बनाने के लिये यह आवश्यक है कि अन्याय का उत्तर दिया जाय—प्रतिशोध लिया जाय। समाज और न्याय की रक्षा के लिये की गयी हिंसा अहिंसा के समान ही पुण्यमय है।

एकलव्य के कवि ने जीवन के लिये साधना की वृत्ति अपनाने का आदर्श सामने रखा है। उसमें जाति और वर्ण की उच्चता का नही, व्यक्तिगत गुणों की उच्चता का मानदण्ड हमारे सामने रखा है। यही आदर्श रश्मिरथी का भी है। कृष्णायन ने जीवन को कर्ममय, सेवामय और प्रेममय बनने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

एकलव्य के कवि ने निराशा का त्याग करने एवं सुयोग्य बनने की सलाह बड़ी ओजस्वी वाणी में दी है—

जीवन नैयराश्य की है भूमि नहीं मानवो।
सुख-दुख बादलों की भाँति उड़ जाते हैं।
शक्ति मिटती नहीं है, अवतार लेती है,
तुममें सदैव, तुम योग्य तो बनो सही।

—दक्षिणा, पृ० २७६

'साकेत-सन्त' में त्याग-तपस्या का आदर्श अपनाया गया है और 'तारक-वध' में 'पाप से घृणा पापी से प्यार' की नीति का अवलम्बन किया गया है। कैकेयी

में राष्ट्र और संस्कृति की सुरक्षा के लिये वैयक्तिक और पारिवारिक सुख के त्याग की शिक्षा दी गयी है ।

निष्कर्ष

प्रमुख महाकाव्यों का जीवनगत दृष्टि-विन्दु—निष्कर्ष के रूप में आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में जीवन-सम्बन्धी निम्नलिखित दृष्टिविन्दु पाये जाते हैं:-

प्रियप्रवास

० कर्त्तव्य-परायण को प्रेमपाश नहीं बांध सकता; जैसे कृष्ण ने ब्रज की प्रेमभूमि को त्याग कर मथुरा की कर्म-भूमि को अपनाया ।

० विरही-जीवन को रोकर नहीं, दुखियों की सेवा में बिताना चाहिये; जैसा राधा ने किया ।

० जन-सेवा ही अमर बनाती है; जैसे ब्रजवासियों के मन प्राणों पर कृष्ण की ब्रज-रक्षा के अनेक चित्रों की अमिट छाप रही ।

साकेत

० त्याग जीवन की विभूति है; जैसे राम, लक्ष्मण, भरत आदि का जीवन ।

० सेवा-धर्म है, जैसे निषाद की भक्ति ।

० वियोग की दशा में भी कर्त्तव्य पालन की सुधि रहनी चाहिए; जैसे उर्मिला अवध के विकास, कृषि आदि की खबर लेती है ।

० विपत्तिकाल में नारी को भी सक्रिय सहयोग देना चाहिए, जैसे कैकेयी, उर्मिला का लंका प्रस्थान-प्रस्ताव; साथ ही सीता की चित्रकूट में कार्य- दक्षता ।

० सत्य की जीत होती है, न्याय का सम्मान; जैसे रावण पर राम की विजय ।

० सबसे अधिक है गार्हस्थ्य जीवन की प्रेममयता और पवित्रता का आदर्श; जैसे लक्ष्मण-उर्मिला एवं राम-सीता के दाम्पत्य जीवन का आदर्श ।

कामायनी

० हानि और नाश से चिन्तित होना मानव-स्वभाव है; जैसा प्रथम सर्ग में मनु का चित्र है ।

- पुरुष का जीवन नारी के बिना अपूर्ण है; जैसा श्रद्धा के आगमन के पूर्व मनु का जीवन ।
- लज्जा नारी का आभूषण है ।
- कुसंगति कुप्रवृत्तियों को उभारती है । जीवन को सफल बनाने के लिये उनका त्याग आवश्यक है; जैसे किलात-आकुलि का मनु को प्रेरित करने की घटना ।
- जीवन की सबलता के लिते उस पर बुद्धि का नहीं, श्रद्धा का नियंत्रण होना चाहिए; जैसे मनु के जीवन में इड़ा के सम्पर्क से हानि एवं श्रद्धा के सहयोग से लाभ ।
- आनन्द जीवन का लक्ष्य है, समरसता आनन्द-लाभ की भूमि ।

कुरुक्षेत्र

- अन्याय का विरोध और अन्यायियों का दमन आवश्यक है ।
- वीरता मनुष्य की स्थिति के लिए अनिवार्य है ।
- क्षमा वीरों का शृंगार है, क्लीवों का नहीं ।
- शान्ति और धर्ममय जीवन की स्थापना जीवन का लक्ष्य है ।
- बुद्धि का हृदय से संतुलन आवश्यक है ।
- विज्ञान साधन है, साध्य नही, उसका सदुपयोग आवश्यक है ।

एकलव्य

- जाति और वर्ण के कारण नही गुणों के कारण प्रतिष्ठा होनी चाहिए ।
- समय ही शूद्र है, जो निन्दा के नाराच द्वारा गुरु का हृदय खण्ड-खण्ड करता है ।
- मनुष्य जाति से नहीं,नीचे विचार के कारण शूद्र होता है । शूद्रत्व प्रतीक है—'तुम विप्र हो, हे शिष्य ! गुरु द्रोण शूद्र है ।'
- लूटने वाला कुछ नहीं पाता, लुटाने वाला सर्वस्व पा लेता है । जीवन की विचित्र गति है—हारनेवाला जीतता है, जीतनेवाला हारता है । गुरु द्रोण और पाण्डव की नहीं, जीत दक्षिणा देनेवाले एकलव्य की हुई ।

- प्रतिक्रियाएँ जीवन को बदल डालती है—द्रोण के हस्तिनापुर आने के पूर्व और उत्तर का जीवन इसका प्रमाण है ।

अन्य महाकाव्य

- त्याग के आदर्श को बीसवीं शती से महाकाव्यों में अपनाया गया है—जैसे साकेत-सन्त, वैदेही-वनवास, कृष्णायन, रश्मिरथी आदि मे ।
- अस्त्रों से नहीं, चरित्र और आत्मबल से दुष्चरित्रों का संहार करना चाहिये । दुष्ट व्यक्ति का नहीं, कुप्रवृत्तियों का संहार करना चाहिए; जैसा तारक-वध में किया गया है ।



त्रयोदश प्रकरण

आलोच्य महाकाव्यों की शिल्प-सम्बन्धी मौलिक प्रयोगशीलता—प्रत्येक की विवेचना

आलोच्य महाकाव्यों की शिल्प-सम्बन्धी मौलिक प्रयोगशीलता-प्रत्येक की विवेचना

आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यों के नये शिल्प की विशेषता—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का अर्थ होना है खड़ी बोली हिन्दी के महाकाव्य; प्रियप्रवास के रचना-काल[1] को ध्यान में रखते हुए जिसका काल-विस्तार लगभग आधी शताब्दी होता है—बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के प्राय: चारदशक और उत्तरार्द्ध का प्राय: एक। अत: यह स्वाभाविक ही है कि खड़ी बोली के विकास को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों ने महाकाव्यों के स्वरूप-निर्माण को बहुत दूर तक प्रभावित किया। साथ ही, अन्य भाषाओं के, विशेषत: अंग्रेजी और बंगला के काव्य-साहित्य ने इसको नये रूप में ढलने की प्रेरणा प्रदान की। इसके अतिरिक्त खड़ी बोली काव्य को अधिक से अधिक समृद्ध बनाने की होड़ ने इसके शिल्प को नवीनता प्रदान की। कवि के सामने भारतीय वाङ्मय की समृद्धि का आदर्श था—संस्कृत और हिन्दी के महाकवियों की एक विशाल एवं विश्वप्रसिद्ध परम्परा सामने थी। अत: खड़ी बोली के महाकाव्य लिखने वालों को पाठकों के सामने आदर्श के नवीन पृष्ठ रखने थे। यह नवीनता दो रूपों में सामने आ सकती थी—एक तो यह कि भारतीय साहित्य की विशाल रत्न-राशि से कथानक लेकर ये कवि उन महाकाव्यों में आधुनिक काल की समस्याओं का समाधान करते, दूसरे ये नये शिल्प-विधान के द्वारा अपने महाकाव्यों को अधिक कलात्मक बनाते। सबसे बड़ी बात है कि आधुनिक काल में कालिदास, तुलसी आदि के समान प्रतिभावाले कवि नहीं हुए पर अपने अस्तित्व के प्रमाण-स्वरूप अपने युग को वाणी देने के लिए इन कवियों ने नये शिल्पों का आश्रय लिया। शिल्प ही वह प्रधान विशेषता है जो प्राचीन और नवीन महाकाव्यों को दो रूपों में बाँटती है, तथा शिल्प ही वह कारण है, जिसके द्वारा आधुनिक हिन्दी महाकाव्य विश्व की किसी भाषा के महाकाव्यों के बीच अपना व्यक्तित्व बनाये हुए हैं।

१—प्रियप्रवास ग्रंथ २५ अक्तूबर सन् १९०९ ई० को प्रारम्भ और कार्य-बाहुल्य से २४ फरवरी सन् १९१३ को समाप्त हुआ है।

प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० ६

शिल्प को प्रभावित करनेवाले तत्त्व–विषय, भाव, उद्देश्य एवं समस्याओं के अनुसार हमारे आलोच्य महाकवियों ने अपने-अपने शिल्प का निर्माण किया। शिल्प को प्रभावित करने वाले मुख्य तत्त्व है—कथानक, संवाद, चरित्र-चित्रण, भाषा और छन्द। ये तत्त्व ही इस कला मे सहायक होते हैं कि कवि किस प्रकार अधिक से अधिक उपयुक्त रूप से अपनी महाकाव्यात्मक धारणाओं और अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति कर सकता है। इसी उद्देश्य से इन तत्त्वों के उपयोग के कौशल को शिल्प कहते हैं। इन तत्त्वों का सम्यक विवेचन पिछले पृष्ठों मे अलग-अलग प्रकरणो में किया गया है। यहाँ संक्षेप मे आलोच्य महाकाव्यों की मौलिक शिल्पात्मक विशेषताओं का उल्लेख किया जायेगा।

आधुनिक हिन्दी काव्यों में शिल्प-सम्बन्धी मौलिक प्रयोगशीलता

प्रियप्रवास

(१) कृष्ण-कथा के वेही तथ्य चुने गये, जो नायक के लोकरंजक-रूप के प्रकाशक हैं।

(२) कृष्ण-कथा का प्रत्यक्ष तात्कालिक वर्णन न कर अप्रत्यक्ष रूप से अतीतकालिक विवरण प्रस्तुत किया गया।

(३) इस विवरण के लिए मुख्यत: प्रनिवेदन-शैली (रिपोर्टिंग स्टाइल) का सहारा लिया गया है, जिसका शास्त्रीय रूप स्मरण के अन्तर्गत और मनोवैज्ञानिक रूप साहचार्य-सम्बन्ध (लॉ ऑफ एशोसियेशन) के अन्तर्गत आ सकता है।

(४) कथानक की क्षीणता को प्रकृति-चित्रण के द्वारा चित्रित मनोभावों के माध्यम से पूर्ण किया गया है।

(५) कथानक में उत्सुकता नहीं है। वह घटना-विस्तारक नहीं, चरित्र-प्रकाशक है।

(६) चरित्रों का चित्रण प्राचीन पद्धति पर नहीं हुआ है। असत्-प्रवृत्तियों वाला कोई पात्र नहीं। खलनायक कंस हो सकता था पर उसे घटना-वृत्त मे नही लिया गया है। नायक-नायिका के प्रत्यक्ष सम्बन्धों का विवरण नहीं है। लोक-सेवा के आदर्श को प्रभावशाली बनाने के लिये कवि ने राधा के चरित्र- परिवर्तन के शिल्प को सुन्दरता से अपनाया है।

(७) परम्परागत रूप से उद्धव और गोपिकाओ के सम्वाद में जो दार्शनिकता, वाग्विदग्धता और उलाहनाएँ मिलती हैं, उनका अवसर प्रियप्रवास

में उपस्थित नहीं किया गया है। भ्रमरगीत का प्रसंग, उद्धव-गोपी सम्वाद के रूप में आयोजित नहीं किया गया है। एक स्थान पर सिर्फ एक भ्रमर को देख गोपिका विरह-निवेदन करती है, जिसे उद्धव दूर से ही सुनते हैं। कथानक का जो रूप हरिऔध ने उपस्थित किया है, उसमें भ्रमरगीत प्रसंग की विस्तृत योजना अनावश्यक सिद्ध होती है। उद्धव के सम्मुख यशोदा, नंद और राधा की व्यथा के प्रकाशन का भी अच्छा अवसर मिला है।

(८) महाभारत के कथा-प्रसंगों की अवतारणा एवं खड़ी बोली के प्रथम महाकाव्य के आदर्श स्वरूप के लिए संस्कृत-निष्ठ भाषा ही अपनायी जा सकती थी। ब्रजभाषा के प्रभाव से सर्वथा मुक्त होने के लिए यह तत्समता बड़ी कारगर सिद्ध हुई। अधिकांश रूप मे अलंकार की योजना वहीं हुई है, जहाँ उनके द्वारा भावों का प्रकाशन अधिक व्यंजक रूप से सम्पन्न हुआ।

(९) भिन्न तुकान्त पंक्तियों में शब्दों की सुगठ योजना के कारण ही संगीतात्मकता का निर्वाह हुआ है। भाव-व्यंजना की अनुकूलता के लिए मन्दाक्रान्ता छंद की योजना सर्वाधिक सफल हुई है।

(१०) वर्णन-शैली में प्रायः न बहुत अधिक विस्तार है, न अतिशय संक्षिप्तता—मध्यम मार्ग का अनुसरण किया गया है।

साकेत



(१) राम-कथा के परम्परागत स्वरूप को कवि ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति—लक्ष्मण-उर्मिला को महत्त्व देने एवं नामकरण की सार्थकता—के लिए नया मोड़ दिया है। बालकाण्ड को स्मृति के रूप मे अत्यन्त संक्षेप में एवं साकेत के बाहर की घटनाओं को चलते रूप में दिखाया गया है।

(२) संवादों की योजना अनेक स्थानों पर बड़ी कुशलता से भाव-व्यंजना के प्रकाशन के लिये की गई है। इन सम्वादों के कारण चरित्र-चित्रण, कथा-विस्तार, वाग्विदग्धता आदि तत्त्वों का समुचित रीति से चित्रण हुआ है।

(३) उर्मिला के चिरशापित मौन को मुखर करने का प्रयास चरित्र-चित्रण के शिल्प में एक नया अध्याय जोड़ता है। कैकेयी के चरित्र का प्रथम-बार प्रक्षालन मानवता के मूल्यांकन का नवीन प्रयास है। इसके प्रक्षालन के लिये कवि ने तीन प्रकार के शिल्प को अपनाया है—मनोवैज्ञानिक प्रणाली, जिसके द्वारा 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह' जैसी पंक्तियाँ

लिखी गयीं हैं तथा वरदान स्वयं न माँगकर उसका प्रस्ताव दसरथ की ओर से कराया गया है; दूसरी प्रणाली पाश्चाताप की है, जिसके द्वारा चित्रकूट में कैकेयी ने आत्मग्लानि और अश्रु-धार से अपने कलुष का परिमार्जन किया है तथा तीसरी प्रणाली सक्रिय सेवा भावना की है, जिसके द्वारा कैकेयी ने लंका-युद्ध मे भाग लेकर राम-लक्ष्मण सीता की अपूर्व सेवा की उत्सुकता दिखलायी है।

(४) आधुनिक प्रभाव को व्यंजित करने के लिये कवि ने तीन प्रकार के शिल्पों का प्रयोग किया है—पात्रों के कार्य-कलाप की नवीन पार्श्वभूमि से सम्बद्ध शिल्प, कथन-भंगिमा सम्बन्धी शिल्प और दृष्टिकोण-परिचायक शिल्प। प्रथम का उदाहरण है सीता का चित्रकूट मे नयी धज धारना, अपने हाथों पलना, कातना-बुनना आदि। दूसरे का उदाहरण है हनुमान का यह कहकर परिचय देना कि 'आगे ऋष्यमूक पर्वत पर बानर ही कहिए, हम थे' इस पंक्ति में 'कहिए' शब्द का प्रयोग संकोच, बन्दर कहे जाने की अपमान-भावना के प्रति सतर्कता एवं इस सम्बोधन से नहीं पुकारे जाने की ध्वनि है। यह आधुनिक मानवतावाद का परिचायक है। तीसरे के उदाहरण राम-वन-गमन के समय प्रजा का पिकेटिंग, राम एवं भरत का राजा-प्रजा सम्बन्धी दृष्टिकोण आदि हैं।

(५) मंगलाचरण की प्राचीनता और औपचारिकता को हटाकर कवि ने नवीन शिल्प के आधार पर उन्हे महाकाव्य के भाव और रस के प्रसंगानुकूल बना दिया है।

(६) भाष-शैली सम्बन्धी रचना-कौशल इस रूप में महत्त्वपूर्ण है कि वह सदैव भाव-भंगिमा का अनुगामी है। लक्ष्मण-उर्मिला के हास-परिहास में जो क्षिप्रता है, कैकेयी-मंथरा-सम्वाद में जो चढ़ाव-उतार हैं, दशरथ के व्यथा-चित्रण में जो गंभीरता है, उर्मिला के विषाद में जो तीखापन है—उन सबके लिए विविध रूपों से भाषा और शैली का प्रयोग किया गया है।

(७) छन्द भी भाव की व्यंजना के अनुसार कहीं छोटे और कही बड़े हैं। वियोग में मन स्थिर नही होता। तरह-तरह की भावनाएँ उठा करती है—इसी कारण नवम सर्ग मे अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है।

(८) प्रकृति चित्रण की प्राय: सभी प्रणालियों का अनुसरण किया गया है, पर शिल्प-सम्बन्धी विशेषता वहीं अधिक सफल हुई है, जहाँ प्रकृति मानव-भावों के रंग में रंग कर आयी है।

(९) अलंकार कथा-शिल्प के प्रेरक बनकर आये हैं, जिसके कारण वर्णनात्मक और भावात्मक प्रसंग अधिक व्यंजनापूर्ण बन गए है ।

(१०) कवि ने विभिन्न प्रसंगो मे बड़ी कुशलता से साहित्य और कला-सम्बन्धी अपने दृष्टिकोणों को पिरो दिया है । यथा पृ० २६ और १०७ में व्यक्त विचार ।

कामायनी

(१) प्राचीन बिखरे कथा-सूत्रों के संग्रथन में शिल्प की विशेषता देखी जा सकती है, जिसके कारण महाकाव्य का एक भव्य स्वरूप निर्मित हो सका है । यह शिल्प उस शिल्पी की कला के समान है, जो छोटे छोटे अनगढ़ टुकड़ों को जोड़कर एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण कर लेता है ।

(२) कल्पना-तत्त्व ने कथा-शिल्प को सँवारने का कार्य किया है ।

(३) बहुत कम पात्रों की अवतारणा की गयी है । संक्षिप्तता के इस कौशल के कारण चरित्र-चित्रण में अधिक सूक्ष्मता और तीव्रता आयी है ।

(४) पात्रों के प्रतीक-विधान के शिल्प ने मानव-मनोभावों और सजीव पात्र-पात्रियों के दुहरे व्यक्तित्वों की एकरूपता उपस्थित की है ।

(५) जीवन-दर्शन को उपस्थित करने के लिए दो प्रकार के शिल्पों का प्रयोग किया गया है—अप्रत्यक्ष विधि और प्रत्यक्ष विधि । प्रथम के अन्तर्जत पात्रों के जीवन एवं कथन से दार्शनिक तथ्यों का निरूपण किया गया है एवं दूसरे के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से दर्शन, रहस्य आदि सर्गों की रचना की गयी है ।

(६) कामायनी के सम्वादों के शिल्प की विशेषता है-मर्मस्पर्शिता । संवाद बहुत तो नही हैं, पर जो हैं वे मन को छूने वाले हैं ।

(७) प्रियप्रवास एवं कामायनी में मंगलाचरण की औपचारिकता को त्यागने की दृष्टि में नवीनता है । इनमें मंगलाचरण की अप्रत्यक्ष योजना-शिल्प के दर्शन होते हैं; जिनके द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वन्दना, मंगलाचरण आदि न लिखकर मानव के कल्याणकारी सन्देशों की योजना कथा के अन्तिम लक्ष्य के रूप में की गई है । दोनों पुस्तकों के अन्त में मानव की कल्याण-कामना है, प्रियप्रवास में लोक-सेवा द्वारा एवं कामायनी में श्रद्धा की विजय, आनन्द तत्त्व एवं समरसता के द्वारा ।

(८) छायावाद का गौरव-ग्रंथ कामायनी भाषा-शैली की दृष्टि से कथा-चरित्र, सम्वाद आदि के सम्पूर्ण शिल्पों को प्रभावित करने वाली कृति है। लाक्षणिक प्रयोग, प्रतीक-पद्धति एवं मनोवैज्ञानिक शैली के कौशल को प्रभावित करने वाले शिल्प को भाषा-शैली बहुत अधिक प्रभावित करती है।

(९) कामायनी मे सूक्ष्म भावों को चित्रित करने के लिये स्थूल उपमानों की योजना करने का रचना-कौशल अत्यन्त प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। यह शिल्प इतनी सफलता से अन्य किसी हिन्दी महाकाव्य में प्रयुक्त नही दीखता।

(१०) सर्गों के विभाजन का शिल्प भी अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है—हिन्दी में किसी प्राचीन या अर्वाचीन महाकाव्य मे सर्ग-विभाजन का ऐसा विकसित मनोवैज्ञानिक शिल्प-विधान नहीं दीखता।

इस तरह शैली की नवीनता, भाषा की व्यंजकता, वस्तु-कल्पना की उच्चता एवं शिल्प की उपयुक्तता ने कामायनी को आधुनिक काल का प्रतिनिधि महाकाव्य बना दिया है।[1] वस्तुत: महाकाव्य-सम्बन्धी शास्त्र-सम्मत सभी लक्षणों को स्वीकार कर इस प्रगतिशील-युग के प्रतिनिधि महाकाव्य की रचना सम्भव भी नहीं थी।

कुरुक्षेत्र

(१) कुरुक्षेत्र के कथा-शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता उसकी क्षीणता है। कवि ने महाभारत के युद्ध-प्रसंग को माध्यम बनाया है। उसे तर्कों एवं विचारों से पुष्ट बनाकर लक्ष्य-सिद्ध की गई है।

(२) आधुनिक-युग की युद्ध और शान्ति के समस्या के विवेचन के लिए कवि ने प्राचीन कथा का आश्रय लिया है. जिसके कारण उसे कथन की ऐसी भंगिमा का निर्माण करना पड़ा है, जो प्राचीनता के माध्यम से नवीनता की ध्वनि प्रसारित करे।

१—प्रसाद की काव्य-शैली में नवीनता और उनके भाषा-प्रयोगों में पर्याप्त व्यंजकता और कोमलानुरूपता है। प्रथम बार काव्योपयुक्त पदावली का प्रयोग कामायनी में किया गया। इस प्रकार प्रसाद जी की वस्तु-कल्पना के महत्त्व को स्वीकार कर उक्त कल्पना को पूर्ण काव्यात्मक आच्छाद में व्यक्त करने के उच्च काव्य कौशल भी स्वीकार करना पड़ता। तभी परम्परागत महाकाव्य के लक्षणों की पूर्ति न करने पर भी कामायनी को नये युग का प्रतिनिधि महाकाव्य कहने में हमें कोई हिचक नहीं होती।

—जयशंकर प्रसाद, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० १२२

(३) नाटकीय कौशल से महाकाव्य का प्रारम्भ अत्यन्त प्रभावशाली हुआ हैं। इस शिल्प के कारण चित्रात्मकता, गतिशीलता, उत्सुकता आदि तत्त्वों का आकर्षक प्रयोग स्वतः हो गया है।

(४) कवि ने युग के मन में उठने वाले द्वन्द्वो के लिए संवाद के शिल्प की बृहत्तर योजना की है। सारा महाकाव्य वार्त्तालाप के द्वारा ही मुख्यतः व्यंजित है।

(५) क्षेपक प्रामाणिक नही होता। कवि ने आधुनिकता के मोह से क्षेपक को भी शिल्प के रूप में प्रयुक्त किया है—सारा षष्ठ सर्ग इसका प्रमाण है।

(६) पात्रों की दिशा में शिल्प विधान की यह विशेषता है कि सिर्फ दो पात्र हैं—युधिष्ठर और द्रोण। तीसरा पात्र स्वयं कवि माना जा सकता है, जिसकी अलग से गणना इसलिए उचित नहीं कि वह तो सभी महाकाव्यों में रहता ही है। इसके पात्रों की संक्षिप्तता का ऐसा शिल्प कही किसी महाकाव्य में नहीं दीखता।

(७) कोई महाकाव्य ऐसा नही, जिसमें नारी न हो, पर कुरुक्षेत्र में नारी की उपस्थिति का अवकाश ही नही है।

(८) वन्दना केवल सरस्वती की है और वह भी प्रारम्भ या अन्त में नही, मध्य में है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इसका महत्त्व इसलिए है कि कवि ने अत्यन्त आवश्यक स्थल पर इसका नियोजन किया है—'शारदे विकल संक्रान्ति काल का नर मैं'। कवि ने अपने द्वन्द्व और विवशता (जिसमें युग भी समाहित है) को चित्रित करने के प्रसंग में इस परम्परा का पालन किया है। शिल्प की नवीनता के कारण ही यह परम्परा रूढ़ि नही बन सकी है।

(९) भाषा-शैली के शिल्प की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि ओज और प्रसाद गुणों का सर्वत्र प्रसार है। दुरूह कल्पना या बोझिल भाषा तो कहीं भी नहीं दीखती। अलंकार भाषा में स्वतः घुले-मिले हैं।

(१०) नवीन प्रवाहपूर्ण छन्दों के साथ ही प्राचीन कवित्त और सवैयों की योजना में कवि का शिल्प निखार पर है।

एकलव्य

(१) एकलव्य के कथा-शिल्प की विशेषता बीज को वृक्ष बनाने में है। महाभारत के छोटे से कथानक को अपनी कल्पना-शक्ति से महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करने की अद्‌भुत शक्ति का परिचय एकलव्य में दिया गया है।

(२) कथा-शिल्प की दूसरी विशेषता है—कल्पना की स्वाभाविकता। जितने भी वर्णन महाभारत से विलग आये है, वे इतने स्वाभाविक है कि मूल प्रसंग से गुंथे मालूम पड़ते है।

(३) चरित्र-चित्रण के शिल्प की यह विशेषता है कि द्रोण की लांछना को बहुत अंशो मे परिमार्जित करने का प्रयास किया गया है एवं एकलव्य के चरित्र को महाभारत की अपेक्षा अधिक उदात्त और कर्मठ बनाया गया है।

(४) चरित्र-चित्रण के शिल्प की दूसरी विशेषता है, महाकाव्य के कथानक को अधिक प्रभावशाली एव रसपूर्ण बनाने के लिये नवीन पात्रों का निर्माण। जैसे कोई शिल्पी अपनी कल्पना को साकार करने के लिये मूर्त्ति-निर्माण करता है, वैसे ही एकलव्य के कवि ने नागदत्त, एकलव्य के माता-पिता एवं व्यापारियों की अवतारणा की है। ये पात्र कथानक को अधिक नाटकीय एवं गतिशील बना देते हैं।

(५) संवादों की योजना में नाटकीय-शिल्प अपनी पराकाष्ठा पर है। किसी भी आधुनिक हिन्दी महाकाव्य मे इतने प्रवाहपूर्ण संवादों का निर्वाह नही किया गया है। लगता है सभी पात्र रंगमंच पर खड़े बातें कर रहे हैं—पूरा सजीव चित्र आँखो के सामने खिच आता है।

(६) भाषा-शैली का प्रयोग एकलव्य में दो रूपों में शिल्प-विधि का विकास कर सका है—एक तो पात्र और परिस्थिति के अनुकूल और दूसरे चमत्कार के लिये। दूसरे प्रकार का शिल्प बहुत कम स्थानों में प्रयुक्त हुआ है—जैसे पुस्तकों के नामोल्लेख में, जो आत्म-निवेदन की भूमिका में प्रयुक्त होने कारण कलात्मक हो गया है। भाषा की जो दो विशेषताएँ एकलव्य में प्रयुक्त शिल्पों को अधिक कलात्मक बना देती हैं, वे हैं संक्षिप्तता और वैलक्षण्य वृत्ति। कलात्मक मितव्ययिता के कारण रचनाओं में जो दीप्ति, प्रवाह और शक्ति आती है,[1] वे एकलव्य में प्रायः सर्वत्र वर्त्तमान है।

(७) एकलव्य में उपमा, निदर्शना, रूपक, दृष्टान्त, विभावना, अर्थान्तर-न्यास, मीलित और उदाहरण के प्रयोग अलंकार-शिल्प के ऐसे मनोरम प्रसंग हैं,

1 The value of brevity is not so much to make writers write Less as to make them write better. It is not only a practical but an artistic economy. Brevity can give grace, force and speed.

—Style. F. L. Lucas, Page—89.

जो भावों का स्पष्ट अनुभव ही नहीं कराते, आँखों के सामने प्रत्यक्ष भी करा देते हैं। किसी भी आधुनिक हिन्दी महाकाव्य में इतने नवीन उदाहरणों की योजना नहीं की गयी है।

(८) अमित्राक्षर छन्द विषय के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ है। तुकों के अभाव में भी शब्द-ध्वनि और अर्थसंगति की प्रचुरता के कारण मधुरता बनी हुई है।

(९) एकलव्य के प्रारम्भ, मध्य और अन्त तीनों कहानी और नाट्य-शिल्पों के सम्मिलित प्रभाव से पूर्ण हैं। कथा-वस्तु के संगठन में नाटकीय-संधियों, अवस्थाओं एव अर्थ-प्रकृतियों का उपयोग ऐसी रीति से किया गया है कि वे सर्वत्र संतुलित हैं। कार्य-अवस्थाओं के उपयोग की दृष्टि से सर्गों के नियोजन में संख्या-संबन्धी शिल्प का उपयोग प्रशंसनीय है। प्रारम्भ (दर्शन, परिचय एवं अभ्यास सर्ग) और प्रयत्न (प्रेरणा, प्रदर्शन तथा आत्म-निवेदन) में तीन-तीन सर्ग; प्राप्त्याशा (धारणा, ममता, संकल्प और साधना) में चार सर्ग एवं नियताप्ति (स्वप्न और लाघव सर्ग) एव फलागम (द्वन्द्व और दक्षिणा सर्ग) में दो-दो सर्गों की योजना की गई है। इस तरह क्रमशः कार्य से प्रारम्भ, मध्य और अन्त के विकास, मंथरता एवं क्षिप्रता की दृष्टि से यह सर्ग-योजना-शिल्प अत्यन्त प्रशंसनीस हैं—यह विस्तार पहाड़ी नदी के समान है, जो पहाड़ से निकलते समय जितनी चौड़ी रहती है उससे अधिक मैदान में विस्तृत हो जाती है, पर पुनः सागर से मिलते समय सँकरी एवं तीव्र हो जाती है।

(१०) सबसे बड़ी विशेषता आदर्श-नियोजन के इस शिल्प की है कि एकलव्य के त्याग से प्रभावित होकर भी पाठक द्रोण की परिस्थिति के प्रति सहानुभूति रखते हैं। गुरु के प्रति अनास्था और घृणा के जो भाव महाभारत के इस कथा-प्रसंग से जुड़े हैं, उनका परिमार्जन किया गया है। मानव-कल्याण के लिये गुरु के प्रति महाभारत से भिन्न यह परिवर्तित दृष्टिकोण अत्यन्त अभिनन्दनीय है।·········पर शिल्पविधान की ही विशेषता है कि आदर्शवाद की इस वेदी पर यथार्थवाद का वलिदान नहीं हुआ है। अन्त तक स्वाभाविकता की रक्षा की गयी है।

(११) डा० वर्मा की कविताओं की विशेषता भावों की स्वस्थता और अभिव्यक्ति की स्पष्टता है।[1] एकलव्य मे प्रयुक्त शिल्पों को अधिक से अधिक व्यंजक बनाने मे इन गुणो का हाथ भी रहा है।

(१२) महाभारतकालीन संस्कृतियो के चित्रण में एक अद्भुत साम्य है। यद्यपि दो विभिन्न संस्कृतियाँ है—राजन्य संस्कृति, निषाद-संस्कृति, तथापि इनके प्रतिनिधियों की संख्या बराबर है—चार-चार। प्रथम के प्रतिनिधि हैं भीष्म, द्रोण, अर्जुन और द्रुपद तथा दूसरे के एकलव्य, हिरण्यधनु, एकलव्य-जननी और नागदत्त। इन दोनो भिन्न संस्कृतियो को जोड़ने और उनमें उच्चकोटि की आकार-संगति लाने के लिये कवि ने जिस संश्लेषणात्मक शिल्प का प्रयोग किया है, वह प्रशंसनीय है। इसीलिये इसकी तुलना प्रसून से की गयी है।[1]

अन्य महाकाव्यों की शिल्प-सम्बन्धी मौलिक प्रयोगशीलता—

(१) कथानक के क्षेत्र में जो शिल्प विधानात्मक प्रयोग हुए हैं, वे है प्राचीन कथाओं के उन्हीं प्रसंगों को ग्रहण करना जो आधुनिक युग की समस्याओं के प्रकाशक हैं तथा उनमे अपने उद्देश्यों के अनुसार संशोधन-परिवर्द्धन करना। कैकेयी और तारक-बध इसके उदाहरण हैं।

(२) संवादों की दृष्टि से नाटकीय शिल्प का विस्तार प्रायः सभी नवीन महाकाव्यों में किया गया है। प्रमुखता वैदेही वनवास, अर्यावर्त्त और रश्मिरथी की है।

(३) चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में शिल्प का उपयोग प्राचीन चरित्रों के परिमार्जन की दिशा में किया गया है। जो चरित्र अब तक हमारी घृणा, उपेक्षा या अनादर के पात्र थे, वे कवि के चित्रण-शिल्प की विशेषता के कारण हमारी श्रद्धा और सहानुभूति के पात्र बन गए। एकलव्य के अतिरिक्त कर्ण, कैकेयी, रावण आदि चरित्र इसके उदाहरण हैं।

---

१ जो कुछ भी लिखा है वह स्वस्थ और स्पष्ट है। रचनाओं में क्लिष्टता और जटिलता के दोष से मैंने अपने को भरपूर बचाने की चेष्टा की है।

—अनुशीलन, डा० रामकुमार वर्मा, पृ० १०३

(२) एकलव्य की तुलना एक ऐसे फूल से की जा सकती है जिसके जड, वृन्त, पल्लव, और प्रसून में घना सावयविक सम्बन्ध है। जैसे बीज अंकुरित होकर विकसित, पल्लवित और पुष्पित होता है, उसी प्रकार क्रम-क्रम से यह महाकाव्य भी विकसित हुआ है और अन्त में यह काव्य-पुष्प प्रस्फुटित होकर अपना मकरन्द चतुर्दिक विकीर्ण करता है। इस पुष्प में महाभारतकालीन संस्कृति का उन्मीलन हुआ है।

—एकलव्य, एक अध्ययन, राधेकृष्ण श्रीवास्तव, पृ० २३०

(४) चारित्रिक कार्यों को अधिक बुद्धि-संगत बनाने के शिल्प पर इस काल में विशेष ध्यान दिया गया है। प्रियप्रवास मे ही नही, कृष्णायन में भी कृष्ण की लीलाओं की विश्वसनीय और बुद्धि-संगत व्याख्या की गई है।

(५) प्रकृति शिल्प-विधान मे प्रधानत: निम्नलिखित रूपों मे सहायक हुई हैं—पृष्ठभूमि और वातावरण-निर्माण, मनोभावों के चित्रण एवं अलंकरण में। प्राय: सभी आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो में प्रकृति का इन रूपों में उपयोग किया गया है।

(६) रसो की निष्पत्ति के लिये भाव, विभाव, अनुभाव आदि तत्त्वों को मनोवैज्ञानिक शिल्प से संवारा गया है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यो के रस-सम्बन्धी शिल्प को मनोविज्ञान ने जिस रूप में प्रभावित किया है, वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं

(७) भाषा-शैली के शिल्प को पात्रानुकूल बनाने की चेष्टा की गयी है। इसका अर्थ यह नहीं कि विद्वान्, मूर्ख, उच्च, निम्न पात्रों के अनुसार भाषा का वाह्य स्वरूप बदलना है; बदलती है उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति। विभिन्न पात्रों की विभिन्न मनोवृत्तियों के अनुसार भाषा गंभीर, प्रवाहपूर्ण, अभिधा मूलक या लक्षणापूर्ण होती है। मनोभावों के चित्रण में शिल्प का उपयोग इस अर्थ में किया गया है कि गुण और रीति उनके अनुकूल हो।

(८) छन्दों की शिल्प-विधि के प्रयोग भावों की विविधता, उनके चढ़ाव-उतार और उनकी व्यंजकता बढ़ाने के लिये किये गये हैं। प्रियप्रवास, साकेत, कुरुक्षेत्र, एकलव्य आदि ही नहीं रश्मिरथी, कैकेयी, तारकवध, हल्दीघाटी, जौहर आदि काव्य भी इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

(९) प्रियप्रवास, साकेत, साकेत-संत, कामायनी और कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त अन्य महाकाव्यों के प्रारम्भ, मध्य और अन्त के लिये तीन प्रकार के शिल्प मुख्यत: अपनाये गये हैं—नाटकीय, वर्णनात्मक और प्रकृति चित्रणात्मक।

(१०) अन्य महाकाव्यों में सर्गों के विभाजन में प्रमुखत: संख्यात्मक शिल्प-विधि का प्रयोग किया गया है—प्रथमसर्ग, द्वितीय सर्ग आदि।



उपसंहार

हिन्दी का आधुनिक महाकाव्य-सम्बन्धी शिल्प विधानात्मक निष्कर्ष और उनका भविष्य

हिन्दी का आधुनिक महाकाव्य-सम्बन्धी शिल्प विधानात्मक निष्कर्ष और उनका भविष्य

शिल्प के तीन प्रकार एवं आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में उनकी स्थिति—साधन समान होते हुए भी उनके प्रसाधन मे अन्तर होता है। तत्त्व की समानता होते हुए भी दो वस्तुओं में आकारिक अन्तर होता है, उनमें स्वाद की पृथकता और गुणो की भिन्नता होती है। इसी तरह कभी-कभी तात्त्विक अन्तर होते हुए भी दो वस्तुओं में आकारिक साम्य होता है। इन सिद्धान्तों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि विषय और रूप परिवर्त्तन के कारण नवीन और भिन्नता के कारण आकर्षक हैं। मनुष्य की रुचि वस्तुओ के स्वरूप को परिमार्जित करती है। उपादानों की एकता से नहीं उनके उपयोग की विधि से शिल्प का विकास होता है। ईंट, चूना, सीमेन्ट आदि सामान सभी मकानों मे लगते है, पर इन एक ही प्रकार के उपादानों से तीन प्रकार के मकान बनाये जाते हैं—वे जिनके बाहरी ढाँचे में नवीनता पर भीतरी में प्राचीनता होती है, दूसरे वे जिनमें ऊपर से नक्काशी की गयी होती है, पर काट-छाँट या ढाँचे मे पुरानापन ही होता है, तीसरे वे जिनके बाहरी-भीतरी दोनों ही ढाँचो मे परिवर्त्तन होते हैं, नवीनता होती है और सबसे बढ़कर जिनमें ढाँचे की सुन्दरता के साथ ही मजबूती भी होती है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के भव्य प्रासाद को पहले प्रकार के शिल्प से सजाया गया है—जिसमें बाहरी नवीनता है भीतरी प्राचीनता। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के विषय और उपादान, वस्तु और शिल्प के संतुलन का यह प्रयास नवीन और प्राचीन के संगम पर खड़ा है।

शिल्प की आवश्यकता—आधुनिक हिन्दी महाकवियों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से हृदयंगम कर लिया है कि कवि की अनुभूति और उसकी भावुकता ही सब कुछ नही हैं, उसे तद्रूप अपने पाठकों तक पहुँचाने की भी आवश्यकता होती है, और इस कला की सफलता के लिये उन्हे किसी माध्यम की आवश्यकता होती है, जिसका शास्त्रीय नाम शिल्प है। अतः उन्होने अपने उन तत्त्वो के परिष्कार और कलात्मक रूप प्रदान करने की पूर्ण चेष्टा की है,

जिनके कारण उनके शिल्प-विधान में निखार आया है। इन महाकवियों ने प्रेरणा-द्रव्यों एवं उनके निर्वर्त्तन के लिये प्रयुक्त विशिष्ट सामंजस्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया, क्योंकि ये दोनों ही तत्त्व शिल्प के लिये आवश्यक हैं।

शिल्प-निर्माण में भाषा का प्रयोग—इन महाकवियों ने अपने अनुभूत सत्यों की अभिव्यक्ति के लिये काव्य के रूप और शब्द-बन्धों को क्रम से इस तरह प्रयुक्त किया है कि वे पूर्णतः उनके अभिप्राय के बोधक हो जायें। शिल्प-निर्माण में भाषा का सहयोग प्रारम्भ से अन्त तक रहता है, क्योंकि शब्दों या वाक्यांशों की योजना कवि इस कलात्मकता से करता है कि वे एक-एक कर पाठकों को अनुभूति के उस स्तर तक पहुँचा दें, जहाँ पर पहुँच कर स्वयं कवि ने काव्य की प्रेरणा ग्रहण की थी। कामायनी का कवि जब लज्जा का वर्णन करने लगता है, तब शब्दों और वाक्यांशों की सहायता से ही ऐसे ध्वनिमय चित्रों का निर्माण कर पाता है, जो पूर्णतः लज्जा का रूप आँखों के सामने उपस्थित कर देता है और हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारे और कवि के बीच कोई पार्थक्य नहीं है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में भाषा-शैली द्वारा काव्य-शिल्प को सँवारने के लिये कवियों ने व्यंजना-शक्ति, लाक्षणिकता, विरोध-मूलक शब्द-योजना, नवीन उपमानों, प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत विधान, ध्वन्यात्मकता, उपयुक्त विशेषणों, भावानुकूल वृत्तियों और गणों, शब्दों की आवृत्ति, प्रसंगगर्भत्व, मुहावरे-लोकोक्तियाँ, चित्रात्मकता भाषा शैली, बचन-वक्रता आदि तत्वों को अपनाया है। अष्टम प्रकरण में इन तथ्यों के प्रमाण में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

शिल्प-विधान और छन्द—भाषा के दो रूप माने गये हैं—बौद्धिक एवं संगीतात्मक। बौद्धिक रूप के उदाहरण उपर्युक्त तत्वों में मिलते हैं। संगीतात्मक रूप का आधार छंद शब्दों की यति-गति का ऐसा सुनियोजित क्रम होता है जो एक संगीतमय प्रवाह की सृष्टि करता है। इसे इसीलिये रिचर्डस् ने मानसिक व्यायाम कहा है।[3] छंदों में संभोग की गति का उदात्त

3. The whole conception of metre as uniformity in variety; a Kind of mental drill in which words, those erratic and varied things, do their best to behave as though they were all the same, with certain concessions, licenses and equivalences allowed, should now-a days be obsolete.

—Principles of Literary Criticism, I. A. Richards, Page 139.

रूप[1] हम मानें या न मानें, उसकी गति के संगीत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आधुनिक हिन्दी महाकवियों ने इस तथ्य को समझते हुए इस बात पर ध्यान रखा है कि काव्य की मानसिक स्थिति (मूड) और तान (टोन) के अनुसार ही छंद-योजना होनी चाहिये। शिल्प की इस सूक्ष्मता के कारण एक छंद में किंचित परिवर्त्तन कर उसे नये रूप मे अपने भाव के अनुकूल बना लिया जाता है। कामायनी के रहस्य सर्ग में ताटंक छंद के अन्त मे एक गुरु जोड़ने की नवीनता मे इसी शिल्प का प्रयोग किया गया है।

इन कवियों ने छंद-शिल्प के लिये अनुकरणात्मकता पर विशेष ध्यान दिया, क्योंकि अर्थो की भाँति ही शब्दों की यह विशेषता भी भावोद्घाटन में सहायक होती है। छंद भाषा का संगीत होता है, जो भाव के प्रतीक के रूप में भी आधुनिक काव्य में व्यवहृत हुआ है। आधुनिक महाकवियों ने शिल्प-विधान के लिये छंदों की रसानुकूल योजना, छंद-परिवर्त्तन, अतुकान्त छंद आदि के उपयोग किये है। संस्कृत, अवधी और ब्रजभाषा के लोकप्रिय छंदों के प्रयोग करते हुए भी इन कवियों ने उनमें शब्दों की आत्मा की विशेष पहचान दिखलायी है।

कथा-शिल्प की नयी देन—आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों के कथा-शिल्प का आधार तो प्राचीन ही है, पर उसका दृटिकोण नवीन है। कथा के इतिवृत्तात्मक और वर्णनात्मक प्रसंगों को कम कर उसे मनोवैज्ञानिक चित्र से पूर्ण करने का प्रयास किया गया है। कथा में उन स्थानों पर कल्पना का सहारा लिया गया है, जहाँ वह नायक-नायिका के चरित्र को अधिक उदात्त और घटनाओं को अधिक विश्वसनीय बना सके। प्राचीन कथा के अत्यन्त गौण और उपेक्षित प्रसंगो को महाकाव्योचित्त धरातल तक उठाने का श्रेय एकमात्र आधुनिक महाकाव्यों के शिल्प-सौष्ठव को ही मिल सकता है। कथा को आधुनिक बुद्धिवादी युग के अनुकूल मोड़ लेने की कला का श्रेय भी शिल्प विधानात्मक दृष्टिकोण को है। प्राचीनकाल से सुनी-सुनायी, घिसी-पिटी कथा को उत्सुकता और सामयिकता के ताने-बाने से बुनने का श्रेय आधुनिक

---

1. In poetry, the rythmic elements like those of music may be a sublimated form of masturbatory and Coitus movements. —The Psychodynamics of Abnormal Behaviour, J. F. Brown, Page 421.

महाकाव्यों के कथा-शिल्प की महत्त्वपूर्ण देन है। प्राचीन और नवीन, पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों ही प्रकारों के कथा-तत्त्वों का सम्मिश्रण भी इन महाकाव्यों के शिल्प-विधान की विशेषता है। इस बात पर भी ध्यान रखा गया है कि सर्गों का विभाजन इस तरह हो कि वे न अधिक लम्बे हों न अधिक छोटे; क्योंकि अनुपात से अधिक बड़े होने पर उनमें शिथिलता और मानसिक-श्रान्ति आ सकती है। इसी तरह अधिक छोटे होने पर उनमें कथा-संतुलन और प्रभावान्विति की कमी आ सकती है। आधुनिक महाकाव्यों में इसीलिए सर्ग-विस्तार की आनुपातिकता पर विशेष ध्यान रखा गया है।

चरित्र-चित्रण सम्बन्धी शिल्पों की नवीनता—नायक-नायिकाओं के सम्बन्ध में अतिशय उदार और मानवीय दृष्टि अपनाने का कार्य आधुनिक महाकाव्यों ने किया है। फलतः चरित्र-चित्रण सम्बन्धी उन शिल्पों को अपनाया गया है, जो इस उद्देश्य-पूर्ति मे सहायक हों, अर्थात् जिनके कारण क्षुद्र समझे जाने वाले पात्र महान् दीखें, घृणा के पात्र श्रद्धा के पात्र बन जायें और उनके शील-निरूपण में उन महान् मानवीय गुणो के समावेश इस स्वाभाविक रूप से किये जायें कि वे उन पर आदर्शवादी दृष्टि से आरोपित गुण न मालूम पड़े बल्कि सहज दीखें।

फलतः पहली बार आधुनिक महाकाव्यों में नायक के पद पर सामान्य और उपेक्षित पात्र प्रतिष्ठित किये गये और रावण या अन्य राक्षसों के जैसे परम्परा-प्रसिद्ध खलनायक भी नायक-पद पर प्रतिष्ठित किये गये। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, समसामयिक—सभी प्रकार के नायक इस काल में स्वीकृत हुए राजनैतिक चेतना-सम्पन्न बीसवीं शताब्दी के पाठकों को प्रभावित करने के लिये कहीं-कहीं इन महाकाव्यों ने ऐसे शिल्प को अपनाया, जो नायक के राजनैतिक दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करें। यह तो निवेदन किया ही जा चुका है कि लांछित चरित्रों के उद्धार के लिये भी कथा को नये रूप से मोड़ा गया है। आधुनिक काल ने महाकाव्यों के शिल्प को इस रूप में भी प्रभावित किया है कि पुरुषों को ही नहीं, नारियों को भी सर्व-प्रमुख स्थान दिया गया है। उनके महत्त्व को देखते हुए उन्हें नायक के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। लघु चरित्रों के चित्रण का शिल्प आधुनिक काल में अधिक मनोवैज्ञानिक हो गया है। ऐसे स्थलों पर प्रतीकात्मक शिल्प का भी आश्रय लिया गया है। इस दिशा में शिल्पात्मक विशेषता के कारण ये पात्र न केवल अपनी विशेषताओं को प्रमाणित कर सके हैं, बल्कि घटना-चक्र के विस्तार,

नायक-नायिकाओं के गुणों के विस्तार, कवि के उद्देश्यों की पूर्ति और छोटे मार्मिक चित्रों के निर्माण में भी सहायक सिद्ध हुए हैं।

चारित्रिक केन्द्र-विन्दु का निर्माण एवं नाटकीय शिल्प के अन्य तत्त्व—चारित्रिक केन्द्र-विन्दु के निर्माण के समय शिल्प का उत्कर्ष दर्शनीय होता है। स्थिर और गतिशील दोनों ही प्रकार के चरित्रों के निर्माण में यह उत्कर्ष आधुनिक महाकाव्यों में देखा जाता है। इन महाकाव्यों में सौन्दर्य-वृद्धि, नवीन उद्‌भावना, प्रभावोत्पादकता, आलंकारिकता और तत्कालीन रुचि का परिचय देने के लिये नाटकों की भांति पात्र-पात्रियों की वेश-भूषा के चित्रण-शिल्प पर भी ध्यान दिया जाता है। पात्र-प्रवेश का नाटकीय शिल्प भी महाकाव्यों मे प्रश्रय पाने लगा है, जिसके कारण स्वाभाविकता आ सकी है। ये शिल्प आधुनिक महाकाव्यों में नाटकीय, वर्णनात्मक एवं अप्रत्यक्ष विधि से सम्बद्ध हैं। चरित्र-चित्रण सम्बन्धी समस्त शिल्पों को आज आदर्शवादी दृष्टिकोण की अपेक्षा यथार्थवादी दृष्टिकोण से प्रभावित और काव्य के सत्यं योर सुन्दरं के साथ ही शिवं से प्रेरित होने के कारण आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण से ही प्रभावित कहा जायगा।

नाटक के ही एक और तत्त्व संवाद के विभिन्न शिल्पों का विकास महाकाव्यों में हुआ है, जिनके कारण कथा-वस्तु के विकास, चरित्र-प्रकाशन, मनोवृत्ति-विश्लेषण, वर्णन-क्रम-परिवर्त्तन, वाग्‌विदग्धता आदि का पता चलता है। शिल्प-विधान की दृष्टि से इनमें उपयुक्तता, कथा-सम्बद्धता, पात्रानुकूलता, स्वाभाविकता, क्षिप्रता, संक्षिप्तता, प्रासंगिकता, सोद्देश्यता, सजीवता आदि गुणों का विकास किया गया है। अलंकृत सम्वाद को आश्रय नहीं दिया गया है। केवल वार्त्तालाप को ही आधार बनाकर सम्पूर्ण महाकाव्य की रचना इसी काल में हुई है—कुरुक्षेत्र, जिसका उदाहरण है।

प्रकृति-चित्रण-सम्बन्धी शिल्प की विशेषता—प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी सभी शैलियों का प्रयोग आधुनिक महाकाव्यों में किया गया है, पर इनमें शिल्प-विधि की दृष्टि से यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि प्रकृति को यथातथ्य चित्रण के रूप में प्रश्रय नही दिया गया है। प्रकृति को मानव-भावो सापेक्ष्य चित्रित किया गया है। इन महाकाव्यों में मानवीय प्रकृति नैसर्गिक प्रकृति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मानी गयी है। आधुनिक शिल्प के अनुसार प्रकृति संस्कृत के महाकाव्य के लक्षणों के अनुसार चित्रित नहीं हुई है, वह मानव की सहचरी बनकर आयी है।

रस-विस्तार—आधुनिक महाकाव्यों में रस-निरुपण की अपेक्षा भाव-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। नवों रसों के अतिरिक्त माया रस, भक्ति-रस, सख्य-रस, गार्हस्थ्य रस, माधुर्यरस आदि के नये वृत्तों के चित्रण पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। पाश्चात्य प्रभावान्वित और पौरस्त्य रस-निष्पत्ति के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण भी कहीं-कहीं मिलता है। विचारपूर्ण और बुद्धि-संगत प्रसंगों पर भी विशेष ध्यान दिया गया है।

प्राचीन-नवीन का सेतु-बन्धन—शिल्प-विधान के नये कौशल

इस तरह आधुनिक महाकवियों ने प्राचीन और नवीन के बीच सेतु-बन्धन का कार्य किया है। महाकाव्य-सम्बन्धी संस्कृत आचार्यों के मतों को स्वीकार करते हुए भी आधुनिक महाकवियों ने पर्याप्त स्वतंत्रता दिखलाई है।[1] यदि कथानक प्राचीन है, तो प्रतिपादन की शैली नवीन, यदि चरित्र पौराणिक या ऐतिहासिक हैं, तो उन के चरित्र-निर्माण की पद्धति नवीन; यदि रूढ़ वर्णनों (मंगलाचरण, कवि के नाम पर महाकाव्य का नामकरण, उच्च कुल-संभूत क्षत्रिय या ब्राह्मण नायक आदि अनेक नियमों) का परित्याग या परिशोध है तो मनोवैज्ञानिक विवेचन, युग-दृष्टि, वैज्ञानिकता, लौकिकता, ईश्वर का मनुष्यत्व, उपेक्षित और अनादृत मनुष्यों (यहाँ तक कि दानवों) का पुन-र्मूल्यांकन, राष्ट्रीयता, मानवतावाद, गांधीवाद, नाटकीयता आदि अनेक तत्त्वों का समावेश किया गया है। प्राचीन और नवीन दृष्टि-विन्दुओं के मिलन के कारण शिल्प-विधान के नये-नये कौशल सामने आये।

१—महाकाव्य के कितने ही विषय कवि पर एक प्रकार का दबाव डालते हैं। जिस कथा में उनकी आवश्यकता न हो, उसमें ही उन्हें लाने से अप्रसांगिकता का डर है। पर उनके बिना महाकाव्य नहीं रहता। वन-विहार-वर्णन, षट-ऋतु-वर्णन, गिरि वर्णन, जल-केली-वर्णन, आखेट वर्णन, और समुद्र आदि के वर्णन, सभी महाकाव्यों के लिए आवश्यक समझे गये हैं। परन्तु इस विषय में हमें परतन्त्र रहना उचित नहीं।…… किसी एक विषय पर भी कविता लिखकर महाकवि होने का परिचय दिया जा सकता है और कविता-मर्मज्ञों से स्वीकार भी कराया जा सकता है। प्राचीनों के मत से मेघदूत खण्ड-काव्य है, पर उसे महाकाव्य मानने में कोई बाधा का कारण नहीं है।। लोग उसे महाकाव्य मानते भी हैं। फिर हम लोग उसके लिए कुछ विशेष बातों की प्रतिबन्धता क्यों स्वीकार करें?…… कथानक के अनुकूल विषय-योजना होनी चाहिए। महाकाव्य के कितने ही विषय समयानुकूल भी नहीं। ऐसी दशा में उसके बिना महाकाव्य नष्ट नहीं हो सकता।

—सरस्वती, दिसम्बर, १९१४

बीसवीं शताब्दी, प्रयोग और विविधता का काल—महाकाव्य के शिल्प-विधान की दृष्टि से बीसवी शताब्दी प्रयोग और विविधता का काल है। प्रत्येक महाकाव्य ने कथानक, पात्र-चित्रण ,प्रकृति-वर्णन, प्रारम्भ-मध्य-अन्त, सर्ग-विभाजन, नामकरण, भाषा-शैली, छन्द-निरूपण, रस-भाव-सृष्टि आदि किसी न किसी क्षेत्र मे अपना मौलिक एव कलापूर्ण रचना-विधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ऐसे समय में एक तो शिल्प-विधानात्मक स्थिर लक्षण निर्धारित नहीं किये जा सकते, दूसरे शिल्प विधानात्मक लक्षण स्थिर करने पर, सम्भव है, आगे चलकर वे भी संस्कृत महाकाव्यों के लक्षण की भाँति रूढ़ हो जायें।

शिल्प के आदर्श—शिल्प-विधान के प्रयोक्ता, इन नवीन महाकवियों ने महाकाव्य के अनिवार्य लक्षणों की उपेक्षा नहीं की है। वे राष्ट्र और समाज को समुन्नत एवं मानवता को सुख-शान्तिपूर्ण बनाने के उद्देश्य को नहीं भूल पाये हैं। महान् चरित्रों के महान् आदर्श के स्थान पर आधुनिक महाकाव्यों मे सामान्य चरित्रों के महान् आदर्श या दैवी चरित्रों के मानवीय आदर्श दीख पड़ते हैं। वाह्य स्वरूप को संवारने के साथ ही इन महाकवियों ने अन्तरंग को भी उदात्त बनाने का प्रयास किया। जीवन से बहुत अधिक सम्बद्ध होने के कारण इन महाकाव्यों मे समस्याओं के समाधान का भी प्रयास किया गया है। अपनी इन्हीं विशेषताओं को अधिक से अधिक प्रभविष्णु बनाने के लिये इन कवियों ने शिल्प-बिधि का विकास किया है।

भविष्य में ऐसे महाकवि की प्रतीक्षा है, जो जीवन और जगत को अनेक प्राणवान चित्रों से उद्भासित, संस्कृति-पोषित, भावानुकूल छन्द-भाषा-शैली-अलंकृत, महदुद्देश्य-प्रेरित, रस-भाव-आपूरित एवं कविता के अन्तरंग को वहिरंग पर उतारने की क्षमता उत्पन्न करनेवाली शिल्प-विधानात्मकता से अनुरजित महाकाव्य की रचना करेगा। ऐसे महाकाव्य में चारित्रिक विविधताओं के बीच भी एक ऐसी महच्चरित्रता होगी जो जन-जीवन की मार्ग-प्रदर्शिका होगी। साहित्य के लिए 'मैकेल' ने जो सिद्धान्त स्थिर किया है, वह आधुनिक महाकाव्यों के लिए सर्वांशतः समुचित है।[1] भविष्य के महाकाव्य के सम्बन्ध में

1—Language put to its best purpose, used at its utmost power and with the greatest skill and recorded that it may not pass away, evaporate and be forgotten is what we call, for want of a better word, literature,

—J, N. Mackail, Classical Studies, P. 214.

विचार करते हुए अधुनिक-साहित्य के तत्त्वदर्शी आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह आशा व्यक्त की है कि गांधी-युग से सम्बद्ध किसी श्रेष्ठतर महाकाव्य के प्रणयन की संभावना है।[१] तात्पर्य यह कि नवीन युग के महाकाव्य में वाजपेयी जी वर्त्तमान की गूज और समसामयिकता के काल-व्यापी प्रभाव को अभिनन्दनीय मानते हैं। यह विचार इसलिए उपयुक्त दीखता है कि नये युग को नयी समस्या के चित्रण के लिए नये शिल्प की अवतारणा का द्वार खुल जाता है।

महाकाव्य हो, नाटक हो, उपन्यास हो या और कुछ, साहित्य का मूल-लक्ष्य मानव का उत्कर्ष है। आज जब स्वार्थ के संकुचित घेरे में मानवता का दम घुटता जा रहा है, तब आत्म-विस्तारक साहित्य की बहुत अधिक आवश्य-कता बढ़ गयी है। इसकेलिए साहित्य के मर्मी विद्वान डा० हजारी प्रासद द्विवेदी ने एक अत्यन्त गहरी सूझ दी है कि केवल उच्च कोटि के साहित्य के प्रणयन की ही आवश्यकता नहीं है, उसके लिये पाठकों और श्रोताओं को इस योग्य बना देने की भी आवश्यकता है कि वे उस साहित्य के आदर्श को ग्रहण कर सकें।[२] इसलिए डा० द्विवेदी हिन्दी में ऐसे साहित्य को लाने के आकांक्षी हैं जो मानव-उपकारक हो।[3] मेरी दृष्टि में शिल्प का महत्त्व इसलिए स्वीकार किया जाना चाहिये कि वह साहित्य के इन महान उद्देश्यों को अधिक से अधिक कलात्मक, ग्राह्य, सुरुचिपूर्ण और लोकप्रिय बनाता है।

१—हम दिनकर के कुरुक्षेत्र, प्रभात की कैकेयी और वियोगी के आर्यावर्त्त में आख्यान-काव्य की परम्परा का आगामी विकास देखते हैं। इससे हमें यह भी आशा होती है कि कोई श्रेष्ठतर महाकाव्य हिन्दी में अभी आने वाला है।......मुझे तो आशा है कि वह आगामी महाकाव्य महात्मा गांधी के भारतीय रंगमंच पर किये गए महान सांस्कृतिक प्रवर्त्तन का ही काव्य प्रतिरूप होगा।

—आधुनिक साहित्य, पृ० ३८—३९

२—शताब्दियों का दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही सबसे बड़ी बात नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परमावश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके।

—अशोक के फूल, पृ० १७०-७१।

३—जो साहित्य अपने आपके के लिए लिखा जाता है, उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं कह सकता, परन्तु जो साहित्य मनुष्य समाज को रोग-शोक, दारिद्र्य-अज्ञान तथा परमुखा-पेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है, वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्त्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं।

—अशोक के फूल, पृ० १७१।

निष्कर्ष

आज जीवन जितना चंचल, वातावरण जितना आस्थाहीन, दृष्टिकोण जितना भौतिक और एक-एक क्षण जितना संघर्षपूर्ण होता जा रहा है, उतना कदाचित और कभी नहीं था। आज इसलिए ऐसे महाकवि की आवश्यकता है, जो भौतिकता के साथ आध्यात्मिकता का, तर्क-प्रधान बौद्धिकता के साथ भावप्रवण हार्दिकता का, उर्वरा कल्पना के साथ ठोस अनुभूति का, छन्दों के साथ भावनाओं के उतार-चढ़ाव का और कलात्मक शिल्प-विधान के साथ महान कथा की रसपूर्ण अवतारणा का समन्वय कर सके। कोई भी रचना केवल शिल्प-विधान के कारण महान् नहीं कही जा सकती, उसमें भावों की ऊँचाई और अनुभूति की गहराई अनिवार्य है। वस्तुतः प्रत्येक रचना अपने भावानुकूल शिल्प का निर्माण स्वयं कर लेती है।[1] यही कारण है कि प्राचीन और नवीन साहित्य के उद्देश्यों में बहुत कुछ समानता होते हुए भी उनके रचना-विधान में अन्तर है।[2]



१—भाव और टेकनीक काव्य के लिए दो पृथक् तत्व नहीं है। वे एक दूसरे से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। भाव अपने लिए अपनी टेकनीक या शिल्प का स्वतः निर्माण करता है।

—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के विचार। मार्च ६१ की नयी धारा में प्रकाशित 'साक्षात्कार' से।

२—साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति का सबसे श्रेष्ठ माध्यम है। प्राचीन-काल में साहित्य (गद्य-पद्य) के माध्यम से उपयोगी उपदेश दिये जाते थे। आधुनिक युग का साहित्यकार भी अपने मन की बात कहना चाहता है, पर उसके कहने का ढंग कुछ बदल गया है।

—अनुशीलन, डा० रामकुमार वर्मा, पुस्तक के दो शब्द।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

★

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों से जीवनगत सत्य से सम्बद्ध उद्धरण

प्रिय-प्रवास

★

(१) जननि के जिय की सिगरी व्यथा।
जननि ही जिय है कुछ जानता॥

—तृतीय सर्ग, पद ४६

(२) जब विरह विधाता ने सृजा विश्व में था।
तब स्मृति रचने में कौन-सी चातुरी थी॥
यदि स्मृति विरचा तो क्यों उसे है बनाया।
वपनपटु कुपीड़ा बीज प्राणी उरों में॥

—पंचदश सर्ग, पद ६८

(३) हो जाने से हृदय-तल का भाव ऐसा निराला।
मैंने न्यारे-परम गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम-प्रभु को स्वीय-प्राणेश ही में॥

—षोड़श सर्ग, पद १०४

(४) विश्वात्मा जो परम-प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि-गिरि-लता बेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावों सिक्ता परम-प्रभु की सर्वोत्तमा है।
जी से बातें सकल सुनना आर्त्त-उत्पीड़ितों की।
रोगी-प्राणी व्यथित-जन का लोक-उन्नायकों की।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण-अभिधा-भक्ति है सज्जनों में॥

—षोड़श सर्ग, पद १७१-१८

(५) स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा ।
विगर्हणा देख मनुष्य-मात्र की ।
विचार के प्राणि-समूह कष्ट को ।
हुए समुत्तेजित वीर-केसरी ॥

हितैषणा से निज जन्म-भूमि की ।
अपार-आवेश हुआ नृजेश को ।
बनी महा बंक गँठी हुई भवें ।
नितान्त-विस्फारित नेत्र हो गए ॥

—एकादश सर्ग, पद २२-२३

(६) अवश्य हिंसा अति निन्द्य कर्म है,
तथापि कर्त्तव्य-प्रधान है यही ।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से ।
वसुन्धरा में पनपे न पातकी ।

(७) मनुष्य क्या एक पिपीलिका कभी ।
न वध्य है जो न अश्रेय हेतु हो ।
न पाप है किंच पुनीत-कार्य है ।
पिशाच-कर्मी-नर की वध-क्रिया ॥

(८) क्षमा नहीं है खल के लिए भली ।
समाज-उत्सादक दण्ड योग्य है ।
कुकर्मकारी नर का उबारना ।
सुकर्मियों को करता विपन्न है ।

—त्रयोदश सर्ग, पद ७८-७९-८१

(९) विधिवश यदि तेरी धार में आ गिरूँ मैं ।
मम तन ब्रज की ही मेदिनी में मिलाना ।
उस पर अनुकूला हो बड़ी, मंजुता से ।
कण-कुसुम अनूठी-श्यामता के उगाना ।

—पंचदश सर्ग, पद १२५

साकेत



(१) जय देव मन्दिर-देहली,
सम-भाव से जिस पर चढ़ी,—
नृप-हेम मुद्रा और रंक-बराटिका।
मुनि-सत्य-सौरभ की कली—
कवि-कल्पना जिसमें बढ़ी,
फूले-फले साहित्य की वह वाटिका।

—पृ० ४

(२) राम, तुम मानव हो?
ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व मे रमे हुए नही सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।

—पृ० २

(३) जागरण है स्वप्न से अच्छा कहीं?
प्रेम में कुछ भी बुरा होता नहीं।

—पृ० २१

(४) जो अपूर्ण कला उसी की पूर्त्ति है।

—पृ० २७

(५) दोष-दर्शी होता है द्वेष,
गुणों को नहीं देखता त्वेष।

—पृ० ४१

(६) न जानें पृथ्वी पर प्रच्छन्न,
कहाँ क्या होता है प्रतिपन्न।

—पृ० ४४

(७) किसी को न दें कभी वर देव,
वचन देना छोड़ें नर-देव।
दान में दुरुपयोग का वास,
किया जाये किसका विश्वास।

—पृ० ५१

(८) यदि अपना आत्मिक बल है,
जंगल में भी मंगल है।

—पृ० ८३

(९) त्रुटियों पर पद-धूल डालिए, आइए।

—पृ० ९७

(१०) जीव और प्रभु-मध्य अड़ी माया खड़ी
वह दुरत्यया और शक्तिशीला बड़ी।
साधो उसको और मनाओ युक्ति से।
सखे, समन्वय करो भक्ति को मुक्ति मे,

—पृ० १०१

(११) पगडंडी थी बन गयी मार्ग से ठीक यों—
शस्त्र छोड़ बन जाय लोक की लीक ज्यों।

—पृ० १०५

(१२) अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला,
किन्तु आप अनुभूति यहाँ है निश्चला।

—पृ० १०७

(१३) राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

—पृ० ११३

(१४) आशे, निष्फल भी बनी रहो, तुम हो हीरे की कनी अहो !
रखती हो मूल्य मारकर भी, उज्ज्वल होअन्धकार कर भी !

—पृ० ११६

(१५) जा खड़ी हुई पति के पीछे,
ज्यों मुक्ति महा यति के पीछे।

—पृ० १२२

(१६) औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ,
श्रमवारि विन्दु फल स्वास्थ्य शुक्ति फलती हूँ,
अपने अँचल से व्यंजन आप झलती हूँ।

—पृ० १५८

(१७) निश्चिन्त नारियाँ आत्म समर्पण करके,
स्वीकृति में ही कृतकृत्य भाव है नर के।
गौरव क्या है, जन-भार वहन करना ही
सुख क्या है, बढ़कर दुःख सहन करना ही।

(१८) बन्धन ही का तो नाम नहीं जनपद है?
देखो कैसा स्वच्छन्द यहाँ लघु नद है।
इसको भी पुर में लोग बाँध लेते हैं।
हाँ वे इसका उपयोग बढ़ा देते हैं।
पर इससे नद का नहीं, उन्हीं का हित है।
पर बन्धन भी क्या स्वार्थ-हेतु समुचित है?
मैं तो नद का परमार्थ इसे मानूँगा।
हित उसका उससे अधिक का न जानूँगा?
जितने प्रवाह है, बहें,—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा मे किन्तु सदैव रहें वे।

—पृ० १६४

(१९) निज हेतु बरसता नहीं व्योम से पानी,
हम हों समष्टि के लिये व्यष्टि बलिदानी।

—पृ० १६६

(२०) सुख देने आया, दुःख झेलने आया,
मैं मनुष्यत्व का नाट्य खेलने आया।

—पृ० १६७

× × × ×

भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया।
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मैं नही स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

—पृ० १६७

(२१) हम सुगति छोड़ क्यों कुगति विचारें जन की?
नीचे-ऊपर सर्वत्र तुल्य गति मन का।

—पृ० १७१

(२२) विफल जीवन व्यर्थ बहा, बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा।
कठिन है कविते, तव भूमि ही।
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा।

—पृ० १९४

(२३) फटते हैं, मैले होते हैं, सभी वस्त्र व्यवहार से।
किन्तु पहनते हैं क्या उनको हम सब इसी बिचार से।

—पृ० १९७

(२४) रस हैं बहुत, परन्तु सखि, विष है विषम प्रयोग,
बिना प्रयोक्ता के हुए, यहाँ भोग भी रोग।

—पृ० १९७

(२५) औरों की क्या कहिए, निज रुचि ही एकता नहीं रखती,
चन्द्रामृत पीकर तू चकोरी, अंगार है चखती।

—पृ० २०२

(२६) दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है।—पृ० २०६

(२७) स्नेह जलाता है, यह बत्ती,
फिर भी प्रतिभा है इसमें, दीखे जिसमें राई-रत्ती।

—पृ०—२०३

(२८) मेरी ही पृथ्वी का पानी,
ले-लेकर यह अन्तरिक्ष सखि आज बना है दानी।

—पृ० २१३

(२९) सफल है उन्हीं घनों का घोष,
वंश-वंश को देते हैं जो वृद्धि, विभव, संतोष।

—पृ० २१३

(३०) विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।

—पृ० २१५

(३१) हम राज्य लिए मरते हैं।
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं।

—पृ० २२२

(३२) काल की रुके न चाहे चाल,
मिलन से बड़ा विरह का काल।

—पृ० २३४

(३३) अवधि-शिला का उर पर था गुरु-भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार।

—पृ० २४८

(३४) आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किए,
आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिए।

—पृ० २६२

(३५) प्रिये, ठीक कहती हो तुम यह, सदा शंकिनि आशा है,
होकर भी बहु चित्र अंकिनी, आप रंकिनी आशा है।

× × × ×

सुनो, नित्य जन-मनस्कल्पना नया निकेत बनाती है,
किन्तु चंचला उसमे सुख से पल भर बैठ न पाती है।
सत्य सदा शिव होने पर भी विरूपाक्ष ही होता है,
और कल्पना का मन केवल सुन्दरार्थ ही रोता है।

—पृ० २७०

(३६) जीवन में सुख-दु:ख निरन्तर आते-जाते रहते हैं,
सुख तो सभी भोग लेते हैं, दु:ख धीर ही सहते हैं।
मनुज दुग्ध से, दनुज रुधिर से, अमर सुधा से जीते हैं,
किन्तु हलाहल भव-सागर का शिव-शकर ही पीते है।

—पृ० १७२

(३७) दुस्तर क्या है उसे विश्व में प्राप्त जिसे प्रभु का प्रणिधान ?

पृ०

(३८) शंकाएँ हैं जहाँ, वहीं धीरों की मति है,
आशंकाएँ जहाँ वहीं वीरों की गति है।

—पृ० ३०६

(३९) जीवन क्या है, एक जृम्भना मात्र जनों का,
और मरण ? वह नया जन्म है पुरातनों का।

—पृ० ३२५

कामायनी



(१) चिन्ता के प्रति—

"ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प-सी मतवाली।
हे अभाव की चपल बालिके
री ललाट की खल लेखा।
हरी-भरी-सी दौड़-धूप, ओ
जल-माया की चल रेखा

—पृ० ५

(२) कहा मनु ने, "नभ-धरणी बीच,
बना जीवन रहस्य निरुपाय,
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त,
शून्य में फिरता हूँ असहाय
पहेली-सा जीवन है व्यस्त,
उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बनकर अनजान।

—पृ० ४८-४९

(३) काम-मंगल से मंडित, श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल,
बनाते हो असफल-भवधाम।

— पृ० ५३

(४) लगे कहने मनु सहित विषाद—
"मधुर मारुत-से ये उच्छ्वास,
अधिक उत्साह-तरंग अबाध,
उठाते मानस में सविलास,
किन्तु जीवन कितना निरुपाय!

लिया है देख, नहीं संदेह,
निराशा है जिसका परिणाम,
सफलता का वह कल्पित गेह।"

—पृ० ५४

(५) पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक;
नित्य नूतनता का आनन्द,
किए हैं परिवर्त्तन में टेक।

—पृ० ५५

(६) "और यह क्या तुम सुनते नहीं,
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो,
विश्व में गूँज रहा जयगान।

—पृ० ५७

(७) 'डरो मत अरे अमृत-संतान,
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन - केन्द्र,
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।

× × × ×

विधाता की कल्याणी सृष्टि,
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य,
अक्षरों से अंकित हो नित्य।

—पृ० ५८

८) यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंग-स्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ,
ठहरा जिसमें जितना बल है।

—पृ० ७५

(९) लज्जा का कथन—
मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ,
मैं शालीनता सिखाती हूँ,
मतवाली सुन्दरता पग में,
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।

× × × ×

चंचल किशोर सुन्दरता की,
मैं करती रहती रखवाली,
मैं वह हल्की-सी मसलन हूँ,
जो बनती कानों की लाली।

—पृ० १०३

(१०) नारी! तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत-सी बहा करो,
जीवन के सुन्दर समतल में!

—पृ० १०६

(११) आँसू से भीगे अंचल पर,
मनका सब-कुछ रखना होगा,
तुमको अपनी स्मित-रेखा से,
यह सन्धि पत्र लिखना होगा।

—पृ० १०६

(१२) बन जाता सिद्धान्त प्रथम फिर,
पुष्टि हुआ करती है,
बुद्धि इसी ऋण को सबसे ले,
सदा भरा करती है।

—पृ० ११०

(१३) मनु! क्या यही तुम्हारी होगी,
उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो,
हंत! बची क्या शवता?

—पृ० १३०

(१४) अपने में सब कुछ भर कैसे,
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है,
अपना नाश करेगा।
औरों को हँसते देखो मनु,
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत करलो,
सबको सुखी बनाओ।

—पृ० १३२

(१५) सुख अपने संतोष के लिए,
संग्रह मूल नहीं है,
उसमें एक प्रदर्शन जिसको,
देखें अन्य, वही है।

—पृ० १३३

(१६) बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल,
यह विश्व मुकुट-सा उज्ज्वल तम,
शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल।

—पृ० १६०

(१७) जीवन मे सुख अधिक या कि दुख, मंदाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ मे नखत अधिक, सागर मे या बुदबुद है गिन दोगी ?
प्रतिबिम्बत है तारा तुम में, सिन्धु-मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिम्ब एक के इस रहस्य को खोलोगी।

—पृ० १७६

(१८) देश काल का लाघव करते वे प्राणी चंचल से हैं,
सुख-साधन एकत्र कर रहे जो उनके सम्बल से हैं,
बढ़े ज्ञान व्यवसाय, परिश्रम बल की विस्तृत छाया में,
नर-प्रयत्न से ऊपर आवें जो कुछ वसुधा तल मे है।

—पृ० १८२

(१९) विश्व एक बन्धन-विहीन परिवर्त्तन तो है,
इसकी गति में रवि शशि-तारे ये सब जो हैं-

रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती,
उदधि बना मरुभूमि जलधि में ज्वाला जलती ।

—पृ० १६०

(२०) और कह रही, "किन्तु नियामक नियम न माने,
तो फिर सब कुछ नष्ट हुआ-सा निश्चय जाने ।"

—पृ० १६२

(२१) देश-कल्पना काल-परिधि में होती लय है,
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है ।

—पृ० १६३

(२२) जीवन में जागरण सत्य है,
या सुषुप्ति ही सीमा है,
आती-है रह-रह पुकार-सी,
यह भव रजनी भीमा है ।

—पृ० २०५

(२३) हृदय बन रहा था सीपी-सी
तुम स्वाती की बूँद बनीं,
मानस शतदल झूम उठा जब
तुम उसमें मकरन्द बनीं ।

—पृ० २२८

(२४) सोच रहे थे, जीवन सुख है ?
ना, यह विकट पहेली है ।

—पृ० २२९

(२५) शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है,
समरस है जो कि जहाँ है ।

—पृ० ३८८

(२६) समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,

चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।

—पृ० २९४

कुरुक्षेत्र



(१) ईश जानें, देश का लज्जा-विषय,
तत्त्व है कोई कि केवल आवरण,
उस हलाहल-सी कुटिल द्रोहाग्नि का
जो कि जलती आ रही चिरकाल से,
स्वार्थ लोलुप सभ्यता के अग्रणी
नायकों के पेट में जठराग्नि-सी।

—पृ० २

(२) विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में,
मूल हो सकता नहीं द्रोहाग्नि का,
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली, व्यक्तियों की सांस से। —पृ० २

(३) हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,
हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—
उपचार एक अमोघ है
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।

—पृ० २

(४) यह महाभारत वृथा निष्फल हुआ,
उफ ! ज्वलित कितना गरलमय व्यंग्य है ?
पांच ही असहिष्णु नर के द्वेष से,
हो गया संहार पूरे देश का।

—पृ० ८

(५) राज-सुख लोहू भरी कीच का कमल है।

—पृ० १८

(६) प्रकृति भी तो है अधीन विमर्ष के।
यह प्रभंजन शस्त्र हैं उसका नही,

किन्तु है आवेगमय विसफोट उसके प्राण का,
जो जमा होता प्रचंड निदाघ से,
फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।

—पृ० १७

(७) युद्ध का उन्माद संक्रमशील है,
एक चिनगारी कहीं जागी अगर,
तुरत बह उठते पवन उनचास है
दौरती, हँसती, उबलती आग चारों ओर से।

—पृ० १८

(८) रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन, आ गया जब पास हो,
तिक्त ओषधि के सिवा उपचार क्या ?
शमित होगा वह नहीं मिष्ठान्न से।

—पृ० १९

(९) जानता हूँ किन्तु, जीने के लिये,
चाहिए अंगार - जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है,
जो खड़ होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

पृ०—२०-२१

(१०) युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ,
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की,
युद्ध तब-तक विश्व में अनिवार्य है।

—पृ० २१

(११) व्यक्ति का है धर्म, तप, करुणा क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु, उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता हमें तप त्याग को।

—पृ० २२

(१२) त्याग, तप, भिक्षा ? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर
त्याग, तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं,

याकि उसकी नीति जिसके हाथ मे शायक नहीं,
या मृषा पाषंड यह उस कापुरुष बल हीन का,
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर,
ग्लानियम जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं।

—पृ० २४

(१३) त्याग, तप, करुणा क्षमा से भीगकर,
व्यक्ति का मन तो बली होता, मगर,
हिंस्र पशु जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है वलिष्ठ शरीर ही।

—पृ० २४

(१४) कौन केवल आत्म बल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्म बल का एक बस चलता महीं।

—पृ० २४

(१५) शान्ति खोलकर खड्ग क्रान्ति का,
जब वर्जन करती है,
तभी जान लो, किसी समर का,
वह सर्जन करती है।

—पृ० ३१

(१६) शान्ति नहीं तबतक जबतक,
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।

—पृ० ३१

(१७) न्याय शक्ति का प्रथम न्यास है,
जब तक न्याय न आता,
जैसा भी हो, महल शान्ति का,
सुदृढ़ नहीं रह पाता।

—पृ० ३१

(१८) क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दन्तहीन,
विषरहित, विनीत, सरल हो ?

(१९) सहन शीलता, क्षमा, दया को,
तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके
पीछे जब जगमग है ।

पृ० ३६

(२०) पातकी न होता है प्रबुद्ध दलितों का खड्ग,
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है ।

—पृ० ४०

(२१) आनन सरल, वचन मधुमय है,
तन पर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का,
विष से भरा दशन है ।

—पृ० ४५

(२२) पापी कौन ? मनुज से उसका,
न्याय चुराने वाला ?
याकि न्याय खोजते विघ्न का,
शीश उड़ाने वाला ?

—पृ० ४६

(२३) "चुराता न्याय जो, रण को बुलाता भी वही है,
युधिष्ठिर ! स्वत्व की अन्वेषणा पातक नहीं है ।
नरक उनके लिए जो पाप को स्वीकारते हैं,
न उनके हेतु, जो रण में उसे ललकारते हैं ।

—पृ० ४८

(२४) "इच्छा नर की और और फल
देती उसे नियति है,

फलता विष पीयूष-वृक्ष में,
अकथ प्रकृति की गति है।

—पृ० ५१

(२५) "पूजनीय का पूज्य मानने,
में जो बाधा क्रम है,
वही मनुज का अहंकार है,
वही मनुज का भ्रम है।

—पृ० ५२

(२६) "नर की कीर्त्ति-ध्वजा उस दिन
कट गयी देश में जड़ से,
नारी ने सुर को टेरा,
जिस दिन निराश हो नर से।

—पृ० ६१

(२७) शूर धर्म है अभय दहकते अंगारों पर चलना,
शूर धर्म है शाणित असि पर धरकर चरण मचलना।
शूर धर्म कहते हैं छाती तान तीर खाने को,
शूर धर्म कहते हँस कर हालाहल पी जाने को,
"आग हथेली पर सुलगा कर सिर का हविष् चढ़ाना।
शूर धर्म है जग को अनुपम बलि का पाठ पढ़ाना।
सबसे बड़ा धर्म है नर का सदा प्रज्वलित रहना,
दाहक शक्ति समेट स्पर्श भी नहीं किसी का सहना।

—पृ० ६५

(२८) "बल-विवेक में कौन श्रेष्ठ है ?
असि वरेण्य या अनुनय ?
पूजनीय रुधिराक्त विजय ?
या करुणा-धौत पराजय ?

"दो में कौन पुनीत शिखा है ?
आत्मा की ? या मन की ?
शमित तेजवय की मति शिव,
या गति उच्छल यौवन की ?

—पृ० ६९

(२९) धर्मराज, संकट मे कृत्रिम
पटल उघर जाता है,
मानव का सच्चा स्वरूप,
खुलकर बाहर आता है ।

—पृ० ७२

(३०) जिस दिन बध को वध समझ जयी रोयेगा,
आँसू से तन का रुधिर पंक धोयेगा,
होगा पथ उस दिन मुक्त मनुज की जय का,
आरम्भ भीत धरणी के भाग्योदय का ।

—पृ० ८९

(३१) कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की,
मानव ऊपर और चलेगा,
मनु का यह पुत्र निराश नही,
नव धर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा ।

—पृ० १०७

(३२) आज की दुनियाँ विचित्र, नवीन,
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन ।
है बंधे नर के करों में वारि, विद्युति, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप ।
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित, गिरि, सिन्धु एक समान ।

— पृ० १०९

(३३) नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल,
यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास ।
चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश ।

× × × ×

किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूटकर पीछे गया है रह हृदय का देश,

नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार

—पृ० ११०

(३४) चाहिए उनको न केवल ज्ञान
देवता है माँगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान,
मोम-सी कोई मुलायम चीज,
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज,
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार
ज्ञान के मरु में सुकोमल भावना की धार,
चाँदनी की रागनी, कुछ भोर की मुस्कान,
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान,
रंग में घुलता हुआ खिलती कली का राज,
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज,
आंसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर,
फूल की, रस मे बसी-भीगी हुई जंजीर।

—पृ० १११

(३५) ले चुकी सुख भाग समुचित से अधिक है देह,
देवता है माँगते मन के लिए लघु गेह।

—पृ० ११२

(३६) हाय रे मानव, नियति का दास;
हाय रे मनु पुत्र ! अपना आप में उपहास।

× × ×

लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ।

—पृ० ११२

(३७) बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर कर्म से पशु नीच।

—पृ० ११२

(३८) एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मंडल गोल,
मानवों ने पढ़ लिए सब पृष्ठ जिसके खोल।

—पृ० ११३

(३९) यह मनुज, जो ज्ञान का आगार।
यह मनुज, जो ज्ञान का श्रृङ्गार।
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य।
यह मनुज, संहार सेवी, वासना का भृत्य,
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान।

—पृ० ११५

(४०) सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार
तो इसे दे फेंक, तजकर मोह, स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान।
फूल काँटो की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अंग, तीखी है बड़ी यह धार।

—पृ० ११७

(४१) रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान कटु, आग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण है बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।

—पृ० ११७

(४२) मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख-समृद्धि'-विधान में नर के, प्रकृति झुक जाय,

—पृ० ११८

(४३) साम्य की यह रश्मि स्निग्ध उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त
हो, रस स होंगे जली-सुखी सरसा के प्राण?

—पृ० ११९

(४४) मही नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से।
जीवित है वह उसे फूंक सोना करते वालों से।
ज्वलित देख पंचाग्नि जगत से निकल भागता योगी,
धुनी बनाकर उसे तापता अनासक्त रस भोगी।

—पृ० १२०

(४५) जब तक है नर की आँखों में शेष व्यथा का पानी,
जब तक है करती बिदग्ध मानव को मलिन कहनी,
जब तक है अवशिष्ट पुण्य बल की नर में अभिलाषा,
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा । —पृ० १२१

(४६) रण रोकणा है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो,
अथवा अजा के छगलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल काल-कूट-विष भर दो,
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलाने का वर दो,
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिराएँ तोड़ों, डालियां कतर दो ।

—पृ० ११ २५-२६

(४७) धर्मराज, यह भूमि किसी की
नहीं क्रीत है दासी,
है जन्मना समान परस्पर,
इसके सभी निवासी ।

—पृ० १२६

(४८) सबको मुक्त प्रकाश चाहिये,
सबको मुक्त समीरण,
बाधा-रहित विकास, मुक्त,
आशंकाओं से जीवन ।

—पृ० १२७

(४९) जब तक मनुज-मनुज का यह
सुख-भाग नहीं सम सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा !

—१२८

(५०) भाग्यवाद आवरण पाप का,
और शस्त्र शोषण का,

जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का।

—पृ० १३२

(५१) जो कुछ व्यस्त प्रकृति में है
वह मनुज मात्र का धन है।

—पृ० १३४

(५२) राजतन्त्र द्योतक है नर की
मलिन, निहीन प्रकृति का,
मानवता की ग्लानि और
कुत्सित कलंक संस्कृति का।

—पृ० १८८

(५३) जब तक स्वार्थ शैल मानव के
मन का चूर न होगा,
तबतक नर-समाज से असिधर,
प्रहरी दूर नहोगा।

—पृ० १४७

(५४) धर्मराज, संन्यास खोजना,
कायरता है मन की
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियाँ
सुलझना जीवन की।

—पृ० १४८

(५५) धर्मराज, क्या यती भागता
कभी गेह या वन से ?
सदा भागता फिरता है वह
एकमात्र जीवन से।

—पृ० १५१

(५६) धर्म राज, कर्मठ मनुष्य का,
पथ संन्यास नहीं है।
नर जिस पर चलता वह
मिट्टी है, आकाश नहीं है।

—पृ० १५८

(५७) केवल ज्ञानमयी निवृत्ति से
द्विधा न मिट सकती है,
जगत छोड़ देने से मन की
तृषा न घट सकती है।
बाहर नहीं शत्रु छिप जाए
जिसे छोड़कर वन में,
जाओ जहां, वहीं पाओगे
इसे उपस्थित मन में।

—पृ० १७०

(५८) पोंछो अश्रु, उठो, द्रुत जाओ,
वन में नही भुवन में,
होओ खड़े असंख्य नरों की
आशा बन जीवन में।
बुला रहा निष्काम कर्म है,
बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हें आर्त्त हो
मही समर-संभीता।

—पृ० १७ ५४-७५

(५९) मिट्टी का यह भार सँभालो,
बन कर्मठ संन्यासी,
पा सकता कुछ नहीं मनुज,
बन केवल व्योम-प्रवासी।

—पृ० १७६

(६०) प्रेरित करो इतर प्राणी को
निज चरित्र के बल से,
भरो पुण्य की किरण प्रजा में
अपने तप निर्मल से।

—पृ० १७९

(६१) फूलों पर आँसू के मोती
और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी,
नपी-तुली परिभाषा।

—पृ० १८०

एकलव्य

(१) जीवन तुम्हारा जैसे उत्सव के अन्त में,
कंठ से उतारा हुआ लुंजित-सा हार था।

—पृ० ५

(२) काल-गति से न कभी नष्ट होता शौर्य है,
ऐसा यह सूर्य है कि जिसका न अन्त है।

—पृ० १६

(३) तीक्ष्णतर बाण काटते हैं तीक्ष्ण बाणों को,
जीवन में वैसे प्रतिशोध भी तो अस्त्र है।

—पृ० १४

(४) कोमलता राजपुत्र के लिये कलंक है!

—पृ० १९

(५) उनका शमन इस भाँति शोभनीय था,
भक्ति-भावना के अग्र भाग में ज्यों प्रेम हो।

—पृ० २९

(६) नेत्र हैं विशाल मानो जाह्नवी के मीन हों
साम्ध्य-जल की सुरम्य लालिमा में लीन हों।

—पृ० ३०

(७) वारि-फल से विहीन सरिता जो होती है,
सूखती है वर्षा-काल बीतने के बाद ही।

—पृ० ३७

(८) आयु के समान मित्रता भी बीत जाती है।

—पृ० ४६

(९) सत्य यह जानूँगा कि मित्र नृप होने से,
मित्रता का कंचुक उतारता है सर्प-सा।

—पृ० ५१

(१०) भाग्य का विधान तो विधाता की विभूति है।

—पृ० १२१

(११) शारदा की वाणी यहाँ बोलती है स्वर्ग में।

—१२६

(१२) शिक्षा वहाँ केवल प्रदर्शन की दासी है।

—पृ० १३४

(१३) साधना की प्यास मृग-जल में ही प्यासी है।

—पृ० १३४

(१४) सुख का विश्वास जिसे जीवन में होता है,
जान लो कि वह सुख से ही छला जाता है।

—पृ० १३६

(१५) राज-दंड तो विधान करता है राज्य का,
किन्तु है सरस्वती निवासिनी हृदय की।

—पृ० १७५

(१६) ऐसी राजधानी का विनशा होगा शीघ्र ही
जो महर्षियों को राजनीति से चलाती है।

—पृ १७७

(१७) किन्तु शक्ति मानव की, देव ! दानवी नहीं
मानव की शक्ति तो महान तब होती है,
जब वह दानव को मानव बना सके,
और सब मानवों में साम्य की हो स्थापना।

—पृ० १९७

(१८) शिक्षा तो सरस्वती की धारा है, प्रशान्त है,
है अनन्त जो वही है सृष्टि के आरम्भ से
कौन इसे रोक सका और किस मन को,
इसने पवित्र किया नहीं स्पर्श-मात्र से ?

—पृ० २२२

(१९) जाति-भेद नहीं, वर्ग-वंश-भेद भी नहीं,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।
सूर्य की किरण भी क्या जाति-भेद मानती ?
अग्नि क्या विशेष जीव-धारियों की श्रेणी में—
सीमित है ? और वायु की तरंग उठती—
केवल विशिष्ट व्यक्तियों की सांस देने मे ?

(२०) फूल फूलते हैं वे न घोषणायें करते,
'साधु ही सुगन्धि के विशेष अधिकारी है।'
और जो असाधु हैं, समीप जाके उनके,
जो सुगन्धि है वही दुर्गन्धि बन जायेगी ?

—पृ० २२३

(२१) शिक्षा की त्रिवेणी का पवित्र तीर्थराज तो,
सृष्टि में समस्त मामवों की कर्मभूमि है।

—पृ० २२३

(२२) शान्त रहो ! साधना में मौन बडा बल है।

—पृ० २४७

(२३) और यह सत्य है कि चेतन मनस् से,
शक्तियाँ अधिक अन्तर्चेतन मनस् की

—पृ० २६१

(२४) किन्तु शिक्षा ओर राजनीति साथ वर्ज्य हैं।

—पृ० २७२

(२५) स्वस्ति शब्द का सदैव शिष्य अधिकारी है,
जबकि नित्य साधना में वह निस्तन्द्र है।
किन्तु दुर्भाग्य है कि राहु तभी ग्रसता है,
जब पूर्ण कला-युक्त होता चारु चन्द्र है।

—पृ० २७२

(२६) जीवन नैराश्य की है भूमि नहीं, मानवो,
सुख-दुख बादलों की भाँति उड़े आते हैं।
शक्ति मिटती नहीं हैं, अवतार लेती है,
तुममें सदैव, तुम योग्य तो बनो सही।

—पृ० २७६

(२७) ये विहंग मादक हैं, कल-कंठ वाले हैं
किसने इन्हें उदास देखा प्रात: संध्या में ?
गीतों के बन्दनवार बांधते दिशाओं में,
मंगल-त्योहार के सदा से अग्रदूत हैं।

—पृ० २७६

(२८) स्नेह-स्निग्धता में सदा राजस है रज-सा ।
अथवा क्या नागरिक जीवन ही ऐसा है,
शब्द बोलने में विपरीत अर्थ देते हैं ।

—पृ० २७८

(२९) स्वाद की अपेक्षा मौन मीठा है ।

—पृ० २७९

(३०) थोड़ी भी अकीर्त्ति मृत्यु कष्ट से अधिक है ।

—पृ० २९०

(३१) तुम नहीं, वत्स ! यह समय ही शूद्र है ।
जिसका कि दक्षिणांगुष्ठ शक्तिशाली बन
निन्दा के नाराच छोड़ता है उग्रवेग से,
जिससे कि खंड-खंड गुरु का हृदय है ।

—पृ० २९४

(३२) गुरु को बचाना अपकीर्ति से ही धर्म है
शिष्य का,...............

—पृ० २९५

(३३) हम तो समझते हैं, दान हुई वस्तु को
फिर से ग्रहण कर लेना बड़ा पाप है ।

—पृ० ३०४

(३४) साधना तभी तो सिद्धि की है अधिकारिणी,
जह वह नित्य के प्रदर्शन से दूर हो ।

—पृ० २४०

साकेत संत

(१) जो कुछ मनुष्य का मनुष्य का कहाँ है वह,
आंखें मुंदती है तो रहस्य खुल जाता है ।
न्यास जो मिला है, उसकी समृद्धि ही के लिये,
नर निज आयु के बरस कुछ पाता है ।

—पृ० १७

(२) संघर्ष जगत का अथ है,
संघर्ष जगत की इति है ।

संघर्ष केन्द्र पर निर्भर,
अपनी उन्नति कि स्थिति है

—पृ० ३४

(३) क्षुद्रों की बलि-वेदी पर,
पनपी है सदा महत्ता।
निर्धन कुटियों को ढाकर,
विकसी महलों की सत्ता

—पृ० ३४

(४) पुरुष कुछ नहीं, समय बलवान,
समय के हाथ फलाफल दान।
रत्न बन गये धूल के ढेर,
न क्या कर सका समय का फेर !

—पृ० ६०

(५) कर्म से भाग्य, भाग्य से कर्म,
उभय में बीज-वृक्ष का धर्म।
भाग्य की बात भाग्य के हाथ,
पुरुष का हो पौरुष से साथ

—पृ० ६२

(६) क्या आत्मा का दुःख ? अरे वह तो अविनाशी,
रमा एक-रस सभी कहीं सच्चित् सुखरासी।
और जीव ? हाँ, वही भटकता है तन मन में,
किन्तु वृथा है सोच जीव-निर्गम का मन में

—पृ० ६७

(७) सकल कृत्यों का प्रवर्तक काम है,
काम ही पर स्थित सदा धन-धाम है।

—पृ० ८६

(८) प्रेम की महिमा अथक अपार,
प्रेम है मानवता का सार।
प्रेम का हमें चखाता स्वाद,
विविध रूपों वाला संसार।

प्रेम ही रख 'मदीय' का रूप,
और फिर 'अस्मदीय' की छाप।
दिखा कर फिर 'त्वदीय' का रूप,
निरखता है 'तदीय' बन आप

—पृ० १४८

(९) रहे भौतिक सुख सब के पास,
किन्तु जन बनें न उसके दास।
आर्य-संस्कृति का उज्ज्वल चिह्न,
कमल ही कहा गया है खास। —पृ० १५३

(१०) मनुज का जीवन है अनमोल,
साधना है वह एक महान।
सभी निज संस्कृति के अनुकूल,
एक हो रचें राष्ट्र-उत्थान। —पृ० १५३

(११) विश्व में फैल जाय सुख शान्ति,
यही हो जीवन का आदर्श।
इसी में मानवता की कान्ति,
इसी में मानव का उत्कर्ष !

—पृ० १५३

(१२) प्रकृति, पुरुष के लिये भोग्य बन,
नित्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सौरभ
के पंचामृत-पात्र सजाती।

—पृ० १६५

अन्य महाकाव्य

वैदेही-वनवास



(१) सुन्दरता में कौन कर सका समता जिनकी।
उन्हें मिली है आयु एक दिन या दो दिन की॥
फूलों-सा उत्फुल्ल कौन भव में दिखलाया।
किन्तु उन्होंने कितना लघु-जीवन है पाया॥

—पृ० १

(२) अच्छा होता भली-वृत्ति ही जो भव पाता।
मंगल होता सदा अमंगल मुख न दिखाता॥
सबका होता भला फले फूले सब होते।
हँसते मिलते लोग दिखाते कही न रोते॥

पृ० ११

(३) मिट्टी में मिल एक बीज, तरु बन जाता है।
जो सदैव बहुश: बीजों को उपजाता है॥
प्रकट देखने में विनाश उसका होता है।
किन्तु सृष्टि गति सरि का वह बनता सोता है॥

—पृ० १२

(४) दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भय-मूलक-नीति॥
चाह है लाभ करूं, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति-प्रतीति॥

—पृ० ५०

(५) सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव-हितपूत-भाव का भरना॥
स्वाभाविक-सुख-लिप्साओं को।
विश्व-प्रेम में परिणत करना॥

—पृ० ११५

(६) स्वार्थ-सूत्र में बँधा हुआ संसार है।
इष्ट-सिद्धि भव-साधन का सर्वस्व है॥
कार्य-क्षेत्र में उतर जगत में जन्म ले।
सबसे प्यारा सबको रहा निजस्व है॥

—पृ० १३८

(७) कोई प्राणी दोष-रहित होता नहीं।
कितनी दुर्बलताएँ उसमें है भरी॥
किन्तु सुधारे सब बातें हैं सुधरती।
भलाइयों ने सब बुराइयाँ हैं हरी॥

—पृ० २३९

(८) प्रकृति-पाठ को पठन करो शुचि चित्त से।
पत्ते-पत्ते में है प्रिय-शिक्षा भरी।
सोचो समझो मनन करो खोलो नयन।
जीवन-जल में ठीक चलेगी कृति-तरी॥

—पृ० २६३

रामचरित चिन्तामणि

(१) कुल और कापड़ जो कलंकित हो गया, तो क्या रहा ?
ससार में यदि धर्म ही हा ! खो गया तो क्या रहा ?

—पृ० ७६

(२) चलचित्त है, चलवित्त है, चल है मही चल देह है,
चल मित्र है, चल शत्रु है, चल पुत्र है, चल देह है।
बश धर्म, यश को छोड़कर कुछ हाथ में आता नहीं।
कुछ साथ में आता नहीं, कुछ साथ में जाता नहीं।

—पृ० ८५

(३) सब पापों का लोभ को बुध कहते हैं,
क्रोध-मोह-विद्रोह उसी के संग रहते हैं,
जहाँ लोभ है वहाँ सुयश या धर्म नहीं है,
लोभी से कुछ बचा हुआ दुष्कर्म नहीं है।

—पृ० १२०

(४) नीच मनुज के साथ नीच ही रह सकता है,
क्यों कि वही नीचत्व नीच का सह सकता है।

—पृ० १६०

(५) सीधे का निर्वाह नही होता है जग में,
खल रहते हैं खड़े सदा उसके ही मग में
यद्यपि जग उपकार नित्य ही वह करता है,
तो भी औचक कभी खलों के कर मरता है।

—पृ० १७१

(६) नीच को न कभी स्वमस्तक पर चढ़ाना चाहिए,
स्नेह करके मन नहीं उसका बढ़ाना चाहिए।
तेल इत्रों से उन्हें यद्यपि बढ़ाते हैं सभी,

केश तो भी वक्रता को छोड़ते हैं क्या कभी ?
विश्व में निज नाम को विख्यात करना हो जिसे,
और अपने देश का अघ-भार हरना हो जिसे।
न्याय के सन्मार्ग से उसको न टरना चाहिए
काल से भी स्वप्न में उसको न डरना चाहिए।

—पृ० २६४

(७) ज्ञान सुनकर दुष्ट का दुर्भाव घट सकता नहीं,
फूल मलने से लसुन का गन्ध मिट सकता नहीं।
देवता होगा तभी पत्थर गढ़ा जब जायगा।
दुष्ट मानेगा तभी जब खूब ठोकर खायगा॥

—पृ० २६५

(८) अपना है बस वही, काम जो आवे दुख में
यों तो सब संसार सुहृद बनता है सुख में।

—पृ० २६६

आर्यावर्त

(१) गर्व परिणाम है विजय का किन्तु गर्व से
शान्ति रहती है दूर-नीति का प्रमाण है।
(२) होता है न साहस पतियों के हृदय में
सक्रिय विरोध करने का अन्याय—।

—पृ० २२

(३) जग जानता है यह भारत की नीति है
दंभ का जवाब देना तीखी तलवार से।

—पृ० ११०

(४) कर्म-हीन-आलस का नाम ही तो सुख है,
सुखकर देता है विलग कर्तव्य से,
कर्मवीर लात मारते हैं रिक्त सुख को।

कैकेयी

(१) दिन आते हैं, दिन जाते हैं।
युग उगता है, मुरझाता है।

वह जीत गया जो जला गया
जो रहा यहाँ वहाँ छला गया
मैंने काल-क्रम देखा है,
यह धरा नियति की रेखा है।

—पृ० १७-१८

(२) आज चाहिए क्रान्ति कि जिसमें
प्रगटे श्री कल्याणी।
क्रान्ति कि जिसका शंखनाद
बन जाये मानव-वाणी।

—पृ० ३८

आज चाहिए जीवन जो
आँधी में दीप जला दे!
आज चाहिए पौरुष जो
कण-कणमें आग जिला दे!

—पृ० ३९

(४) यह अखिल सृष्टि मुस्कान एक,
सेवा की मंजुल प्यार-भरी।
संपूर्ण प्रकृति आनन्द-लहर।
सेवा की चिर-झंकार-भरी।

—पृ० १४५

रश्मिरथी

(१) जय हो, जग में जले जहाँ भी नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को बल को।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर नमस्य हैं फूल।
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।

—पृ० १

(२) ऊँच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
सबसे श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है हो जिसमें तप-त्याग।

—पृ० १

(३) तेजस्वी सम्मान खोजते नहीं गोत्र बतलाके,
पाते हैं जग से प्रशस्ति अपना करतब दिखलाके।
हीन मूल की ओर देख जग गलत कहे या ठीक
वीर खींचकर ही रहते हैं इतिहासों है लीक।

—पृ० २

(४) नहीं फूलते कुसुम सिर्फ राजाओं के उपवन में,
अमित बार खिलते वे पुर से दूर कुंज-कानन में।
समझे कौन रहस्य; प्रकृति का बड़ा अनोखा हाल,
गुदड़ी में रखती चुन-चुनकर बड़े कीमती लाल॥

पृ० २

(५) मूल जानना बड़ा कठिन है नदियों का, वीरों का,
धनुष छोड़कर और गोत्र क्या होना रणधीरों का ?
पाते हैं सम्मान तपोबल से भूतल पर शूर,
जाति-जाति का शोर मचाते केवल कायर, क्रूर।

—पृ० ५

(६) बड़े बंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम ?
नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, नहीं वंश, धन, धाम।

—पृ० ५

(७) परशु और तप, ये दोनों वीरों के होते हैं शृङ्गार,
क्लीव न तो तप ही करता है, न तो उठाता है तलवार।
तप से मनुज दिव्य बनता है, षड् विकार के लड़ता है,
तन की समर-भूमि में लेकिन, काम खड्ग ही करता है।

—पृ० १२

(८) पर, जाने क्यों, नियम एक अद्भुत जग में चलता है,
योगी सुख भोगता, तपस्वी और अधिक जलता है।
हरियाली है जहाँ, जलद भी उसी खंड के वासी।
मरु की भूमि मगर, रह जाती है प्यासी की प्यासी।

—पृ० ५६

(९) प्रण करना है सहज, कठिन है लेकिन, उसे निभाना।
सबसे बड़ी जाँच है व्रत का अन्तिम मोल चुकाना॥

अन्तिम मूल्य न दिया अगर, तो और मूल्य देना क्या ?
करने लगे मोह प्राणों का तो फिर प्रण लेना क्या ?

—पृ० ५२

(१०) ऋतु मे बाद फलों का रुकना डालों का सड़ना है,
मोह दिखाना देय वस्तु पर आत्मघात करना है ।
देते तरु इसलिए कि रेशों मे मत कीट समायें,
रहे डालियाँ स्वस्थ और फिर नये-नये फल आयें ।

—पृ० ५३

(११) सरिता देती वारि कि पाकर उसे सुपूरित धन हो,
बरसे मेघ, भरे फिर सरिता, उदित नया जीवन हो ।
आत्मदान के साथ जगज्जीवन का ऋजु नाता है,
जो देता जितना बदले मे उतना ही पाता है ।

—पृ० ५३

(१२) महाराज, उद्यम से विधि का अंक उलट जाता है,
किस्मत का पासा पौरुष से हार पलट जाता है ।
और उच्च अभिलाषाएँ तो मनुज मात्र का बल है,
जगा-जगाकर हमें वही तो रखती नित चंचल है ।

—पृ० ५६

(१३) जीवन-सरिता की बड़ी अनोखी गति है
कुछ समझ नहीं पाती मानव की मति है ।
बहती प्रचंडता से सबको अपनाकर,
सहसा खो जाती महासिन्धु को पाकर ।

—पृ० १०३

(१४) युग-पुरुष वही सारे समाज का
विहित धर्म गुरु होता है,
सबके मन का जो अन्धकार
अपने प्रकाश से धोता है ।

—पृ० ११०

(१५) है धर्म पहुँचना नहीं, धर्म तो
जीवन भर चलने में है,

फैलाकर पथ पर स्निग्ध ज्योति
दीपक-समान जलने में हैं।

पृ० १२६

(१६) पर, हाय, मनुज के भाग्य अभी
तक भी खोटे के खोटे हैं,
हम बढ़े बहुत बाहर, भीतर
लेकिन, छोटे के छोटे हैं।

—पृ० १२६

(१७) साधन को भूल सिद्धि पर जब
टकटकी हमारी लगती है,
फिर विजय छोड़ भावना और
कोई न हृदय में लगती है

—पृ० १२०

(१८) सत्य ही, ऊर्ध्व-लोचन कैसे
नीचे मिट्टी का ज्ञान करे ?
जब बड़ा लक्ष्य हो खींच रहा,
छोटी बातों का ध्यान करे ?

—पृ० १२८

(१९) क्या सत्य ही, जय के लिए केवल नहीं बल चाहिये ?
कुछ बुद्धि का भी घात, कुछ छल-छद्म कौशल चाहिये।

—पृ० १३७

(२०) मुसीबत को नहीं जो झेल सकता,
निराशा से नहीं जो खेल सकता,
पुरुष क्या शृंखला को तोड़ करके,
चले आगे नहीं जो जोर करके ?

—पृ० १३७

(२१) अगम की राह पर, सचमुच अगम है,
अनोखा ही नियति का कार्यक्रम है
न जानें, न्याय भी पहचानती है,
कुटिलता ही कि केवल जानती है ?

—पृ० १६९



सहायक ग्रंथ

सहायक ग्रंथानुक्रमणिका



ENGLISH

Abercrombie, Lascelles— (1) The Idea of Great Poetry, Third Impression, London, 1926.

(2) The Epic, London, 1922.

(3) The Theory of Poetry, Second Impression, London 1926.

Allport, G. W. (4) Personality, A psychological Interpretation, First Edition.

Brwn, J. F. (5) The Psychodynamics of Abnormal Behaviour, New York, 1940.

Bowra, C. M. (6) From Virgil to Milton, London 1945.

(7) Heroic Poetry, London, 1952.

Burke, Edmund (8) Introduction on the Sublime and Beautiful, First Edn.

Butcher (9) *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts*, Fourth Edn. London 1907.

Cambridge University (10) The Growth of Literature, Vol I & II.

Chesterton, G. K. (11) The Victoria Age In Iiterature, First Impression.

Dixon, W. M. (11) The English Epic And Heroic Poetry, London, 1912.

Dometrius (13) *Aristotle's Poetics*, Everyman's Library, London 1943.

Exner, M. J. (14) The Sexual Side of Marriage, 1949.

Freud, Sigmund (15) The Interpretation of Dreams, London 1950.

F. L. Lucas (16) Style, Second Edition.

Fyee (17) Aristotle on Art of Poetry, Second Edn.

Griffith (18) The Hymns of Rigveda, Vol. I.

Gupta, Dr. Rakesh (19) Psychological Studies in Rasa, First Edition

Hopkins, W. (20) The Great Epic of India, Yale University, 1920.

Jafferson, Thomas (21) Writing, Vol. V

James, W. (22) Psychology, Briefer Course, New York, 1908.

Jhala, J. C. (23) Kalidas, A Study, Library Edn. 1949.

Keay. F. E. (24) Hindi Literature, Second Edition. 1933.

Keith, A. B. (25) A History of Sanskrit Literature, London 1947.

Ker, W. P. (26) Epic And Romance, London. 1931

Kumarappa, B. (27) Indian Literature of To day, Bombay, 1947.

Macourdy, P. T. (28) Common Principles in psychology and Phisiology, first Edition.

Macdonal (29) A Hisrory of sanskrit literature, Jan. 1925.

Maxmuller (30) A History of Ancient sanskrit literature. 1926 Edn.

Mayor (31) Saxual life in Ancient India vol. v

Molton (32) World Literature New york, 1912

Morton, Prince (33) The Unconcious, First Edition.

Munn, N. L. (34) The Fundamentals of Human Adjustment, Second Edition, 1951

Murphy, Gardner — (35) An Introduction to Psychology, New York.

(36) Contemporary Psychological System, Fifth Edn. 1949.

Richards, I. A- — (37) Principles of Literary Criticism, Thirteenth Edn. 1952.

Rickman, John — (38) Selections from The Work of Sigmund Freud, First Edition. 1941.

Schoen, M. — (39) Human Nature, First Edn.

Schwarz, Oswald — (40) The Psychology of Sex 1951 Edn.

Shashtri, K. S. Ramaswamy. — (41) Kalidas : His Pericd, personality And Poetry, First Edn. 1933.

Shukla, Dr. R. S. — (42) Evolution of Hindi poetics, First Edition.

Sidhanta, N. K. — (43) The Heroic Age of India, London 1929,

Thomas, P. — (44) Epics, myths and legends of India, Bombay 1958

Weber Albrecht — (45) The History of Indian Literature, Popular Re-issue 1914

Winternitz, M — (46) A History of Indian, Litera- Vol. I Cal. 1927.

Woodworth, Roberts — (47) Contemporary Schools of Psychology, Eighth Edn. 1951.

JOURNALS AND DICTIONARIES

(1) B. H. U. Journal—Golden Jubilee Number.

(2) Burton's Dictionary of Universal Information (Science, Arts, Literature, Religion & Phil.) Edited by George R. Emerson, New Edn.

(3) Calcutta University Journal of the Deptt. of letters, Vol. III.

(4) Dictionnary of World Literature, Joseph T. Shipley, New York 1943.

(5&6) Encyclopaedia Britannica, 9th Edition Edingurgh & 1949 Edn. U. S. A.—Vol. 8 and Vol, 18.

(7) Imperial Gazetteer of India, Gerogs Grierson, Vol. II

(8) Moderd Review, December, 1938.

(9) The Columbia Encyclopaedia, Columbia University, 19th Edn. 1946.

(10) The Concise Universal Encyclopaedia—Edited by J A. Hammerton.

(11) The Dictionary of Word origion—Joseph T. Shipley, Second Edn, New York.

(12) The New Dictionary of Thoughts—Tryon Edwards, Revised and enlarged by Catrevas and J. Edwards, London.

(13) The Oxford Companion of the English Literature—Compilled & Edited by Sir Paul Harvey, Oxford 1934.

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

१ अध्यात्म रामायण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २००६
२ काव्यादर्श, दण्डी, कलकत्ता, सं० १८२२
३ काव्यानुशासन, हेमचन्द्र सूरि
४ काव्य प्रकाश, मम्मट, हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला, काशी, सन् १९२६
५ काव्यालंकार, भामह, बनारस, सं० १८८५
६ कुमारसंभवम्, कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
७ कूर्म महापुराणम्—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
८ तैत्तरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण सं० २०११
९ दशरूपक—धनंजय
१० देवी भागवत—पाणिनी आफिस, इलाहाबाद
११ ध्वन्यालोक की टीका—(आनन्दवर्द्धन) अभिनव गुप्त
१२ नीतिश्लोक—भर्तृहरि, कलकत्ता १९२२
१३ ब्रह्मवैवर्तमहापुराणम्–वेंकटेश्वर प्रेस तथा अनु. आर. एन. सेन, पाणिनी आफिस
१४ पउमचरिउ—स्वयंभुदेव

१५ पउमचरिय—बिमल सूरि
१६ पासुपुराण—पद्मकीर्ति
१७ पुरातन प्रबन्ध संग्रह—सं० मुनिजिन विजय
१८ भविष्यतकहा—धनपाल
१९ महाभारत आदि पर्व, डा० विष्णु एस. सुखशंकर, पूना, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट
२० माण्डूक्योपनिषद्, बम्बई, शक १८२६
२१ मेघदूतम्—कालिदास, सं० एस० आर० काले, बम्बई
२२ वाल्मीकीय रामायण—अनु० द्वारका प्र० शर्मा–इलाहाबाद प्रथम सं०
२३ रघुवंशम्—अनु० द्वारका प्र० शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
२४ विष्णुपुराणम्–बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई तथा विल्सन का अंग्रेजी अनुवाद, लंदन
२५ साहित्यदर्पण, बेंकश्वर प्रेस, बम्बई, विश्वनाथ, सन् १९१५
२६ शतपथ ब्राह्मण, सं० चन्द्रधर शर्मा, काशी, सं० १९९४
२७ शिवमहापुराणम्—बेंकटेश्वर प्रेस, तथा पाणिनो आफिस, इलाहाबाद
२८ श्वेताश्वरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय सस्करण
२९ श्रीमद्भागवत—गीता प्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण
३० श्रीमद्भागवत गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, दशम् संस्करण
३१ हनुमन्नाटक—संकलित, दामोदर मिश्र, बनारस, १९४७
३२ हरिवंशपुराणम्—बेंकटेश्वर प्रेस, बंबई।
३३ ऋग्वेद—बंबई, शक १८२३ एवं पूना १८५८।
३४ ऋतुसंहार—कालिदास, निर्णय सागर प्रेस, बंबई।

—:०:—

हिन्दी



अज्ञेय, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन — १ त्रिशंकु, १९४५
अधिकारी, महावीर — २ जयशंकर प्रसाद-जीवन-दर्नन, कला और कृतित्व (संपादित) १९५५
अनूप, — ३ बर्द्धमान, प्रथम संस्करण, १९५१
४ सिद्धार्थ, प्रथम संस्करण, १९३७

आनंदकुमार	५	अंगराज, प्रथम सं० १९५०
	६	सेनापति कर्ण, प्रथम सं० १९५८
उपाध्याय, डा० देवराज	७	आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान, प्रथम सं० १९५६
उपाध्याय, डा० बलदेव	८	संस्कृत साहित्य का इतिहास, १९५३
उपाध्याय, रामचरित	९	रामचरित - चिन्तामणि, प्रथम संस्करण १९२०
उमाकान्त, डा०	१०	मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, प्रथम सं० १९५०
ओझा, डा० दशरथ	११	समीक्षा-शास्त्र, प्रथम सं० १९५५
कपिल	१२	दिनकर और उनकी काव्य कृतियां (संपा०) प्रथम सं०
करील	१३	देवार्चन, प्रथम सं० १९५२
केसरी कुमार	१४	हरिऔध और उनका महाकाव्य (प्रियप्रवास) (प्रथम सं०)
केशवदास	१५	रसिकप्रिया, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १९११
	१६	रामचन्द्रिका-सं० लाला भगवानदीन
कुलश्रेष्ठ, डा० कमल	१७	मलिक मुहम्मद जायसी, भाग—१ प्रथम संस्करण
खंडेलवाल, डा० रामेश्वर लाल	१८	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य, प्रथम सं०
गिरीश, गिरिजादत्त	१९	गुप्तजी की काव्यधारा, परिवर्तित सं० १९४६
	२०	महाकवि हरिऔध, द्वितीय सं० संवत् २००३
	२१	तारक-वध, प्रथम सं० १९५८
गुर्टू शचिरानी	२२	काव्य दर्शन, १९५८
	२३	साहित्य-दर्शन, प्रथम भाग, १९५०
गुप्त, डॉ० किरण कुमारी	२४	हिन्दी-काव्य मे प्रकृति-चित्रण, प्रथमावृत्ति, सं० २००६

गुप्त, किशोरीलाल	२५	भारतेन्दु और उनके सहयोगी कवि, प्रथम सं० १९५१
गुप्त परमलाल	२६	रामचरितमानस ओर साकेत, प्रथम सं० १९६१
गुप्त, डा० माता प्रसाद	२७	तुलसीदास, प्रथम, सं० १९४६
गुप्त, मैथिलीशरण	२८	साकेत, स० २००७, संस्करण
	२९	जयभारत, द्वितीयावृत्ति, सं० २०१४
	३०	यशोधरा, तृतीय संस्करण
गुप्त, डा० शशिभूषण	३१	श्रीराधा का क्रमिक विकास, प्रथम सं० १९५६
गैरोला, वाचस्पति	३२	संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा प्रकाशन, १९६०
गोपीकृष्ण	३३	विदेशो के महाकाव्य, १९४६
गौड़, कृष्णदेव प्रसाद	३४	प्रसाद का साहित्य, (सम्पादित) प्रथम पुनर्मुद्रण १९५७
चतुर्वेदी, परशुराम	३५	भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा, प्रथम सं० १९५६
चतुर्वेदी, डा० राजेश्वर	३६	रीतिकालीन कविता और शृंगार रस का विवेचन प्र० सं०, २०१० संवत्
चतुर्वेदी, बृजकिशोर	३७	आधुनिक कविता की भाषा, प्र०स० १९५१
चतुर्वेदी, डा० सत्यदेव	३८	हिन्दी-काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियां और उनका मूल स्रोत, प्रथमावृत्ति
चौहान, शिवदान सिह	३९	हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, १९५४
जोशी इलाचन्द्र	४०	साहित्य-सर्जना, चतुर्थ स० १९४८
ज्योतिषी, रामनाथ	४१	श्री रामचन्द्रोदय काव्य, प्र० सं० १९३७
टंडन, डा० प्रताप नारायण	४२	हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास, प्रथम संस्करण १९५९
	४३	आधुनिक साहित्य, १९५६
टुंगा, प्रद्युम्न	४४	श्रीकृष्णचरितमानस प्र० सं० १९४१
तिवारी, डा० उदयनारायण	४५	वीर काव्य, प्रथम, संस्करण

तिवारी, डा० भोलानाथ	४६ कवि प्रसाद, १९५८
तिवारी, रामानंद	४७ पार्वती, प्रथम संस्करण १९५५
त्रिपाठी, करुणापति	४८ शैली, वि० १९९८
दास डा० श्यामसुन्दर	४९ रूपक-रहस्य, चतुर्थ सं० २०००
	५० साहित्यालोचन, ग्यारहवीं आवृति सं. २०११
	५१ हिन्दी साहित्य, चतुर्थ सं. २००३
दिनकर, रामधारी सिह	५२ कुरुक्षेत्र, छात्रोपयोगी संस्करण
	५३ काव्य की भूमिका, प्रथम संस्करण १९५८
	५४ चक्रवाल, प्र० संस्करण १९४६
	५५ मिट्टी की ओर, प्रथम संस्करण १९४६
	५६ रश्मिरथी, द्विवतीय संस्करण
	५७ संस्कृति के चार अध्याय, प्रथमावृति
द्विरेफ, परमेश्वर	५८ मीरा, प्रथम संस्करण १९५७
	५९ युगस्रष्टा, प्रेमचन्द, प्रथम सस्करण १९५९
द्विवेदी, गणेश प्रसाद	६० हिन्दी के कवि और काव्य, भाग-३, प्र० सं.
द्विवेदी शांतिप्रिय	६१ कवि और काव्य, तृतीय संस्करण १९४९
	६२ वृन्त और विकास, प्रथम संस्करण
द्विवेदी, डा० हजारी प्रसाद	६३ अशोक के फूल, दूसरी बार १९५०
	६४ कल्पलता, प्रथमावृति, बनारस
	६५ साहित्य का मर्म, लखनऊ विश्वविद्यालय भाषण-माला—१
	६६ संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, संपादित द्वितीय सं०
	६७ सूर-साहित्य, संशोधित संस्करण १९५६
	६८ हमारी साहित्यिक समस्याएँ, द्वितीय सं० १९४[illegible]
	६९ हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास, १९५५
	७० हिन्दी साहित्य का आदि काल प्र.सं. १९५२
	७१ विचार-प्रवाह, पहली बार, १९५९ बंबई
	७२ हिन्दी साहित्य की भूमिका, चौथी बार १९५०
दीन, लाला भगवान	७३ बिहारी सतसई (सम्पादित)
देवराज, डाक्टर	७४ आधुनिक समीक्षा : कुछ समस्याएँ, १९५४

नगेन्द्र, डाक्टर	७५ भारतीय काव्य-शास्त्र भाग—२, १९५५
	७६ भारतीय वाङ्मय (सं०) प्रथमावृति, २०१५ वि०
	७७ विचार और अनुभूति—द्वितीयावृति
	७८ विचार और विवेचन ,,
	७९ विचार और विश्लेषण—प्रथमावृति
	८० साकेत, एक अध्ययन, प्रथमावृति
नवीन, पं० बालकृष्ण शर्मा	८१ उर्मिला, प्रथम संस्करण १९५८
पद्माकर	८२ जगद् विनोद, काशी १९२२
प्रभात, पं० केदारनाथ मिश्र	८३ कैकेयी, प्रथम संस्करण
प्रसाद, द्वारका	८४ कवि सम्राट हरिऔध और उनकी कला कृतियां प्रथम सं० सं० २०११
प्रसाद, जयशंकर	८५ कामायनी, प्र० सं० वि० ९३
	८६ काव्य-कला और अन्य निबन्ध, प्र० सं०
प्रसाद, डा० शिवनन्दन	८७ साहित्य के रूप और तत्व, १९५४
प्रसाद, श्यामनारायण	८८ झाँसी की रानी, प्र० सं० १९५५
पंत, सुमित्रानन्दन	८९ आधुनिक कवि, चतुर्थ सं० सं० २००६
	९० ज्योत्स्ना, द्वितीय सं०
	९१ पल्लव, द्वितीय सं०
	९२ युगवाणी ,,
पाठक, डा० कमलाकान्त	९३ मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्तित्व और काव्य, प्रथम सं० १९६०
	९४ निबन्धिनी, प्र० सं०
	९५ कामायनी, एक परिचय, प्र० सं०
पांडेय, चन्द्रवली	९६ तुलसीदास, प्र० सं० १९४९
	९७ साहित्य संदीपनी, प्र० सं०
पांडेय, त्रिलोचन	९८ गुप्तजी की काव्य-कला, प्र० सं० २००२ सं०
पांडेय, श्यामनारारायण	९९ हल्दीघाटी, १९५६
	१०० जौहर, प्र० सं० २००२
पांडेय, सुधाकर	१०१ प्रसाद की कविताएँ (साहित्यिक अध्ययन) १९५८
प्रेमचन्द	१०२ साहित्य का उद्देश्य, प्र० सं० १९५४

प्रेमचन्द	१०३ कुछ विचार प्र० सं० १९५४
प्रेमशंकर, डा०	१०४ प्रसाद का काव्य, प्र० सं० सं० २०१२
बड़थ्वाल, डा० पीतादम्बर दत	१०५ योग प्रवाह, प्रथम सं० सं० २००३
बाहरी, डा० हरदेव	१०६ हिन्दी काव्य शैलियों का विकास, प्रथम सं० १९५०
बुल्के, डा० कामिल	१०७ राम-कथा, उत्पत्ति और विकास, १९५०
भक्त, गुरुभक्त सिंह	१०८ नूरजहाँ, एकादश आवृत्ति
	१०९ विक्रमादित्य, द्वितीय आवृत्ति
भावे, आचार्य विनोबा	११० साहित्यिकों से; तीसरी बार, १९५७
भोलानाथ, डा०	१११ हिन्दी साहित्य, १९५०
मदान, डा० इन्द्रनाथ	११२ तुलसीदास, चिन्तन और कला, संपादित
मधुप	११३ मेघनाथ-वध, अनु०, प्रथमावृत्ति १९४८ सं०
माचवे, प्रभाकर	११४ समीक्षा की समीक्षा, १९५३
मानव, विश्वंभर	११५ खड़ी बोली के गौरव ग्रन्थ, चतुर्थ सं० १९५०
मेनारिया, मोतीलाल	११६ डिंगल में वीर रस, द्वितीय सं०
मित्र, रघुवीर शरण	११७ जननायक, प्र० सं० १९४९
मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद	११८ पद्माकर पंचामृत, प्र० सं०
	११९ वाङ्मय–विमर्श
	१२० हिन्दी साहित्य का अतीत, प्र० सं० २०१५
	१२१ हिन्दी का सामयिक साहित्य, प्र० सं०
मिश्र, गंगाधर	१२२ साहित्य सम्राट तुलसीदास, वाराणसी, २०१६ सं०
मिश्र, जगन्नाथ प्रसाद	१२३ साहित्य-विवेचन, प्रथम संस्करण
मिश्र, द्वारका प्रसाद	१२४ कृष्णायन प्र० सं०
मिश्र, डा० बलदेव प्रसाद	१२५ साकेत-संत, प्र० सं० १९४६
	१२६ राम-राज्य, प्र०सं०
मिश्र, बन्धु	१२७ संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न, दशमावृत्ति सं० २००७
मिश्र, डा० भगीरथ	१२८ अध्ययन, प्रथमावृत्ति २००५ वि०
	१२९ हिन्दी-काव्य शास्त्र का इतिहास, सं० २००५
मिश्र, रामदहिन	१३० काव्य-दर्पण, प्र० सं०

रघुवंश, डा०	१३१ प्रकृति और काव्य, द्वितीय सं० १९६०
राय, गुलाब	१३२ अध्ययन और आस्वाद, १९५७
	१३३ प्रसादजी की काव्य-कला, संपादित, प्र० सं०
	१३४ सिद्धान्त और अध्ययन, भाग—२, प्र० सं०
राय, शिवबालक	१३५ दिनकर, प्र० सं० १९५१
रांगेय, राघव डा०	१३६ तुलसी का कथा-शिल्प, १९५९
लाल, डा० श्रीकृष्ण	१३७ आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, १९४२
लाल, डा० लक्ष्मीनारायण	१३८ हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास प्र० सं० १९५३
वरदाचार्य, बी०	१३९ संस्कृत साहित्य का इतिहास, अनु०, कपिलदेव द्विवेदी, प्रथम संस्करण
वर्मा, डा० रामकुमार	१४० अनुशीलन, प्र० सं० १९५७
	१४१ आधुनिक कवि „ १९९८ सं०
	१४२ एकलव्य, प्र० सं० २०१५
	१४३ कबीर का रहस्यवाद, पांचमावृति, १९४९
	१४४ साहित्य-शास्त्र, प्र० सं० १९५६
	१४५ साहित्य-समालोचना, पंचमावृति, १९४६
	१४६ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तृ० सं० १९५४
	१४७ हिन्दी साहित्य का इतिहास, द्वितीय सं० १९५७
	१४८ हिन्दी साहित्य की रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण
वर्मा, डा० ब्रजेश्वर	१४९ हिन्दी के गौरव ग्रन्थ, संपादित, प्र० सं०
वाजपेयी, आचार्य नन्ददुलारे	१५० आधुनिक साहित्य, द्वितीय सं० २०१३ सं०
	१५१ जयशंकर प्रसाद, तृतीय परिवर्द्धित सं०
	१५२ नया साहित्य, नये प्रश्न, प्र० सं०, बनारस
	१५३ महाकवि सूरदास, प्रथमावृति, १९५२
	१५४ साहित्य सुषमा, संपादित, द्वितीय सं० २००६ सं.
	१५५ सूरसागर, संपादित, द्वितीय सं० २००६ सं०
	१५६ हिन्दी साहित्य, बीसवीं शताब्दी, १९४४
	१५७ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, द्वितीय सं० १९५८

वारिन्निकोव, ए० पी०	१५८	मानस की भूमिका, प्र० सं०
वार्ष्णेय, डा० लक्ष्मीसागर	१५९	आधुनिक हिन्दी साहित्य, तृ० सं० १९५४
वियोगी, पं०मोहनलाल महतो	१५०	आर्यावर्त्त, प्र० सं० १९५०
शर्मा, डा० गोविन्दराम	१६१	हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य (परम्परा और विकास) प्र० सं० १९५९
शर्मा, डा० जगन्नाथ प्र०	१६२	कहानी का रचना-विधान, प्र० सं० १९५६
शर्मा डा० रामविलास	१६३	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, १९५३
शास्त्री, डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	१६४	महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, प्रथम सं०
	१६५	गुप्तजी के काव्य की कारुण्यधारा, प्र० सं० १९४१
	१६६	सन्त मत का सरभंग सम्प्रदाय १९५९
शास्त्री, राजाराम	१६७	समाज और संस्कृति, १९५६
शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र	१६८	गोस्वामी तुलसीदास, पृ० सं०
	१६९	चिन्तामणि, द्वितीय भाग, चतुर्थावृत्ति सं० २००८
	१६०	जायसी ग्रन्थावली, पंचम सं० २००८ वि०
	१७१	त्रिवेणी, द्वादश संस्करण
	१७२	हिन्दी साहित्य का इतिहास, आठवां सं०
शुक्ल, डा० केशरी नारायण	१७३	आधुनिक काव्य-धारा, तृतीया वृत्ति,सं० २००७
शैलकुमारी, डा०	१७४	आधुनिक हिन्दी काव्यमें नारी-भावना, प्रथम सं० १९५१
श्रीवास्तव, राधेकृष्ण	१७५	एकलव्य : एक अध्ययन, प्र० सं० १९६१
श्रीवास्तव, ब्रजविलास	१७६	पृथ्वीराज रासो में कथानक-रूढ़ियां, प्रथम सं० १९५९
श्रीशकुमार	१७७	मानस, बालकाण्ड के स्रोत, प्र० सं० १९५७
सत्येन्द्र, डा०	१७८	गुप्तजी की कला, पंचम सं० २००१ वि०
सभा, काशीनागरी प्रचारिणी (प्रकाशक)	१७९	देवग्रन्थावली, १९१८
सहल, कन्हैयालाल और स्नातक विजयेन्द्र	१८०	कामायनी-दर्शन, १९५३

साहित्य अकादमी (प्रकाशक)	१८१	आज का भारतीय साहित्य (संपादित) १९५३
सांकृत्यायन, राहुल	१८२	हिन्दी काव्य-धारा, प्र० सं० १९५४
सुधांशु, डा० लक्ष्मीनारायण सिंह	१८३	जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, द्वितीय सं० १९५०
सुधीन्द्र, डा०	१८४	साहित्य—समीक्षांजलि, सं० १९१३
	१८५	हिन्दी कविता में युगान्तर, प्र० सं० १९५०
सोमनाथ—	१८६	रसपीयूष निधि,
सिन्हा, विश्वमोहन कुमार	१८७	काव्य और कवि, प्र० सं० १९५६
सिंह, डा० उदयभानु	१८८	महावीर प्र० द्विवेदी और उनका युग, प्र० सं० २००८ सं०
सिंह, ठाकुर गोपालशरण	१८९	जगदालोक, प्र० सं० १९५२
सिंह, डा० प्रतिपाल	१९०	बीसवीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य, प्र० सं०
सिंह, डा० फतह	१९१	कामायनी-सौन्दर्य, प्र० सं० १९४८
सिंह, डा० शंभुनाथ	१९२	हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप और विकास, प्र० सं० १९५६
सिंह, यशवन्त	१९३	शृंगार-शिरोमणि,
सिंह, सूर्यबली	१९४	प्राचीन और नवीन काव्य-धारा, सं० १९९६
सिंह, हरदयालु	१९५	दैत्यवंश महाकाव्य, प्र० सं० १९४७
सिंह, हरदयालु	१९६	रावण महाकाव्य, प्र० सं० १९५२
हरिऔध, अयोध्या सिंह	१९७	प्रियप्रवास, प्रथम संस्करण
	१९८	वैदेही वनवास, ”
	१९९	कबीर वचनावली (संपादित)

हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं विवरण-पुस्तिकाएं एवं अभिनन्दन-ग्रंथ



१. अजन्ता, हैदराबाद, जनवरी, १९५३
२. अवन्तिका, पटना अक्टूबर, १९५३
३. आलोचना, दिल्ली, जनवरी, १९५२
अप्रैल, १९५२
अप्रैल, १९५७

४ कल्पना, हैदराबाद, अप्रैल, १९५७

५ कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह सं० गौरीशंकर हरीचंद ओझा, १९८५

६ ज्योत्स्ना, पटना, सितम्बर, १९६०

७ द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, काशी

८ धर्मयुग, बंबई, ४ दिसम्बर, १९६०

९ नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, काशी, वर्ष ५८, सं० २००९

१० प्रतीक, दिल्ली, ४ हेमन्त

११ प्रेमी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, बम्बई

१२ पाटल, पटना, अप्रैल, १९५४

१३ भारत, प्रयाग, ७ मई, १९३३

१४ मतवाला, कलकत्ता, मई १९४८

१५ मुंशी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, काशी

१६ योगी, पटना, दीपावली विशेषांक, १९६०

१७ राजेन्द्र-अभिनन्दन-ग्रन्थ, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा

१८ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त- अभिनन्दन-ग्रन्थ, कलकत्ता, १९५९

१९ विक्रम उज्जैन, ७ मार्च, १९५२

२० विशाल भारत, कलकत्ता, जुलाई १९४६

२१ समाज, काशी, अगस्त, १९५४

२२ सरस्वती, प्रयाग, मई १९५५

२३ साहित्य, पटना (त्रैमासिक), नवम्बर, १९५५, मार्च, १९५६

२४ हरिऔध-अभिनन्दन-ग्रन्थ, काशी

२५ हिन्दुस्तानी, इलाहाबाद, वर्ष १९४२

२६ हिमालय, पटना, दिसम्बर, १९४६

२७ हीरक जयन्ती-ग्रन्थ (नागरी प्रचारणी सभा) प्रथम सं० २०११

